ज न वा णी

सम्पादक-मण्डल

आचार्य नरेन्द्र देव बी० पी० सिन्हा

राजाराम शास्त्री बैजनाथसिंह 'विनोद'

विषय-सूची

जनवाणी कार्यालय,

काशी विद्यापीठ, बनारस

एक प्रतिका

।।।)

Contributed by: Prabhat Kumar

जनवाणी, 1947
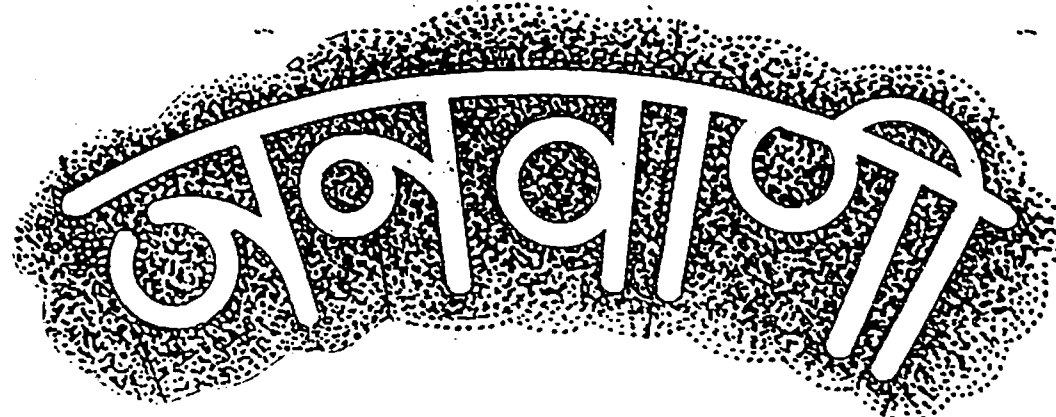
भाग १] जनवरी १९४७ [संख्या २

महामना के महाप्रयाण पर

श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन'

हम अनाथ हो गए आज यह कैसा दुर्दिन आया,
हाय, हट गई हम सबके सिर से कुलपति की छाया।
जिसने नई वाटिका रोपी, सींचा, की रखवाली,
कलि किसलय सब पूछ रहे हैं कहाँ गया वह माली?

कहाँ आज, वह सुधावर्षिणी मीठी मीठी बोली,
कहाँ गया जो दीन राष्ट्र के लिए फिरा ले झोली!
विद्यालय की ईंट ईंट जिसके दर्शन की प्यासी,
जिसके गैरिक वस्त्र यहाँ वह कहाँ गया संन्यासी?

स्वतन्त्रताप्रासाद बनाने का सामान जुटाकर
शेषनाग सा कहाँ लुप्त हो गया नींव का पत्थर!
शील-स्नेह-श्रद्धा-संयम से विरचित अंतर आनन,
कहाँ दूध सी हँसी कहाँ वह मक्खन सा कोमल तन?

खोकर ही तुमको पहचाना है जनजीवन त्राता,
मंदिर के भीतर से उसका कलश नहीं दिख पाता।

भेर भेर ले हृदय, खंडे खोए खोए से जन जन
विना तुम्हारे आज लग रहा सूना सूनाँ आँगन।

विद्यालय है वहीं, वहाँ उन्नत उद्ग्रीव कँगूरे,
किन्तु ज्योति वह कहाँ? खंडे ज्यों धूमिल स्वप्न अधूरे।

यद्यपि हम जानते तुम्हारी व्यापक विपुल महत्ता
है विराट, कण कण में बिखरी आज तुम्हारी सत्ता।

पूर्णपुरुष तुम, अमर ज्योति, सत् चित् आनन्द प्रकाशी,
श्रद्धानत चरणों में गद्गद् विह्वल भारतवासी।

भाई भाई पुनः महाभारत जब लगे मचाने,
दौड़े व्यथित मदनमोहन तुम फिर गीता दुहराने।

क्या क्या नहीं किया तुमने पर हाय अभाग्य हमारा
द्रुपद - सुता की चीर बन गई बन्धनग्रस्ता कारा।

देख दानवी बर्बरता से देश जाति जन व्याकुल,
हे दधीच, तुम अस्थिदान हित तत्पर आतुर आकुल।

सबने मना किया पर तुमने नहीं किसी की मानी,
युग के भिक्षुक, आज कौन है जग में तुम सा दानी?

अब भी गूँज रहे कानों में शब्द तुम्हारे अभिनव।
"देशभक्तया त्वम त्यागेन सम्मानार्ह सदा भव"।

देश जाति की व्यथा तुम्हारी साँस साँस में बोली,
मरते मरते भी न भूल पाये तुम नोआखोली।

आजीवन रह गये परखते विश्वकित पीर पराई,
तुमने चाहा रहें स्नेह से मिलकर भाई भाई।

विश्वशांति-सुख हित तव जीवन का क्षण क्षण था अर्पित।
जिसके लिए जिये उसको तन मन कर गये समर्पित।

देव, अभाव तुम्हारा वाणी विवश नहीं कह पाती।
वह को सके सँभाल, हमें तुम सौंप गये जो थाती।

मार्क्सवाद : एक विकासोन्मुख समाज विज्ञान

श्री फूलनप्रसाद वर्मा, एम० ए०, बी० एल०

सवा सौ वर्ष से अधिक होता है कि प्रसिद्ध अंग्रेज़ कवि शेली ने रोम स्थित 'करकेला' के पहाड़ी खण्डहरों में एक वर्गविहीन समाज की कल्पना की है जिसका विस्तृत वर्णन उसकी प्रसिद्ध रचना "Prometheus Unbound" में इस प्रकार है—

> छिन्न-भिन्न हो गया आवरण घृणित, बच रहा मानव केवल
> [illegible] भयहीन, मुक्त, शृंखलारहित पर मानव निर्मल—
> देश जाति श्रेणी विभेद की सीमाओं से परे पूर्ण समता संस्थापक
> [illegible], परम मनमौजी, मुक्त विचारक
> [illegible], उदार पर विषयवासनाहीन हृदय क्या?
> नहीं—किंतु वह आत्म-विधायक, उसे ज्ञात कब पाप पुण्य क्या?
> [illegible] वह नियति, मृत्यु और [illegible]
> [illegible] पल पल मान रहे उसकी ही [illegible]
> [illegible] न होते तो वह मुक्त रूप हो जाता
> [illegible] गगन का शृंग [illegible],—
> [illegible] उसकी धुँधली आभा बन [illegible]। *

महाकवि शेली का यह धुँधला सपना आज सोवियत के महान प्रयोग के उपरान्त भी अधूरा है। वस्तुतः शेली कल्पना प्रधान कवि है, वह क्रान्ति का अग्रदूत है। किन्तु उसे समाजशास्त्री नहीं माना जा सकता। तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक विचारधाराओं के ज्ञान के अभाव के कारण शेली मानव समाज की सर्वांगीण प्रगति का मार्ग निर्देश करने में असफल रहा। उसकी अलौकिक दृष्टि तथा प्रतिभा का व्यावहारिक ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण हमें उसकी रचनाओं में मधुर उदासी की गहरी अनुभूति मिलती है यद्यपि कहीं कहीं पर उसके काव्य में आशावाद की सुनहरी झलक निराशावादी वातावरण में प्रकाश का काम करती है।

नैराश्य प्रधान रचनाओं में आशाप्रेरक सन्देश का कारण श्रीमती शेली के शब्दों में 'कवि का मङ्गलमय सर्वशक्तिमत्व में अन्तिम विश्वास' है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि शेली का पूरा विश्वास था कि अन्ततोगत्वा मानव की सहज प्राकृतिक मंगल भावना जनता को दासता की शृंखला से मुक्त करेगी। कवि ने बार बार इस भावना का अपनी रचनाओं में प्रतिपादन किया है। यह निर्विवाद सत्य है कि शेली एक उन्नत वर्गविहीन समाज की सुन्दर कल्पना से पूर्णतया प्रभावित था; किन्तु तत्कालीन सामाजिक संघर्ष के अल्प ज्ञान के कारण वह वर्गविहीन समाजव्यवस्था के निर्माण करने का कोई उपाय नहीं उपस्थित कर सका।

उन्नत वर्गविहीन समाज की कल्पना को मूर्त करने का श्रेय कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स को है। इन महान समाजशास्त्रियों ने जनता के सम्मुख न केवल वर्गहीन समाज का सन्देश ही रखा है, बल्कि तत्कालीन समाज को समाजवादी व्यवस्था में बदल डालने का मार्ग भी प्रशस्त किया है और हमारे लिए यह बहुत कुछ सम्भव कर दिया है कि हम आने वाले सामाजिक परिवर्तनों की पूर्व सूचना दें तथा उनका नियन्त्रण कर सकें। इनकी ऐतिहासिक व्याख्या के कारण ही समाजवादी समाज रचना का सपना पूर्ण हुआ है। मार्क्स ने इतिहास को समझने के लिए एक नई दृष्टि दी है; उसने नवीन इतिहास के निर्माण करने की कला भी बताई है। मार्क्स की महत्ता इतिहास की नई व्याख्या में ही सीमित नहीं है। उसने मानव जाति के इतिहास की गति को समाजवाद की ओर अग्रसर करने का उपाय भी बताया है। फायरबाख के दर्शन पर अपने प्रसिद्ध निबन्ध में मार्क्स ने लिखा है कि "अब तक दार्शनिकों ने संसार की भिन्न भिन्न

* पद्यानुवादक—श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'

एं ही की हैं परन्तु असली काम तो संसार को तने का है।"

स महान महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान का प्रभाव मानव के विभिन्न क्षेत्रों में होने पर भी कार्ल मार्क्स के पश्चात् उसका यह महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान रे एक स्थिर और जड़ सिद्धान्त बन गया। दी अंडरस्टैण्डिङ्ग आफ़ कार्ल मार्क्स' में हुक ने एक विनोदप्रिय फ्रांसीसी लेखक का दिया है कि "ईसाई धर्म की तरह मार्क्सवाद बाइबिल है; इसमें भी कौंसिलें हैं। इसमें ऐसे, जो अपने को मार्क्स के सच्चे अनुयायी हैं और दूसरों को पंक्ति से बाहर मानते हैं; ी अपने भाष्य और भाष्यकार हैं; और ईसाई तरह इसके भी अपने रहस्य हैं।" यहां पर ट करना आवश्यक है कि उपर्युक्त उद्धरण दी मूलभूत सिद्धान्तों पर किसी प्रकार का हीं है। परन्तु यहाँ केवल मार्क्सवाद के विकृत आलोचना की गई है। अतः हम आलोचना उठा सकते हैं। किन्तु मैक्स ईस्टमान आदि न्य लेखकों ने मार्क्सवादी मूलभूत सिद्धान्तों पर ार प्रहार किया है। अब हम यहां पर ईस्टमान मुख्य तर्कों पर विचार करेंगे।

ड़्ज़ मार्क्सिज्म ए साइन्स" नामक पुस्तक में न यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि मार्क्स-क सामाजिक विज्ञान नहीं है, बल्कि एक धार्मिक है। उसका कहना है कि मार्क्स ने तत्कालीन क सम्बन्धों को अपने मत की दृष्टि से समझने यत्न किया है, अतएव मार्क्स का दृष्टिकोण क नहीं है, बल्कि वह भावनाजनित और एक का धार्मिक विश्वास है। ईस्टमान बताता मार्क्स की विचारधारा उसके इस विश्वास पर बत रही है कि वर्तमान सामाजिक प्रक्रिया ाद के पूर्व निश्चित ध्येय की तरफ़ अनिवार्य बढ़ रही है। ईस्टमान एक प्रसिद्ध अमरीकन क जान ड्यूबी के निम्नलिखित अवतरण को समर्थन में पेश करता है कि कट्टर मार्क्सवाद, मज़हब और संकुचित आदर्शवाद की तरह इस विश्वास पर आश्रित है कि मानव के साध्य अस्तित्व के ताने बाने में सन्निहित हैं। सम्भवतः यह विचार मार्क्सवाद के मूल हेगेल से लिया गया है।

किन्तु इसके उत्तर में यह तर्क दिया गया है कि मनुष्य की क्रिया उन आवश्यक अवस्थाओं की शृंखला में एक आवश्यक कड़ी है, जिनके संयोग से समाजवाद की सफलता निश्चित हो जाती है। अब यदि मनुष्य की क्रिया एक आवश्यक कड़ी है, तो इसका यह परिणाम होता है कि यदि मनुष्य क्रिया से पृथक हो जाता है तो घटनाओं की समस्त शृंखला ही टूट जाती है। इस युक्ति के उत्तर में मार्क्सवादी का कथन है कि मनुष्य इच्छा करने पर भी क्रिया से विरत नहीं हो सकता। हम यहाँ इस विवाद के विषय में एंगेल्स का प्रामाणिक मत देते हैं। फायरबाख के अपने अध्ययन में एंगेल्स कहता है "एक आकार से दूसरे आकार में परिवर्तन होने की जो प्रक्रिया है, उसमें वास्तविकता आर्थिक आवर्तन के लिए आवश्यक साधन स्वरूप मनुष्य का ग्रहण करती है।" यदि एंगेल्स का वास्तव में यही मत है, तो उनके और सैंट पाल के विचारों में अन्तर नहीं मालूम पड़ता। सैंट पाल की मान्यता है कि एक पूर्व निश्चित ध्येय की सिद्धि के लिए मनुष्य ईश्वरनियुक्त साधन मात्र है। ईस्टमान के अनुसार बुद्ध का इस वृत्ति में मार्क्स और हेगेल में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, यद्यपि यह सही है कि हेगेल के अनुसार विश्वात्मा इस कार्य को सम्पन्न करती है और मार्क्स के अनुसार उत्पादन की भौतिक शक्तियां इस कार्य को सिद्ध करती हैं। ईस्टमान का कहना है कि "मार्क्स ने हेगेल की विश्वात्मा के स्थान में केवल एक विश्वतत्त्व रख दिया है, जो एक भिन्न उद्देश्य को लेकर और बिना किसी विशेष आयोजन के उस समस्त क्रियाकलाप को सम्पन्न करता है, जिसकी पूर्ति के लिये विश्वात्मा का प्रयोग किया गया था।" और यह भी बताया गया है कि वैज्ञानिक दृष्टि से इसमें कोई अन्तर नहीं होता कि हेगेल की विश्वात्मा तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के न बदलने के पक्ष में है और मार्क्स का विश्वतत्त्व सर्वहारा वर्ग और क्रान्ति के पक्ष में है। ये दोनों वस्तुतः धार्मिक वृत्तियां हैं।

यद्यपि हम मैक्स ईस्टमान की युक्ति की क्षमता को स्वीकार करते हैं तथापि हम मुख्यतः दो कारणों से उनसे सहमत नहीं हो सकते। पहला कारण यह है कि मैक्स ईस्टमान मार्क्स की शिक्षा के हृदय तक न पहुँच कर उसके शब्दों को ही पकड़ते हैं, और दूसरा यह कि मार्क्स अपनी भाषा का उद्धार जर्मन दर्शन की धार्मिक और आध्यात्मिक शब्दावली से नहीं कर सका। वस्तुतः मार्क्स ने आध्यात्मिक विचार शैली का परित्याग कर दिया था। किन्तु भाषा की उस पुरातन परम्परा को वह नहीं छोड़ सका था। अतएव उसके विचारों के समझने में उलझन पैदा होती है। पर मार्क्सवाद की समीक्षा करने में हमको मार्क्स के विचारों के सार की ही आलोचना करनी चाहिये। हम इस सार का वर्णन कतिपय वाक्यों में करेंगे।

सन् १८४७ में ही "पावर्टी आफ़ फिलासफी" नामक ग्रन्थ में मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधारभूत विचार का विवेचन किया था। यह पुस्तक प्रूधों के "फिलासफी आफ़ पावर्टी" नामक ग्रन्थ के उत्तर में लिखी गयी थी। इस पुस्तक में मार्क्स ने अपना निष्कर्ष बताया है कि उत्पादन की भौतिक शक्तियों के परिवर्तन के साथ साथ समस्त राजनीतिक और सामाजिक ढांचा बदलता है। उसके अनुसार करघे के युग ने सामन्तवादी समाज को जन्म दिया और जब उत्पादन की शक्तियों में पुनः परिवर्तन हुआ तथा उत्पादन के पुराने प्रकार के स्थान में भाप की शक्ति का उपयोग कर मशीन का युग आया, तब एक पूँजीवादी समाज का जन्म हुआ, जिसने विचारों और सिद्धान्तों की एक नई परम्परा कायम की। इस विचार की सत्यता की हमें परीक्षा करनी है। किन्तु हमारा यह अनुरोध है कि इस विचार में धार्मिकता का लेशमात्र भी नहीं है।

मार्क्सवाद का दूसरा बुनियादी पत्थर वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त है। मार्क्स ने निर्देश किया है कि मानव जाति का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है। सामाजिक विकास के विविध स्तरों पर शोषक और शोषित के बीच जो संघर्ष रहा है, उसका ही इतिहास मानव समाज का इतिहास है। मार्क्स के अनुसार यह संघर्ष अब उस अवस्था को प्राप्त हो गया है, जहाँ समाज का शोषित और पीड़ित वर्ग अर्थात् सर्वहारा वर्ग शोषक और पीड़क वर्ग से अपने को स्वतन्त्र करने के लिये समस्त समाज को सदा के लिये शोषण और उत्पीड़न से मुक्त करके वर्गहीन समाज की स्थापना करेगा। मार्क्स ने यह भी कहा है कि संक्रमण काल में सर्वहारा वर्ग को अपना अधिनायकत्व कायम करना होगा जो कि ध्येय की प्राप्ति करेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि जब से बड़े पैमाने पर उद्योग व्यवसाय की स्थापना हुई है, हम देखते हैं कि पहले उत्कर्ष और आधिपत्य के लिये सामन्तशाही और मध्यम वर्ग के बीच संघर्ष हुआ और अन्ततोगत्वा इस संघर्ष में मध्यम वर्ग ने विजय प्राप्त की। अब संसार के रंगमंच पर तीसरे वर्ग ने प्रवेश किया है। यह वर्ग सर्वहारा का वर्ग है, जो मध्यम वर्ग के आधिपत्य और प्रभुत्व का विरोध करता है। मार्क्स के अनुसार यह वर्ग निश्चय ही पूँजीवाद को छिन्न भिन्न करके समाजवाद को स्थापित करेगा, क्योंकि आज के उद्योग प्रधान समाज में इसको वे विशेष सुविधाएं प्राप्त हैं, जो और वर्गों को नहीं हैं, और जिनके द्वारा यह सर्वहारा वर्ग समाज के मर्मस्थल पर आघात कर सकता है। साथ ही साथ इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये उसके पास विपुल संख्या और आवश्यक क्रान्तिकारी शक्ति है। इतिहास को समझने के लिये मार्क्स की ऐसी दृष्टि है। इस दृष्टि को धार्मिक बताना बहुत बड़ी ग़ैरज़िम्मेदारी है।

पुनः यदि मार्क्स का विवेचन उसको इस परिणाम पर ले जाता है कि सामाजिक विकास की अगली मंज़िल समाजवाद की होगी, जिसमें मज़दूर वर्ग के अधिनायकत्व का संक्रमण काल होगा, तो इस मनोवृत्ति में विज्ञान के विपरीत कोई बात नहीं है। हम आगे यह दिखलायेंगे कि मार्क्स के लेखों में किसी ऐसी बात का उल्लेख नहीं है, जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि एक शुद्ध यान्त्रिक विधान समाजवाद में परिणत होगा। इस समय हमारा इतना ही कहना है कि सामाजिक शक्तियों के विवेचन विशेष के आधार पर सामाजिक विकास की अगली मंज़िल की पूर्व

देना विज्ञान विरुद्ध नहीं है। मार्क्स की
ा सही उतरे अथवा ग़लत—इसकी हमें परीक्षा
है—किन्तु यदि यह विवेचन ग़लत हो, तो भी
ालोचना उपयुक्त नहीं है कि उनका दृष्टिकोण
क है। विज्ञान जगत में भी हम देखते हैं कि
सी भूलें हो जाती हैं, जिनका कि पता बाद के
न्धानों से चलता है; किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं
कि पूर्व विचारकों की विचार शैली इस कारण
ानिक थी: क्योंकि नवीन घटनाओं के आलोक
गे चलकर उनके अनुसन्धानों में सुधार करना
यह उक्ति सारहीन होगी कि डारविन की
शैली केवल इसलिये अवैज्ञानिक थी कि बाद
ोजों ने उनके सिद्धान्त में मौलिक परिवर्तन
देया।

मारे मत में आज की जानकारी के आधार पर
के अग्रिम आकार के सम्बन्ध में पूर्व सूचना देना
निक नहीं है अगर कुछ शर्तें पूरी हो जायँ और
न्धान के प्रकार विशेष का अनुसरण किया जाय।
यह प्रकार ऐसा होना चाहिये जो कि घटना
में निहित हो। घटना समूह में निहित जिस
ी की खोज मार्क्स ने की है वह सर्वहारा वर्ग की
ता है। हम इस विचार विमर्श में "ऐतिहासिक
यकता" और "पूर्व निश्चित ध्येय" आदि शब्दों
ज़रअन्दाज़ कर सकते हैं, जिनका प्रयोग मार्क्स ने
है। अधिक से अधिक इन शब्दों का व्यावहारिक
है। रोज़ा लुक्सेमबर्ग का विचार है कि सामाजिक
की आवश्यकता में दृढ़ विश्वास होने से ही
ों के आन्दोलन को शक्ति, उत्साह, धैर्य, आत्म-
वीर्य और क्षमता प्राप्त होती है। इस स्थान पर
इस तर्क की युक्तता पर विचार नहीं करना है।
वल इतना ही बताना चाहते हैं कि जब मार्क्स ने
न की भौतिक शक्तियों में जो परिवर्तन होते हैं,
परिणामों का अध्ययन कर अपनी इस युक्ति
विकसित किया तो यह विचार शैली सर्वथा
नक थी।

ईस्टमान की आलोचना पर हमारी जो पहली
ति है, उस पर हमने विचार किया है।

मैक्स ईस्टमान की आलोचना पर हमारी दूसरी आपत्ति यह है कि मार्क्सवाद के वैज्ञानिक स्वरूप की समीक्षा करते समय वह इस बात को ध्यान में नहीं रखते कि समाजशास्त्र में वैज्ञानिक अनुसन्धान की मर्यादायें हैं। वह भूल जाते हैं, जैसा कि स्टेमलर ने दिखलाया है, कि सामाजिक विज्ञान सोद्देश्य विज्ञान है, जब कि भौतिक विज्ञान कार्य कारण की दृष्टि से सब बातों का विचार करते हैं। यह प्राकृतिक विज्ञान के सदृश समाज विज्ञान में भी उसी मात्रा की निरपेक्षता की आशा रखते हैं। प्रश्न के स्पष्टीकरण के लिये इस पर विचार करना आवश्यक है। लुई वर्थ ने मैनहाइम की प्रसिद्ध पुस्तक "आइडियोलोजी एण्ड यूटोपिया" की भूमिका में बताया है कि समाज विज्ञान के शुद्ध बाह्य विषय मूलक अध्ययन में दो मुख्य कठिनाइयाँ हैं। वह कहता है कि सामाजिक क्षेत्र में दर्शक भी दृश्य का एक अङ्ग है और इसलिये निरीक्षण के विषय में उसका निजी स्वार्थ है। अतः इस प्रश्न का निर्णय करने में यह बात विचारणीय है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारने लायक है कि सामाजिक जीवन में और इसलिये समाज विज्ञान में बहुत कुछ क्रिया के उद्देश्यों पर भी ध्यान रखना पड़ता है।

लेनिन ने भी इस निरपेक्ष ज्ञान के प्रश्न पर विचार किया है और संक्षेप में उसने यह प्रतिपादित किया है कि वर्ग स्वार्थों से छिन्न भिन्न समाज में सर्वथा निरपेक्षता मूलक अध्ययन सम्भव नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि आज की सामाजिक व्यवस्था में समान स्वार्थ ऐसी कोई वस्तु नहीं है; ऐसा कहना केवल एक आलंकारिक भाषा का प्रयोग करना होगा। संसार टुकड़ों में बँट गया है और स्वार्थों तथा सिद्धान्तों का संघर्ष चल रहा है। ऐसी अवस्था में प्रसिद्ध समाज शास्त्री मैनहाइम के अनुसार एक ही प्रकार का लाभदायक सामाजिक अनुसन्धान हो सकता है और वह यह है कि हम विविध सिद्धान्त, उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि और उनके घोषित उद्देश्यों के आधार की खोज करें। किन्तु इससे यह परिणाम निकालना ठीक न होगा कि वर्तमान समाज में जिस सत्य का अन्वेषण आज सम्भव है, वह वर्ग सत्य है। मैनहाइम का यह अनुमान कि हमारा विचार परिस्थितियों से आबद्ध है अधिक युक्तियुक्त है। और यही बात मार्क्स ने पहले ही ढूंढ निकाली थी। मार्क्स के शब्द हैं कि "हमारा विचार सामाजिक परिस्थितियों पर अवलम्बित है।" मार्क्स की जिस निम्नलिखित बात का अक्सर उद्धरण किया जाता है, उसका भी यही अर्थ है :—"मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, किन्तु इनके विपरीत सामाजिक जीवन उनकी चेतना को निर्धारित करता है।"

उपर्युक्त वाक्य अवैज्ञानिक तो नहीं है, किन्तु हमारे मत में इसमें कुछ संशोधन करने की आवश्यकता है। यदि इस वाक्य का यह अर्थ है कि किसी वर्ग विशेष की चेतना, उस वर्ग विशेष की परिस्थिति की सामाजिक मर्यादा से ऊपर उठ नहीं सकती, तो यह केवल सामान्य रीति से ही उस वर्ग के लिये लागू होगा। किन्तु यह उस वर्ग विशेष के सभी व्यक्तियों के लिये सत्य नहीं माना जा सकता। समाज में वर्गबन्धन और वर्ग बन्धन से मुक्त बुद्धिजीवियों की एक बहुत बड़ी संख्या है। लेनिन इस बात को स्वीकार करता है। लेनिन के अनुसार 'सोशल डिमाक्रेसी का सिद्धान्त मज़दूर आन्दोलन की स्वतः वृद्धि के सम्बन्ध में बिना आये ही स्वतन्त्र रूप से गठित हुआ है। धनी वर्गों के शिक्षित व्यक्तियों ने ही समाजवाद के दार्शनिक, ऐतिहासिक और आर्थिक सिद्धान्तों का निरूपण और विकास किया था। मार्क्स और एंजिल्स भी मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवी व्यक्ति थे। लेनिन ने स्वयम् स्वीकार किया है कि यदि मज़दूर वर्ग को अपने ही ऊपर छोड़ दिया जाता, उसको मध्यमवर्गीय विचारकों की सहायता न मिलती, तो वह ट्रेड यूनियन की चेतना के आगे नहीं जा सकता था।

इसलिये यह निष्कर्ष निकालना युक्तिसंगत है कि यद्यपि हमारा विचार बहुत कुछ परिस्थितियों से बँधा हुआ है और हमारी सामाजिक अवस्था पर आश्रित है तथापि उसमें अपने वर्ग और परिस्थितियों की मर्यादा का उल्लंघन करने की बहुत कुछ पात्रता है। मार्क्स के अनुसार इसी अर्थ में विचार सामाजिक परिस्थितियों के आश्रित हैं कि यदि हेगेल और रिकार्डो उसके पहले न हुए होते और यदि विशेष औद्योगिक अवस्था का प्रादुर्भाव न हुआ होता, यदि पूँजीवाद की आश्चर्यजनक प्रगति न हुई होती और यदि मार्क्स के जीवन काल में ही किसी न किसी अंश में पूँजीवाद भयावह न सिद्ध होता जाता तो मार्क्स की जो विशेष विचार परम्परा है वह असम्भव हो जाती। शेक्सपीयर के काल में किसी मार्क्स के होने का विचार भी सम्भव नहीं है।

हमारे मत में मार्क्सवाद औद्योगिक सभ्यता और एक विकासोन्मुख समाज विज्ञान की विशेष उपज है। यह हो सकता है कि हमको जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज विज्ञान की हाल की खोजों तथा सोवियत के अथवा अन्य सदृश प्रयोगों के परिणाम के आधार पर मार्क्सवाद का परिष्कार करना पड़े। मार्क्सवाद का जो प्रयोग रूस में हुआ है, उससे कुछ परिणाम निकले हैं। वह हमारे लिये उदाहरण और चेतावनी दोनों का काम करते हैं। सोवियत रूस की कई सफलताएं उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः गत महायुद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया है कि एक समाजवादी आर्थिक पद्धति, जिसमें उत्पादन वितरण और विनिमय के साधनों में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभाव होता है, आश्चर्यजनक जीवन शक्ति से सम्पन्न होती है। इसने अन्य आर्थिक पद्धतियों के मुकाबले समाजवादी आर्थिक पद्धति की उत्कृष्टता को प्रमाणित कर दिया है। किन्तु रूस की पद्धति में कई दोष भी हैं। सोवियत् प्रणाली के कारण आज रूस में नौकरशाही का अतुल प्रभुत्व, नई सामाजिक और आर्थिक विषमताएं, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का लोप और जीवन तथा मनुष्य की सृजन शक्ति को एक ही सांचे में ढालने के लिये विवश करने की प्रवृत्ति आदि दोष आ गये हैं। हमको इसका अनुसन्धान करना पड़ेगा कि ये दोष क्षणिक हैं अथवा केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति में ही निहित हैं। हमको यह भी देखना होगा कि स्तालिन की लिप्सा के कारण, अथवा साध्य की प्राप्ति के लिये प्रयुक्त साधनों के कारण, अथवा अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति की विफलता के कारण, अथवा इन सभी कारणों के फलस्वरूप, या इनमें से कुछ कारणों से ये दोष उत्पन्न हुए हैं। तथा इस अध्ययन और अनुभव के आलोक में हमको मार्क्सवाद का संशोधन करना होगा। सोवियत प्रयोग से यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि आर्थिक क्षेत्र में उसको

सफलता मिली है तथापि हम सामाजिक क्रान्ति इस बात के लिये निर्भर नहीं रह सकते कि उससे ानव स्वभाव में स्वतः ऐसा परिवर्तन हो जायगा से एक न्याययुक्त सामाजिक और आर्थिक पद्धति म रह सके और सामाजिक तथा आर्थिक असमा- की वृद्धि रोकी जा सके। मैक्स ईस्टमान ने भी ओर ध्यान आकर्षित किया है। किन्तु वह केवल प्रश्नको प्रस्तुत करते हैं। इस समस्या का कोई युक्ति- युक्त उपाय नहीं बताते।

ऊपर विविध प्रश्नों का जो विचार हमने किया है उस पर हमारा निष्कर्ष यह है कि मार्क्सवाद न आध्यात्मिक शब्दाडम्बर है और न एक धार्मिक अन्ध- विश्वास है। किन्तु वह एक विकासोन्मुख समाज विज्ञान है।

महासंकल्प

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

सुनो, सत्य चिल्लाता है
: मेरा नाम अँधेरे में,
करुणा पुकारती है मुझ को
आवद्ध घृणा के घेरे में।
मैत्री, विश्वास, प्रेम,
ो हैं मेरे सभी लोग,
धिक्कार मुझे जो सहूँ किसी-
के भय से मैं इनका वियोग।
चाहते हैं, जाऊँ
सत्वर उन्हें बचाने को,
या कारागृह में कूद स्वयं
बँध जाने या जल जाने को।
साथ लगे कोई मेरे,
को आज चलूँगा मैं,
जो आग उन्हें है भून रही,
उसमें जा स्वयं जलूँगा मैं।
! हाँ, एकाकी हूँ!
ना चाहे तो काल डँसे,
करुणा को जिसने ग्रसा,
बढ़े आगे, मुझको वह काल ग्रसे।

मैत्री, विश्वास, अहिंसा को
जिस महा दनुज ने खाया है।
है कहाँ छिपा? ले ले भोजन
फिर वैसा ही कुछ आया है।
वामी से कढ़ बाहर आवे
वह दनुज मुझे भी खाने को,
मैं हो आया तैयार प्रेम का
अन्तिम मोल चुकाने को।
भर गया पेट इतने से ही?
मुझको खाने की चाह नहीं?
पर, याद रहे, मैं सहज छोड़-
देने वाला हूँ राह नहीं।
वामी-वामी पर घूम-घूम
मैं तब तक अलख जगाऊँगा;
जब तक न हृदय की सीता को
तुमसे वापस फिर पाऊँगा।
या दे दूँगा मैं प्राण : कमण्डल-
में हो चाहे जो उपाधि;
मानवता की जो कब्र वहीं
गाँधी की भी होगी समाधि।*

* बापू शीर्षक एक लम्बी कविता का अंश।

जनता और नेता

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

राष्ट्र के जनसमूह की संज्ञा जनता है। जनशक्ति राष्ट्र की सबसे महती शक्ति है। जनता की महिमा से अधिक राष्ट्र में और किसी की महिमा नहीं है। जनता ही प्रत्येक राष्ट्र का महामहिम देवता है।

जन का जीवन अमर होता है। राष्ट्र में व्यक्ति उत्पन्न होते और विलीन होते रहते हैं, किन्तु जन का जीवन अमरत्व शक्ति के द्वारा सदा आगे बढ़ता रहता है। अतीत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य इन तीनों कालों में जनजीवन की धारा अखण्ड बनी रहती है। जिस प्रकार वर्षा काल में नदी किनारे की भूमि प्रति वर्ष नयी हो जाती है, उसी प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी के परिवर्तनशील क्रम से प्रायः प्रत्येक शताब्दी में जनता का भौतिक रूप भी नया हो जाता है, किन्तु इस परिवर्तन के भीतर वज्र की तरह दृढ़ और सब प्रकार से अमिट और अविचल जो राष्ट्रीय तत्व है वह जन का जीवन है। जन की दृष्टि से राष्ट्र अमर होता है। जन सच्चे अर्थों में अमृत का पुत्र कहा जा सकता है। जिन्हें काल की व्याधा नहीं व्यापती उन्हें देव कहते हैं, अतएव जन दैवी अंश से ओतप्रोत रहता है। जनसमूह या जनता की दृष्टि से किये जाने वाले कार्यसम्भार भी कल्पस्थायी होते हैं। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिये यही सब से बड़े परितोष का कारण होता है कि उसका जन अमर है। और फलतः उसके द्वारा जनहित के लिए किये हुए कार्य भी अमर हैं।

काल के प्रभाव से हमारे चारों ओर नश्वरता फैली हुई है। धन, यौवन, जीवन कुछ भी इस नश्वर खेल से बचा नहीं है। इस चल विचल पृष्ठभूमि पर जन के अमृत जीवन की दृढ़ प्रतीति ही हमारे जीवन और कार्यों को आलोकमय, प्रफुल्लित और आशा-संचार से युक्त बनाती है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि कालकृत धर्म, जन के महान् जीवन को दूर तक नहीं छू पाते। जन का जीवन इस वनस्पति जगत् में प्रवाहित रस के समान सदा बना रहता है। उस में उतार चढ़ाव आते हैं, किन्तु उसके अमृत स्रोत कभी नहीं छीजते! समय समय पर वे उसे हरा बना कर दुगुनी शक्ति से फूलने फलने के लिये प्रेरित करते हैं। राष्ट्र की जनशक्ति सचमुच आश्चर्यजनक चमत्कार से भरी हुई एक सत्ता है। उसमें नित्य चैतन्य का निवास है और उस में आनन्द की भावना भी अमर है। जन का सामूहिक व्यक्तित्व जिसे हम दूसरे शब्दों में राष्ट्र कहते हैं, सत्ता, चेतना और आनन्द इन तीन गुणों के कारण सृष्टि की उस बड़ी शक्ति के कुछ कुछ समान है जिसे दार्शनिक परिभाषा में ब्रह्म कहते हैं। वस्तुतः हिन्दू राजनीति शास्त्र में राष्ट्र को भौम ब्रह्म की संज्ञा दी गई है।

व्यक्ति का जीवन परिमित किन्तु राष्ट्र का जीवन महान् होता है। व्यक्ति के लिए तबतक शान्ति की आशा नहीं जबतक वह अपने आप को राष्ट्र के रूप में परिणत न कर ले, अर्थात् वह राष्ट्र के जीवन के साथ एक न हो जाय। व्यक्ति का निजी जीवन स्वार्थ की परिधि से घिरा है, वह इस परिधि को जब विस्तृत करता है तब राष्ट्र या जन के स्वार्थ के साथ अपने स्वार्थ को एक करने लगता है। इस प्रकार निजी स्वार्थ क्रमशः राष्ट्रीय स्वार्थ के साथ मिल जाता है और इस अन्तर्भाव के द्वारा व्यक्ति की आत्मा संकोच और संकीर्णता से छूट कर अपने स्वभाविक विकास को प्राप्त करती है, जिसका कि उसे जन्मसिद्ध अधिकार है और जिस में उस की सच्ची पूर्णता है। एक जन्म में हो अथवा कई जन्मों में हो आत्मा के पूर्ण विकास के लिये यह प्रक्रिया आवश्यक है।

व्यक्ति के मन पर जो नानाविध स्वार्थों की मोटी परतें जमी रहती हैं, उनको हल करने का एक बड़ा साधन राष्ट्रीयता की भावना है। इसे राष्ट्रीयता का आध्यात्मिक पहलू कहा जा सकता है। यह निर्विवाद है कि जन के साथ एक हुए बिना व्यक्ति अपनी पूरी

ा या ऊंचाई को प्राप्त नहीं कर सकता। राष्ट्र
रीर में जो अखण्ड चैतन्य है, उसका संस्पर्श व्यक्ति
ीवन की क्रियाशक्ति को जागृत करने के लिए
श्यक है। राष्ट्र शरीर से अलग रहकर हम जीवन
ाधना नहीं कर सकते। राष्ट्र के जागरण का प्रकाश
क जीते जागते व्यक्ति के द्वारा प्रकट होता है।
से जो विलग है वह मृततुल्य है। जब राष्ट्र
ता है, तब भी वह सोया हुआ रहता है।

जन का जागरण बहुत ही आश्चर्यजनक घटना
है। सोता हुआ जन जिस समय जागता है
ा प्राणव्यापार, मन का व्यापार, बुद्धि का व्यापार
त्र में एक अपूर्व क्रियाशीलता, चेतना और अनु-
की लहर व्याप जाती है। सदियों से सोये हुए
र जाग उठते हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की
पड़ताल होने लगती है। जहाँ जहाँ अंधेरा है
हाँ नया प्रकाश फैलने लगता है। मन में नये
ों के अंकुर फूटते हैं और कर्म में नयी शक्ति
होती है। पूर्वजों ने भी जो नहीं किया उसे पूरा
का साहस जागे हुए राष्ट्र के युवकों में उत्पन्न
है। जन का शरीर तन्द्रा और आलस्य को
कर कर्म के लिए उठ खड़ा होता है। जनता
बीस अँगुलियों वाले हाथों को नये सिरे से
नती है। 'जिनके पास हाथ हैं वे क्या नहीं कर
—भगवान् वेदव्यास के इस वाक्य की नयी-
याख्याएं जागे हुए जन को सूझने लगती हैं।
द का यह नया सिद्धान्त जनता का जीवनशास्त्र
ाता है। पाणिवाद को माननेवाली जनता ही
र्र होती है अर्थात् सब कामों में सिद्धि और
ा प्राप्त करती है।

ागरित राष्ट्र के शरीर और मन दोनों में नया
ग्न उत्पन्न होता है। अथर्ववेद में एक स्थान
। को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—

त्वेग राजथुर्वेपथुष्टे। (अथर्व। १२।१।१८)

ह जन! तुम्हारे शरीर का प्रकम्प (वेपथु) और
मन का स्फुरण (राजथु) महान् वेग से युक्त है।
न के शरीर और मन की क्रियाशक्ति ही
राष्ट्रीय-शक्ति या आन्दोलन के रूप में प्रकट होती है।
यही मातृभूमि के शरीर का ऊर्ज या बल है, जो उसके
पुत्रों को संचालित कर देता है। पृथ्वी के ऊर्ज का
ही दूसरा नाम राष्ट्रबल है। जिस समय राष्ट्रीय ऊर्ज
रूपी जल के रुंधे हुए कपाट खुल जाते हैं, उस समय
ज्ञान, विज्ञान, विद्या, साहित्य, कला, शिल्प, उद्योग
इनकी बाढ़ आ जाती है। जनता के जीवन में कितनी
शक्ति है, इसका आभास उसी समय प्राप्त होता है।
उस बढ़े हुए जीवनप्रवाह को यदि ठीक मार्ग पर ले
जाया जाता है, तो उसके निर्माणकारी तत्त्व नई सृष्टि
कर डालते हैं।

जनता के समुदीर्ण या बढ़े चढ़े जीवन को निय-
न्त्रित करने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता नेता की
है। नेता जनता के आराध्य देव, उसके विकास के
जन्मदाता और पूरक कहे जा सकते हैं। जनता के
जीवनरूपी सरोवर में नेता तैरते हुए कमल के समान
हैं। जनता कबन्ध है, नेता उसके सिर है। जनता
अथवा राष्ट्रीय जनसमूह में जो विशिष्ट जन हैं वे
नेता की पदवी प्राप्त करते हैं। नेता सोई हुई जनता
के मस्तिष्क हैं, नेता ही सबसे पहिले सोते हुए राष्ट्र में
जागरण के मन्त्र का उच्चारण करते हैं—

राष्ट्रे जागृयाम वयम्

'हम राष्ट्र में जागें' यह अलख नेताओं के द्वारा
ही घर घर में पहुँचता है। यही अलख राष्ट्र का रक्षा
मन्त्र है। जिस राष्ट्र के अनेक व्यक्ति जागते हैं वही
जागा हुआ राष्ट्र है।

नेता जनता के मार्गप्रदर्शक होते हैं। पुरानी
परिभाषा के अनुसार हम नेता को पथिकृत कह सकते
हैं। नेता जो मार्ग बताते हैं जनता उसका अनुसरण
करती है। जनता के लिए नेता बड़ी भारी शक्ति है।
नेता के बिना जनता अशक्त और अनाथ की तरह
रहती है। जनता का तेज ही नेता के रूप में प्रकट
होता है। नेता के रूप में अपने ही तेज के दर्शन
पाकर जनता प्रसन्न और सन्तुष्ट होती है। जनतन्त्र
शासनप्रणाली में नेता का महत्व सबसे अधिक है।

मूर्धाभिषिक्त राजाओं का समय अब बीत गया। नेताओं
के द्वारा ही जनता का ऐश्वर्य भविष्य में प्रकट होगा।
जनता की सबसे बड़ी शक्ति उसका ऐश्वर्य (सावरेन्टी)
है। ईश्वरता का भाव या ऐश्वर्य अथवा प्रभुशक्ति
अन्ततोगत्वा जनता की वस्तु है। उस पर जन का ही
एक छत्र और अखण्ड अधिकार माना गया है।
राष्ट्र में ऐश्वर्य शक्ति को जनता से कभी पृथक् नहीं
किया जा सकता। ऐश्वर्य का अपहरण राष्ट्र की सबसे
बड़ी क्षति है। जनता अपने उस ऐश्वर्य या प्रभुशक्ति
को स्वेच्छा से नेता के हाथ में समर्पित करती है।
जनता के प्रतिनिधि बनकर ही नेता ऐश्वर्य किंवा प्रभु-
शक्ति का उपभोग करते हैं। वस्तुतः राष्ट्र की जो
सबसे ऊंची आसन्दी (गद्दी) है उस पर अपने
ऐश्वर्य से सुसज्जित करके नेता को जनता प्रतिष्ठित
करती है। आरम्भ में राजा का आविर्भाव भी
इसी प्रकार से हुआ। जनता का नेता ही राजा की
उपाधि से विभूषित हुआ था और जनता ने स्वयं
अपने ऐश्वर्य का दान करके उसका वरण किया—

विशस्त्वा वृणतां राज्याय

'प्रजायें राज्य के लिए तुम्हें चुनती हैं।' अभिषेक
के समय का यह मन्त्र ही राजा और प्रजा के सम्बन्ध
का नियामक था। आज यद्यपि मुकुट पहिनने वाले
राजाओं का स्थान नेताओं को प्राप्त हुआ है फिर भी
उस प्राचीनतम और मौलिक नियामक सम्बन्ध में
कोई अन्तर नहीं पड़ा। प्रजाओं के स्वयंवर से ही
नेताओं का जन्म होता है। नेता अपने लिये किसी
दैवी अंश की कल्पना नहीं करता, वह अपने आप को
प्रजाओं का ही एक अंग समझता है। फिर भी वह
एक सामूहिक जनशक्ति का प्रतीक है, नरों में वह श्रेष्ठ
नर है। वेद के शब्दों में हम उसे नृतम् कह सकते हैं।

नेता की यह शक्ति उस के चरित्र आदि गुणों से
प्रकट होती है। नेता जनता के लिये चरित्र का
मानदण्ड है। चरित्र सम्बन्धी जिन गुणों की प्रतिष्ठा
राष्ट्र के लिए आवश्यक है, जनता अपने नेता में उन
गुणों को प्रत्यक्ष देखना चाहती है। नेता अपनी
जनता के साथ सच्चे अर्थों में एक हो जाता है, उसके
स्वार्थ की परिधि फैल कर जनता के स्वार्थ के साथ मिल
जाती है और इस प्रकार जितना बड़ा राष्ट्र है नेता का
जीवन भी उतना ही बड़ा हो जाता है। नेता के
जीवन यज्ञ की वेदी समस्त राष्ट्र को अपने में सम्मिलित
कर लेती है।

कहा जाता है कि आदिराज पृथु को जनता ने जब
अपना अग्रणी या नेता नियुक्त किया तो पृथु भूमिरूपी
ब्रह्म के साथ एक हो गये। पृथ्वी के साथ इस ऐक्य-
भाव या तादात्म्य सम्बन्ध के साक्षात्कार में ही नेता की
शक्ति का स्रोत है। यहीं से उसे जनता के ऐश्वर्य में
विशेष भाग पाने का अधिकार होता है। इस प्रकार
के व्यक्ति को पाकर जनता अपने को कृतकृत्य समझती
है और अपना सर्वस्व उसे समर्पित करती है।

मार्क्स और नियतिवाद

आचार्य नरेन्द्र देव

अपने मूलरूप में नियतिवाद का प्रश्न जीवस्वातंत्र्य-
से उत्पन्न हुआ प्रश्न था। क्या मनुष्य स्वतंत्र
है अथवा वह अवश होकर कार्य करता है ?

कर्मस्वातंत्र्यवाद के विरोध में यह तर्क उपस्थित
ा गया था कि यदि सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने मनुष्य
ष्टि उसके स्वभाव की सारी आवश्यकताओं को
करके की है, तो मनुष्य को दण्ड देने का उसको
क अधिकार नहीं है। इसके उत्तर में प्रतिपक्षी
प्रतीति, मनुष्य के अनुभव का प्रमाण देते थे।
विक जीवन में मनुष्य जानते हैं कि वह विकल्पों
चुनाव करते हैं। वह यह भी जानते हैं कि मनुष्य
द्गति या दुर्गति होती है और प्रयोजन विशेष के
बुद्धिपूर्वक यत्नशील होने से मौलिक सुधार भी
है। कर्मस्वातन्त्र्य का केवल इतना अर्थ है कि
य दो विकल्पों में से अपनी इच्छा के अनुसार
एक को चुनने की योग्यता रखता है।

प्रतिपक्षी का कहना है कि यदि कर्मस्वातन्त्र्य है,
सका अपनी परिधि में इतना सामर्थ्य तो होना
ये कि वह सर्वशक्तिमान् के आशय को व्यर्थ कर
किन्तु उस अवस्था में ईश्वर का सर्वशक्तिमत्त्व
रहेगा। चूँकि ऐसा अचिन्त्य है और ऐसी
ा करना मनुष्य के लिए पाप है अतः मनुष्य
त्र कर्ता नहीं है।

कालविन (Calvin) के कट्टर अनुयाइयों का
ही मत था कि मनुष्य का वास्तविक स्वातन्त्र्य
अंश में भी स्वीकार करना ईश्वर के सर्वशक्तिमत्त्व
ाक्रमण करना होगा। इससे विश्व की धर्मता को
याघात पहुँचेगा। जीव नहीं समझ सकता कि
ने क्यों किसी की नारक गति आरम्भ से ही
त की है और दूसरों के लिये भगवत् प्रसादवश
नियत किया है। इससे केवल इतना ही सिद्ध
है कि यह व्यवस्था दैवकृत है।

बहुत पीछे जब अपराध करने वाले के साथ दया
व्यवहार करने की मांग पेश की गयी तब यह
द पुनः उठ खड़ा हुआ। सुधारकों की ओर से
पर ज़ोर दिया गया कि चूँकि अपराधी का
स्वभाव और चरित्र उसकी परिस्थिति तथा शिक्षा दीक्षा
पर निर्भर करता है और वह उसके लिए उत्तरदायी
नहीं है, अतः बदला लेने के भाव से उसको दण्ड
देना निष्ठुर और बुद्धि के प्रतिकूल है। उनका कहना
है कि मनुष्य सर्वथा वंशगत गुण और परिस्थिति का
फल है। वह अवश और असहाय है। परिस्थिति
तथा वंश के अनुसार ही उसका निर्माण होता है।
जिस प्रकार घड़ी की सूइयां अवश हैं उसी प्रकार
मनुष्य अवश है।

कालविन के जिन अनुयाइयों का इसके सदृश मत
है उनमें और इन सुधारकों में केवल इतना ही विशेष है
कि जहाँ कालविन के अनुयायी मनुष्य का संचालन करने
वाली शक्ति को ईश्वर कहते हैं वहाँ यह सुधारक उसे
प्रकृति, शिक्षा दीक्षा या वंशगत गुण या परिस्थिति
कहते हैं। दोनों अवस्थाओं में मनुष्य की कर्तृत्वशक्ति
शून्य के समान हो जाती है और बाह्यशक्ति जो
संचालन करती है अनन्त हो जाती है।

क्या मार्क्स को ऐसे विचारों के साथ कोई
सहानुभूति थी ? उन्होंने इन विचारों के ऐति-
हासिक महत्त्व को जाना, किन्तु साथ साथ उन्होंने
इनकी मर्यादा और भ्रान्तता को भी पहचाना, उन्होंने
यह भी देखा कि इन मतों के प्रतिपक्ष भी समानरूप
से एकांगी और भ्रान्त हैं।

चाहे हम प्रतीति के प्रमाण को अभ्रान्त मानें और
मनुष्य की इच्छा को निर्विशेष और परिपूर्ण मानें
अथवा प्रतीति के प्रमाण को भ्रान्त मानें फल
एक ही होता है। पहले पक्ष में मानवी इच्छा,
दूसरे पक्ष में ईश्वर, परिस्थिति आदि अनन्त का स्थान
लेती हैं तथा इनका प्रतिपक्ष शून्य का स्थान लेता है।
दोनों अवस्थाओं में हम प्रधान प्रश्न की अवहेलना
करते हैं, क्योंकि हम अकारण ही प्रतिवाद की एक
कोटि को दबा देते हैं और यही मुख्य प्रश्न है, जिसका
हमको विचार करना है। यह मानवी इच्छा और दैव
का प्रतिवाद है।

दार्शनिक, नीतिज्ञ तथा समाजशास्त्रवित् चाहे
विविध रूप से इस समस्या को हल करने की चेष्टा

करें तथापि सबका इसमें ऐकमत्य होगा कि एक शृंग
को ध्वस्त करके असामंजस्य से भागना अनुचित
होगा। चाहे आप मानवेच्छा के अस्तित्व का अथवा
सत्ता का प्रतिषेध करें—चाहे उसे ईश्वर कहें या
परिस्थिति या अन्य कुछ, प्रश्न का विवेचन नहीं होता।

मार्क्स ने स्पष्ट देखा कि प्रश्न का रूप ठीक नहीं
है। वास्तविक जीवन की भूमि में मनुष्य और उसकी
परिस्थिति के बीच क्रिया प्रतिक्रिया का सम्बन्ध होता
है। परिस्थिति का सर्वशक्तिमत्त्व स्वीकार करने का
अर्थ मनुष्य का प्रतिषेध करना है। मानवी इच्छा की
निर्विशेष निरपेक्षता स्वीकार करना मनुष्य का सर्वशक्ति-
मत्त्व स्वीकार करने और परिस्थिति का प्रायः अभाव
मानने के बराबर है। युक्तियुक्त फल प्राप्त करने के लिये
दोनों के सक्रिय अन्योन्य सम्बन्ध को समझना होगा।

हाब्ज़ (Hobbes) तथा अन्य भौतिकवादियों ने
पहले ही देख लिया था कि मानवी इच्छाशक्ति में
निर्मर्यादि "स्वतन्त्रता" आरोपित करना सदोष है।
शक्ति और स्वतन्त्रता अभिन्न हैं। प्रत्येक वस्तु उसी
हद तक स्वतन्त्र है जिस हद तक उसको कार्य करने
की शक्ति है, किन्तु प्रत्येक वस्तु की उतनी ही शक्ति
होती है और हो सकती है, जितनी शक्ति उसकी
प्रकृति रख सकती है।

वृक्ष अपनी वृद्धि करने में स्वतंत्र है, किन्तु इसी
शर्त के साथ कि उसकी परिस्थितियाँ वृद्धि के अनुकूल
हैं। पुनः यह उसी तरह और उसी परिमाण में बढ़
सकता है, जितना उसकी प्रकृति के लिये सम्भव है।
यह स्पष्ट है कि वृक्ष में पखने नहीं उग सकते, इसकी
स्वतन्त्रता उसको नहीं है।

'मनुष्य अपनी परिस्थिति के अधीन है' इस वाद
का क्रान्तिकारी उपयोग तब था जब इसका उपयोग
ऐसे राजाओं के विरुद्ध किया जाता था, जो प्रजा के
साथ अन्याय और अत्याचार का व्यवहार करते थे
और जो यह कह कर अपनी बर्बरता का समर्थन करते
थे कि साधारण जन इस योग्य नहीं हैं कि उनको
स्वतन्त्रता दी जाय। प्रजा का शोषण करने वालों के
विरुद्ध भी यह वाद उपयोगी सिद्ध होता था, जो यह
तर्क करते थे कि यह मूर्ख अपने पैसों और अवकाश
का सदुपयोग करना नहीं जानते और इसलिए इनकी
नितान्त आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त इनको
पैसा नहीं देना चाहिये और इनको अवकाश भी नहीं
मिलना चाहिये।

किन्तु यह वाद भयावह हो जाता है जब यह
मर्यादा का उल्लंघन करता है। पहले तो इस वाद से
अत्याचार करनेवालों और प्रजा का शोषण करनेवालों
को अच्छा बहाना मिल जाता है। फिर इससे दूसरा
प्रश्न उत्पन्न होता है। इसका इलाज क्या है ?

फ़ाएरबाख़ (Feuerbach) पर मार्क्स का जो
तीसरा वाद (thesis) है उसका इसी प्रश्न से सम्बन्ध है :

"परिस्थितियों के बदलने और शिक्षा के बारे में जो
भौतिकवाद है वह भूल जाता है कि मनुष्य परिस्थितियों
को बदलता है और यह कि शिक्षक की स्वयं शिक्षा
होनी चाहिये।"—मार्क्स

यहाँ राबर्ट ओवन (Robert Owen) से संकेत
है। उनका यह दावा था कि "समुचित उपायों
का अवलम्ब लेकर अच्छे से अच्छा और बुरे से बुरा
मानव चरित्र समाज या संसार को पेश किया जा सकता
है।" उनका यह भी कहना था कि यह उपाय विद्य-
मान हैं और यदि वह लोग जिनका समाज में प्रभाव
है चाहें तो इनका उपयोग कर सकते हैं। किन्तु इससे
यह परिणाम निकलता था कि यह प्रभावशाली लोग
इन उपायों से काम नहीं लेते और न लेंगे। इनका
स्वभाव और चारित्र्य ही ऐसा बन गया है जो इनको
दूसरी ओर ले जाता है।

इससे यह पहेली निकली कि राबर्ट ओवन का
'चारित्र्य' कहां से आया यदि वह उन्हीं परिस्थितियों
और शिक्षा के फल हैं। यदि उनका स्थान उस वर्ग में
है जो प्रभाव रखता है, तो उनका स्वभाव और उनकी
प्रवृत्ति दूसरों से भिन्न क्यों है और यदि वह उस वर्ग के
हैं, जिसके स्वभाव को बदलने की जरूरत है, तो उन्होंने
ऐसे स्वभाव को कहाँ से पाया, जिसको पुष्ट करने की
आवश्यकता है, न कि बदलने की ?

मार्क्स ने इसका यह हल निकाला कि मनुष्य और
परिस्थितियाँ दोनों परिवर्तनशील और अस्थिर हैं तथा
दोनों का सदा अन्योन्य सक्रिय विरोध होता रहता है
और इससे वृद्धि-विकास होता है :—

"इतिहास की प्रत्येक मंज़िल पर हम एक भौतिक
परिणाम पाते हैं। यह उत्पादक शक्तियों का जोड़ है;
यह व्यक्तियों का प्रकृति के साथ सम्बन्ध तथा व्यक्तियों

योन्य सम्बन्ध है, जिसका इतिहास ने निर्माण है, यह सम्बन्ध क्रमागत है। यह भौतिक परिणाम क शक्तियों का समूह, पूँजी के विविध रूप विविध अवस्थाएँ हैं। एक ओर प्रत्येक नई पीढ़ी मूह में परिवर्तन करती है और दूसरी ओर यह उस पीढ़ी के जीवन की अवस्था निर्धारित करता उसको निश्चित विकास और विशेष स्वभाव करता है। जिस प्रकार मनुष्य परिस्थितियों को है उसी प्रकार परिस्थितियां मनुष्य को बनाती —(German Ideology)

ार्क्स के कैपिटल (Capital, Vol I, . vii, pp. 156.7) में भी इस परस्पर सम्बन्ध का इसी प्रकार उल्लेख है :—

श्रम एक प्रक्रिया है जिसमें प्रकृति और मनुष्य हिस्सा लेते हैं। इस प्रक्रिया में मनुष्य स्वतः ातिक प्रतिक्रियाओं का जो उसके और प्रकृति के ोती हैं आरम्भक होता है और वह उनका ण और नियमन करता है। वह स्वयं प्रकृति शक्ति है पर वह अपने को प्रकृति के विरुद्ध करता है। वह अपने हाथ पैर हिलाता है तथा को सक्रिय बनाता है, जिसमें वह अपनी आव- ओं के अनुरूप प्रकृति के उत्पादनों को आत्म- र सके। बाह्य संसार पर इस प्रकार क्रिया कर उसको बदल कर वह अपने स्वभाव को भी बदलता है अपनी प्रसुप्त शक्तियों की वृद्धि करता है उनको अपने अधीन कर स्वेच्छा के अनुसार करने के लिए विवश करता है।"

न दो अवतरणों से यह स्पष्ट है कि मार्क्स नयतिवाद (Determinism) नहीं है। यह कि मनुष्य प्रकृति को बदलता है, अपने स्वभाव लता है और अपनी प्रसुप्त शक्तियों का विकास है, इस कथन का उल्टा है कि मनुष्य घड़ी की की तरह अवश है। साथ ही साथ यह कहना कि यह सब तभी कर सकता है जब वह प्रकृति पर प्रतिक्रिया करता है, यह कहना कि वह परि- यों को उसी हद तक बना सकता है, जिस हद रिस्थितियाँ मनुष्य को बनाती हैं, यह मानने के है कि नियतिवाद में भी सत्य का अंश है।

मार्क्सवाद नियतिवाद के महत्त्वपूर्ण और यथार्थ अंश का ग्रहण करता है। संक्षेप में इतिहास का जो वाद मार्क्स एंगल्स का है वह एक आकार में नियतिवादी है, किन्तु केवल इस शर्त पर कि वह साथ ही साथ अनियतिवादी भी है; अर्थात् वह आध्यात्मिक और यांत्रिक प्रश्न का सर्वथा अतिक्रमण करता है और विरोध विकास द्वारा वस्तुतः भौतिक हो जाता है।

यही बात आर्थिक आकारों के लिये भी सच है। मार्क्स एंगल्स ने यथार्थ देखा कि समस्त सामाजिक क्रिया के लिये आर्थिक क्रिया का पूर्व होना नितान्त आवश्यक है, किन्तु उन्होंने एक क्षण के लिये भी इसका प्रतिषेध करने की कल्पना नहीं की थी कि अन्य क्रियाओं का सद्भाव है और अन्तिम परिणाम के उत्पादन में यह भी हेतु हैं। इसके विपक्ष में उन्होंने देखा कि आर्थिक क्रिया का एक मुख्य उद्देश्य यह है कि ऐसी योग्यता प्रतिपादित की जाय, जिससे आर्थिक क्रिया की आवश्यकता चाहे अल्पकाल के लिये ही क्यों न हो, न रहे। उन्होंने यह भी देखा कि आर्थिक क्रियाओं का महत्त्व इसमें है कि वह आर्थिक क्रियाओं से इतर क्रियाओं की विविधता और इयत्ता को उत्तरोत्तर बढ़ाती जाती हैं तथा सामाजिक और राजनीतिक चेष्टाएँ और प्रयत्न बहुधा आर्थिक परिवर्तन को उत्तेजन देकर आर्थिक क्रियाओं के विकास को उत्तेजित करते हैं और उनके स्वरूप को निश्चित करते हैं।

संक्षेप में मार्क्स एंगल्स का वाद न शुद्ध आर्थिक है और न आर्थिक से भिन्न है। यह दोनों है और इसलिये द्वंद्वात्मक (Dialectical) है।

एंगल्स ने स्पष्ट रूप से नियतिवाद का प्रत्याख्यान किया है। मार्क्स और एंगल्स ने स्पष्ट रूप से इसका प्रतिषेध किया है कि उन्होंने कभी भी यह कहा है कि ऐतिहासिक महत्त्व के सम्बन्ध और शक्तियाँ केवल आर्थिक होती हैं। जिस वाद की यह प्रतिज्ञा है कि केवल आर्थिक तथ्य और शक्तियों का ही मानव समाज की ऐतिहासिक उत्तरोत्तर उन्नति पर वास्तविक प्रभाव पड़ता है, उसी वाद के लिये हम सचमुच 'आर्थिक नियतिवाद' इस आख्या का व्यवहार कर सकते हैं। इसलिये यह सिद्ध होता है कि यह मार्क्स और एंगल्स का सिद्धान्त नहीं था।

[टी० ए० जैक्सन के एक लेख के आधार पर]

प्रवासी जयप्रकाश

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

प्रशान्त होकर तैयोमारू चला जा रहा है। ज्यों ज्यों अमेरिका निकट आता जाता है, जयप्रकाश की उत्सुकता और कुतूहल बढ़ता जाता है। अमेरिका के बारे में वह काफी पढ़ चुके हैं, सुन चुके हैं। किन्तु, उन्हें मालूम होता है, जैसे वह सारी बातें भूल गये। एक बिल्कुल अपरिचित देश में जा रहे हैं—कैसी होगी वह भूमि, कैसे होंगे उसके निवासी, किस तरह वह अपने को इस बिल्कुल नवीन वातावरण में ढाल सकेंगे?

इसी उधेड़बुन के बीच में हवाई-द्वीप आता है। हवाई-द्वीप—मानो यह छोटा सा टापू आसमान की ओर देख कर चुनौती देता है: "अगर फिरदौस बर-रूए ज़मीनस्त—हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त!" हाँ, हाँ, अगर कहीं स्वर्ग है, तो यहीं है, यहीं है, यहीं है! जयप्रकाश इस 'प्रशान्त सागर के स्वर्ग' को देख कर निहाल हो उठे। एक दिन तक रहकर यहाँ के स्वच्छ नीलाभ आकाश, रंग-विरंगे फूलों से जगमग पृथ्वी, सुगन्ध और संगीतमय वातावरण और उन्मुक्त अनावृत् यौवन का सौन्दर्य देखते फिरे।

याकोहामा से चलने के १८ वें दिन तैयोमारू सान्फ्रांसिस्को पहुँचा। स्वर्ग पहुँचने के पहले वैतरणी पार करनी पड़ती है। वह सेकेण्ड क्लास के यात्री थे, अतः उन्हें एक टापू में उतारा गया और कोरैंटाइन में रख कर डाक्टरी जांच की गई। नंगा करके, असभ्य की तरह जांच करना, फिजूल परेशानियों में रखा जाना—जयप्रकाश को बहुत बुरा लगा। किन्तु, चारा क्या था? सान्फ्रांसिस्को में जहाज से उतर कर एक टैक्सी वाले के निकट पहुँचे और उससे किसी होटल में पहुँचाने को कहा। टैक्सी वाले ने उन्हें एक हब्शी होटल में दाखिल कर दिया! नई दुनिया की सरज़मीन पर पैर रखते ही रंग भेद का यह नज़ारा जयप्रकाश को जरूर ही नापसन्द आया! किन्तु, जो एक उद्देश्य लेकर आया हो, उसके लिये छोटी बातों में उलझना क्या ठीक होगा?

तुरत ही पता लगाया गया, यहाँ कालिफोर्निया यूनिवर्सिटी में पढ़ना होगा, जो बर्कली नामक स्थान में है। यहाँ और भी भारतीय विद्यार्थी हैं, जिन्होंने अपना एक केन्द्र बना रखा है, जिसे वे "नालन्दा क्लब" कहते हैं। कालिफोर्निया में नालंदा क्लब! नालंदा—प्राचीन भारत का सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालय, जहाँ दश हज़ार विद्यार्थी, निःशुल्क होस्टलों में रहकर विद्याध्ययन करते थे और ये विद्यार्थी सिर्फ भारत के कोने कोने से ही नहीं आते थे, बल्कि पूरब में जापान, कोरिया, चीन, श्याम, जावा, सुमात्रा आदि देशों और द्वीपों से एवं पश्चिम में मध्य एशिया तक से आते थे। एक हज़ार वर्ष तक अपनी गरिमा दिखाकर जो आज एक हज़ार वर्ष पहले नष्टभ्रष्ट हो गया, उसी की यादगार को आज समुद्र पार आकर भारतीय विद्यार्थी इस क्लब के रूप में ज़िन्दा रखे हुए हैं! नालंदा बिहार में था, जयप्रकाश के अपने प्रान्त में—फिर वह क्यों नहीं नालंदा क्लब को अपना घर सा ही मान लें।

जयप्रकाश नालन्दा क्लब में आ गये और स्थानाभाव के कारण डाक्टर के० बी० नेनन के कमरे में रहे, जो उस समय विश्वविद्यालय के चौथे वर्ष में अध्ययन कर रहे थे और वहाँ से डाक्टरेट लेकर जब भारत लौटे, तो सार्वजनिक कार्यों में ही अपने को उत्सर्ग किया। पहले वह पं० नेहरू द्वारा आयोजित सिविल लिबर्टीज यूनियन के मंत्री थे और आजकल देशी राज्य प्रजापरिषद के प्रधान मन्त्री हैं। पिछली अगस्त क्रांति में मेनन साहब को दस साल सख्त कैद की सजा हुई थी और अब वह काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य भी बन गये हैं। मेनन साहब की जन्मभूमि केरल प्रान्त है।

जयप्रकाश ने १६ मई को भारत का तट छोड़ा था

समस्या हमारे देश की राजनीतिक समस्या नहीं है, है सामाजिक समस्या। भारत को इसे सुलझाना ही वह दो में से एक मार्ग चुन सकता है। पहला र्ग है—सामाजिक क्रान्ति का मार्ग। आदमी का 'अछूत' कुछ भी हो, हम सबका 'समाज' एक हो, ना, बैठना, खाना, पीना, शादी विवाह करना दे। आखिर 'धर्मान्तर' का मतलब 'समाजान्तर' ही हो?

और यदि भारत यह नहीं कर सकता तो आज मुसलमान अपने पृथक् 'समाज' के आधार पर पृथक् 'देश' की माँग कर रहे हैं, कल 'अछूत' करेंगे। आज के डाक्टर अम्बेडकर की आप अवहेलना कर सकते हैं, कल आप उनकी भी अवहेलना न कर सकेंगे।

देश की वर्तमान पीढ़ी के सामने यह जीता जागता प्रश्न है, जीवन और मृत्यु का प्रश्न!

इन पंक्तियों के लेखक का तो सीधा सादा असन्दिग्ध उत्तर है—पहला मार्ग, राजनीतिक क्रान्ति से पहले सामाजिक क्रान्ति का मार्ग।

भारतीय मज़दूर आन्दोलन

प्रो॰ शंकरसहाय सक्सेना

प्रारम्भिक हलचलें

भारतवर्ष में मज़दूर आन्दोलन बहुत पुराना नहीं आधुनिक ढङ्ग के कारखानों की स्थापना के न्त ही यहां मज़दूर आन्दोलन आरम्भ हुआ। भी आरम्भ में केवल प्रार्थना पत्र देने तक ही मित था। न तो यहाँ संगठित मज़दूर सभायें ही थीं न उनका कोई निश्चित कार्यक्रम ही था।

भारत में मज़दूर आन्दोलन का आरम्भ १८७५ माना जा सकता है। उस वर्ष मानचेस्टर के कहने बम्बई सरकार ने बम्बई के कारखानों के मज़दूरों जाँच के लिए एक कमीशन बिठाया था। उक्त शन ने बहुमत से यह निर्णय किया कि यहाँ री क़ानून बना कर मज़दूरों को रक्षा प्रदान ने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पर बम्बई सरकार कोई क़ानून बनाना अस्वीकार कर दिया। इसका णाम यह हुआ कि इङ्गलैण्ड में मैंचेस्टर के सूती मालिकों ने आन्दोलन करना आरम्भ किया और त में श्री सोराबजी सापुरजी बङ्गाली के नेतृत्व में दूर आन्दोलन का जन्म हुआ।

श्री बङ्गाली के आन्दोलन तथा मैंचेस्टर के व्यवयों के प्रभाव का यह फल हुआ कि १८८१ में फैक्टरी क़ानून पास हुआ किन्तु उससे कोई भी ष्ट नहीं हुआ। उसमें केवल बालकों के काम के घण्टे नियत किये गये थे। अर्थात् ७ से १२ वर्ष की आयु के बालक केवल ९ घण्टे प्रतिदिन काम करेंगे।

इस क़ानून का संशोधन कराने के लिए भारतीय कारखानों के मज़दूरों ने भी आन्दोलन किया। इस आन्दोलन के फल स्वरूप भारतीय मज़दूरों को पहला मज़दूर नेता प्राप्त हुआ। वह व्यक्ति श्री नारायन मेघजी लोखांडे था, जो कि स्वयं एक मज़दूर था और जिसने जीवन पर्यन्त मज़दूरों के हित के लिये काम किया।

श्री लोखांडे ने सबसे पहले बम्बई में मज़दूरों का एक सम्मेलन किया। इस सम्मेलन ने एक मेमोरियल तैयार किया जिस पर ५,५०० मज़दूरों के हस्ताक्षर थे। उस मेमोरियल के द्वारा मज़दूरों ने साप्ताहिक छुट्टी, दोपहर को आधे घण्टे की छुट्टी, चोट लगने पर हर्जाने की मांग की थी। अपनी मांग का समर्थन करने के उद्देश्य से मज़दूरों की एक बहुत बड़ी सभा २४ एप्रिल १८९० में हुई। इस सभा में १०,००० मज़दूर उपस्थित हुए थे और दो स्त्री मज़दूरों ने भी भाषण दिये थे। इस विराट सभा का ऐसा प्रभाव पड़ा कि बम्बई के मिल मालिकों ने साप्ताहिक छुट्टी देना स्वीकार कर लिया।

इस बीच मज़दूर आन्दोलन बम्बई में जड़ पकड़ता जा रहा था। श्री लोखांडे ने १८९० में 'बम्बई मज़दूर संघ' (Bombay Mill hand Association) नामक संस्था स्थापित की। श्री लोखांडे उसके सभापति चुने गए और श्री डी॰ सी॰ आयेङ उसके मन्त्री निर्वाचित हुए। यह भारत में पहला मज़दूर संगठन था। यही नहीं श्री लोखांडे ने मज़दूरों के पक्ष का समर्थन करने के लिए 'दीनबन्धु' नामक एक मज़दूर पत्र भी निकाला। भारत में यह पहला मज़दूर पत्र था।

इसी समय भारतमंत्री ने भारत सरकार के पास अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर सम्मेलन (बर्लिन) का इस आशय का प्रस्ताव भेजा कि भारतीय मज़दूरों की दशा की जांच करने के लिए एक मज़दूर कमीशन नियुक्त किया जाय। अस्तु २५ सितम्बर १८९० को भारत सरकार ने एक मज़दूर कमीशन की नियुक्ति की, जिसके एक सदस्य मज़दूरों के शुभचिंतक श्री सोराबजी बंगाली भी थे। इस कमीशन की सहायता के लिए तीन स्थानीय सदस्य, जिन्हें रिपोर्ट पर हस्ताक्षर करने का अधिकार नहीं था नियुक्त किये गए। बंगाल के श्री रसिकलाल घोष, कानपूर वूलन मिल के फोरमैन श्री फ्रामजी मानकजी, और बम्बई के श्री मेघनाथ लोखांडे। इन स्थानीय सदस्यों का मुख्य कार्य यह था कि वे कमीशन के सामने उपयुक्त व्यक्तियों से गवाहियां दिलावें। उन्होंने बम्बई, अहमदाबाद, कलकत्ता और कानपूर के ३५ कारखानों के ९६ मज़दूर स्त्री पुरुषों से कमीशन के सामने गवाही दिलवाई।

कमीशन के सामने बम्बई मज़दूर संघ ने एक मांग पत्र भी उपस्थित किया। उन मांगों में मुख्य ये थीं रविवार को पूरे दिन की छुट्टी रहे, काम के घंटे ६ बजे प्रातःकाल से ५.३० सायंकाल के बीच में हों। एक घंटे का विश्राम दिया जाय, तनखाह १५ तारीख़ को अवश्य मिल जानी चाहिए। बीमार होने और चोट लगने पर आर्थिक सहायता दी जाय, बच्चों के लिए स्कूल खोले जायं। श्री लोखांडे का कहना था कि ऊपर लिखी बातें ऐक्ट में सम्मिलित कर ली जायं।

इस कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर १८९१ में एक बिल पास हुआ। जिसमें स्त्री मज़दूरों के काम के घण्टे ११ निर्धारित कर दिये गए और बालकों की आयु ९ से १४ तक कर दी गई।

इसी बीच में भारत के प्रथम दो मज़दूर नेताओं, श्री सोराबजी बंगाली तथा श्री लोखांडे का स्वर्गवास हो गया। किन्तु उन्होंने बम्बई में जिस मज़दूर आन्दोलन को जन्म दिया था वह मरा नहीं। मज़दूरों ने उसको जीवित रक्खा। उनका उस समय कोई नेता नहीं था इस कारण उनमें साहस की कमी थी, किन्तु फिर भी उन्होंने अपने संगठन को बनाये रक्खा। इसी समय १९०९ में भारत सरकार ने लङ्काशायर मिल मालिकों के दबाव के कारण एसेम्बली में एक नये बिल को उपस्थित किया। बम्बई के मज़दूरों ने एक मीटिंग करके जवान मज़दूरों के काम के घण्टों को क़ानून से निश्चित कर देने की मांग की।

१९१० में बम्बई के मज़दूरों का दूसरा संगठन "कामगार हितवर्धक सभा" स्थापित हुई। इस सभा ने सरकार को एक प्रार्थना पत्र भेजकर जवान पुरुषों के काम के घण्टे १२ निर्धारित करने की मांग की, साथ ही अन्य सुविधाओं के सम्बन्ध में भी प्रार्थना पत्र में उल्लेख था। सभा ने एक साप्ताहिक पत्र "कामगार समाचार" भी निकाला। १९११ में तीसरा फैक्टरी क़ानून बना जिसके द्वारा पुरुषों के काम के घण्टे १२ और बालकों के काम के घण्टे ६ निर्धारित कर दिए गए। कामगार हितवर्धक सभा आज भी मज़दूरों में काम कर रही है।

योरोपीय युद्ध का मज़दूर आन्दोलन पर प्रभाव

ऊपर लिखी प्रारम्भिक हलचलों का मज़दूर वर्ग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वे अपनी शक्ति को पहिचान नहीं सके। किन्तु प्रथम योरोपीय युद्ध के फल स्वरूप मज़दूरों में वर्ग चैतन्य उदय हुआ और वे अपनी छिपी हुई शक्ति को जान गए। महायुद्ध का प्रभाव भारतीय निर्धन जनता पर बहुत गहरा पड़ा, सेना की भर्ती युद्ध का चंदा, और कर सभी का भार केवल निर्धन जनता पर ही पड़ा। अस्तु वे बहुत ही क्षुब्ध हो रहे। इधर महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन अत्यन्त शक्तिवान और तीव्र हो

। उधर ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने रालेट ऐक्ट
कर तथा जलियाँ वाला बाग़ हत्याकांड करके और
य नेताओं को कैद करके मानों देश में जान फूंक
सारा देश विद्रोही हो उठा और उसका प्रभाव
रों पर भी पड़ा। यही नहीं दैनिक आवश्यकता
स्तुओं का मूल्य आकाश छू रहा था, व्यवसायी
मिल मालिकों के घरों में चाँदी बरस रही थी
मज़दूरों को उस लाभ में से उचित हिस्सा मिल
क नहीं देना चाहते थे। अस्तु मज़दूरों का
होना स्वाभाविक ही था। एक कारण और
जिसने संसार के मजदूरों में नव आशा और उत्साह
संचार कर दिया। इसी समय रूस में ज़ारशाही का
हुआ और उस बोल्शेविक क्रान्ति के फल-
र वहां मजदूर और किसानों का राज्य स्थापित हो
। संसार भर के मजदूरों ने चकित होकर देखा कि
गों से धनिकों का पानी भरने और लकड़ी चीरने
ी काम करते आरहे थे और जिनके शोषण पर ही
कों का वैभव निर्भर था आज वे ही एक विशाल
का शासन कर रहे हैं। अस्तु संसार भर के मज-
में अपने उज्ज्वल भविष्य की कल्पना से नवीन
ा और उत्साह उत्पन्न हुआ। भारतवर्ष के मज़
ी इस वर्ग चैतन्य मे अछूते नहीं रहे।/इसके
रिक्त भारतीय मज़दूरों को क्रान्तिकारी नेतृत्व भी
हो गया। राष्ट्रीय आन्दोलन में कार्य करने वालों
कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं ने मज़दूरों के संगठन की
ध्यान दिया। इन्हीं सब कारणों से योरोपीय
युद्ध के उपरान्त भारतवर्ष में मज़दूर आन्दोलन
गति से बढ़ा।

मज़दूर आन्दोलन की तीव्र गति का पहला प्रभाव
हुआ कि मज़दूरों का संगठन तेज़ी से हुआ।
पहली उद्योग धंधों में काम करने वालों की ट्रेड
यन २७ एप्रिल १९१८ को श्री बी० पी० वाडिया
तृत्व में मदरास के सूती कारखानों के मज़दूरों की
पित हुई। इसके साथ ही मदरास में ट्राम, प्रेस,
ा खींचने वालों, मोटर ड्रायवरों और आलमूनि-
के कारखानों में काम करने वालों की ट्रेड यूनियनें
पित हो गईं।

मदरास से यह संगठन की लहर बम्बई, कलकत्ता और अहमदाबाद में फैली और देखते देखते भारत के सभी मुख्य धधों के मजदूर संगठित हो गए।

इसी समय २५ फरवरी १९२० को महात्मा गांधी ने अहमदाबाद के सूती कपड़े के कारखानों की प्रसिद्ध ट्रेड यूनियन स्थापित की। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि अहमदाबाद का सूती कपड़े के कारखानों का मजदूर संघ भारत की सबसे सुसंगठित ट्रेड यूनियन है।

मजदूरों का संगठन हो जाने पर इस वर्ग चैतन्य का दूसरा प्रभाव यह हुआ कि मजदूरों में विद्रोह की भावना जाग्रत हो उठी। गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन भी तीव्र हो उठा था। उसका भी प्रभाव मजदूर आन्दोलन पर पड़ा। परिणाम यह हुआ कि एक के बाद दूसरे औद्योगिक केन्द्रों में बड़ी बड़ी हड़तालों का होना आरम्भ हो गया। यों भारत में छोटी छोटी दो चार हड़तालें पहले भी हुई थीं, किन्तु यह पहला अवसर था कि समस्त देश में एक साथ बहुत बड़ी हड़तालें हुईं, जिनमें लाखों मजदूरों ने भाग लिया। ऐसा कोई भी औद्योगिक केन्द्र नहीं बचा जहाँ बड़ी और लम्बे समय तक हड़तालें न हुई हों। बम्बई में तो जनरल स्ट्राइक हुआ और २ लाख मजदूरों ने उसमें भाग लिया। भिन्न भिन्न केन्द्रों में हड़तालों की महत्ता नीचे लिखे आंकड़ों से स्पष्ट हो जावेगी :—

कानपूर (१७,००० मज़दूर), जमालपूर (१६,००० मजदूर), कलकत्ता (३५,००० मजदूर), बम्बई (२ लाख मजदूर), रंगून (२०,००० मजदूर), ब्रिटिश इंडिया नेवीगेशन कम्पनी (१०,००० मजदूर), शोलापूर (१६,००० मजदूर), इंडियन मैरीन डाक (२०,००० मजदूर), ताता आयरन वर्क्स (४०,००० मजदूर), बम्बई की दूसरी हड़ताल कपड़े के कारखानों में (६०,००० मजदूर), मदरास (१७,००० मजदूर) अहमदाबाद (२५,००० मज़दूर)।

पूँजीपतियों ने देखा कि मजदूर वर्ग शिक्षित नेताओं के नेतृत्व में प्रभावशाली होने जा रहा है। वे यह देखकर चौंके कि जो मजदूर कल तक मिल मालिकों के प्रति अन्नदाता और माँ बाप की भावना रखता था एक साथ ही विद्रोही हो उठा। अस्तु उन्होंने आन्दोलन को रोकने का प्रयत्न किया। वे अवसर ढूंढ ही रहे थे कि उन्हें उचित अवसर मिल गया।

बकिंघहम मिल मदरास में हड़ताल हुई। मिल मालिकों ने भी मिल बन्द कर द्वारावरोध (Lock-out) कर दिया। मदरास की मज़दूर सभा ने इस हड़ताल को सफल बनाने का पूरा प्रयत्न किया। अतएव बकिंघहम मिल के मैनेजिंग एजेण्ट बिन्नी एण्ड कम्पनी ने श्री बी० पी० वाडिया तथा अन्य मज़दूर नेताओं पर मदरास हाईकोर्ट में हानि का दावा कर दिया। मदरास हाईकोर्ट ने मज़दूर नेताओं के विरुद्ध ७००० पौंड जुर्माने और मुकदमे के खर्चे की डिगरी दे दी तथा ट्रेड यूनियन के नेताओं को आज्ञा दे दी कि वे भविष्य में ऐसा न करें। बिन्नी एण्ड कम्पनी ने इस शर्त पर कि भविष्य में श्री वाडिया महोदय मज़दूर आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं रक्खेंगे इस डिगरी का रुपया वसूल नहीं किया। श्री बी० पी० वाडिया को विवश होकर मज़दूर आन्दोलन से अपना सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ा। इस फैसले के फलस्वरूप मिल मालिकों को मज़दूर आन्दोलन के विरुद्ध एक बहुत अच्छा अस्त्र मिल गया।

किन्तु ब्रिटेन की लेबर पार्टी इस फैसले से बहुत असन्तुष्ट हुई। ब्रिटेन की ट्रेड यूनियन कांग्रेस पार्लियामेंटरी कमेटी का एक शिष्ट मण्डल तत्कालीन भारत मन्त्री से मिला और भारतीय ट्रेड यूनियनों की इस फैसले से रक्षा करने के लिए ट्रेड यूनियन सम्बन्धी कानून बनाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। भारत मन्त्री ने इस शिष्ट मण्डल को यह आश्वासन दिया कि शीघ्र ही वे भारत सरकार को इस सम्बन्ध में लिखेंगे।

अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस

इस बीच में मज़दूर आन्दोलन का और भी अधिक विस्तार हुआ और अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का पहला अधिवेशन पंजाब केसरी स्वर्गीय लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में बम्बई में ३१ अक्टोबर १९२० को हुआ। प्रथम अधिवेशन में कांग्रेस ने काम के घंटों में कमी, मज़दूरी में वृद्धि, रहने के मकानों की सुविधा, बीमारी में चिकित्सा का प्रबन्ध, चोट लगने पर हर्जाने की व्यवस्था, वृद्धावस्था और गर्भावस्था में आर्थिक सहायता इत्यादि प्रश्नों पर विचार किया। कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन झरिया में ३० नवम्बर १९२१ को श्री जोसेफ बैपटिस्टा के सभापतित्व में हुआ जिसमें लगभग दस हज़ार प्रतिनिधियों ने भाग लिया था।

जेनेवा का अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ

इस समय अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ की स्थापना हो चुकी थी। योरोपीय महायुद्ध के समाप्त होने पर वार्साई सन्धि में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ की स्थापना की आवश्यकता बतलाई गई थी। अस्तु १९२० में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ की स्थापना की गई और भारतवर्ष भी उसका सदस्य हो गया। अस्तु भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर सम्मेलनों के प्रस्तावों का भी भारतीय मज़दूरों पर प्रभाव पड़ने लगा। इन अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर सम्मेलनों में भारत सरकार स्वयं मज़दूरों के तथा मिल मालिकों के प्रतिनिधि मनोनीत करके भेजती थी। इन्हीं सम्मेलनों के प्रस्तावों के फलस्वरूप भारत सरकार ने १९२२ का फैक्टरी ऐक्ट पास किया। इस ऐक्ट के अनुसार फैक्टरियों में प्रौढ़ स्त्री पुरुषों के काम करने के घंटे सप्ताह में ६० निश्चित कर दिये गये. बालकों के लिए काम करने के घण्टे एक दिन में ६ निश्चित कर दिये गए तथा कुछ अन्य सुविधायें भी प्रदान की गईं। यही नहीं क्षतिपूर्ति कानून बनाकर फैक्टरियों में काम करते समय चोट लग जाने और मृत्यु हो जाने पर मज़दूर अथवा उसके उत्तराधिकारियों को हर्जाना दिलाने की भी व्यवस्था कर दी गई।

१९२६ का ट्रेड यूनियन ऐक्ट

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि ब्रिटेन की लेबर पार्टी ने भारतीय ट्रेड यूनियनों की रक्षा के लिए एक कानून बनाये जाने की मांग की थी। इधर श्री एन० एम० जोशी ने भी केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में ट्रेड यूनियनों की रक्षा के लिए एक कानून बनाये जाने की मांग की। अस्तु १९२६ में भारत सरकार ने एक ट्रेड यूनियन ऐक्ट पास कर दिया।

क़ानून के अनुसार जो ट्रेड यूनियन सरकार से ी रजिस्ट्री करा लेगी, उस पर दीवानी या दारी मुक़दमा नहीं चलाया जा सकता। दूसरे में ट्रेड यूनियनों को हड़ताल करने का क़ानूनी कार प्राप्त हो गया।

ट्रेड यूनियन कांग्रेस

ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना के उपरान्त ीय मज़दूरों का एक केन्द्रीय संगठन बन गया। आरम्भ से ही ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर देश की ति का गहरा रंग था क्योंकि उसके प्रमुख ता राजनैतिक कार्यकर्ता थे। धीरे धीरे ट्रेड न कांग्रेस में दो दल हो गए, दक्षिण पक्ष और क्ष। जब नागपूर में (१९२९ में) पं० जवाहरलाल के सभापतित्व में ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो उस समय दोनों दलों ने कि वे एक साथ रह कर अब काम नहीं कर । ट्रेड यूनियन कांग्रेस में वाम पक्ष का बहुमत के कारण कांग्रेस ने पैन-पैसिफ़िक ट्रेड यूनियन ्यट से अपना सम्बंध स्थापित करने, शाही लेबर न का बहिष्कार करने, साम्राज्यवाद विरोधी लीग दस्य होने, जेनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ का ार करने के प्रस्ताव पास किये, और एक प्रस्ताव उसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से पूर्ण स्वतंत्र होने का से पूँजीवाद का नाश करके एवं मज़दूरों ातंत्र स्थापित करने की घोषणा की।

नका परिणाम यह हुआ कि श्री एन० एम० , दीवान चमनलाल, गिरी, शिवाराव, एस० सी० तथा नायडू इत्यादि कांग्रेस से पृथक् हो गए उन्होंने ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशन नामक एक दूसरा ल भारतीय संगठन स्थापित किया। दूसरे वर्ष ाषचन्द्र बोस के सभापतित्व में ट्रेड यूनियन ा का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ, परन्तु ट्रेड न कांग्रेस में और भी दो दल हो गए। एक म्युनिस्ट दल जिसका नेतृत्व श्री देशपांडे, जो ट्रेड न कांग्रेस के तत्कालीन मन्त्री थे; कर रहे थे। दूसरे ें वे लोग थे जिनका राष्ट्रीय दृष्टिकोण था और ाांग्रेस द्वारा सञ्चालित सत्याग्रह आन्दोलन समर्थक थे। कम्युनिस्ट दल ने देश भर में हर प्रकार से देशव्यापी राष्ट्रीय संग्राम की मुख़ालफ़त की और यह कोशिश की कि ट्रेड यूनियन कांग्रेस भी इसी राष्ट्रीयता विरोधी नीतिका समर्थन करे। जब कलकत्ता ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशन में वह इस कार्य्य में सफल नहीं हुआ तो अलग होकर उसने अपनी अलग से लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस स्थापित की।

आर्थिक संकट का ज़माना

यह ज़माना संसारव्यापी आर्थिक संकट (Economic crisis) का था। इसका परिणाम यह था कि हमारे देश में भी एक तरफ़ हर व्यवसाय में मज़दूरों की छटनी हो रही थी; दूसरी ओर तनख्वाहों में बेतहाशा कमी की कोशिश की जा रही थी। इसी समय हड़तालों की फिर एक लहर देश में आई, किन्तु पूँजीपति और सरकार के सहयोग तथा मज़दूर आन्दोलन में दलबंदी होने के कारण अधिकतर हड़तालें असफल रहीं। कुछ दिनों के लिए मज़दूर आन्दोलन शक्तिहीन सा हो गया। इसके कुछ पहले यानी १९२९ में भारत सरकार ने ट्रेड डिसप्यूट्स ऐक्ट बना कर जनहित कार्य, जैसे बिजली, रेल इत्यादि के धंधों में बिना नोटिस दिये हड़ताल करना ग़ैरक़ानूनी बना दिया और मिल मालिकों तथा मज़दूरों में झगड़ा होने पर पञ्च नियुक्त करके अथवा मध्यस्थ नियुक्त करके समझौता कराने की सुविधा प्रदान कर दी।

इधर लेबर कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई और उसकी सिफ़ारिशों के अनुसार सरकार ने १९३४ में नया फ़ैक्टरी क़ानून पास किया। इस क़ानून के द्वारा प्रौढ़ों के काम के घंटे प्रति सप्ताह ५४ कर दिये गए और बालकों के प्रति दिन ५ घंटे निश्चित कर दिये गए। इसके अतिरिक्त मौसमी कारखानों का भी नियन्त्रण किया गया। वहाँ सप्ताह में ६० घंटे निर्धारित किये गये।

कांग्रेस मिनिस्ट्रियों की स्थापना

१९३६ में नवीन शासन विधान के अन्तर्गत प्रान्तों में उत्तरदायी मंत्रिमंडल स्थापित हुए, आठ प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने। मज़दूरों में नव आशा और विश्वास उत्पन्न हुआ। समस्त देश में हड़तालों की बाढ़ सी आ गई। बम्बई और कानपूर में तो महीनों आम हड़ताल रही, लाखों मज़दूरों ने इन हड़तालों में भाग लिया। मज़दूर वर्ग में अभूतपूर्व चैतन्य का उदय हुआ। कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने मज़दूर कमेटियाँ बिठलाई और परिणामस्वरूप मज़दूरों के वेतनों में भी कुछ वृद्धि हुई।

मज़दूर आन्दोलन की एकता

इधर मज़दूर आन्दोलन में फिर एकता स्थापित करने के प्रयत्न किये गए। सन् १९३५ में कम्युनिस्ट दल जो राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध करने के कारण बहुत कुछ बदनाम हो चुका था, उसने अपनी भूल को महसूस किया और फिर से ट्रेड यूनियन कांग्रेस में शामिल हुआ। सन् १९३८ में नागपूर के ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशन में ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशन भी फिर कांग्रेस में सम्मिलित हो गई। किन्तु यह एकता स्थायी नहीं थी। शीघ्र ही १९३९ में योरोपीय महायुद्ध छिड़ गया। रायवादियों ने ब्रिटिश साम्राज्यशाही से १३,००० रु० मासिक लेकर उस युद्ध में सहायता देने और देश के राष्ट्रीय आन्दोलन को शक्तिहीन बनाने का निश्चय कर लिया। अस्तु उन्होंने लेबर फ़ेडरेशन नामक अखिल भारतवर्षीय श्रमजीवी संगठन खड़ा किया और उनकी अधीनता में जो भी ट्रेड यूनियनें थीं वे उससे सम्बद्ध हो गईं।

इधर १९४२ के अगस्त में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के नेतृत्व में जन क्रान्ति हुई। उस समय तक रूस भी युद्ध में मित्र राष्ट्रों की ओर आ चुका था। अतएव भारत के कम्युनिस्टों के लिए साम्राज्यवादी युद्ध जनयुद्ध बन गया और वे राष्ट्रीय आन्दोलन और जन क्रान्ति का विरोध करने और साम्राज्यवादी युद्ध की सहायता करने को ही क्रांतिकारी कार्य मानने लगे। अस्तु अगस्त क्रांति में मज़दूरों का उतना गौरवशाली भाग नहीं रहा। जहाँ कांग्रेस समाजवादी दल ने मज़दूरों में कार्य किया था वहां के और अहमदाबाद के मज़दूरों ने उस क्रांति में कुछ भाग लिया। युद्ध के समय कांग्रेस के सभी कार्यकर्ता और कांग्रेस समाजवादी जेलों में बन्द थे, अस्तु मज़दूर आन्दोलन दो राष्ट्र-विरोधी शक्तियों अर्थात् रायवादियों और कम्युनिस्टों के हाथ में चला गया। फिर भी हृदय से मज़दूर वर्ग राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत था। इसका प्रमाण इसी से मिलता है कि जब कांग्रेसजन और विशेषकर कांग्रेस समाजवादी कार्यकर्ता जेल से छूट कर आये तो फिर उनका मज़दूरों पर पूर्ववत् प्रभाव स्थापित हो गया। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के चुनाव में अधिकांश मज़दूर सीटों पर कांग्रेस विजयी हुई। बम्बई तथा एक दो अन्य स्थानों पर कांग्रेस को मज़दूर सीट नहीं मिल सकी। उसका मुख्य कारण यह था कि कांग्रेस के दक्षिण पक्ष ने उन सीटों पर कांग्रेस समाजवादियों को न खड़ा करके उन्हें खड़ा किया जिन्होंने मज़दूरों में कभी काम नहीं किया था।

मज़दूर आन्दोलन की वर्तमान स्थिति

आज भारतवर्ष के मज़दूर आन्दोलन की बागडोर चार भिन्न राजनैतिक आदर्श वाले दलों के हाथ में है। रायवादी लेबर फ़ेडरेशन के द्वारा मज़दूरों का संगठन कर रहे हैं। कांग्रेस समाजवादी तथा कम्युनिस्ट ट्रेड यूनियन कांग्रेस के द्वारा मज़दूरों का संगठन कर रहे हैं। यद्यपि यह दोनों दल ट्रेड यूनियन कांग्रेस में सम्मिलित हैं परन्तु उनका एक दूसरे से घोर विरोध है। इसके अतिरिक्त महात्मा गांधी के सिद्धान्तों के आधार पर श्री गुलज़ारी लाल नंदा के नेतृत्व में हिन्दुस्तान मज़दूर सेवक संघ की अभी हाल में स्थापना हुई है। १९४६ में फिर उत्तरदायी मंत्रिमंडलों की स्थापना होने के उपरान्त मज़दूर वर्ग मानो जाग पड़ा हो। अपने अधिकारों, वेतनवृद्धि तथा वेतन में कमी न होने देने के लिए सभी प्रकार के मज़दूरों ने गम्भीर संघर्ष किया। रेल, डाक, तार, टेलीफ़ोन, उद्योग धंधे सभी में हड़तालों की बाढ़ सी आ गई। १९४२ की जन क्रान्ति के उपरान्त मानो सर्वहारा वर्ग ने अपनी शक्ति को पहचान लिया है और वह अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध है।

भारत की राजनीति और मज़दूर आन्दोलन

आज भारत की राजनीति में बड़ी तेज़ी से उतार चढ़ाव हो रहे हैं। राजनैतिक अधिकारों को हथियाने के लिए प्रत्येक राजनैतिक दल मज़दूरों पर अपना प्रभाव रखना चाहता है। कम्युनिस्ट लोग जो मुस्लिम लीग और अम्बेडकर के अनुयाइयों के साथ गठबंधन किये हुए हैं उसका एक कारण यही है कि वे इस युक्ति से मुसलमान और कुछ हरिजनों पर अपना प्रभाव जमाने में सफल हो सकें। कांग्रेस अभी तक मज़दूर आन्दोलन की ओर विशेष रूप से आकर्षित नहीं हुई। कांग्रेस सोशलिस्टों ने मज़दूरों में खासतौर से काम किया है। आवश्यकता इस बात की है कि देश में एक प्रभावशाली मज़दूर संगठन स्थापित हो जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता के तत्कालीन ध्येय को मानता हो और जो साम्राज्यवाद से निरन्तर मोर्चा लेने को तैयार हो। तभी मज़दूरों को राष्ट्रविरोधी और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के चंगुल में फंसने से बचाया जा सकता है।

भारत में मज़दूर आन्दोलन का उद्देश्य

आज हमारा मज़दूर आन्दोलन विशृङ्खलित है। उसका संगठन बलवान् नहीं है। अधिकांश ट्रेड यूनियनें हड़ताल कराना ही अपना एकमात्र कर्तव्य समझती हैं। कहीं कहीं तो जब कोई समस्या उठ खड़ी होती है और संघर्ष अनिवार्य हो जाता है तभी मज़दूर कार्यकर्ता ट्रेड यूनियन की ओर ध्यान देते हैं अन्यथा ट्रेड यूनियन सुप्त अवस्था में पड़ी रहती है। हमारे मज़दूर नेताओं को यह न भूलना चाहिए कि यदि हमारा उद्देश्य देश में समाजवादी समाज का निर्माण करना है और मज़दूर और किसानों का राज्य स्थापित करना है तो इस प्रकार के संगठन से हम अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकते। ट्रेड यूनियनों को मज़दूर के हितों के रचनात्मक कार्य करके उनका सबल संगठन करना होगा। अभी तक मज़दूर सभाओं ने मजदूरों की शिक्षा, स्वास्थ्य, रहने के मकानों की समस्या, मनोरंजन, सहकारी उपभोक्ता स्टोर्स की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया है। मज़दूर आन्दोलन को शक्तिवान् और क्रान्तिकारी बनाने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि मजदूर आन्दोलन का सही नेतृत्व हो। साथ साथ मजदूरों में रचनात्मक कार्य भी किया जाय। इसका सबसे अधिक उत्तरदायित्व आज की परिस्थिति में कांग्रेस समाजवादी दल पर ही है। क्या हम आशा करें कि कांग्रेस समाजवादी दल इस उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लेगा ?

संगीत का विकास

प्रो० ललितकिशोर सिंह

ध्वनि की उत्पत्ति वस्तु के कम्पन से होती है। कम्पित वस्तु अपने चारों ओर की वायु को विचलित कर देती है, जिससे इसमें 'कम्प-सन्तान' या तरंग का सञ्चार होता है। यह तरंग हमारे कानों तक पहुँच कर इनके पर्दों को कम्पित करती है। इस प्रक्रिया से वस्तु के कम्पन की प्रतिकृति हमारे कानों के पर्दों में पैदा होती है। इस कम्पन के द्वारा ही हमें ध्वनि का बोध होता है।

पर कानों का अनुभव एक सा नहीं, भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। कुछ ध्वनियाँ कानों को विशेष रूप से प्रिय मालूम होती हैं ; जैसे तार की झनकार या बाँसुरी की टेर। ऐसी ध्वनियों को सङ्गीत-ध्वनि या 'नाद' कहते हैं। इनसे भिन्न प्रकार की ध्वनियों को शोर या 'राव' कहते हैं। टेबुल पर हाथ मारने से या साधारण बोलचाल से इसी प्रकार की ध्वनि निकलती है। भौतिक दृष्टि से 'नाद' और 'राव' में यह भेद है कि पहला वस्तु के नियमित और दीर्घ अर्थात् लगातार कम्पन से उत्पन्न होता है और दूसरा अनियमित और क्षणिक कम्पन से।

संगीत का सम्बन्ध 'नाद' से है, 'राव' से नहीं।

नाद के तीन लक्षण होते हैं—(१) तारता, (२) तीव्रता और (३) गुण। पहले तो नाद महीन या मोटा अर्थात् ऊँचा या नीचा होता है। बच्चे और स्त्रियों की आवाज़ प्राय महीन या ऊँची होती है। वैसे ही पुरुषों की आवाज़ साधारणतः मोटी या नीची होती है। हारमोनियम की पटरियों को एक के बाद एक दबाते चलें तो आवाज़ दाहिनी ओर बढ़ने से ऊँची और बाईं ओर बढ़ने से नीची होती चली जायगी। जिस लक्षण से नाद की इस ऊँचाई निचाई का भेद प्रकट होता है उसे 'तारता' कहते हैं। ध्वनि की तारता जितनी अधिक ऊँची होगी, उसका कम्पन भी उतना ही अधिक द्रुत होगा।

ध्वनि ऊँची या नीची होने के साथ ही साथ बली या दुर्बल होती है। जैसे, हारमोनियम की कोई पटरी दबा कर यदि धौंकनी जोर से चलावें तो ध्वनि की तारता में कोई अन्तर न पड़ेगा, पर वह बली या तीव्र हो जायगी। यदि धौंकनी धीरे धीरे चलावें तो इसी ध्वनि की तीव्रता कम हो जायगी। नाद के इस लक्षण को 'तीव्रता' कहते हैं। लोग प्रायः तारता और तीव्रता में धोखा खा जाते हैं। इनका भेद एक उदाहरण से शायद अधिक स्पष्ट हो जाय। गदहे के रेंकने की आवाज़ तारता में नीची पर तीव्रता में ऊँची होती है। इसके उल्टा, चिड़ियों की चहचहाहट तारता में बहुत ऊँची पर तीव्रता में बहुत नीची होती है।

इन दो लक्षणों के अतिरिक्त नाद में एक ऐसा कुछ वैशिष्ट्य होता है, जिससे वह स्पष्ट पहचाना जाता है। जैसे रूप-भेद से व्यक्ति की पहचान होती है, वैसे ही इस वैशिष्ट्य भेद से ध्वनि की पहचान होती है। दूर ही से सिर्फ़ आवाज़ सुन कर हम कह सकते हैं कि बाँसुरी बज रही है या सितार बज रहा है; कोयल कूक रही है या कबूतर गुटक रहा है। परिचित व्यक्तियों को जैसे हम आँखों से उनकी सूरत देख कर पहचान लेते हैं, वैसे ही कानों से उनकी आवाज़ सुनकर भी पहचान लेते हैं। ध्वनि के इस वैशिष्ट्य को ही 'गुण' कहते हैं।

इन तीन लक्षणों वाले अनेक नादों के प्रबन्ध-विशेष से संगीत की उद्भावना होती है। संगीत के अङ्गभूत इन नादों को ही 'स्वर' कहते हैं। कोई एक स्वर, जिसकी एक निश्चित तारता है, चाहे लाख सुमधुर हो, चाहे अच्छे से अच्छा गुण वाला हो, संगीत नहीं कहा जा सकता। भिन्न भिन्न तारता वाले ऊँचे-नीचे अनेक स्वरों के सुन्दर प्रबन्ध को ही सङ्गीत कहते हैं। अर्थात् संगीत के लिए स्वरों का उतार-चढ़ाव आवश्यक है। स्वर संगीत का उपादान मात्र है। किसी सुमधुर स्वर को ही संगीत मान लेना वैसा ही

है, जैसा किसी पत्थर के ढोंके में बुद्ध की मूर्त्ति देखना या रंगों के ढेर में रंभा-मदालसा के चित्र की कल्पना करना। यह कार्य-कारण-विभ्रम दार्शनिकों के लिए क्षम्य है, पर कला मर्मज्ञों के लिए नहीं।

संगीत में स्वरों का उतार चढ़ाव अनियमित नहीं होता। किसी स्वर को यदि हम ऊँचा करते जाँय तो अन्त में हम एक ऐसे स्वर पर पहुँचेंगे, जिसका कम्पन पहले स्वर के कम्पन से दूना द्रुत होगा; और यदि इन स्वरों का हम साथ साथ उच्चारण करें, तो ये आपस में ऐसे मिल जायँगे कि इन्हें अलग अलग पहचानना कठिन हो जायगा। यदि पहले स्वर को 'षड्ज' या संकेत में 'स' कहा जाय तो दूसरे को 'तार षड्ज' या 'सं' कहा जायगा। इस स—सं के बीच का क्षेत्र ही संगीत का मुख्य क्रीड़ास्थल है। पर इस क्षेत्र में भी स्वरों का उतार चढ़ाव लगातार नहीं होता। स—सं के बीच छः सिढ़ियाँ हैं, जिन पर ठहर ठहर कर स्वर ऊपर चढ़ता है। इन ठहराव के स्वरों के नाम क्रमशः ऋषभ (र), गान्धार (ग), मध्यम (म), पञ्चम (प), धैवत (ध) और निषाद (न) हैं। 'स र ग म प ध न सं' के समुदाय को भारतीय पारिभाषिक में 'सप्तक' और विलायती पारिभाषिक में 'अष्टक' कहते हैं। इसी स्वर समुदाय को प्राचीनों ने 'ग्राम' कहा है। सप्तक के किन्हीं दो स्वरों के बीच के क्षेत्रको या सिड्ढी की ऊँचाई को 'अन्तराल' कहते हैं। संगीत के महल की ये सिढ़ियाँ बराबर नहीं होतीं। स-र, म-प, प-ध अन्तराल सबसे बड़ा, र-ग, ध-न अन्तराल इससे कुछ ही छोटा और ग-म, न-सं अन्तराल सबसे छोटा होता है। इन्हें क्रमशः गुरु स्वर, लघु स्वर और अर्ध स्वर कहते हैं। यदि गुरु और लघु स्वरों के भी दो दो टुकड़े कर दिए जाँय, तो सारा स-सं क्षेत्र १२ रागियों में बंट जाता है, जिन में से प्रत्येक का मान लगभग एक अर्ध स्वर होगा। इन्हें संकेत में स र् र ग् ग म मं प ध् ध न् न सं में लिखेंगे। हारमोनियम में इसी अर्धस्वरक ग्राम का उपयोग होता है।

संगीत की इस रूपरेखा को ध्यान में रख कर यदि हम इसके मूलाधार की खोज में चलें, तो एक ओर हीन से हीन जीव में और दूसरी ओर अतीत से अतीत का स्पर्श करेंगे। हम देखेंगे कि संगीत का विकास जीव के विकास के साथ ही साथ हुआ है।

डार्विन ने अपने 'मानव-अवतरण' ग्रन्थ में 'जीव-संगीत' की विवेचना की है। उनका कहना है कि कुत्ते जब से पालतू हुए हैं तब से 'चार या पाँच स्पष्ट स्वरों में भूकने लगे हैं।' 'घरेलू मुर्गे कम से कम एक दर्जन स्पष्ट स्वरों में बोलते हैं।' रेवरेण्ड लॉकउड ने अमरीका में पाए जाने वाले एक विशेष जाति के चूहे के बारे में कहा है कि यह चूहा अपने गले से अर्ध-स्वर तक का सच्चा अंतराल निकालता है। यह कभी कभी अपने स्वर को ठीक ठीक एक अष्टक नीचे उतारता है। उन्होंने इस चूहे के प्राकृतिक संगीत की स्वर-लिपि भी तैयार की है। गायक जाति के बहुतेरे पक्षियों में आवर्त्तक-ग्राम (संगीत के प्रचलित सरगम) के स्वर-संघात के गाने की क्षमता होती है। वाटर हाउस के निरीक्षण से पता चलता है कि वनमानुस जाति का गिब्बन आरोही (चढ़ाव) और अवरोही (उतार) मूर्छना में अर्ध स्वर के सच्चे अन्तराल का प्रयोग करता है; और इसके निम्नतम और उच्चतम स्वरों में एक अष्टक का अन्तराल होता है। इसकी ध्वनि तीव्र और संगीतमय होती है। गायक ओवेन ने भी इस निरीक्षण की पुष्टि की है। वनमानुस जाति में दूसरी जातियों के पशु भी तीन तीन स्वर शुद्ध अन्तराल के साथ गाते हैं।

जीव-संगीत की ओर भारतीय संगीत के पण्डितों का भी ध्यान आकर्षित हुआ था। नारद, याज्ञवल्क्य आदि शिक्षा ग्रन्थों के प्रणेताओं ने और मतङ्ग, शार्ङ्गदेव आदि संगीत के पण्डितों ने स्वरों का निर्धारण पशु पक्षियों की बोली से किया है। शार्ङ्गदेव ने लिखा है :—

मयूर चातकच्छाग क्रौञ्च कोकिल दर्दुराः।
गजश्च सप्तषड्जादीन् क्रमादुच्चारयन्त्यमी ॥

अर्थात्, मयूर षड्ज, चातक ऋषभ, छाग गान्धार, क्रौञ्च मध्यम, कोकिल पंचम, मेढ़क धैवत और हाथी सप्तम स्वर का उच्चारण करते हैं। इनमें से कोकिल का उदाहरण लेकर हम इसका तात्पर्य समझ सकते हैं। कोकिल (कोयल) जब बोलता है, तो उसकी ध्वनि एक ही तारता या स्थान पर टिकी नहीं रहती, बल्कि एक नीचे स्वर से क्रमशः उठती हुई किसी ऊँचे स्वर पर जाकर अड़ती है। प्राचीन पण्डितों के मतानुसार कोकिल के इस नीचे स्वर और सबसे ऊँचे स्वर के बीच स—प का अन्तराल होता है। जीवों में यह विशेषता है कि एक जाति के जीव सदा एक ही प्रकार के स्वर और एक ही क्रम से उच्चारण करते हैं। इसलिये कोकिल का स्वर-संक्रम पंचम अन्तराल के निर्धारण में प्रमाण माना जा सकता है। इसी प्रकार अन्य जीवों के स्वरोच्चारण का भी उपयोग किया जा सकता है।

जीव-संगीत में मानव संगीत के प्राकृतिक स्वर-ग्राम का पाना कोई असंगत घटना नहीं है। मनुष्य और पशु पक्षियों के कण्ठ और कान की रचना में केवल विकास की दशा का भेद है। इसलिये मनुष्य के प्राकृतिक स्वरों का पशु पक्षियों के स्वरों के साथ साम्य होना आवश्यक है। डार्विन ने हेल्महोज़ के सिद्धान्तों के आधार पर बताया है कि "....हमारे ग्राम के किन्हीं दो स्वरों के बहुतेरे आवर्त्तक उपस्वर एक ही होते हैं। इसलिये यह स्पष्ट है कि यदि किसी जन्तु को सदा एक ही गीत गाने की इच्छा हो तो वह उन्हीं स्वरों का क्रमशः उच्चारण करके इस इच्छा की पूर्त्ति करने की चेष्टा करेगा, जिनके बहुतेरे उपस्वर एक ही हों। अर्थात् वह अपने संगीत के लिए उन्हीं स्वरों को चुनेगा जो हमारे संगीत-ग्राम के हैं।"

उपर्युक्त वैज्ञानिक तथ्यों से यह सिद्ध है कि मानव संगीत का मूलाधार पशु पक्षियों के संगीत में है। अब जीव-संगीत की आदिम प्रेरणा और प्रयोजन पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

वैज्ञानिक निरीक्षकों का यह मत है कि पक्षियों में संगीत का उपयोग विशेषतः निराशा, भय, क्रोध, विजय या केवल आनन्द के भाव प्रकट करने में होता है। पशुओं में भी नर प्रायः मैथुन की ऋतु में ही गाते हुए पाए जाते हैं, जब उन्हें प्रेम, द्वन्द्व, ईर्ष्या, क्रोध, विजय आदि भावों को प्रकट करने की प्रेरणा होती है। इससे यह सिद्ध है कि भिन्न भिन्न भावों को प्रकट करने में पशु पक्षी भिन्न भिन्न स्वर-संक्रम का उपयोग करते हैं। विकास की आदिम अवस्था में मनुष्य भी इन्हीं भावों से प्रेरित होकर गाया करता था।

यह इससे जान पड़ता है कि पुरुष का कण्ठ-रज्जु स्त्रियों के कण्ठ-रज्जु की अपेक्षा लंबाई में तिगुना होता है। वैज्ञानिकों की धारणा है कि विकास के आदिम काल में 'प्रेम, क्रोध, ईर्ष्या आदि की उत्तेजना में कण्ठ के बार बार प्रयोग' से पुरुष का कण्ठ-रज्जु लंबा हो गया है। अर्थात् आदिम मनुष्य के संगीत की प्रेरणा भी वही थी जो पशु पक्षियों के संगीत की है। इसीसे मानव विकास के इतिहास में संगीत का अस्तित्व अति अतीत में भी पाया जाता है। पुरातत्ववेत्ताओं ने खोहों में पत्थर के औज़ारों और लुप्त जाति के पशुओं की हड्डियों के साथ रेन-डीयर की हड्डी और सींग से बनी बाँसुरी पाई है। लेओनार्ड उले ने ज़मीन के नीचे से एक ग्यारह तारों का बाजा ढूँढ़ निकाला है, जो लगभग ५००० वर्ष पुराना है। इससे यह स्पष्ट है कि इतने प्राचीन काल में भी मनुष्य भिन्न भिन्न स्वरों के संक्रम से परिचित था और उसका प्रयोग करता था। सुमेरी गायकों का एक ४६०० वर्ष पुराना चित्र पाया गया है, जिसमें कई प्रकार के बाजे और ढोलक दिखाए गए हैं। मिश्र देश में एक ८५०० वर्ष पुराना चित्र मिला है, जिसमें दो गवैये तार के बाजे और तीन बाँसुरी बजा रहे हैं और दो इन सभों के बीच तालियाँ दे रहे हैं।

मैक्समूलर आदि भाषा तत्त्वज्ञों की धारणा है कि संगीत की उत्पत्ति भाषा से पहले हुई। आरम्भ में भाव-व्यञ्जना का एकमात्र साधन संगीत था। अर्थात् स्वरों के उतार चाढ़ाव या संक्रम से ही, संकेत रूप में, मनुष्य अपनी मानसिक प्रतिक्रिया व्यक्त करता था। आगे चलकर जब मनुष्य का मस्तिष्क विकसित हुआ, तो एक एक शुद्ध और व्यापक भाव में विचार की अनेक धाराएँ खुल पड़ीं। शुद्ध भाव जटिल होने लगे। विचारशक्ति से नियन्त्रित इन भावों को केवल स्वर-संक्रम से व्यक्त करना दुष्कर हो गया। इसी प्रयोजन से भाषा का विकास हुआ। पर शुद्ध भाव क्षेत्र में फिर भी संगीत की उपयोगिता बनी रही। इसीलिये आज भी देखा जाता है कि जब किसी विचार को भाव से अनुप्राणित करना होता है या श्रोताओं के हृदय में विचारों के द्वारा किसी भाव की उत्तेजना पैदा करनी होती है, तो वक्ता स्वरों के उतार चढ़ाव से काम लेता है। अर्थात् सार्थक वाक्यों में संगीत

का पुट डालता है। साधारण बोल चाल में भी वाक्यों का उच्चारण सदा एक ही स्वर में नहीं होता। विधेयात्मक वाक्य अन्त में षड्ज से निचले पंचम पर अर्थात् मध्यम के अन्तराल से गिरता है। प्रश्न सूचक वाक्य अन्त में पंचम तक ऊपर उठता है। किसी शब्द पर ज़ोर देना हो तो वह एक स्वर उठाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि विचार शक्ति के विकास के साथ भाषा का अधिकार बढ़ता गया; फिर भी प्रबल भावों की अभिव्यक्ति संगीत के द्वारा ही होती रही। इसी प्रकार आदिम काल में रण-संगीत और सामूहिक संगीत का प्रादुर्भाव हुआ है जिसका अपेक्षाकृत अधिक सभ्य रूप 'ग्राम्य संगीत' है।

जब मनुष्य की उद्भावना-शक्ति बढ़ी और वह अपनी सुख समृद्धि के लिए नए नए साधनों का निर्माण करने लगा, तब बाजों का युग आरम्भ हुआ। मनुष्य ने देखा कि खोखले बाँस की नली में हवा के वेग से बड़ी श्रुति-मधुर ध्वनि निकलती है। वैसे ही उसने धातु के बर्तन की झनकार का भी रस पाया। स्वभावतः उसने सोचा कि कण्ठ-संगीत की नकल में इन साधनों का उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार बाँसुरी और तार के बाजों का निर्माण हुआ।

बाजों के निर्माण ने संगीत के विकास में नई शक्ति पैदा कर दी। जैसे लिपि के आविष्कार से भाषा को रूप मिला और तब व्याकरण की सृष्टि हुई, वैसे ही वाद्य के निर्माण ने संगीत को मूर्त्त कर दिया, जिससे संगीत के शरीर-विज्ञान का अध्ययन किया जा सका। इस अध्ययन के परिणाम स्वरूप संगीत शास्त्र की रचना हुई, जिसने क्रमशः 'ग्राम्य-संगीत' को 'शास्त्रीय संगीत' या 'नागरी-संगीत' के रूप में खड़ा किया। अब संगीत की प्रेरणा या प्रयोजन केवल भाव में न रह गया। अब विवेक बुद्धि के द्वारा संगीत के क्षेत्र का प्रसार होने लगा। चतुः स्वरक (चार स्वर वाला) और ओड़व (पाँच स्वर वाला) ग्राम्य-संगीत विकसित होकर षाड़व (छः स्वर वाला) और सम्पूर्ण (सात स्वर वाला) हो गया।

यूनान के आदि गायक ओर्फ़ियस के वाद्य यन्त्र में चार ही तार थे, जो क्रमशः स, म, प, और सं में बँधे थे। बाद को पंचम-संवाद की विधि से 'र' का तार और जोड़ा गया। फिर टर्पेन्डर ने इसी न्याय पर ग और ध का समावेश किया। अंत में पायथागोरस ने 'न' जोड़ कर ग्राम को सम्पूर्ण कर दिया। भारतीय संगीत में भी वैदिक संगीत पहले चार स्वरों तक ही सीमित थे। आर्चिक एक स्वर का, गाथिक दो स्वर का, सामिक तीन स्वर का और स्वरान्तर चार स्वर का होता था। उत्तर सामन् काल में क्रमशः ओड़व, षाड़व और सम्पूर्ण की उद्भावना हुई। कहा जाता है कि तुम्बरु गन्धर्व ने सप्तक पूरा किया था। ग्राम के विकास की यह प्रक्रिया अन्य देशों में भी इसी प्रकार चलती रही।

सप्तक की पूर्णता के साथ ही साथ संगीत का संचार एक ही सप्तक के क्षेत्र में सीमित न रह कर मन्द्र और तार में भी होने लगा। अब तो पियानो में सात सप्तक तक के स्वर बँधे होते हैं।

मनुष्य की आकांक्षा अनन्त होती है। इसीसे ग्राम को सम्पूर्ण बनाकर भी गायकों को तृप्ति न मिली। स्वरों के भी टुकड़े किए जाने लगे। भरत काल में ग्राम के सात स्वरों के क्षेत्र में २२ श्रुतियों की कल्पना प्रस्फुटित हुई। फारस में १७ स्वरों के ग्राम बने। चीन में ग्राम को ६० अणुस्वरों में विभक्त किया गया। आधुनिक काल में संगीत प्रेमी पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने ऐसे हारमोनियम बनाए जिनमें एक सप्तक के क्षेत्र में ५३ स्वरों की पटरियाँ बैठाई गई।

संगीत के विकास में धार्मिक प्रगति से बड़ी प्रेरणा मिली। पाश्चात्य देशों में ईसाई धर्म ने सामूहिक प्रार्थना में संगीत का उपयोग किया। इससे आदिम सामूहिक बहुकण्ठ गान को नई प्रतिष्ठा मिली। इसी मार्ग पर चल कर आगे 'संहति-संगीत' का विकास हुआ। संहति-संगीत की सृष्टि अनेक बाजों के एक साथ बजने से होती है। यहाँ मनुष्य के कण्ठ को भी एक यन्त्र ही समझना चाहिए। ये बाजे एक ही स्वर में न बजकर भिन्न भिन्न स्वरों में बजते हैं। जैसे किसी बाजे से 'स' निकल रहा है तो दूसरे से 'ग' और तीसरे से 'प'। इस प्रकार 'स, ग, प' एक साथ बजकर एक स्वर संघात की सृष्टि करते हैं। इस संहति की दिशा में पाश्चात्य संगीत बड़ी तीव्र गति से बढ़ता गया अनेक रक्ति दायक संघातों की रचना होने लगी और भाव-व्यञ्जना में उनका उपयोग होने लगा। आधुनिक विज्ञान से इस प्रगति में और भी शक्ति मिली। भारतवर्ष में सामूहिक प्रार्थना का प्रचार न होने से वैयक्तिक संगीत का ही विकास हुआ और इस वैयक्तिक संक्रम-संगीत की दिशा में अनेक रागों, तानों और आलापों की सृष्टि और उनका नियमन हुआ। भारत ही क्यों, सभी प्राच्य देशों में संक्रम संगीत का ही अधिकार पाया जाता है। इस्लाम की सामूहिक प्रार्थना से संहति-संगीत के विकास की सम्भावना अवश्य थी। पर इस धर्म ने संगीत का पूर्ण निषेध करके इस मार्ग को ही रोक दिया।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि वाद्य यन्त्रों के आविष्कार के बाद ही सच्चे सांस्कृतिक संगीत का विकास हुआ और तभी संगीत एक कला के रूप में प्रस्फुटित हुआ। प्रायः यह भ्रामक धारणा पाई जाती है कि कला का सर्वस्व भाव है। भाव कला का उपादान मात्र है, सर्वस्व नहीं। इसका स्रष्टा बुद्धि है। भिन्न भिन्न भावों के विशिष्ट उपयोग और प्रबन्ध से बुद्धि रसमय कला की सृष्टि करती है। आदिम शुद्ध भावमय संगीत इन्द्रिय सुख प्रदान करता है; पर कला विज्ञानमय संगीत बौद्धिक आनन्द का देने वाला है। इस दृष्टि से वाद्य यन्त्र के द्वारा ही संगीत में वैचित्र्य आया, जिससे संगीत कला का प्रादुर्भाव हुआ।

इस प्रकार जीव-संगीत की दशा से विकसित होकर, युग युग की भाव-भावना को सञ्चित करता हुआ मानव-संगीत आधुनिक दशा को प्राप्त हुआ है। आगे इसका विकास कैसा और किस दिशा में होगा, यह भविष्य के सामाजिक और तान्त्रिक विकास पर निर्भर है।*

* लेखक की शीघ्र प्रकाशित होनेवाली पुस्तक 'ध्वनि और संगीत' के आधार पर

इस लेख के पारिभाषिक शब्द :—

[illegible]—Sound
[illegible]—Musical sound
[illegible]—Noise.
[illegible]—Pitch.
[illegible]—Loudness, intensity.
[illegible]—Quality, timbre.
[illegible]—Tone.
[illegible]—Octave.
ग्राम—Scale (musical).
[illegible]—Interval..
[illegible] स्वर—Major tone.
[illegible] स्वर—Minor tone.
[illegible] स्वर—Semitone.
[illegible] ग्राम—Chromatic scale.
[illegible] अवतरण—Descent of man.
जीव संगीत—[illegible] music.
आवर्त्तक-ग्राम—[illegible] scale.
स्वर लिपि—[illegible]
स्वर संघात—[illegible]
जाति—Gen[illegible]
ज्ञाति—Spe[illegible]
मूर्छना—M[illegible]
संक्रम—Mel[illegible]
आवर्त्तक [illegible]—[illegible]armonic over tone.
कण्ठ रज्जु—[illegible] cord.
पंचम संवाद—[illegible] harmony.
बहु कण्ठ गान—[illegible]phonic music.
संहति संगीत—[illegible]nic music.
संक्रम संगीत—[illegible]dic music.
तान्त्रिक—T[illegible]

उन्नीसवीं शतीकी कुछ आर्थिक-राजनीतिक संस्थायें

पं० जयचंद्र विद्यालंकार

हमारे प्राचीन इतिहासकी आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओंकी खोज अनेक बुजुर्गोंने की है। मध्यकालमें उन संस्थाओंका क्रम-परिपाक कैसे होता रहा इसकी खोज अभी तक बहुत कुछ बाकी है। उनमेंसे अनेक संस्थायें किसी न किसी रूपमें आधुनिक काल तक चलती आई हैं। उनके इस अंतिम रूप पर विचार करनेसे उनके पिछले इतिहासके मार्ग पर भी प्रकाश पड़ सकता है। इसी दृष्टिसे पिछली शताब्दी की कुछ आर्थिक-राजनीतिक संस्थाओंकी यहां आलोचना की जाती है।

हम यह पाते हैं कि—

(१) ब्रिटिश शासनके आरम्भ काल में भारतके प्रायः सब राज्योंमें राजा और प्रजाके बीच जागीरदार, जमींदार, पालयगार, सरंजामदार, सरदार, इनामदार, गिरसिये, ठाकुर, मालगुजार, ताल्लुकेदार आदि नाम के किसी न किसी किस्म के सामन्त थे। अनेक जगह कृषक प्रजा इन सामन्तों की "रैयत" थी। ये सामन्त अत्यन्त उच्छृंखल थे, और प्रायः सभी जगह इन्हीं को इनके राजाओं और इनके देश के खिलाफ फाड़ कर अंग्रेजों ने भारत के राज्यों को जीता।

(२) करकी वसूली और स्थानीय शासन का काम प्रायः इन सामन्तों के हाथों में था, पर ज़मीन के मालिक किसान ही माने जाते थे।

(३) कुछ प्रान्तों या ज़िलों में—जैसे तामिलनाड के बारामहाल अर्थात् सेलम और कृष्णागिरि ज़िलों में और महाराष्ट्र के मुख्य भाग में-राजा और किसानों के बीच किसी किस्म के सामन्त नहीं थे।

(४) भारतीय शिल्पी और कारीगर प्रायः सब जगह महाजनों के पंजे में थे। वे महाजनों से अगाऊ रकम पाते और उसकी चुकाई में माल देते रहते थे। इन शिल्पियों की कारीगरी कमाल की थी, शताब्दियों की साधना उन्हों ने बुट्टी में पाई थी। लेकिन यूरोप में शिल्प की जो नई प्रक्रियायें तभी निकल रही थीं, उन्हें अपनाने लायक जागरूकता न तो हमारे इन शिल्पियों में और न हमारे राष्ट्र के नेताओं में ही थी। हम सभी एक अत्यन्त अद्भुत मोहनिद्रा में सोये हुए थे।

(५) समूचे भारत में ग्रामों की पंचायतें थीं जो कर वसूली, शान्ति रक्षा आदि के लिए ज़िम्मेदार थीं।

इनमें से एक एक बात पर अब हम विचार करते हैं।

सामन्तशाही

सामन्तशाही मध्य काल का ख़ास चिन्ह है। मध्यकालीन युरोप में भी वह थी; पर आधुनिक काल के शुरू में आवाजाही के साधन उन्नत होने से तथा सेना का केन्द्रीकरण होने से राज्यों की केन्द्री शक्ति प्रबल हुई; तब राजाओं ने सामन्तों के कोटले ढहा कर उन्हें काबू कर लिया। भारत के राज्य इस अंश में युरोप से पिछड़े रहे, इसी से अंग्रेजों को उनमें दख़ल देने का मौका मिला। अंग्रेज़ों ने अनेक जगह तो इन सामन्तों को बिलकुल कुचल दिया और जहां रहने भी दिया वहां इनकी सामरिक और राजनीतिक शक्ति बिलकुल तोड़ दी। दक्खिन भारत के अनेक पालयगार, जो कि आरम्भिक मध्य काल से चोल, होयशल और विजय नगर साम्राज्यों के भीतर बने रहे, जिनको काबू करने की समस्या बीजापुर और गोलकुण्डाके सुलतानों, मुगल बादशाह और उसके सूबेदारों तथा शिवाजी और उसके उत्तराधिकारियों को बराबर परेशान करती रही, अंग्रेज़ों के हाथ कैसे मच्छरों की तरह मारे गये! सर टामस मुनरोने क्या हलकेपन से लिखा था—"मैंने विट्ठल हेगाडे, उसके युवराज और उसके ख़ास ख़ास कारिन्दों को फांसी चढ़ा दिया है; और मुझे ज़रा भी शक नहीं कि दूसरा कोई भी आवारागिर्द राजा बलवा करेगा तो उसकी भी वैसी ही गत बना सकूँगा।"[1]

१. बसु, 'राइज ऑव दि क्रिश्चियन पावर इन इण्डिया' पृ० ७३४ पर उद्धृत

प्रश्न यह होता है कि प्राचीन काल में भी तो आवाजाही के साधन बहुत घटिया थे, तब युद्धकला मध्य काल की युद्धकला से भी निचले दर्जे की थी, तब प्राचीन इतिहास में सामन्तशाही क्यों न थी? इसका उत्तर यह है कि उस समय जनता में सामूहिक जीवन उत्कट था; स्थानीय शासन सब जनता की संस्थाओं के हाथों में था। उस समय के साम्राज्य या चातुरन्त राज्य संघटित और सजीव ग्रामों, श्रेणियों, पौरों, जनपदों और गणों की परिषदों के खंभों पर खड़े होते थे। मौर्य और सातवाहन साम्राज्यों की बुनियादें वही थीं; गुप्त साम्राज्य में भी वे मौजूद थीं, पर शायद उनके साथ साथ कुछ सामन्त पद्धति का भी बीज पड़ गया हो। पहले (हिन्दू) मध्यकालीन राज्यों के भूमि दानसम्बन्धी और अन्य जो हजारों लेख पाये गये हैं, तथा पिछले (मुस्लिम) मध्य काल की जो इतिहास-सामग्री उपस्थित है, उसकी खोज से इस सामन्तशाही के क्रम विकास का पूरा इतिहास मिल सकना चाहिए।

ज़मीन की मिलकियत

ये जागीरदार जमीन के मालिक नहीं थे; इनकी जागीर का अर्थ यह था कि वे राज्य की तरफ से अपने इलाके का कर वसूलते और प्रबन्ध करते थे। उस कर को यदि वे खुद खर्च करते थे तो वह इनके शासन प्रबन्ध सम्बन्धी और सेना सम्बन्धी कार्य का वेतन था। अंग्रेजों ने इनकी शासन और सेना सम्बन्धी जिम्मेदारी सब छीन ली, पर अनेक जगह करकी वसूली के लिए इन्हें ज़मींदार बना रहने दिया। जमीन की आमदनी में से जो अंश अंग्रेज सरकार इनके पास छोड़ने लगी वह वसूली का कमीशन था। कार्नवालिस के बन्दोबस्त का यही अर्थ था। यह बात तथा बाद में ये लोग जमीन के मालिक कैसे बन गये सो भी लार्ड हेस्टिंग्स के सन् १८१९ के इस लेख से प्रकट है—

"बंगाल में जमीन मिलकियत की विद्यमान अवस्था उतनी गवर्नमेण्ट के अर्थनीतिक विधानों से पैदा हुई नहीं जान पड़ती, जितनी कानूनी फैसलों के चरितार्थ किये जाने से हुई है। ठेका खरीदने वालों ने जो सब शक्तियाँ हथिया ली हैं, उससे किसानों के पास किसी अधिकार की परछाँही भी नहीं बची; और एक समृद्ध और खुशहाल जनता सर्वथा दरिद्र और भिखारी बन गई है।"[1]

ध्यान देने की बात है कि आज जिन्हें जमीन का मालिक कहा जाता है, हेस्टिंग्स उन्हें ठेका खरीदने वाले—अर्थात् गवर्नमेण्ट की खातिर कर वसूलने का ठेका लेने वाले और उसके बदले में कमीशन पाने वाले—कहता है। कार्नवालिस के समय वास्तव में यही दशा थी। लार्ड रिपन ने भी अपने शासन काल में करीब करीब यही बात लिखी है—

"मुगल सरकार के अधीन भूमिकर को ठेकेदार या राजा लोग वसूलते थे, जो कई बार शासकों द्वारा सीधे नियुक्त किये होते थे। और जिन्हें कई बार पहले के और अधिकार भी होते थे। ब्रिटिश सरकार ने इस मध्यस्थ वर्ग को स्थायी बन्दोबस्त का जमींदार बना दिया और मुगलों के भूमिकर को ज़मींदारी जागीरों का लगान बना दिया। जमींदारों को चाहे जमीन का असल मालिक कहा गया, पर वे रैयतों के मुकाबले में पूरे मालिक न थे ...।"[2]

लार्ड हेस्टिंग्स के उक्त उद्धरण में यह बात सबसे अधिक ध्यान देने लायक है कि किसानों के हाथ से जमीन की मिलकियत छिन कर जो जागीरदारों के हाथ में चली गई, सो ब्रिटिश शासन के किसी अर्थनीतिक विधान से नहीं हुआ, प्रत्युत अंग्रेजी कचहरियों के फैसलों के लागू होने से धीरे धीरे होता गया। इस बात को समझना आवश्यक है।

इंगलैण्ड में अठारहवीं शताब्दी में व्यावसायिक क्रान्ति शुरू होने से पहले एक "कृषि-क्रान्ति" हो चुकी थी, जिसमें जागीरदारों ने कृषकों के सब अधिकार जब्त कर अपनी जमीनों की हदबन्दी कर ली थी और उस जमीन के पूरे मालिक बन बैठे थे। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी कानून की दृष्टि में जो राज्य को जमीन का कर देता था वही जमीन का पूरा पूरा मालिक था और असल खेती करने वाले

१. बसु, वही, पृ० ८०५ पर उद्धृत
२. बसु, इण्डिया अण्डर दि क्राउन, पृ० २२५।

उसके निरे मुजेरे थे। भारतवर्ष में कार्नवालिस ने जमीन के अव्वल मालिक किसानों से कर वसूलने का ठेका जिन लोगों को दिया, अंग्रेज जजों ने उन्हें अपने देश के नमूने पर जमीन का मालिक समझा, और उन जजों के फैसलों से वे सचमुच मालिक बनते गये! एक तरफ करोड़ों जनता की ठोस सम्पत्ति और उनकी जीविका और स्वतन्त्र हैसियत के प्रत्यक्ष आधार थे, दूसरी तरफ थी भर विदेशी शासकों का एक दृष्टि-विभ्रम था। दोनों का सम्पर्क होने पर उस विभ्रम की जीत हुई, क्योंकि हिन्दुस्तानी प्रजा अपने जीवन के ठोस अधिकारों के विषय में भी मूक थी, और अंग्रेजों के वहम भी गरज कर बोलते थे। समाजशास्त्र की दृष्टि से यह एक अत्यन्त मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद नमूना है। अमेरिकन समाजशास्त्री सोरोकिन ने सांस्कृतिक समास बनने (Cultural integration) के चार तरीके बताये हैं। उनमें से दूसरा यह है कि विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्व परस्पर-सान्निध्य होने पर किसी बाहरी शक्ति द्वारा मिलकर एक नई चीज बना डालते हैं (Indirect association through a common external factor)[१]। यह उस प्रकार के समास का एक अच्छा नमूना है। उन्नीसवीं शती में भारतीय संस्कृति-तत्त्व की अत्यन्त क्षीणता और अंग्रेजी संस्कृति-तत्त्व की उत्कट सजीवता भी इसमें प्रकट है।

परन्तु भारतीय किसानों में चेतना के कुछ कण बाकी थे, और जब उन्होंने छटपटाना शुरू किया तो अंग्रेज मालिकों ने देखा कि उन्होंने बिना चाहे बिना समझे उन पर कितना बड़ा जुल्म ढा दिया है। कैनिंग, लारेंस, रिपन आदि के टिनैन्सी कानून उस भूल को सुधारने की कोशिशें थीं। किसानों से मिलकियत छिन गई थी, अब उन्हें "दखीलकारी" (Occupany) हक देकर सन्तुष्ट करने की कोशिश की गई। ब्रिटिश वहम की पहली चोटों ने भारतीय कृषि की पेंदी छेद डाली थी; गदर के बाद के सब टिनैन्सी-कानून उन छेदों में टांके लगाने की कोशिशें हैं। लेकिन एक टांका लग नहीं पाता कि दूसरा उखड़ जाता है। जमींदारी का वह समास जो भारतीय भू-स्वामित्व पद्धति में ब्रिटिश कल्पना का प्रभाव होने से बना है, अस्वाभाविक है। भारतीय कृषक में ज्यों ज्यों गर्मी आयगी, वह उस कल्पना को ठोकरें लगा कर दूर गिरा देगा—दोनों तभी तक जुड़े रह सकते थे जब तक भारतीय कृषक ठंडा था। आज भारत के अनेक प्रान्त इस प्रक्रिया में से गुजर रहे हैं, और इसे न समझने के कारण उनके शासक परेशान हैं।

इस विवेचना से हमें अपने पिछले सांस्कृतिक इतिहास के लिए यह महत्त्व की बात मिली कि इंग्लैण्ड में सत्रहवीं शती तक जागीरदारों के आर्थिक अधिकारों का जितना विकास हो गया था, भारत में मध्य काल के अन्त तक भी उतना नहीं हुआ था। यहां किसान अन्त तक जमीन के मालिक बने रहे, और ब्रिटिश युग में आकर ही उनकी दुर्गति हुई।

कृषक-भूस्वामित्व

हमारे बारामहाल में तथा महाराष्ट्र और पंजाब के अनेक हिस्सों ने जैसे किसानों ने अपने ऊपर किन्हीं जागीरदारों को स्थापित नहीं होने दिया, वैसी ही बात यूरोप में भी स्विज़रलैण्ड के इतिहास में हुई है।[१] जैसे स्विज़रलैण्ड में यह अवस्था वहां की जनता के उत्कट स्वाधीनता प्रेम के कारण बनी रह सकी, वैसा ही भारत के इन प्रान्तों में भी हुआ होगा। महाराष्ट्र और पंजाब में मुस्लिम शासनकाल में वस्तुतः जागीरदार स्थापित थे; पर मराठों और सिक्खों के उत्थान में वे उखड़ गये। शिवाजी का निश्चित ध्येय पुराने जागीरदारों को उखाड़ देना और नयों को न स्थापित होने देना था। लेकिन बाद के मराठा और सिक्ख शासकों ने अपने कुछ प्रदेशों में नये जागीरदार पैदा कर दिये। इसका अर्थ यह है कि अपने चारों तरफ की राजसंस्था से मराठे और सिक्ख बहुत समय तक प्रभावित हुए बिना न रह सके। मराठा और सिक्ख इतिहास का यह आर्थिक और संस्था-सम्बन्धी पहलू अभी तक उपेक्षित है।

परन्तु उन्नीसवीं शती के शुरू में इन प्रदेशों के स्वतंत्र कृषकों में भी विशेष जान न थी। इसी से अंग्रेजों ने उन्हें आसानी से अपना खेत मजदूर बना लिया। इन प्रान्तों में रैयतवारी बन्दोबस्त किया गया। रैयतवारी बन्दोबस्त में जमींदार नहीं थे, पर किसान जमींदारों की रैयतों से भी बुरी दशा में थे। कारण कि वहां ईस्ट इंडिया कंपनी खुद जमींदार बन बैठी। जमीन के मालिक की आमदनी में से जो मुनाफा या लगान अंग्रेजी कल्पना के अनुसार मिलना चाहिए, उसे कम्पनी खुद लेने लगी, और इस प्रकार महाराष्ट्र के मिरासदार (कृषक भूस्वामी) कम्पनी के निरे खेत-मजदूर बन गये। और क्योंकि रैयतवारी बन्दोबस्त में जमीन का मालिक परदेशी कम्पनी थी, और उस मालिक की तरफ से एक एक कलक्टर डेढ़ डेढ़ लाख किसानों के साथ बन्दोबस्त करता था, इसलिये इन प्रदेशों की जनता की इज्जत तुच्छ कारिन्दों के हाथों लुटने लगी और इस जनता का जीना केवल कम्पनी का मुनाफा पैदा करने के लिए रह गया। सन् १९०१ में जब लार्ड कर्ज़न ने दक्खिन के किसानों के जमीन बेचने के अधिकार को भी परिमित कर दिया तब उनकी गुलामी पर अन्तिम मुहर लग गई। देखना है कि इन अन्यायों को हमारी जनता की सरकारें कैसे दूर करती हैं।

ब्रिटिश शासन के शुरू में रैयतवारी प्रदेशों में भी किसानों में जान न होने का एक और उदाहरण यह है कि आगरा व "उत्तरी सरकारों" के जिन हिस्सों में जमींदार नहीं थे; वहां भी अंग्रेजों ने कर वसूली के ठेके नीलाम कर नये जमींदार खड़े कर दिये।[२]

आठवीं शताब्दी ई० तक भारतीय किसानों का अपनी जमीन पर [illegible] कितना पूरा और पक्का बना हुआ था [illegible] और कश्मीर के एक चमार की कहानी से प्रकट है। आठवीं से अठारहवीं शताब्दी तक भारतीय किसानों का मानव-चैतन्य और सामूहिक [illegible] होती गई, सो मध्य-कालीन इतिहास की [illegible] एक प्रश्न है।

शिल्पियों की अवस्था

शिल्पियों के महाजनों के पंजों में फंसे होने की बात बहुत ही गम्भीर है। कहां तो सातवाहन युग में वह अवस्था कि जुलाहों की श्रेणी के पास राजा अपनी स्थायी निधि को धरोहर रखता है,[१] और कहां यह हालत कि वही जुलाहे अब महाजनों के ऋणग्रस्त हैं, और विदेशी महाजन भी हमारे देश में आकर उन्हें दबोच लें तो हमारे राज्यों को कोई चिन्ता नहीं होती! यह परिवर्तन कब और कैसे हुआ? उसकी लम्बी प्रक्रिया कई मंजिलें पार कर पूरी हुई होगी और वह समूची टटोली जानी चाहिए। यूरोप में भी इस समय प्रायः कारीगरों की यही दशा थी। उनकी श्रेणियां या गिल्ड आधुनिक कारखाने शुरू होने से पहले ही टूट चुकी थीं, और श्रेणि-पद्धति तथा आधुनिक कारखाना-पद्धति के बीच एक ऐसा परिवर्तन-काल बीता जब पूंजीपति शिल्पियों को कच्चा माल मुहय्या कर देते और उनसे तैयार माल ले लेते थे। यह घरेलू कारखाना-पद्धति (domestic system) या "माल देने" ("putting out") की पद्धति थी। बड़ी मशीनों का प्रयोग अभी शुरू नहीं हुआ था, तो भी शिल्पी [illegible] भृति ले कर पूंजीपति के नफे के लिए काम करने लगे थे। कच्चे माल को थोक रूप से पूंजीपति मुहय्या करता और वही तैयार सामान को बेचता था।

किन्तु भारत में भी शिल्पियों की श्रेणियां इसी प्रकार सत्रहवीं शती से कुछ ही पहले टूटी हों सो नहीं सोचा जा सकता। कारण कि इस अंश में भारतीय और युरोपीय इतिहास में एक स्पष्ट भेद है। यूरोप में श्रेणियों या गिल्डों का अभ्युदय मध्य काल में ही हुआ—मध्य काल की गुलामी के अंधकार [illegible] में शिल्पियों की श्रेणियों में ही मानव स्वतंत्रता के [illegible] टिमटिमाते रहे; परन्तु भारत में श्रेणियों का [illegible] प्राचीन काल में हुआ था—यहां छठी शती ई० पू० से छठी शती ई० तक स्वाधीन सुसंगठित शिल्पियों की श्रेणियां थीं, जो स्वतंत्रा के वातावरण में ही बनी और फूली फलीं। प्राचीन भारतीय राज्य-संस्था ग्रामों और श्रेणियों पर निर्भर थी—वह ग्रामों और श्रेणियों का संघ ही थी।

---

१. 'सोशल एंड कल्चरल डिनेमिक्स', न्यूयार्क, १९३७, जि० १, पृ०

१. [illegible] हिस्ट्री आव इंडिया [illegible] एल ४, पृ० [illegible]

२. [illegible] पृ० २४०।

१. भारतीय इतिहास की रूपरेखा [illegible]

जनता का धन्दों के अनुसार संघटन उस राज्यसंस्था की बुनियाद थी। इस अंश में उसकी तुलना रूसी सोवियत्-संघटन से की जा सकती है।

भारत में शिल्पियों की ये श्रेणियां छठी शती ई० तक परिपक्व अवस्था तक पहुंच चुकी थीं, और सत्रहवीं शती तक उनके सदस्य पूरी तरह पूंजीपतियों के गुलाम बन चुके थे। प्रकट है कि उनका ह्रास और पतन बहुत धीरे धीरे लम्बी अवधि में हुआ। श्रेणियां धीरे धीरे पथरा कर जातें बन गईं, उनका काम अपने सदस्यों पर सामाजिक बन्धन लगाना और सामाजिक रिवाजों को बनाये रखना मात्र रह गया, और जो उनकी असल आर्थिक शक्तियां थीं वे सब महाजनों के हाथों गिरवीं रक्खी गईं। यही मध्य कालीन ह्रास की प्रक्रिया है, जिसका बारीकी से टटोला जाना आवश्यक है। किन्तु इस ह्रासका सबसे करुण पहलू यह है कि हमारे शिल्पी और हमारा समूचा राष्ट्र बाहरी दुनियां की तई बिलकुल बेहोश रहे। यदि वह सहज चौकन्नापन उनमें होता जो प्रत्येक जीवित सत्ता में होता है, तो युरोप की नई प्रक्रियाओं को उन्होंने झट अपना लिया होता और अपने दो हजार बरस के अगुआपन को कभी हाथ से न जाने दिया होता।

पर इस बेहोशी की दशा में भी हमारे शिल्प आसानी से मरने वाले नहीं थे यदि इङ्गलैन्ड ने अपनी राजनीतिक शक्ति उन्हें कुचलने को न लगाई होती। यह मानी हुई बात है और इससे यह प्रकट है कि हमारी कारीगरी कितनी परिपक्व थी। हमारे कारीगरों का वह हस्तकौशल आज भी मिट नहीं गया है। इस दृष्टि से यह खोज बड़े महत्त्व की होगी कि उन्नीसवीं शती में अथवा आज भी हमारे मरते शिल्पों में से प्रत्येक की प्रक्रिया और कार्यशैली क्या थी! उन प्रक्रियाओं का क्रम-विकास हमारे समूचे पिछले इतिहास में हुआ था! इसलिये उनके मालूम होने से हमारे सांस्कृतिक इतिहास पर प्रकाश पड़ेगा। मेरे आदरणीय मित्र राय कृष्णदास ने बनारस के कुछ शिल्पों, उनके औजारों, उनकी प्रक्रियाओं, शैलियों और उनकी परिभाषाओं का अध्ययन इस दृष्टि से किया है।

आज हमारे उन ग्राम्य शिल्पों के पुनरुद्धार की चेष्टा हमारे सबसे बड़े नेता की ओर से की जा रही है। इस पुनरुद्धार के लिए भी सबसे पहला काम होना चाहिए था उन शिल्पों की अवस्था और उनकी प्रक्रियाओं की पूरी सिलसिलेवार जाँच (सर्वे)। आश्चर्य है कि अनेक प्रान्तों की राजकीय शक्ति हाथ में आने पर भी हमारे नेताओं को आज तक यह बात नहीं सूझी!

ग्राम संस्थायें

ग्राम संस्थायें अंग्रेजी शासन के शुरू में समूचे भारत में थीं; वे हिमालय और सह्याद्रि के समान पुरानी मानी जाती थीं, पर अंग्रेजी शासन ने उनके हाथों से सब शक्ति खींच ली, जिससे वे निर्जीव होकर सूख गईं, सूख कर गिर पड़ीं और गिर कर धूल में मिल गईं। इस प्रसंग पर हमारे महान् पथदर्शी ऐतिहासिक स्व० रमेशचन्द्र दत्त ने यों लिखा है—

"राष्ट्रीय संस्थायें राष्ट्रीय आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति और परिणाम होती हैं। भारत के लोगों ने ग्राम समूहों का विकास किया; वे पालयगारों और जमींदारों, जागीरदारों और तालुकेदारों, सरदारों[१] और पंचायतों के अधीन रहते थे; क्योंकि उन्हें उनकी जरूरत थी। उनका सामाजिक संघटन उनकी अपनी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार खड़ा हुआ था; वे अपने को अपने सहज नेताओं के अधीन या अपने ग्राम्य संघों के बीच अधिक सुरक्षित और अधिक प्रसन्न अनुभव करते थे। किन्हीं भी शासकों के लिए ऐसी योजनाओं में फेरफार करना सयाना काम नहीं है; विदेशी शासकों के लिए तो जनता की संघटित संस्थाओं की उपेक्षा करना मूर्खता का काम है।"[१]

फिर, "यह शोक की बात है कि इन प्राचीन स्व-शासन संस्थाओं का ब्रिटिश शासकों के अत्यंत केन्द्रीकृत प्रबन्ध के अधीन ह्रास और लोप हो गया। यदि गांवों के नेताओं पर कुछ भरोसा किया जाता; मालगुजारी, फौजदारी और पुलिस के प्रबन्ध में उन्हें कुछ शक्तियां दी जातीं; और (उनमें) बुराइयों का पैदा होना रोकने के लिए सावधानी से पर सहानुभूति के साथ उन पर देखरेख रक्खी जाती, तो यह हो सकता था कि ये समूह आज तक भी अच्छी सेवा कर रहे होते।"[२]

रमेश दत्त के समय घाव ताजा था, इसलिये उनका यों आंसू बहाना ठीक था। आज हम आँसू थामकर और वेदना के लम्बे अनुभव के फलस्वरूप चित्त को शान्त करके विचार सकते हैं। यदि राष्ट्रीय संस्थायें राष्ट्रीय आवश्यकताओं से अभिव्यक्त होती हैं, तो उन्नीसवीं शती में इन संस्थाओं का मिट जाना भी क्या उस समय की राष्ट्रीय आवश्यकताओं का परिणाम न था? क्या वे इसी कारण नहीं गिरीं कि वे जीर्ण थीं? अंग्रेज भारतीय राज्यों को इस कारण दबा सके कि वे बोदे थे, उन्हें जनता का जीवित सहयोग प्राप्त न था। लेकिन जनता की इन संस्थाओं को वे क्यों दबा सकते यदि इनके अन्दर जीवन होता? भारतवर्ष की लाखों ग्राम-संस्थाओं से लड़ाई करने की जिद में क्या ब्रिटिश साम्राज्य धूल में न मिल जाता यदि इनमें जान होती? और यदि वे इतनी बोदी, इतनी दीमक की खाई हुई थीं कि विदेशी के चार ठुड्डों से गिर पड़ीं, तो क्या एक ऐतिहासिक की सिफारिश और दया प्रार्थना से वे बच जातीं? रमेश दत्त उन पंचायतों को मालगुजारी, फौजदारी और पुलिस-प्रबन्ध का कुछ अंश सौंपवाना चाहते थे। ग्राम-पंचायतों के हाथ में ये शक्तियाँ हों तो स्वराज्य की सच्ची नींव पड़ जाय। किन्तु पिछले पैंतालिस साल के पुनरुत्थान तथा महात्मा गांधी के नेतृत्व में किये हुए पचीस बरस के प्रयत्नों के बावजूद भी अभी तक हमारा सामूहिक चैतन्य बहुत मन्द है; नहीं तो पिछली कांग्रेसी सरकारें, अंग्रेजी सरकार से समझौते के अरसे में अपना ग्राम संघटन खड़ा कर लेतीं, जो पिछले आन्दोलन में हमारी रीढ़ का काम देता। अथवा गांवों की जनता जिन्दा जातियों की भांति स्वयं अपना संघटन खड़ा कर लेती। उन्नीसवीं शताब्दी में तो वह चैतन्य करीब करीब न के बराबर ही था। इसलिये उस समय इन संस्थाओं का टूट जाना सर्वथा स्वाभाविक था। हम स्वयं इनमें समयानुकूल परिवर्त्तन न कर पाते। अंग्रेजों ने इन्हें मिटा कर साफ कर दिया तो नई रचना के लिए मैदान तैयार हो गया।

इस विवेचना से यह पता चला कि ये संस्थायें अपने अन्तिम जीवन-काल में ठीक किस अवस्था तक पहुँच चुकी थीं। एक बात इनके सम्बन्ध में और समझने की है। ये ग्रामसंघ सजात समूह न थे। ये जनमूलक (Tribal)—कबीलों पर निर्भर न थे। यह हो सकता है कि कुछ गांवों में एक ही वंश के लोग बसे रहे हों, और कहीं कहीं उनकी संयुक्त संपत्ति भी रही हो। यह इसलिये कि आरम्भ में—वैदिक काल में—हमारे ग्राम वस्तुतः जन की टुकड़ियां ही थे। लेकिन भारत में जनमूलक या साजात्यमूलक समाज छठी शताब्दी ई० पू० में ही समाप्त हो चुका था—जन के साजात्य और जनपद की भक्ति में पाणिनी स्पष्ट भेद करते हैं। और उसके बाद से हमारी संस्थाओं की बुनियाद साजात्य पर खड़ी न थी। इस विशाल देश के कुछ पिछड़े लोगों में सजात समूह फिर भी बने रहे, पर कौटिल्य के समान हमारे राजनेता उनके तथा चेतनापूर्वक बनाये हुए समूहों के अन्तर को स्पष्ट समझते थे।[१] समूचे प्राचीन काल में हमारे ग्राम चेतन समूह थे—अर्थात् उनकी मिल कर काम करने की प्रेरणा

---

[१] भारत के कई इलाकों से अंग्रेजों ने जो जागीरदारों आदि को समूल उखाड़ दिया, रमेश दत्त उनके लिए भी आहें भरते हैं। उनके समय में उनकी यह बात ठीक थी, क्योंकि एक तो किसानों की कमाई का कुछ अंश जब दूसरों के हाथ में जाना ही है तो विदेशी कम्पनी के बजाय वह स्वदेशी जमींदारों को ही क्यों न मिले; दूसरे, [illegible] में किसानों की बहुत ही दुर्गति थी; जमीन्दारी इलाकों में तब तक जमींदार पुरानी परम्परा के अनुसार किसानों के बीच रहते, [illegible] को उन्नत करने के लिए पूंजी लगाते, समय पड़ने पर किसानों को पूंजी आदि से मदद करते तथा उनके सुख दुःख में भाग लेते थे। पर बाद में यह परम्परा टूटती गई, जमींदार अपनी ज्यादा आमदनी से निश्चिन्त हो शहरों में आ बसे, [illegible] उन्होंने छोड़ दिया। रमेश दत्त के समय तक यह [illegible] न हो पाई थी; तब तक किसानों में भी यह जागृति न [illegible] कि वे अपनी पूरी कमाई पर अपना हक समझें। रमेश दत्त यह देखते थे कि विदेशी शासकों के तुच्छ अमलों से [illegible] इलाकों का अपेक्षा जमीन्दारी इलाकों में [illegible] कम हुआ है, [illegible] जमींदारों का पक्ष [illegible] तो शायद दूसरे ढंग से ही लिखते।

[१] इंडिया इन विक्टोरियन एज, पृ० ८९।

[२] वही, पृ० १९७।

[१] भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ६११।

इस कारण न थीं कि वे अपने को सगोत्र मानते थे, प्रत्युत इस कारण, कि वे उस सामूहिकता का लाभ देखते-समझते थे। सजात या सगोत्र हुए बिना भी वे मिल कर काम कर सकते थे।

लेकिन अनेक ग्रामों की बस्तियां रूप में साजात्य-मूलक थीं ही; उनमें एक वंश के लोग बसे हुए थे ही; और जब बाद में उनका सामूहिक चैतन्य मन्द हो गया तब फिर केवल साजात्य का भाव बाकी रह गया और फिर से जाग उठा। जिस प्रकार श्रेणियों से जातें बन गईं, वैसे ही कई जगह ग्राम फिर सजात समूह से दिखाई देने लगे। उनके लोग अपने अन्दर जिस एकता का अनुभव करते वह साजात्य की एकता मात्र रह गई। और इस ह्रास और पतन के काल में अनेक विदेशी या सरहदी आक्रान्ता भी भारत में आ कर बसे। इनमें से अनेक कबीलेबन्दी की दशा में थे। जहां जहां इनकी बस्तियां बसीं वहां वहां कबीले या जन वाला साजात्य का भाव रहा और उसने पड़ोसियों पर भी प्रभाव किया। किन्तु उन्नीसवीं शती के भारतीय ग्रामों में यदि कहीं साजात्य का भाव था तो वह सामाजिक संघटन की प्रारम्भिक (Primitive) दशा का सूचक न था, प्रत्युत एक बार के पूरे अभ्युदय के बाद परिपक्व हो कर जीर्ण हुए समाज की जीर्णता का सूचक था—वह सभ्यता के आरम्भ का द्योतक न था प्रत्युत सभ्यता के पतन के बाद उमड़े हुए वहशीपन का द्योतक था।

अनेक अंग्रेज निरीक्षकों ने इस भेद को नहीं समझा, और सर हेनरी मेन की विचारधारा में यही त्रुटि रही है। लेकिन हमारे पास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उन्नीसवीं शदी में भी हमारे ग्रामों की सामूहिकता की बुनियाद साजात्य नहीं था। विगेंट और गोल्डस्मिडने, जिनसे बढ़ कर हमारी संस्थाओं को देखने-समझने का मौका शायद ही किसी अंग्रेज को मिला हो, स्पष्ट लिखा है—मालगुजारी अदायगी की साझी जिम्मेदारी और ग्राम का साझा प्रबन्ध दक्खिन में शायद सार्वत्रिक थे, पर हम संयुक्त मिलकियत के कोई चिह्न कहीं नहीं पाते।"[१]

लेकिन कुछ अंग्रेजों को इस सम्बन्ध में जो भ्रम हुआ और उन्होंने इस सामूहिकता को साजात्य समझ लिया, इससे भी यही परिणाम निकलता है कि यह सामूहिकता बहुत जीर्ण थी। और उसकी जीर्णता का परिपाक समूचे मध्य काल में हुआ था।

इतनी बात स्पष्ट करने के बाद यह प्रश्न आता है कि जागीरदार और ग्रामसंस्थायें दोनों साथ साथ कैसे थीं? दोनों ही का काम तो स्थानीय शासन था? एक म्यान में ये दो तलवारें इकट्ठी कैसे रहती थीं? इसका उत्तर यही होना चाहिए कि ग्राम-संस्थाओं के साथ साथ सामन्तों का रहना ही इस बात का सूचक है कि उन संस्थाओं का जीवन मन्द था। जिस अंश में वे अपने दायित्व को छोड़ती गईं, उसी अंश तक शासन-शक्ति सामन्तों के हाथ जाती गई। उदाहरण के लिए हम कौटिलीय में श्रेणियों की सेना की तथा ग्रामों के ऊपर सड़कों की मरम्मत की जिम्मेदारी की बात सुनते हैं। सामन्तशाही के जमाने में राजाओं की सेनायें सामन्तों की टुकड़ियों से बनती थीं। प्रकट है कि जब ग्राम, श्रेणि आदि छोटे समूहों ने अपने दायित्व को निभाना छोड़ दिया तब राजाओं ने सामन्तों से काम लेना शुरू किया। आज भी हमारे किसानों में जैसे जैसे सामूहिक जीवन जाग रहा है, वैसे वैसे उन्हें जमींदारी की संस्था से लड़ना पड़ रहा है। महात्मा गान्धी का कहना है कि जमींदारों का जमींदारी का हक एक तरह की थाती है। एक की थाती तभी दूसरे को सौंपी जाती है, जब पहला नाबालिग हो या नाबालिग की तरह बर्त्तता हो। और जब वह बालिग हो जाय या अपने बालिगपन को अनुभव करने लगे, या जब थातीदार अमानत में खयानत करने लगे तब थाती देर तक नहीं टिक सकती।

फलतः मध्य काल में जागीरदारों के पास जो भी शासन सम्बन्धी अधिकार थे, या उनके पास आज जो आर्थिक अधिकार हैं, वे सब वही अधिकार थे जो प्रजा की संस्थाओं ने अपनी उपेक्षा के कारण उनके हाथों में जाने दिये थे। लेकिन किस किस प्रदेश में, कब कब ग्राम संस्थाओं और सामन्तों के अधिकारों की ठीक हदबन्दी कैसे होती रही, यह मध्यकालीन इतिहास में बड़े खोज का विषय है।

['भारतीय विद्या' से संशोधित और परिवर्धित रूप में]

१ रमेश दत्त—इण्डिया इन वि० एज, पृ०'५८ पर उद्धृत।

साहित्य की छान बीन

—बैजनाथ सिंह 'विनोद'

भारतीय एक जातीयता गठन समस्या—(बंगला)

लेखक, डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त। प्रकाशक, बर्मन पब्लिशिंग हाउस, ७२ हरीसन रोड, कलकत्ता। मूल्य ८ आना।

इस समय भारतीय राष्ट्र गठन समस्या को लेकर देश में बहुत वाद विवाद चल रहा है। मुसलमानों का एक बड़ा समुदाय हिन्दुस्तान को दो राष्ट्रों में विभाजित करना चाहता है। एक और समुदाय है, जो कहता है कि हिन्दुस्तान को १६ हिस्सों में बाँट कर सबको स्वभाग्यनिर्णय का अधिकार दे देना चाहिये। एक और समुदाय है जो हिन्दुस्तान को एक और अविभाज्य रखना चाहता है। कांग्रेस का मत इन सबसे अलग है। ऐसी हालत में यह जरूरी है कि जन साधारण को इस समस्या पर दलबन्दियों से अलग वैज्ञानिक दृष्टि से सोचने की सामग्री दी जाय।

प्रस्तुत पुस्तिका में डा० दत्त ने सर्व प्रथम राष्ट्र 'नेशन' की परिभाषा पर १६ वीं शती से लेकर मार्क्स, लेनिन और स्टालिन तक की व्याख्या पर विचार किया है। और अन्त में मार्क्स के मत—"ऐसी लोकसमष्टि जिसकी एक भाषा, एक संस्कृति और एक नस्ल हो, एक अर्थनैतिक और ऐतिहासिक बन्धन में आबद्ध होने पर एक राष्ट्र होती है"—को स्वीकार किया है। और इसी सूत्र से स्टालिन की व्याख्या—"एक इतिहास के अन्दर से विकसित स्थायी लोकसमष्टि, जिनकी भाषा में समानता हो, एक वासभूमि हो, एक अर्थनैतिक जीवन हो तथा समान संस्कृति के मध्य से विकसित होकर जिसका एक सा मानसिक गठन हो, वह लोकसमष्टि एक राष्ट्र होती है" को मंजूर किया है।

लेखक का मत है कि ऋग्वैदिक 'पंच जन' तथा 'सप्तसिन्धव' के युग से लेकर समस्त हिन्दू काल में भारतीय संस्कृति की एकता थी। और उसकी अभिव्यक्ति राष्ट्रगठन पद्धति, [illegible] पद्धति, क़ानून, दर्शन, विज्ञान, शिल्प, कला, अर्थनैतिक पद्धति, धर्म, भाषा, वैदिक सूत्रोक्त आचारादि के अन्दर से होती रही है। और इसी एकता के परिणाम स्वरूप कश्मीर और मद्रास के ब्राह्मणों तक में एक गोत्रता मौजूद है। मुसलमानों के भारत आगमन के समय इस सांस्कृतिक एकता में जो कुछ व्यतिरेक दिखाई पड़ा था, उसे भी काल धीरे धीरे दूर करने लग गया था। यहां लेखक ने अध्यापक आज़ाद के "[illegible]" से प्रमाण दिया है कि—"अकबर के दरबार में मुसलमान उमरा पगड़ी पहनने लगे और दाढ़ी को 'अलविदा' (विदाई) दे दी। हिन्दू राजा फ़ारसी पढ़ने और 'मिर्जा' की पदवी भी धारण करने लगे। ब्रज भाषा के मूल से एक भाषा की सृष्टि हुई, जिसको ईरानी पोषाक पहनायी गई और जो आज उर्दू भाषा है।" फिर लेखक ने संस्कृति की व्याख्या करते हुए कहा है—"मानव-मस्तिष्क की उद्भावनी शक्ति से प्रसूत द्रव्य उसकी संस्कृति का द्योतक है। और जब इस सांस्कृतिक द्रव्य को जन साधारण व्यवहार में लाने लगता है, तो उसी को सभ्यता कहते हैं।" लेखक की इस व्याख्या से सम्पूर्ण मुसलिम काल के अन्दर भी सांस्कृतिक एकता का प्रतिपादन होने लगता है। लेखक की बात समझ में भी आती है, क्योंकि मुसलमान काल में किसी भी बादशाह ने किसी भी राजा पर बिना हिन्दुओं की सहायता के आक्रमण नहीं किया है। ध्यान से देखने पर मालूम होगा कि मध्यकाल में भी हिन्दू-मुस्लिम सामन्तों की लड़ाई का कारण धर्म नहीं रहा है, यद्यपि उसकी दुहाई दोनों ओर से दी गई थी। लेखक ने जोर देकर कहा है "मार्क्सवादी व्याख्या के अनुसार भारतवर्ष में समान ऐतिहासिक संस्कृति रही है, उसका भाग्य भी एक ही सूत्र में ग्रथित रहा है। इस समय यदि ध्यान से देखा जाय तो उसका स्वार्थ भी एक ही है, इसलिये भारतवर्ष के एक राष्ट्रीयता प्राप्त करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।" पाकिस्तान के सम्बन्ध में लेखक का मत है—"...... मुसलमान बूर्जुआ राष्ट्र गठन करना चाहते हैं, जहां वह राजशक्ति को संचालन करनेवाली शासक श्रेणी में रहें। उनका उद्देश्य सफल होने से मुसलिम मूलधन (कैपिटल) स्वाधीन होगा, मुसलमान जन साधारण नहीं।" (डब्लू० सी० स्मिथ—'मार्डन इसलाम इन इण्डिया पृ० ३१७) इससे साबित होता है कि मुसलमान समाज के अभिजात और सामन्ती लोग अर्थनैतिक व्यवस्था जनित बुनियादी स्वार्थ को प्रतिद्वन्दी भाव से कायम रखने के लिए बूर्जुआ श्रेणी से मिलकर गण श्रेणी के शोषण के लिए पाकिस्तान के दावे को आगे करते हैं। असल में उच्च श्रेणी की अर्थनीतिक परिस्थिति ही इस पाकिस्तान के दावे में अन्तर्निहित है।"

इसके बाद डा० दत्त ने दिखाया है कि सोवियत् रूस की राष्ट्रगठन पद्धति के अन्दर—"शोषक श्रेणी (जिससे जाति समूह में कलह की उत्पत्ति होती है) का अभाव है; और वहां शोषण का भी (जिससे परस्पर अविश्वास की सृष्टि होती है) अभाव है।" इसलिये वहां हिन्दुस्तान की जैसी समस्या का कारण ही नहीं है। वहां की सभी जातियों में एक अभ्यन्तरीण द्रव्य समाजवाद प्रवाहित होता है, जो सबको एकता के सूत्र में बांधता है। रूस के शासन विधान की धारा १, ३, ४, १२, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३ और १२४ वहां के सभी जनतन्त्रों को एकता के एक सूत्र में बांधती है। इसके अलावा रूस की केन्द्रिय सरकार के हाथ में (१) सोशलिस्ट राष्ट्र की रक्षा और निर्विघ्नता के सम्पादन का कार्य, (२) सम्पूर्ण सोवियत् जनतन्त्र के अन्दर उपयुक्त फलप्रद अर्थनैतिक योजना द्वारा सभी जनतन्त्रों को सफलता के साथ कार्यक्षम करना, (३) सम्पूर्ण सोवियत् भूमि में एक आधार पर समाजवादी क़ानून समूह, जीवन यापन के मान, काम का समय, सामाजिक बीमा, मजदूरों का संरक्षण, स्वास्थ्य एवं शिक्षा सम्बन्धी कम समूह को निश्चितता के साथ पालन करना भी है। इसके अलावा सोवियत् रूस के और भी वैधानिक धाराओं का प्रमाण देकर सिद्ध किया गया है कि—"सोवियत् संघ से बाहर होना सोवियत् संघ के किसी भी सदस्य के लिये सम्भव नहीं है।" इसके बाद डा० दत्त ने कहा है—"जो लोग भारतवर्ष को सहस्रों टुकड़ों में विच्छिन्न कर उसे मानचित्र से मिटा देने के लिए व्यग्र हैं और इस विषय में सोवियत् रूस की दुहाई देते हैं, उन्होंने स्टालिन के शासन विधान का अच्छी तरह अध्ययन नहीं किया है।"

डा० दत्त का मत है—"......भारतवर्ष की सांस्कृतिक एक जातीयता (राष्ट्रीयता—अनु०) अखण्डनीय और अनुच्छेद्य है।

राजनीतिक एक जातीयता (राष्ट्रीयता–अनु०) की सामग्री भी उसके पास है; और भारतवर्ष उसी पथ पर चल रहा है।" किन्तु "विश्लेषण करने से मालूम होता है कि भारतवर्ष के वर्तमान वातावरण में धर्म और भाषा के पार्थक्य के ऊपर जोर न देकर समस्त साम्राज्यवाद विरोधी दलों को एक करके स्वाधीनता का अर्जन और राष्ट्र का गठन करना होगा।" "पहले राष्ट्र की स्वाधीनता के लिये संयुक्त होना जरूरी है; इसके बाद राष्ट्र के स्वाधीन होने पर बुनियादी स्वार्थ के साथ सर्वहारा श्रेणी का द्वन्द जरूरी है। इसी द्वन्द के अन्दर से सर्वहारा श्रेणी क्षमता सम्पन्न होगी, जिसके आधिपत्य से राष्ट्र का गठन होगा।" किन्तु "इस जगह यह अच्छी तरह समझ लेना जरूरी है कि भारतीय सामाजिक और अर्थनीतिक परिस्थिति ऐसी है, जिसके लिये भारतवर्ष की एक राष्ट्रीयता ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिए भारतवर्षके अभ्यान्तरीण द्रव्य समूहका समाजवादी होना भी अनिवार्य आवश्यक है।"

योग-प्रवाह—लेखक, स्व०, डा०पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल। प्रकाशन-विभाग, काशी विद्यापीठ, बनारस कैंट। मूल्य ३॥)

प्रस्तुत ग्रन्थ स्व० डाक्टर बड़थ्वाल के १९ लेखों का संग्रह है। श्री सम्पूर्णानन्द ने इन सभी लेखों का सम्पादन करके इनको एक सूत्रता प्रदान की है। अन्त के ५ लेखों को छोड़कर बाकी सब लेखों के अन्दर ऐसी सामग्री है, जिनसे हिन्दी के प्राचीन साहित्य पर योग मत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

१ से लेकर १४ लेखों तक ऐसी अनेक सामग्री एकत्र है, *जिनसे योग-मत की साधना और उसकी अनेक परम्पराओं का पता लगता है। प्राप्त सूचनाओं के अन्दर अनेक समाजतात्विक तथ्य भी निहित हैं। जैसे—"· · · टेसिटरी का कथन है कि मुसलमानी शासकों को प्रसन्न करने और राजनीतिक सुभीतों के* लोभ से योगी बौद्ध धर्म के क्षेत्र को छोड़कर, ईश्वर शिव के उपासक हो गये।" (पृ० १५) कबीर के सम्बन्ध में लेखक ने कहा है—"· · · असल में वे मगहर इसलिये गए कि काशी उनका रहना हिन्दुओं ने दूभर कर दिया था।" (पृ० ९१) परन्तु कबीर को हिन्दू विधवा अथवा कुमारी का पुत्र मानने का विचार बहुत नवीन है। प्रियादास जी ने भक्त-माल की टीका में, जहां कई आश्चर्यजनक असम्भव सी घटनाओं का उल्लेख किया है, वहां इस बात की ओर संकेत तक नहीं किया। कबीर का मुसलमान होना, उनके बहुसख्यक हिन्दू अनुयायियों को अपने लिए लज्जा की बात मालूम हुई होगी, इसी से उनके लिए एक हिन्दू माता की सृष्टि करनी पड़ी, उनको मुसलमान के घर में पहुँचाने के लिये कारण प्रस्तुत करने में इस नव सृष्ट माता को विधवा बनाना पड़ा।" (पृ० १०८–१०९) कबीर पन्थी साहित्य की और बारीकी से खोज किया जाय तो पता लग जायगा कि रीवां के महाराजा विश्वनाथ सिंहजू देव के कबीर पंथ में आने के बाद यह प्रवृत्ति कबीर पंथ में आई होगी। जिसका अर्थ यह होगा कि कबीर पंथ में सामन्त श्रेणी के प्रवेश के बाद उसमें पतन के लक्षण दिखाई दिये। और अब तो कबीर पंथ में चूल्हे-चौके की बाकायदे व्यवस्था हो गई है।

हिन्दी के सन्त साहित्य ही नहीं भक्ति साहित्य को भी ठीक से नहीं समझा जा सकता, जब तक चौरासी सिद्धों से उद्भूत योग की धारा का भी अध्ययन न किया जाय। स्व० डाक्टर बड़थ्वाल जी ने योग की इस धारा का पता लगाया और उसका हिन्दी से सम्बन्ध भी बताया। "· · · निर्गुण शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है। भक्ति धारा का जल पहले योग के ही घाट पर बहा था। गोरखनाथ का हठयोग केवल ईश्वर-प्रणिधान में बाहरी सहायक मात्र है। न कबीर ने वास्तव में योग का खण्डन किया है और न केवल बाहरी क्रियाओं को प्रधानता दी है। शरीर को व्यर्थ कष्ट देना कभी भी हठयोग का उद्देश्य नहीं है।" (पृ० ७५) "आगे चलकर जब भक्ति की धारा नई भूमि पर नए आकार और नये वेग से बहने लगी तब उसका नाम निर्गुण धारा पड़ा। निर्गुण धारा को तो साहित्य के इतिहास में उचित स्थान मिला है, परन्तु योग धारा अब तक इस सौभाग्य से वंचित है।" (पृ० ७६) असल में हिन्दी साहित्य का इतिहास आधुनिक शोधों से सम्पन्न वैज्ञानिक दृष्टियुक्त इतिहास नहीं है। उसमें एक ऐसा अध्याय तो निश्चित रूप से जोड़ा जा सकता है, जिसमें नाथ पंथ का पूरा और चौरासी सिद्धों में से कुछ सिद्धों के साहित्य का इतिहास रहे। पं० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने नाथ पंथ पर एक व्याख्यान 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में दिया था। पर हिन्दी के दुर्भाग्य और एकेडमी के प्रमाद के कारण अब तक वह अप्रकाशित है, वर्ना डाक्टर बड़थ्वाल और पं० द्विवेदी का साहित्य भी इस दिशा में पथ प्रदर्शन का काम करता।

डा० बड़थ्वाल ने अपने सभी निबन्धों में ऐतिहासिक तथ्यों का आलोक फेंका है। उनके अन्दर की आध्यात्मिकता कहीं भी ऐतिहासिक सत्य पर हावी नहीं हुई है। उनकी आलोचना शैली सर्वत्र निलिप्त और मधुर है। अपने कटुवे, छिछले और अपेक्षाकृत अप्रमाणिक विरोधी के प्रति भी उनके हृदय में जरा भी दुराव नहीं मालूम होता। वह अपनी बात को हर पहलू से कसते हुये सत्य का का पता लगाते हैं; इसलिये उनमें सर्वत्र विश्वास की छाप भी दिखाई पड़ती है। उनका यह "योग-प्रवाह" एक तरह से हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक अध्याय है, जिसको पढ़े बिना कोई भी विद्यार्थी सन्त साहित्य का मर्म नहीं समझ सकता।

कांग्रेस-पुस्तिक (१९४६)—डा० बालकृष्ण केसकर। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, स्वराज भवन, इलाहाबाद मूल्य २॥)

प्रस्तुत पुस्तिका में अ० भा० कांग्रेस कमेटी के सभी अध्यक्षों की सूची, १९२१ से ४६ तक के सभी मन्त्रियों की सूची, १८८५ से १९४६ तक के प्रान्तवार डेलीगेटों की तालिका, १९४६ में प्रांतीय असेम्बलियों में कांग्रेसी सरकारों की स्थिति और निर्वाचन फल, कांग्रेसी सरकारों के अधिकारियों की सूची, संशोधित कांग्रेस विधान (१९३९), कांग्रेस के महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव, निर्वाचन सम्बन्धी घोषणा पत्र, १९४६–४७ के प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अधिकारियों और सदस्यों की सूची। सभी जिला और शहर कमेटियों की सूची, तथा सबा अदालतों के सदस्यों की सूची है।

प्रस्तावना में डा० केसकर ने लिखा है—"इस कांग्रेस-पुस्तिका का मुख्य उद्देश्य कांग्रेस संघटन के बारे में सब प्रकार की उपयोगी जानकारी और आँकड़े देना है।" और इस दिशा में पुस्तिका सफल तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं के काम की है।

समाजवादी की डायरी

अमरीका में रिपब्लिकन दल की विजय—

नवम्बर १९४६ के अमरीका के नये निर्वाचन में रिपब्लिकन दल की जीत हुई है। निर्वाचन फल इस प्रकार है—

सिनेट	पहले	अब
डेमोक्रैटस	५६	४५
रिपब्लिकन्स	३९ *	५१
प्रतिनिधि सभा—		
डेमोक्रैटस	२४१ †	१८८
रिपब्लिकन्स	१९२	२४६ ‡
प्रान्तों के गवर्नर—		
डिमोक्रैटस	२५	२३
रिपब्लिकन्स	२३	२५

शाही भवन में भी मजदूर संघ—

ब्रिटिश शाही भवन के कर्मचारियों ने भी अपना संघ बना डाला है। शाही भवन के २६० शाही अफसरों में से २५६ इस संघ में शामिल हो गये हैं। इन लोगों का ख्याल है कि शेष चारों को भी ये लोग संघ में शामिल कर लेने में सफल हो *जायँगे। शाही भवन के अतिरिक्त विन्डसर केसिल, सेन्ट जेम्स 'पैलेस' और मार्लबरो 'हाउस' के कर्मचारियों का भी संघटन* हो रहा है।

जर्मन कारीगर रूस भेजे गये—

२२ अक्तूबर का समाचार है कि बर्लिन के बहुत से रेडियो विशेषज्ञ जर्मन कर्मचारी रूसी अधिकारियों द्वारा रूस भेज दिये गये हैं। उन्हें वहां ५ वर्ष रहना पड़ेगा। इन लोगों को प्रातःकाल ५ बजे आकर आदेश दिया गया कि २ घण्टे के अन्दर चलने के लिए तैयार हो जाओ। ये कर्मचारी सुप्रसिद्ध कारखाना आवसप्रे में कार्य करते थे। सोशल डेमोक्रैटिव पार्टी ने प्रस्ताव द्वारा इसका घोर विरोध किया है। कर्मचारियों में बहुत से सोशल डेमोक्रैटिव दल के सदस्य थे।

ब्रिटेन में जर्मन गुलाम—

इंगलैंड में जर्मन क़ैदियों से खेतों में और इमारत के बनवाने में काम लिया जाता है। इस समय तीन लाख अट्ठासी हजार क़ैदी काम कर रहे हैं, इनको डेढ़ पेन्स ($1\frac{1}{2}$ d.) फ़ी घण्टे के हिसाब से मजदूरी दी जाती है। दो वर्ष के बाद ये अपने देश वापिस जा सकेंगे। पुराने समय में जैसे गुलामों से काम लिया जाता था, उसी प्रकार इन जर्मनों से आज काम लिया जा रहा है।

* राबर्ट एम० ला० फोलेटे का भी समर्थन प्राप्त था।

† एक प्रगतिशील और एक मजदूरदलीय का समर्थन प्राप्त है।

‡ एक स्थान सन्देहात्मक है।

अमरीका में नाजियों का प्रभाव—

कुछ मास पहले अमरीकन केन्द्रीय सरकार के न्याय विभाग की ओर से श्री जान रोगे को गोयरिंग जैसे जर्मन नाजी नेताओं से बातचीत करने के लिए भेजा गया था। उन्होंने जो रिपोर्ट दी उससे पता चलता है कि बहुत से प्रमुख अमेरिकन व्यक्तियों का जर्मन नाजियों के साथ गहरा सम्बन्ध था। इन लोगों ने राष्ट्रपति रूजवेल्ट को चुनाव में हराने के लिए बराबर कोशिश की थी। श्री रोगे का कहना है कि उन्होंने इस बात पर बार बार जोर दिया कि उनकी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी जाय, पर जब ऐसा न हो सका तो उन्होंने इस रिपोर्ट को स्वयं कुछ संक्षिप्त रूप में कुछ लोगों के पास भेजा। फलतः न्याय विभाग ने उन्हें नौकरी से अलग कर दिया। श्री रोगे का कथन है कि २४ अक्तूबर को हुए। रिपोर्ट में जिन लोगों पर आरोप किए गये हैं, उनमें कुछ इनसन में अपना काफी असर रखते हैं और इसी वजह से ये नौकरी से अलग किये गए। उन्होंने यह बताया कि दो प्रभावशाली पत्रकारों के बारे में जांच करने की भी अनुमति उन्हें *नहीं दी गई*

सोशल डेमोक्रेटों की जीत—

बर्लिन के म्युनिसिपल निर्वाचन में सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी की जीत हुई है निर्वाचन फल इस इस प्रकार है—

सोशल डेमोक्रैट	...	६९
क्रिश्चियन डेमोक्रैट	...	२९
सोशलिस्ट यूनिटीपार्टी	...	२६
लिबरल	...	१२

रूसी अधिकारियों की कृपापात्र सोशलिस्ट यूनिटी पार्टी को उतने भी वोट नहीं मिले जितने कम्युनिस्ट पार्टी को १९३३ में मिले थे।

विदेशों में बड़े राष्ट्रों की सेनाएं—

अपने देश से बाहर संसार के विभिन्न देशों में अमेरिका, ब्रिटेन और रूस की जो सेनाएं पड़ी हुई हैं, ऐंग्लो-सैक्सन अनुमान के अनुसार उनके आँकड़े नीचे लिखे अनुसार हैं—

ब्रिटेन—

पश्चिमी युरोप	...	४,७३,०००
मध्य पूर्व	...	२,४३,०००
भारत	...	१,५०,०००
दक्षिणपूर्वी एशिया	...	२०,०००
जापान	...	३८,०००
	योग	९,२४,०००

पश्चिमी युरोप	...	३,३९,०००
अलास्का	...	२५,०००
कोरिया	...	५०,०००
जापान	...	१,४०,०००
चीन	...	२९,०००
फिलिपाइन्स	...	५०,०००
प्रशान्त द्वीप समूह	...	१५,०००
कैरीनियन द्वीपसमूह	...	५०,०००
आइसलैंड	...	१,२००
	योग	६,८९,०००

रूस—

पश्चिमी युरोप	...	७,२०,०००
दक्षिणी तथा पूर्वी युरोप	...	९,४६,०००
मंचूरिया	...	७५,०००
कोरिया	...	१,९०,०००
	योग	१९,३६,०००

विदेशों में भारतीय सैनिक—

विदेशों में ब्रिटिश सरकार की ओर से भेजी गई भारतीय सेना के सैनिकों की संख्या नीचे लिखे अनुसार कूती गई है—

हिन्द एशिया	...	४० हजार
मलाया		२० हजार (जिनमें १५ हजार गोरखे)
बर्मा	...	२२ हजार
हांगकांग	...	१५ हजार
ईराक	...	१० हजार
मध्यपूर्वी एशिया	...	२॥ हजार

(ये सैनिक धीरे धीरे भारत वापस आ रहे हैं)

सोवियत् रूस की लाल सेना के सिपाही और अफ़सरों का मासिक पुरस्कार—

"सेना समाज की अनुकृति है और उसके सब रोगों से युक्त होता है। सामान्यतः सेना में यह रोग कुछ उग्र रूप में पाये जाते हैं।" —ट्राटस्की

पैदल सिपाही	१० रूबल	
कारपोरल	१००	,,
सब लेफ्टेनेंट	६५०	,,
लेफ्टेनेंट	८०० से ९००	,,
मेजर	१२००	,,
कमांडन्ट	२५००	,,
ब्रिगैडियर जनरल	३५००	,,
तोपखाना का सिपाही	१५	,,
बंबार्डियर	१५०	,,
तोपखाने का लेफ्टेनेंट	७५०	,,
कप्तान	१०००	,,
बड़ा अफ़सर	१५०० से २०००	,,
जनरल	३०००	,,

(सोशलिस्ट अंक, नवम्बर १९४६ से)

ग्रीस में ब्रिटेन—

जनवरी सन् १९४६ तक इंगलैंड ने एक करोड़ दस लाख पाउण्ड का फ़ौजी सामान ग्रीस की गवर्नमेंट को दिया है। आगे के अनुमान अभी तक तैयार नहीं हैं, किन्तु इतना तै हो गया है कि मार्च १९४७ तक का व्यय अंग्रेज देंगे, तथा इसके अतिरिक्त जो अंग्रेजी फ़ौज इस समय ग्रीस में है उसका मासिक व्यय १० लाख पौण्ड होता है।

धार्मिक अनुष्ठान में रूस—

अभी हाल में न्यूयार्क में यूनाइटेड नेशन्स की कानफ़रेंस हुई थी, इस अवसर पर २७ अक्तूबर सन् १९४६ को रोमन कैथलिक कथड्रिल में 'मास' (Mass) पढ़ा गया था। इस अनुष्ठान में सोवियत् प्रतिनिधि-मण्डल के पांच सदस्य सम्मिलित हुए थे। इनमें विदेशी विभाग के उप-कामिसार श्री विशिस्की और राजदूत नाविकाफ़ भी थे।

पूँजीपतियों की जेब में

लड़ाई के जमाने में जहाँ मजदूरों पर गरीबी की मार बेहद बढ़ गई। वहाँ पूँजीपतियों के पास मुनाफ़े के रूप में बेशुमार दौलत इकट्ठा हुई। सन् १९४४ मुनाफ़े की दृष्टि से लड़ाई का सबसे गया गुज़रा साल था। इस वर्ष भी देश की विभिन्न व्यवसायी कम्पनियों को जो मुनाफ़ा हुआ, उससे लड़ाई के जमाने में भारतीय पूँजीपतियों के मुनाफ़े का कुछ अन्दाज़ लगाया जा सकता है।

वस्त्र व्यवसाय—

कम्पनी	पूँजी	संचित कोष	लाभ
भारत (बम्बई)	×	×	१७४,६०,०००
दिल्ली क्लाथ मिल्स	×	१२,५०,०००;	१,६३,२५,०००
कोहिनूर मिल (बंबई)	४५,००,०००;	६८,००,०००;	१,३८,११,४१०
कानपुर मिल्स	१५,००,०००;	×	१,०७,६०,०००
मदुरा मिल्स	८७,००,०००;	×	७५,४५,०००
पोद्दार (बम्बई)	३०,००,०००;	१५,७८,०००;	६८,००,०००
सिम्प्लेक्स ,,	१४,००,०००;	३०,००,०००;	५५,२१,०००
कम्बोडिया (कोयम्बतुर)	११,००,०००;	×	५०,४७,०००
गोकक (कर्नाटक)	३९,००,०००;	१५,००,०००;	४३,५८,०००
विक्टोरिया (बम्बई)	×	×	३८,४३,४९६
एल्गिन— (कानपुर)	३६,२०,००,०००;	२४,३२,००,०००;	३६,६०,९३४
स्वदेशी (बम्बई)	४५,००,०००;	१,३८,००,०००;	१७,१०,२२८
मैसूर	२२,३५,०००;	५०,००,०००;	१६,४१,९६३
लैंन्सडौन (जूट)	३२,००,०००;	६३,००,०००;	४,१९,०००

लोहा व्यवसाय—

कम्पनी	पूँजी	संचित कोष	लाभ
ताता आयरन	×	३६,००,००,०००;	४,४५,००,०००
बंगाल स्टील	४,१६,००,००,०००;	४,४२,००,०००;	२६,९३,९०६
कूपर (सतारा)	२१,००,०००;	६,५३,६११;	३,४७,२१३
जोस्टस (बम्बई)	२,००,०००;	३,५५,०००;	१,०१,५६४

चीनी व्यवसाय—

कम्पनी	पूँजी	संचित कोष	लाभ
मैसूर सुगर कं०	२१,००,०००;	३७,००,०००;	१८,७४,०००
राजा सुगर कं०	२०,००,०००;	१६,३०,०००;	८,२९,४१७
बुलन्द सुगर कं०	२४,००,०००;	२३,२६,०००;	७,६४,९६०

बैंक व्यवसाय—

कम्पनी	पूँजी	संचित कोष	लाभ
पंजाब नेशनल बैंक	५८,५७,४०९;	६३,००,०००;	२२,९३,०००
कोमिल्ला बैंक	४५,८९,८९०;	२४,००,०००;	५,८०,०००
नेशनल बैंक	२०,००,००० (पौंड);	२,२०,०००;	५,७१,८१७
जयपुर बैंक	५०,००,०००;	×	४,४६,०००
चार्टर्ड बैंक	३०,००,००० (पौंड);	३०,००,०००;	३,२०,९९०
कनारा बैंक	२६,३३,५८३;	१०,३४,४०८;	२,८२,७०१
एक्सचेंज बैंक आफ इण्डिया एण्ड अफ्रिका	४२,५०,०००;	×	१,९५,०००

अन्य व्यवसाय—

इम्पीरियल केमिकल्स	...	६९,७२,९८८ (पौंड)
ताता आयल कम्पनी	...	२९,७०,३४०
इण्डियन एल्युमिनियम	...	२५,८४,०००
अटक आयल कम्पनी	...	१,२३,००० (पौंड)
सिन्धिया	...	२१,८३,०००
आल्कक एण्ड केमिकल्स	...	६,२१,३१०
साउथ करनपुर कोल कम्पनी	...	४,४०,९५०

१९४६ की महत्वपूर्ण घटनायें

देश में—

जनवरी (३) भारतीय जंगी लाट द्वारा आजाद हिन्द फ़ौज के तीन अफ़सरों की सजायें माफ़।

(४) ब्रिटिश पार्लमेण्ट्री शिष्ट मण्डल का भारत में आगमन।

(२९) श्रीमती अरुणा आसफ़अली का कलकत्ते में प्रकट होना।

फरवरी (१९) ब्रिटिश पार्लमेण्ट में आमात्य शिष्टमण्डल के भारत जाने की घोषणा।

(२१) नौ सैनिकों का विद्रोह, बम्बई में भयंकर उपद्रव।

(२४) सरदार पटेल को सलाह पर नौ सैनिकों का आत्म-समर्पण।

मार्च (२४) अमात्य शिष्टमण्डल दिल्ली में।

अप्रैल (११) श्री जयप्रकाश नारायण और डाक्टर राममनोहर लोहिया की रिहाई।

मई (५) शिमले में त्रिदल-सम्मेलन आरम्भ।

,, (१६) भारत की वैधानिक प्रगतिके सम्बन्ध में अमात्य दल द्वारा १५०० शब्दोंवाले राजकोय पत्रका प्रकाशन।

जून (१६) अमात्यमण्डल और वाइसराय द्वारा अन्तरिम सरकार में कार्य करनेके लिए भारतीय नेताओंको आमन्त्रण।

अगस्त (१०) कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा कुछ शर्तों के साथ अमात्य शिष्टमण्डल योजना को स्वीकार करना।

,, (१२) पण्डित जवाहरलाल नेहरू को तत्काल अन्तरिम सरकार संघटित करने को निमन्त्रण।

,, (१६) लीग द्वारा घोषित प्रत्यक्ष कारखाई दिवस और कलकत्ते में भीषण दंगा आरम्भ।

सितम्बर (२) पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में नई अन्तरिम सरकार द्वारा कार्यभार ग्रहण।

अक्तूबर (१३) लीग द्वारा अन्तरिम सरकार में शामिल होने का निर्णय।

,, (१६) कबीले वाले क्षेत्र का दौरा करने के लिए पण्डित जवाहरलाल नेहरू का प्रस्थान।

,, (२७) ट्रावनकोर रियासत में जनता और राज्यसैनिकों के बीच घोर संघर्ष।

नवम्बर (२०) हैदराबाद रियासत के नलगोंडा ज़िले में मार्शल ला जारी।

,, (२१) लीग द्वारा विधानपरिषद् का बहिष्कार करने का निर्णय।

,, (२३) मेरठ कांग्रेस अधिवेशन आरम्भ।

,, (२४) ग्वालियर के महाराज से विधान परिषद की माँग, ३१ दिसम्बर तक की चुनौती।

दिसम्बर (१) भारतीय नेता और वाइसराय लन्दन रवाना।

,, (६) दतिया के ज़ालिम दीवान बरखास्त, राजनीतिक बन्दी रिहा।

,, (९) विधान निर्मातृपरिषद् की बैठक आरम्भ।

,, (१८) श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा बनारस के भाषण में भावी क्रान्ति की रूपरेखा पर प्रकाश।

,, (२२) संघ न्यायालय में प्रान्त मण्डल सम्बन्धी प्रश्न न ले जाने का कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा निर्णय।

विदेश—

जनवरी (२०) जनरल देगाल का त्यागपत्र और राजनीति से अलग होने की घोषणा।

,, (२५) परमाणु बम पर विचार करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा उपसमिति का संघटन।

मार्च (२२) ब्रिटेन और ट्रान्सजार्डन के बीच 'मित्रता' की सन्धि, ट्रांस जार्डन की 'स्वाधीनता' की घोषणा।

अप्रैल (११) जापान में आम निर्वाचन।

मई (९) इटली के नरेश विक्टर इमैनुअल द्वारा गद्दी-त्याग।

जून (३) फ्रांस में विधानपरिषद का निर्वाचन, पपुलर रिपब्लिकन दल की विजय।

,, (३०) बिकनी द्वीप में अमेरिका द्वारा परमाणु बम का परीक्षात्मक प्रयोग।

जुलाई (१) सरवक ब्रिटिश उपनिवेश में परिवर्तित।

,, (२) शान्ति सम्मेलन के सम्बन्ध में चतुर्महान् के परराष्ट्र मन्त्रियों में समझौता।

,, (४) फिलीपाइन द्वीपसमूह की 'स्वाधीनता' की घोषणा।

,, (१४) अमेरिकन प्रतिनिधि सभा में ब्रिटेन को दिए जाने वाले ऋण पर मतगणना।

अगस्त (४) फिलस्तीन सम्बन्धी ब्रिटिश योजना का यहूदियों की कार्यसमिति द्वारा अस्वीकृत।

,, (१०) अरब राष्ट्रों के परराष्ट्र मन्त्रियों द्वारा फिलस्तीन विभाजन वाली ब्रिटिश योजना अस्वीकृत।

सितम्बर (१) यूनान में मतगणना, राजतन्त्र वादियों का बहुमत।

,, (२०) अमेरिकन मंत्रिमण्डल से श्री हेनरी वलेस का त्यागपत्र।

,, (२६) आंगसान द्वारा वर्मा के अन्तरिम सरकार का संघटन।

अक्तूबर (१) नाजी नेताओं को दण्ड देने की घोषणा।

नवम्बर (१) संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अफ्रीका सम्बन्धी भारतीय अभियोग स्वीकृत।

,, (१४) डच कमीशन और हिन्द एशिया की सरकार के बीच समझौते का मसविदा स्वीकृत।

,, (२१) अमेरिका में ४ लाख कोयलाखनकों की हड़ताल।

दिसम्बर (११) ईरान की केन्द्रीय सरकार के अजरबैजान प्रान्त की सरकार का आत्मसमर्पण; श्री जाफर पिशेवरी तथा तुदेह दल के अन्य कर्णनेताओं का मास्को पलायन।

,, (२०) वर्मा के नेताओं को लन्दन आने का निमन्त्रण।

,, (२२) हिन्द-चीन में फ्रेंच तथा देशभक्तों से वियेतनाम सरकार से पुनः युद्ध आरम्भ।

,, (२४) फ्रांस में चतुर्थ प्रजातन्त्र की घोषणा।

,, (२५) चीन के लिए नये विधान की रूपरेखा स्वीकृत।

,, (३१) ब्रिटिश अमेरिकन हवाई समझौता।

इण्डोनेशियन पार्लमेण्ट

इण्डोनेशिया की वर्तमान अस्थायी पार्लमेंट के सदस्यों की कुल संख्या ३२६ है। विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों की संख्या नीचे लिखे अनुसार है—

१.	मारजोएमी (साम्राज्यविरोधी मुस्लिमदल)	६०
२.	पी० एन० आई० (राष्ट्रीय दल)	४५
३.	सोशलिस्ट पार्टी ...	३५
४.	कम्युनिस्ट पार्टी ...	३५
५.	पी० बी० आई० (मजदूर दल)	३५
६.	पारकिन्दो (ईसाई दल)	८
७	पी० के० आर० आई० (कैथलिक ईसाई)	४

पड़ोस के अन्य प्रदेशों से—

१.	सुमात्रा ...	५०
२.	कालीमंतन ...	१२
३.	सुलेवेसी ...	१५
४.	मोलक्का द्वीप समूह ...	७
५.	लघुसुन्दा ...	७

अल्प संख्यक—

१.	चीनी ...	७
२.	अरब ...	३
३.	डच ...	३

बलगेरिया और रूमानिया के चुनाव

बलगेरिया के नये चुनाव में कम्युनिस्ट सोशलिस्ट आदि वामपक्षीय दलों के शामिल मोर्चे, फादरलैण्ड फ्रण्ट को ३६४ सीटें तथा विरोधी दलों को १०१ सीटें मिली हैं।

रूमानिया में वामपक्षीय दलों को पार्लमेण्ट की कुल ४१४ सीटों में से ३४८ सीटें मीलीं।

अमरीका और ब्रिटेन की सरकारों ने इन देशों में होनेवाले चुनावों के विरुद्ध प्रतिवाद किया है। उनका कहना है कि इन देशों की सरकारों ने चुनाव स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं होने दिये और विरोधी दलों की शक्ति को कुचलने की दृष्टि से अनेक प्रकार से हस्तक्षेप किये।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दिशा

संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के फ़ैसले

पैरिस सम्मेलन के बाद नवम्बर में संयुक्त राष्ट्र अमेरीका में, न्यूयार्क के लेक सक्सेस नाम के स्थान में संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (United Nations Assembly) की बैठक हुई। पैरिस शान्ति सम्मेलन ने शत्रु राष्ट्रों के साथ सन्धि करने और युरोप में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने की बातों को जहाँ तक पहुँचाया था उस पर मुहर लगाने, बाकी बातों में निर्णय करने और विशेषकर निरस्त्रीकरण की समस्या हल करने के लिए संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन हुआ था। मगर जब इसकी बैठक हुई तो इसमें दूसरे मामले भी पेश हुए, जैसे कि हिन्दुस्तान और दक्षिण अफ्रीका का झगड़ा। कुछ दूसरे राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र में सम्मिलित भी किया गया। हिन्दुस्तान और दक्षिण अफ्रीका के मामले में संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन ने जो निर्णय किया उसने संसार में उसकी राजनीतिक तथा नैतिक प्रतिष्ठा बढ़ी है। संयुक्त राष्ट्र संघ एक श्वेतांगों का गुट्ट भर नहीं है, उसकी सभा में छोटे अथवा निर्बल राष्ट्र भी सुनवाई की उम्मीद रख सकते हैं, ऐसी भावना को इससे प्रोत्साहन मिला है। दक्षिण अफ्रीका के राजनीतिज्ञ अगर आज संयुक्त राष्ट्रसंघ छोड़ने की बात करते हैं तो यह समझना चाहिये कि श्वेतांगों के प्रभुत्व को संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णय से धक्का पहुँचा है। संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन का हिन्दुस्तान और दक्षिण अफ्रीका के मामले को हेग न्यायालय में न भेजकर, इन दोनों देशों को इसे आपस में तय करने को कहना दक्षिण अफ्रीका की अनीति को दबी ज़बान से स्वीकार करना है। इसी कारण तो जेनरल स्मट्स आदि इस प्रस्ताव का विरोध कर रहे थे। ब्रिटेन अमेरिका आदि भी दक्षिण अफ्रिका के आँसू ही पोंछने में लगे थे। इसी में अपने स्वार्थ की सिद्धि होती देखते थे। मगर सोवियेट रूस ने हिन्दुस्तान की माँग का समर्थन किया और ऐसे मज़बूत सबूत पेश किये जैसे कि हिन्दुस्तान भी नहीं पेश कर पाया था। इस मामले में रूस पाश्चात्य देशों से अधिक प्रगतिशील तथा प्रजातान्त्रिक नीति बरतता है। रूस के सहयोगी राष्ट्रों ने भी हिन्दुस्तान का साथ दिया। फ्रांस की अवस्था बीच की रही।

इसके अतिरिक्त दक्षिण अफ्रिका में दक्षिण पश्चिम अफ्रीका को मिला लेने की माँग को नामंज़ूर कर संयुक्त राष्ट्र ने अफ्रीका के दलित हब्शियों की रक्षा की। सबसे अच्छी बात तो यह होती कि दक्षिण पश्चिम अफ्रीका को संयुक्त राष्ट्र संघ की संरक्षकता में दे देने का रूस आदि का प्रस्ताव स्वीकार किया जाता। लेकिन श्वेतांगों और साम्राज्यवादियों के विरोध के कारण यह न हो सका। इसमें हिन्दुस्तान ने दक्षिण पश्चिम अफ्रीका के हब्शियों की ओर से आवाज़ उठायी, इस कारण संसार की काली जातियाँ हिन्दुस्तान की आभारी हैं। कितने ही छोटे छोटे राष्ट्र इस सम्मेलन में हिन्दुस्तानियों से अपने मामलोंमें राय किया करते थे, सहायता लेते थे और सहायता देते थे। अपनी इस स्वतंत्र और न्यायपूर्ण नीति के कारण, जिसकी जड़ में संसार की शान्ति और स्वतन्त्रता की एकान्त भावना रही है आज हिन्दुस्तान संसार में बड़ी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता है। इसे संसार आज नेतृत्व की आशा कर रहा है। फ्रैंको के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाकर हिन्दुस्तान स्पेन की जनता का प्रियभाजन बना है। कम से कम, यह तो सम्भव हुआ कि फ्रैंको के ऊपर इसके लिए ज़ोर डाला जाये कि वह स्पेन में स्वतन्त्र रूप से चुनाव करवाने की व्यवस्था करे। अगर वह ऐसा नहीं करता तो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य स्पेन के वर्तमान राज्य से अपना सम्बन्ध विच्छेद करेंगे। इसके अनुसार कितने ही प्रमुख राष्ट्रों ने कार्य करना भी आरम्भ कर दिया है।

इसी तरह 'वीटो' के मामले में, प्रत्येक वरिष्ठ राष्ट्र की सम्मति अनिवार्य करनेवाले नियम के सम्बन्ध में हिन्दुस्तान ने जो रुख अख्तियार किया वह स्वतन्त्र तथा न्यायपूर्ण था। हिन्दुस्तान की यह राय थी कि आज की अवस्था में यह 'वीटो' का अधिकार हटाना सम्भव नहीं मगर इसका उचित प्रयोग होना चाहिये। अगर हिन्दुस्तान ऐसा न करता तो ब्रिटेन और

भारतीय राजनीति की दिशा

मध्यकालीन सरकार और विधान परिषद के ज़रिये, वैधानिक रीति से, ताकत हासिल करने का सिलसिला लड़खड़ा रहा है। ब्रिटिश सरकार के ६ दिसम्बर के बयान को मानकर कांग्रेस यह कोशिश कर रही है कि मुस्लिम लीग विधान परिषद में आजाये और ब्रिटेन के मुक़ाबिले विधान परिषद की स्थिति मज़बूत हो जाये। फिर चाहे मुस्लिम लीग जितना भी झगड़ा करे मगर विधान परिषद तो पक्की हो जायेगी। यही सोच कर कांग्रेस नेता अभी काम करते मालूम होते हैं। अगर मुस्लिम लीग विधान परिषद में शामिल हो गयी और ब्रिटिश योजना को मानकर चलने लगी तो पाकिस्तान से फ़ुर्सत मिलेगी और शायद पाकिस्तानी समूहों में से आसाम और सूबा सरहद भी निकाला जा सके या उनके ज़बर्दस्ती शामिल होने की चीज़ रोकी जा सके। इस तरह लड़ाई और खून-खराबी के बिना ताकत ब्रिटेन से अपने हाथों में की जा सकेगी। यह भी ख्याल है।

खैर, देखना यह है कि मुस्लिम लीग विधान परिषद में अब भी आती है या नहीं। हमारा विश्वास है कि अगर ब्रिटेन ने यह रुख लिया कि कांग्रेस को इससे ज्यादा अब नहीं दबाया जा सकता और मुस्लिम लीग अब भी नहीं आती तो वह अपना जाने समझे ब्रिटिश सरकार उसकी अब कोई मदद नहीं कर सकती तो मुस्लिम लीग अन्दर आजायेगी। अगर इतने के बाद भी उस ओर से मुस्लिम लीग को उम्मीद रही तो वह कांग्रेस को और दबाने की कोशिश करेगी। कारण यह है कि अगर पूरे पाकिस्तानी समूह नहीं बने तो मुस्लिम लीग की मानहानि होगी, उसकी प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा। दूसरी तरफ़, वे भी यह सोच सकते हैं कि कांग्रेस को इससे अधिक शायद दबाया नहीं जा सकता और ब्रिटिश हुकूमत की मदद रही तो इस तरह भी पूरे पाकिस्तानी समूह शायद बन ही जायें। मगर २९ जनवरी १९४७ को बैठक करने का तो यही अर्थ मालूम होता है कि दिल्ली के प्रस्ताव के बाद की कार्रवाइयों को देखकर शामिल होने या न होने का फ़ैसला किया जायगा। इसलिए यह कहना मुश्किल है कि मुस्लिम लीग, खासकर, जनाब मुहम्मद अली जिन्ना क्या करेंगे।

वे आगये तब तो एक दफ़ा उन्हें लेकर काम चलाने की कोशिश की ही जायगी, चाहे इसमें जितनी भी कठिनाई हो। फिर विधान कितना संतोषजनक होगा यह कहना कठिन है। ऐसी हालत में जनता की, मज़दूरों तथा किसानों की दृष्टि से अच्छा विधान नहीं बनेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। फिर मज़दूर किसान राज की स्थापना के लिए दूसरी विधान परिषद ज़रूरी होगी। हमें दूसरी क्रान्तिकारी विधान परिषद बुलानी पड़ेगी, ऐसा तो पं० जवाहरलाल नेहरू भी मानते हैं। लेकिन एक बार जो विधान बन जायेगा उसे बदलना, दूसरी विधान परिषद जल्द क़ायम करना क्या बहुत ही कठिन नहीं होगा? इस कारण इसी विधान को अच्छे से अच्छा बनाना क्या हमारा कर्त्तव्य नहीं है?

दूसरे, मुस्लिम लीग के आजाने पर भी, एक संतोषजनक विधान बन ही जायेगा, ब्रिटिश सरकार को नापसन्द विधान भी बनने पायेगा, इसका क्या भरोसा? नयी दिक्कतें पैदा की जायेंगी। मिश्रकी तरह शर्तें लादी जायेंगी और स्वतंत्रता में बट्टा लगाया जायेगा। उधर अफ्रीका में साम्राज्य रक्षा के लिए सैनिक आधार तैयार किये जारहे हैं। इसलिए कि हवाई हमलों के कारण जब सुएज़ का मार्ग खुला नहीं रह जायेगा तब अफ्रीका के सैनिक अड्डों से ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा की जायेगी। इसी साम्राज्य की रक्षा के लिए मिश्र को दबाया जाता है, रूस का मध्य पूर्व में पैर जमना खतरनाक मालूम होता है और रूस के विरुद्ध तुर्की, ग्रीस आदि को दुरुस्त रखा जाता है। फिर यह कैसे मान लिया जाये कि ब्रिटेन हिन्दुस्तानसे निकल जाने की तैयारी कर रहा है? यह क्यों न कहा जाये कि ब्रिटेन ऐसी तैयारी कर रहा है जिसमें हिन्दुस्तान को एक प्रकार की राजनीतिक स्वतंत्रता देकर, कड़ी शर्तों में बाँध कर, अपने साम्राज्यवादी तथा आर्थिक स्वार्थों की रक्षा करे। कोशिश है कि मुस्लिम लीग, राजों और राजों तथा ब्रिटिश फ़ौज के द्वारा कांग्रेस को इस तरह जकड़ दिया जाये कि वह ब्रिटिश साम्राज्य से या ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र से बाहर न निकल पाये और पूर्ण स्वतंत्रता की माँग करने अथवा स्थापित करने की अवस्था में ही नहीं पहुँचे। सम्भवतः मध्यकालीन सरकार और विधान परिषद में झगड़ झगड़ कर ही यह पूर्ण स्वतंत्रता हासिल करने का सिलसिला खत्म हो जाय और पूरी ताक़त देने की नौबत ही न आये।

ऐसी हालतमें मध्यकालीन सरकार और विधान परिषद को चालू रख कर ही काम नहीं निकलेगा। इस रास्ते से भी पूरी ताकत तभी मिलेगी जब एक सफल क्रान्ति की पूरी तैयारी करली जाय और उसका खतरा सही माने में पैदा कर दिया जाय। इस मजबूरी के कारण ही ब्रिटिश सरकार आगे बढ़ेगी। यह मजबूरी पैदा करने के तरीके अख्तियार करने होंगे। विधान परिषद और मध्यकालीन सरकार को क्रान्तिकारी ढंग से काम करना होगा। ऐसी नीति पर चलते हुए विधान परिषद को फ़ौरन भारत छोड़ो का नारा बुलन्द करना चाहिये और कांग्रेस को लड़ाई की तैयारी करनी चाहिये।

— बी॰ पी॰ सिन्हा

महाकवि 'निराला' की स्वर्णजयन्ती

जिस समय भारतीय समाज में सुधार और परिवर्तन की लहरें उठ रही थीं; युरोप में सामन्ती पद्धति को तोड़ कर नवीन अर्थनीति के आधार पर उद्भूत पश्चिमी संस्कृति से भारतीय संस्कृति का सम्पर्क हो रहा था; अंग्रेज़ों की कुटिल राजनीतिक दाँव पेंच से भारतीय राजनीतिक वातावरण गरम हो रहा था; नवीन अर्थनीति और विज्ञान के विकास के कारण भारतीय चेतना में नए किस्म का स्पन्दन हो रहा था; भारतीय संस्कृति में पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क से भेदहीन व्यापकता का विकास हो रहा था, उसी समय पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का मानसिक गठन हो रहा था। 'निराला' जी बंगाल में पले थे। राजा राममोहन राय, पं० केशवचन्द्र सेन, अरविन्द घोष और स्वामी विवेकानन्द जी द्वारा बंगाल भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आन्दोलन का नेतृत्व कर रहा था। रवीन्द्रनाथ टाकुर की काव्य प्रतिभा विश्वमानव की भावना पर छा गयी थी। इसलिये इस सारे वातावरण का प्रभाव कवि 'निराला' पर पड़ा, जिसका प्रमाण उनके काव्य में सर्वत्र मिलता है। इस वातावरण का असर 'निराला' पर ऐसा पड़ा कि वह स्वभाव से ही क्रान्तिकारी हो गए। निश्चय ही उनके परुष और विद्रोही होने का कारण सिर्फ़ इतना ही नहीं है। इसमें उनकी ग़रीबी और नारी के प्रति पुरुष के निर्मम व्यवहार की वेदना की भी सूक्ष्म प्रेरणा है। उनके अज्ञात मानस में ये दो बातें भी हैं। इस काल की भावना प्रधान रूप से मध्यम वर्ग की भावना है। पर 'निराला' मध्यम वर्ग के नहीं थे। इसलिये ही उनके अन्दर एक प्रकार की कठोरता भी मिलती है।

सामन्तवादी साहित्य और समाज की मान्यता के टूटने और नवीन अर्थनीतिक मध्य श्रेणी के द्वन्द्वात्मक भावना की अभिव्यक्ति 'निराला' काल के हिन्दी साहित्य की मूल प्रेरणा है। इसके अन्दर उस काल के वेदान्त आन्दोलन का भी प्रभाव है। किन्तु वह उस साहित्य का साध्य नहीं है। पुनर्सन्धिकाल की वेदना और अतृप्ति ने इस काल के साहित्य में रूप लिया है। इस काल की चार साहित्यिक प्रतिभाओं ने नवीन भावनाओं को मूर्त किया है। इन चारों में 'निराला' जी भी एक हैं। 'निराला' जी का साहित्य अपने तीन समसामयिकों से कुछ भिन्न भी है। 'निराला' जी के साहित्य में पौरुष और विद्रोह की प्रबलता है। उनमें एक किस्म का अक्खड़पन है और इसीलिये उनके भावों की तीव्रता कहीं कहीं शब्दों तक में नहीं समा पाती। कहीं कहीं उनके अस्पष्ट हो जाने का यह भी एक कारण है। 'निराला' जी के तीन समसामयिकों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति 'निराला' जी से अच्छी थी। इस कारण भी उनका विरोध कम हुआ और उन्हें प्रशंसा अधिक मिली। इस स्थिति का भी प्रभाव 'निराला' के मानस पर पड़ा। किन्तु इस स्थिति के बावजूद भी उन्होंने अपने समसामयिकों से कम साहित्य का निर्माण नहीं किया। हिन्दी के रोमांसमय साहित्य को, जिसे छायावाद कहा जाता है, 'निराला' की अपूर्व, और अपने तीन समसामयिकों से विशेष, देन यह है कि उनके साहित्य में इस भावधारा का क्रान्तिकारी रूप अपेक्षाकृत स्पष्ट और उग्र मिलता

है। उनके विद्रोह का कंठ अपने और साथियों से ज्यादा शक्तिशाली है। इसलिये हम 'निराला' जी के ५१ वें वर्ष दिन पर उनका अभिनन्दन करते हैं।

किन्तु इस अभिनन्दन के साथ ही हम एक गहरी पीड़ा का भी अनुभव कर रहे हैं। जो महाकवि 'निराला' हिन्दी साहित्य के इतिहास में मिल का ऐसा पत्थर है कि हमें आने वाले युग का भी संकेत दे जाता है, जिसकी प्रतिभा काव्य, कथा और आलोचना में भी स्थान रखती है, जिसने ४१ से ऊपर ग्रन्थों का प्रणयन कर हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि की; उसकी अपनी पुत्री को चीनांशुक (रेशमी वस्त्र) पहनाने की लालसा उसके हृदय में ही रह गई। उसकी प्यारी पुत्री ने दवा के अभाव में दम तोड़ा।

धन्ये, मैं पिता निरर्थक था
कुछ भी तेरे हित न कर सका
जाना तो अर्थागमोपाय
पर रहा सदा संकुचित काय
लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ समर
शुचिते, पहना कर चीनांशुक
रख सका न तुझे अतः दधिमुख
—"अनामिका" (सरोज-स्मृति)

और निर्मम प्रकाशकों ने इस साहित्य देवता की आर्थिक विवशता से फ़ायदा उठाकर उसके अमूल्य ग्रन्थों की 'कापीराइट' ४० और ५० रुपयों में खरीदा! इन पंक्तियों के लेखक ने अनेक बार 'निराला' को बिना वस्त्र के देखा है, उसके भूखे रहने की कथा सुनी है। और इस महाकवि के नंगे पैरों की बिवायी तो हिन्दी के साहित्यकारों की दयनीय दशा का प्रत्यक्ष प्रमाण है। स्वाभिमान साहित्य-स्रष्टा का प्राण है; इसलिये उसकी दरिद्रता और भी बढ़ जाती है।

पर इस दरिद्रता की दवा दया प्रार्थना नहीं है। इसे यहाँ लिखने का यह अभिप्राय भी नहीं है। हम तो इस दरिद्रता की दवा इस समाज का बदलना मानते हैं। जब तक समाज का मौजूदा ढांचा है, तब तक हमारी उच्चतम प्रतिभाओं की ऐसी ही दुर्गति होगी। इसलिये इस समाज के बदलने में ही साहित्यकार की अपनी समस्या का भी समाधान है।

—बैजनाथ सिंह 'विनोद'

साहित्य सम्मेलन के सभापति का भाषण

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का ३४ वां अधिवेशन कराची (सिन्ध) में २६ दिसम्बर को हुआ है। सिन्ध हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त नहीं है। वहाँ के हिन्दी प्रेमियों की अपनी भाषा भी हिन्दी नहीं है। इसलिये कराची में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन का अर्थ हिन्दी का प्रचार ही हो सकता है। सम्मेलन को प्रचार की दिशा में अब तक अच्छी सफलता भी मिली है। यह सही है कि हिन्दी ही हिन्दुस्तान की ऐसी भाषा है, जिसके सहारे हिन्दुस्तान के किसी भी हिस्से में काम चलाया जा सकता है; पर उसकी ओर लोकसमष्टि का ध्यान खींचने का श्रेय अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इस प्रचार को ही है।

सम्मेलन के इस बार के सभापति श्री वियोगी हरिजी चुने गये हैं। वियोगी हरिजी ब्रज भाषा काव्य और हिन्दी काव्य के बीचकी प्रतिभा हैं। अपनी एक विशेष प्रकार की काव्य रचना के कारण एक समय वह हिन्दी जगत के महत्वपूर्ण कवि थे। पर उन्हीं के शब्दों में अब उसे बीस वर्ष गुजर गए। हिन्दी साहित्य जगत से एक प्रकार उन्होंने संन्यास ले लिया है। उनकी बीस साल पूर्व की सेवाओं के प्रति सम्मेलन का यह आदर भाव स्तुत्य है। किन्तु इसके साथ ही इससे कुछ नये संकेत भी मिलते हैं। श्री वियोगी हरिजी अब हिन्दी जगत के उतने निकट नहीं हैं, जितने महात्मा गांधीजी के रचनात्म कामों के। कुछ कारणों से महात्माजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन से अलग हैं। परोक्ष रूप से सम्मेलन पर इसका कुछ प्रभाव भी पड़ा। श्री वियोगी हरिजी का सभापतित्व इस बात का सूचक है कि सम्मेलन अपनी पूर्व निश्चित नीति पर कायम रहते हुए भी महात्माजी के निकट रहना चाहता है। श्री वियोगी हरिजी ने अपने सभापति के भाषण में हिन्दी हिन्दुस्तानी की चर्चा में "हरिजन सेवक" की हिन्दुस्तानी को "भैंड़ापन" भी कहा है। और भाषा के सम्बन्ध में अपना मत देते हुये यह भी कहा है कि—"शास्त्रीय गम्भीर विषयों के निरूपण में हम दूसरी भाषा और शैली का प्रयोग करेंगे। इसी प्रकार दर्शन और विज्ञान की भाषा से राजनीतिक और सामाजिक विषयों की भाषा भी भिन्न होगी। अपने विचारों व भावों को यथार्थ, परिष्कृत और सुन्दर ढंग से प्रकट करने की दृष्टि से कहीं हम संस्कृत के तत्सम शब्दों का उपयोग करेंगे, कहीं तद्भव शब्दों को काम में लायेंगे और कहीं देशज और अन्य भाषाओं के शब्दों को स्थान देंगे। ऐसा होगा हमारी राष्ट्र भाषा हिन्दी का स्वरूप, और यह रूप निर्धारित भी हो चुका है।"

श्री वियोगी हरिजी ने अपने सभापति के भाषण में हिन्दी साहित्य पर भी विचार किया है। हिन्दी के प्राचीन साहित्य पर विचार करते समय उन्होंने उसे ही आदर्श मान लिया है। वर्तमान साहित्य और खासकर काव्य साहित्य पर उनके विचारों में सन्तुलन की स्पष्ट ही कमी है। प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में उनकी राय और भी अग्राह्य है। वियोगी हरिजी की राय से हम सहमत नहीं हैं। जिस तरह तुलसीदास वाल्मीकि नहीं हो सकते थे, उसी तरह पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी का तुलसीदास होना सम्भव नहीं है। हमारे पीछे ऐतिहासिक प्रक्रिया की बाध्यता है। इस युग में एकान्त भक्ति की साधना सम्भव नहीं। आज के साहित्य में पुरानी सामाजिक मान्यताओं और सम्बन्धों को तोड़ने और नये की मांग की सूक्ष्म प्रेरणा है। उसका वासना का अंश युग के संक्रान्ति काल की कमज़ोरी का प्रतिबिम्ब है; साहित्य का साध्य नहीं है। इसलिये उसके वासना वाले अंश के आधार पर ही अपनी राय कायम कर लेना ठीक नहीं है। प्रगतिशील साहित्यकार मिलों का मज़दूर न होकर भी आज के सम्पूर्ण सामाजिक वातावरण को ग्रहण करने वाला तो है ही। जिस तरह मार्क्स और लेनिन मिल के मज़दूर न होकर भी सर्वहारा समाज के उन्नायक हो सके, उसी तरह यदि हिन्दी का प्रगतिशील साहित्यिक सर्वहारा वर्ग के दृष्टिकोण को अपनाकर उसकी अनुभूति को व्यक्त करे, तो यह अनधिकार चर्चा नहीं कही जा सकती।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन अपने कार्य में सफल हो, यह हमारी कामना है। पर हम यह भी चाहेंगे कि उसके मञ्च से युग और युग के साहित्यकारों के प्रति न्याय भी हो। हमारा जीवन प्राचीनों के प्रति श्रद्धा निवेदन के लिये ही नहीं होकर भविष्य के निर्माण के लिये भी हो।

—बैजनाथ सिंह 'विनोद'

एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ

देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद भारतवर्ष की उन विभूतियों में हैं, जिन पर देश को गर्व है। जिस समय विहार बंगाल के अन्दर था, उसका अपना अलग अस्तित्व नहीं था; जिस समय बिहार संस्कृति और शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ा था, उसमें अधिकार रक्षा के लिये विरोध की शक्ति नहीं थी; उस समय से डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने बिहार की सेवा शुरू की। उनके सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ मानव के गौरव में निहित विरोध से शुरू हुआ। महात्मा गान्धीजी के साथ उन्होंने निलहे गोरों के जुल्म के विरुद्ध युद्ध छेड़ा। अपनी चमकती हुई वकालत का त्याग कर उन्होंने देश सेवा का व्रत लिया। सम्पूर्ण बिहार में घूम घूम कर अलख जगाया। १९२१ के असहयोग आन्दोलन में महात्माजी के कार्यक्रम को जिस पैमाने पर बिहार ने पूरा किया, वह उसके लिये महत्व की बात थी। १९३०, ३२ के स्वाधीनता संग्राम में भी बिहार का त्याग गौरवमय था। इसके बाद बिहार किसान आन्दोलन का क्रीड़ा क्षेत्र हो गया। १९४२ में बिहार ने सच्चे अर्थ में क्रान्ति की घोषणा की। और जाननेवाले जानते हैं कि डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने बिहार को क्रान्ति का

कार्यक्रम भी दिया था। यही कारण है कि ४२ की क्रान्ति में बिहार का हाथ सबसे ज्यादा है। इस तरह 'छातूखोर' और बौने बिहार को क्रान्तिकारी और महान् बिहार बनाने का श्रेय डा० राजेन्द्रप्रसादजी को ही है। वह आधुनिक और गौरवमय बिहार के पिता हैं। उनकी आत्मकथा न केवल उनकी जीवनी है, बल्कि आधुनिक बिहार का इतिहास है। उनकी आत्मकथा में निहित है बिहार के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास की कथा!

डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने अपनी 'आत्मकथा' का अधिकांश जेल में लिखा है। इसमें उन्होंने १९०५ से लेकर ८ जनवरी १९४७ तक की घटनाओं का संयत भाषा में मनोरंजक वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ से यह जाना जा सकता है कि कांग्रेस ने कब किस निश्चय को क्यों किया, बिहार में कौन सी महत्त्वपूर्ण घटना कैसे घटी। अनेक सवालों पर राजेन्द्र बाबू से मतभेद की गुंजाइश है; किन्तु मतभेद के स्थलों को भी जिस सुन्दरता के साथ उन्होंने चित्रित किया है, उसकी तो प्रशंसा करनी ही होगी। पं० जवाहरलालजी की 'मेरी कहानी' से उत्तर भारत की अनेक घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। राजेन्द्र बाबू की 'आत्मकथा' से कुछ बातों को और भी गहराई से जानने का मौका मिलेगा। इसीलिये यह 'आत्मकथा' जीवनी के साथ साथ पूर्वोत्तर भारत के ४१ वर्षों का इतिहास भी है।

—बैजनाथ सिंह 'विनोद'

सूचना

अनेक अनिवार्य और कठिन परिस्थितियों के कारण 'जनवाणी' का यह अङ्क विलम्बसे निकल रहा है। किन्तु अब हम उन संकटों को बहुत कुछ पार कर चुके हैं। अब से प्रत्येक महीने की 'जनवाणी' उस महीने की १५ वीं तारीख तक ग्राहकों के पास पहुँच जाय, ऐसा प्रबन्ध हम कर रहे हैं।

मैनेजर 'जनवाणी'

भार्गव भूषण प्रेस, बनारस

ज न वा णी

सम्पादक-मण्डल

आचार्य नरेन्द्र देव बी० पी० सिन्हा

राजाराम शास्त्री बैजनाथसिंह 'विनोद'

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य ८) 'जनवाणी' सम्पादकीय विभाग एक प्रति का ।।।)

काशी विद्यापीठ, बनारस

भाग १] फरवरी १९४७ [संख्या ३

तब मैं कलम उठाऊँ !

"एक भारतीय आत्मा"

लो निकाल कर फेंक दिया है
मैंने गीतों का दरवाज़े
इन पाषाणों पर, माणियों के
मैंने कितने ... तकाज़े !

मैं तो शून्य-सृजन करता हूँ
कैसे उनको अंक बनाता !
इन पथ पड़े पत्थरों में पड़
कौन जौहरी धोखा खाता.

आसों की इन लघु बूँदों की
धारा कैसे बनती बोलो ?
अपनी इन जीवित मौतों पर
कौन जिन्दगी ढलती बोलो .

जब तक राग-रंग पर बलि-बलि
होती हो, अलमस्त जवानी,
जब तक प्रेयसियों की यादों--
पर ढल जाय आँख का पानी ।

जब तक प्रश्न चिन्ह बनती हों
सूली की असहाय पुकारें,
जब तक प्राण बचा रखने को
नर-पशु कोटि-कोटि तन धारें ।

वक्तव्यों, भाषणों, बयानों
गाउनों बनी गर्व की भाषा
जब तक लाल किले में मरने
वालों का लख रही तमाशा ।

हाँ तरुण शृंगार-प्रिय हों
जहाँ युवकों की ढीली बाहें !
हुँकारों से बदल-बदल कर
कवि ले रहा प्रणय की आहें !

हाँ तेज भाषा भर दे दे
उद्धारक का पद अन जाने !
कहाँ कौन है ? जिसे कहूँ मैं
युग की साधों को पहिचाने

ने की गुलाम चाहों ने
जहाँ मरण का मूल्य बिगाड़ा
बलि की रानी वहाँ पढ़े ?
कैसे अपना अस्तित्व पहाड़ा ?

-लघु प्राणों की बस्ती में
मैं तो प्राण देखता आया
और प्राण-हीनों को रुचि से
रगड़ सदैव फेंकता आया !

यान के टिकटों से क्या
ल के देश पहुँच पाओगे ?
अपने दुर्भाग्यों के रोने
गान बना कब तक गाओगे ?

-वायें फला एशिया
आग लगी जन-गण में गहरी
मेरी माँ की बेबसियों को
देख रहा हेमांचल प्रहरी।

मिटे सोकानों मिटले,
सों का घर बार उजाड़े
आज उगता सूर्य पूर्व का–
डूबा, बजाते हमी नगाड़े !

इस जग में, जिन घातक
प्रभुताओं ने घर-घर आग लगाई
मासिक वेतन पर बिक उनकी
पामरता हमने दुलराई।

उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम
जहाँ गये भारती सिपाही !
भारत माँ की विमल मूर्ति पर
आये पोत अनंत सियाही !

ओ अज्ञात हठीले भारत--
के मधुमय विकसित पागलपन !
ओ वे मुर्दों की दुनियां के
तू किशोर ! तू अल्हड़ बचपन !

उठ तू इस युद्धोत्तर जग की
प्रवंचना में आग लगा दे
ये गुलाम, ये भले आदमी,
ले, गंगा में डाल, बहा दे।

दिन को रात बना, क्यों अगणित
सपनों का भर स्वांग रहा है !
एक स्वप्न, बस एक स्वप्न,
हां तो, तव युग मांग रहा है।

श्यामल रंगों की नदियों में
लाल रंग बह जाये तो क्या :
कुछ करोड़, कायर गणना का
जीवन-गढ़ ढह जाये तो क्या ?

तौल तौल कर त्याग कर रहा
'क्या पाया' सो याद कर रहा !
नये नये बंधन स्वीकृत कर
तू भारत आज़ाद कर रहा !!

फेंक तराजू, रे बलि-पंथी
सिर के कैसे सौदे-सट्टे
बहुत किया मीठे मुंह जग के
अब कुछ आज दांत कर खट्टे !

गणित पढ़ा, पर क्या पढ़ जाना,
तू कितना, तेरे अरि कितने ?
कानूनों की पुस्तक लेकर
फिर क्यों उठा रहा यों फितने ?

चार दिनों की सिर्फ चांदनी
बरसों का विश्वास न कर तू !
जोड़-जोड़ कर कर पल्लव
भुजदंडों का उपहास न कर तू !

सिर के ऊपर पेट चढ़ाकर
अपना सत्यानाश न कर तू
'जन गण मन अधिनायक' तेरा
उसे विश्व का दास न कर तू !

रोटी पा, मरने से, अच्छा
न था रोटियां खो मिट जाना ?
भूखों मरने से अच्छा क्या
न था उभड़ कर खुद मर जाना ?

बूढ़े युग के बूढ़े सपने
नन्हे हाथों से दफ़ना दे
ओ पूरब के प्रलयी-पंथी
उठ चल एक भैरवी गा दे !

जन-जन अमर उभर दे, मुक्त ! मुक्ति का वर दे;
तब मैं कलम उठाऊं, तब मैं फिर कुछ गाऊं !

भारतीय कला और संस्कृति

डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त, ए० एम०, डी० फिल०

हमने अन्यत्र कहा है कि "किसी जातिका सामा-
जिक राजनीतिक विकास उसकी कला, साहित्य, विज्ञान,
र्शन, राजनीति, सामाजिक संगठन आदि में देखा जा
कता है। इसलिये किसी जन समुदाय विशेष की
स्कृति का इतिहास एक स्वतन्त्र वस्तु नहीं होता, वह
स जाति के जीवन के अन्य पक्षों से सम्बद्ध होता है।
नन द्वन्द्वात्मक असंगतियों, आन्तरिक वर्गगत अथवा
माजगत विरोधों के द्वारा किसी जातिका विकास
ता है, उनका प्रभाव उस जाति की उपर्युक्त कृतियों में
या जाता है।" हम भारतीय कला और संस्कृति के
म्बन्ध में इस सिद्धान्त की सार्थकता देख सकते हैं।
स लेख में हम यह बताने की चेष्टा करेंगे कि भार-
य इतिहास के विभिन्न युगों में तत्कालीन संस्कृति का
भाव कला पर किस प्रकार लक्षित होता है।

मध्य प्रान्त की खैरमूर पहाड़ियों में प्राचीन कला
विषय में की हुई आधुनिक खोजों ने कुछ नवीन
थ्य हमारे अज्ञात मूल के विषय में प्रस्तुत किये हैं।
हाँ के पत्थरों पर पाये गये रेखा चित्रों की तुलना
ातत्ववेत्ताओंने उसी प्रकार के अफ्रीकी और स्पेन
रेखा चित्रों से की है। यह दोनों किसी ऐसे पुरातन
तर कालीन जातियों के सूचक हैं, जो नस्ल की दृष्टि
बहुत समीप होंगी। यद्यपि यह प्रस्तर कालीन कला
ादि कालीन मानवों के आखेट संबंधी दृश्यों को व्यक्त
रती है, तो भी इन सीधी सादी रेखाओं द्वारा उस
नव की आध्यात्मिक प्रेरणाओं की सहज ही भावा-
व्यक्ति हुई है। शारीरिक मानव-विज्ञान की दृष्टि से
दि इनका कोई मूल्य न हो, किंतु जाति-विज्ञान में ये
ाएँ ही उनके सांस्कृतिक विकास में एक क़दम आगे
ढ़ने की द्योतक हैं। अतएव मानव के सांस्कृतिक
तहास का एक अध्याय इन प्राचीनतम और अधूरे
ांचित्रों में ही पढ़ा जाना चाहिये।

अब हम सिन्धु घाटी की सभ्यता की पुरातत्त्व संबंधी
ाज पर आते हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इस सभ्यता को
उत्तरकालीन नव प्रस्तर युग और लौह काल के बीच की
सभ्यता माना है। इस युग में लोहा नाम की धातु
अज्ञात थी और उसके स्थान पर ताम्र और काँसे का
व्यवहार होता था। सिन्धु नदी की घाटी की इस
सभ्यता में हम देखते हैं कि उनके मकानों और नगरों
की रचना तथा नालियों का वैज्ञानिक ढंग कितना
विशिष्ट था। वह भौतिक वैभव और अंतर्राष्ट्रीय
वाणिज्य का युग था।

मध्य प्रान्त की पुरातन प्रस्तर कालीन सभ्यता से
लेकर सिन्धु घाटी की कांस युगीन सभ्यता तक भारतीय
संस्कृति ने कितनी लंबी छलाँग मारी! खैरमूर से
हड़प्पा और मोहनजो-दड़ो तक का कितना लम्बा
क़दम है। इस पुरातत्त्व संबंधी सामग्री से हम भारत के
सांस्कृतिक इतिहास का भली भाँति अवलोकन करते
हैं। इस सभ्यता के संबंध में चाइल्ड का कथन है—
"चतुर्थ सहस्राब्दी के अंत तक अबेडोस (Abydos)
उर, और मोहनजो-दड़ो की भौतिक संस्कृति की तुलना
पेरिफियन, एथेन्स आदि तथा मध्यकालीन किसी
नगर से सहज ही की जा सकती है। यह कथन
इस बात की स्वीकारोक्ति है कि भारत के आदि मानवों
में कितनी सांस्कृतिक शक्ति विद्यमान थी। वह जाति
बदली नहीं है, क्योंकि यदि प्रस्तर कालीन मानव में
इस बात की संभावना की जा सकती है कि वह भूमध्य-
सागर की ताम्रवर्ण जाति का था, तो मोहनजो-दड़ो
और हड़प्पा की खोज लगाने वाले मानवशास्त्रियों
ने यह प्रमाणित कर दिया है कि सिंधु घाटी की
खोपड़ियाँ भी उसी प्राचीन जाति की हैं। और
वर्तमान भारतवासियों के अन्वेषक भी उन्हें भूमध्य जाति
का ही बताते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि समूचे
भारतीय इतिहास में मुख्य जाति-तत्त्व एक ही रहा है।
यद्यपि इतर जातीय अंश जैसे आर्मीनियन नस्ल भी
वर्तमान भारत में विद्यमान है और सिंधु घाटी की
सभ्यता में उसके कपाल पाए गये हैं। सिन्धु घाटी की

सभ्यता के सांस्कृतिक सामग्री के विषय में सर जॉन
मार्शल ने स्वीकार किया है कि उसका अधिकांश
वैदिक सभ्यता में भी पाया जाता है। यह समस्या
अभी तक सुलझी नहीं है कि आखिरकार वैदिक लोगों
से सिन्धु घाटी के वासियों का क्या संबंध था। सर जॉन
मार्शल ने कहा है कि सिन्धु घाटीवासी वैदिक लोगों से
इतर जन थे। किन्तु कुछ लोगों का कथन है कि वे दोनों
एक ही मूल वंश के रहे होंगे। इस लेख के लेखक ने
यह बात अन्यत्र कही है कि मार्शल महाशय द्वारा
अन्वेषित सिंधु घाटी के लोगों का अन्त्येष्टि संस्कार वैदिक
प्रयोगों से अभिन्न था। उसका कहना है कि वेदकालीन
भारतीय आर्यों की उपस्थिति सिन्धु की खोजों से असिद्ध
नहीं होती। पुरातत्त्व की सामग्री उनकी उपस्थिति को
अस्वीकार नहीं कर सकती है। हड़प्पा में उनकी
उपस्थिति स्पष्टतः मान्य है। जहाँ तक सिंधु घाटी के
वासियों के धर्म का संबंध है—मार्शल की रिपोर्ट से
ज्ञात होता है कि वर्तमान हिन्दुत्त्व का प्रत्येक अवयव
उस समय उनके समाज में विद्यमान था। पुनश्च
स्वामी शंकरानन्द का कथन है कि उसके धार्मिक प्रतीकों
का सीधा सम्बन्ध वैदिक देवताओं (सूर्य, अग्नि, सोम,
अदिति) और कर्मकाण्ड से ज्यों का त्यों है। फिर भी
यह दोनों मानव समूह एक ही थे इस बात को सभी
ऐतिहासिक नहीं मानते हैं; तो भी हम देखते हैं कि
ऋग्वैदिक काल वही प्राचीन युग था, जिसमें लोहा
अज्ञात था और दोनों जातियाँ एक ही सी भूखंड
में रह रही थीं। आज भी उस भूमि के वर्तमान
भारतीयों के कपालों की आकृति वैसी ही है जो कि
मोहनजो-दड़ो और हड़प्पा में उस समय विद्यमान थी
और आज खोज द्वारा पाई गई है। अतएव जहाँ
तक पुरातत्त्व विज्ञान का संबंध है भारत की जन
परम्परा और शृंखला में कोई भी टूटन नहीं
आई है; सभ्यता, संस्कृति और नस्ल का विकास निरंतर
होता रहा है। सांस्कृतिक सामग्री सभ्यता की वाहक
होती है। परिवर्तन उसमें प्रगति प्रदान करता है।
परिवर्तन के बिना प्रगति संभव नहीं होती है। अतएव
यह स्वाभाविक ही है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता की
प्रगति के साथ ही साथ उसके सांस्कृतिक उपादान भी
परिवर्तित हो गये।

यहाँ यह बात और कह देनी चाहिये कि स्वस्तिक
चिन्ह, जो धर्म का रहस्यमय प्रतीक है, मोहनजो-दड़ो
में पाया गया है और आज भी हिन्दू समाज में समादृत
और प्रसिद्ध है। हिन्दूधर्म के रहस्य की जो कलात्मक
व्यंजना स्वस्तिका में अंतर्निहित है, वह हिन्दू संस्कृति
के इतिहास में निरंतर चली आने वाली वस्तु बन गई
है। भारत के इतिहास में यह प्रतीक कितनी ही बार
परिवर्तित हुआ है और आजतक पुरातत्त्व सामग्री के
रूप में प्राचीन काकेशस, क्रीट, मेक्सिको और अन्य देशों
में पाया गया है। इसके पूर्ण इतिहास की खोज तो
मानव के सांस्कृतिक इतिहास का एक अध्याय ही हो
जायगा। अतः सिन्धु घाटी की सभ्यता और उसकी
कला स्वयंमेव ही भारतीय प्राचीन सभ्यता और संस्कृति
की उच्च स्वर से दुहाई देती और उस युग के भारतीय
मानव की पूर्ण आध्यात्मिक शक्ति का प्रमाण देती है।

अंततोगत्वा मार्शल ने यह स्वीकार किया है कि
धार्मिक लक्षणों से युक्त सारी सामग्री जो मोहनजो-दड़ो
और हड़प्पा में प्राप्त हुई है पूर्ण रूप से भारतीय ही
ज्ञात होती है। पुनश्च ए० बी० कीथ ने कहा है कि वह
सभ्यता अपने स्वभाव व लक्षणों से मुख्यतः भारतीय
है चाहे उसकी मूल प्रेरणा जहाँ से आई हो, इसमें
तनिक भी संदेह नहीं है। एक टिप्पणी में वे कहते हैं
कि संभवतः हमें लिंगपूजा का मूल यहीं दृष्टिगोचर
होता है। होपकान्ड काव्य गाथा पृ० २२२ नं० १७ में
यह दिया हुआ है—कि संसार की जातियों में इसके
निशान नहीं मिलते। इन सबसे यह निश्चित ज्ञात होता
है कि यहाँ के मानवीय विकास के इतिहास की लड़ी
प्रस्तर काल के जीवन से लेकर आज के जीवन तक
पूर्णतः अटूट बनी हुई है। यह वही मानव परंपरा है
और इनकी स्वयं की ही अर्जित की हुई संस्कृति है।
इस संस्कृति ने कितने ही परिवर्तन देखे हैं। इस युग
के कलाकौशल में हमें भारतीय सांस्कृतिक इतिहास
स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। पुरातत्त्व की प्रत्येक सामग्री
इस इतिहास का एक नया अध्याय रच देती है।

सिन्धु घाटी के लोगों और वैदिक काल के मानवों
के संबंध में विवादग्रस्त समस्या को छोड़ने के पश्चात्
हमें भारत के ऐतिहासिक युग का दर्शन होता है। आज
हम वैदिक काल को प्राग् ऐतिहासिक न कहेंगे यदि
मोहनजो-दड़ो का युग इसके पूर्व का मान लिया जाय।

वैदिक काल से आज तक का भारत एक शृंखला से युक्त है, जिसकी विभिन्न अवस्थाएँ क्रमशः अन्वेषकों के महान परिश्रम से निर्धारित की जा रही हैं। वैदिक भारत के कलाकौशल के संबंध में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है और इस विषय का कोई भी ऐतिहासिक अवशेष हमारे पास नहीं है। हम देखते हैं कि ऋग्वेदकालीन जन सभ्यता के ऐसे युग में रहते थे, जब कि लोहा नामक धातु अज्ञात थी; ताँबे, काँसे और काष्ठ के बर्तनों का व्यवहार होता था। तीरों की नोकें तेज़ पत्थरों और हिरन के सींगों द्वारा गढ़ी जाती थीं, कुल्हाड़ी तेज़ पत्थरों की बनती थी। फिर भी उसी ग्रंथ में हम देखते हैं कि हज़ारों दीवारों वाले मकान बनाये जाते थे, जिनमें हज़ारों द्वार और स्तम्भ होते थे (ऋग्वेद २-४१-५-५-६२-६)। सोने के सिक्के चलते थे (४-३७-४)। राजा हाथियों पर बैठकर चलते थे और उनके आस पास उनके पारिषद् रहते थे (४-४१)। राजा महाराजाधिराज होते थे (८-५-३८)। धनी लोग (५-३४-३८), व्यापारी (१०-६०-६), समुद्र यात्रा (११६३), स्वर्ण आभूषण (९.६,७८,४६,३३), प्रारम्भिक ज्योतिष सम्बन्धी निरीक्षण (१०-८५,१३) का उल्लेख मिलता है। हम यह भी देखते हैं कि वैयक्तिक संपत्ति का प्रचलन था और कृषक अपने निजी खेत रखते थे (१-११०-५), आदि आदि।

इन सब से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद काल यद्यपि भौतिक दृष्टि से आदिम युग, प्राचीन युग था, फिर भी वह समाज आदिम नहीं था। राजत्व का अस्तित्व था, वैयक्तिक संपत्ति का विकास हो चुका था. कर-प्रथा प्रचलित थी (१०-१३३-६). एक विवाह का रिवाज था, सगोत्र विवाह निन्द्य था. जैसा कि आज भी है। इस प्रकार इस समाज का विकास प्राचीन आदिम सामूहिक गणपद्धति से हुआ था और बाद में इसने प्राचीन सभ्यता के पूँजीवादी स्वरूप में अपने आप को परिवर्तित किया। प्राच्यविद्याविशारदों के कथनानुसार यह समाज आदिम समाज नहीं कहा जा सकता है। उस युग की सांस्कृतिक सामग्री उन सांस्कृतिक क्रियाओं का प्रमाण देती हैं, जो उस युग को प्रभावित कर रही थीं। वे कलाएँ जो उस युग में विकसित हुई थीं उसकी संस्कृति की सूचक हैं।

उत्तर कालीन वैदिक काल में हम अश्वमेध यज्ञों का वर्णन पाते हैं। अश्वमेध के महोत्सव का एक कार्य घोड़े घोड़ियों का सजाना और उनके पैरों को मोतियों से सुसज्जित करना भी होता था। यह निश्चित है कि मोती उत्तरी भारत में नहीं मिल सकते थे, अतः ये मोती लङ्का या फ़ारस की खाड़ी से ही लाये जाते रहे होंगे। यह बात सिद्ध करती है कि वैदिक युग में उत्तरी भारत का अन्य देशों से पारस्परिक व्यापारिक संबंध था। घोड़ों को मोतियों से सजाना और स्वयं यज्ञ ही इस युग की आर्थिक और राजनैतिक उन्नति और वैभव का द्योतक है। साथ ही साथ अश्वमेध यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाली प्रथाएँ व्यक्ति प्रधान भारतीय-योरोपीय सभ्यता के गुजरे हुए दिनों की याद दिलाती हैं।* अभी तक हम लोग प्राचीन वैदिक युग की मूर्ति कला और ललित कला नहीं प्राप्त कर सके हैं।

वैदिक युग के पश्चात् ही हम मौर्य सम्राटों के काल में आते हैं। इस मध्यवर्त्ती काल के कोई भी कलात्मक अवशेष अभी तक प्रकाश में नहीं आये हैं. अतएव भारतीय इतिहास के हिन्दू काल का अवलोकन हमें मौर्यकाल से प्रारम्भ करना चाहिये। जैसा कि मैसेडोनियाँ के राजदूत मेगस्थिनीज़ ने वर्णन किया है— सुविख्यात चन्द्रगुप्त मौर्य के भव्य प्रासाद, स्वर्ण के कलशों और स्वर्णनिर्मित पक्षियों द्वारा सुसज्जित थे— यह सब मौर्य सम्राट् के वैभव का ही द्योतक नहीं है, वरन् उस युग की संस्कृति का भी सूचक है। निश्चय ही यह शिल्प-कुशलता और सज्जा-कला जो उस समय विद्यमान थी, अकस्मात् ही नहीं फूट पड़ी थी; वरन् वह प्राचीन संस्कृति की शृंखला से निरंतर जुड़ी हुई चली आ रही थी, जिसका ऋग्वेद में वर्णन है। चन्द्रगुप्त के भव्य भवनों की पूर्व सूचना उन सहस्रों द्वार वाले और सहस्रों स्तम्भ वाले भव्य भवनों से मिल चुकी थी, जिनका वर्णन न जाने कितनी बार वेदों में आया है।

यह तो साम्राज्यवादियों का मिथ्या प्रचार है, जिसने हमें आज अंधा बना दिया है और जिसके कारण हम यह वास्तविक तथ्य न देख सके कि भारतीय इतिहास दृढ़ शृंखलाबद्ध है। और सिकन्दर के आकस्मिक

* Zimmer 'All Indian cheslen" P. 231

आक्रमण से ही मौर्यकालीन उत्कृष्ट संस्कृति उत्पन्न नहीं हो गई। मगध साम्राज्य जिस वीरता से बाह्य शत्रु का सामना करने के लिये साहसपूर्वक आगे बढ़ा, उसका आधार वह संस्कृति थी, जो इस भूमि में जड़ जमा चुकी थी।

बहुत सी ऐसी पकी मिट्टी की मूर्त्तियाँ तथा पत्थर की छोटी छोटी मूर्त्तियाँ विचित्र शिरोधान वाली और हरे पत्थर को पूरे आकार की एक स्त्री-मूर्त्ति पाई गई है, जो उस युग की जीवित प्रमाण है। जातितत्ववेत्ता लोग इन मूर्त्तियों की वेश भूषा में जातिगत विशेषताओं का भली भाँति पता लगा सकते हैं और देख सकते हैं कि स्त्री-मूर्ति की मुखाकृति स्लाव जाति को सूचक है। उसे पूर्वी योरोपीय महिला का एक रूप समझ सकते हैं और इसमें कोई अशुद्धि नहीं है, फिर भी वह आकृति आज भी भारत में विद्यमान है। आज की आबादी में भी उसे कोई देख सकता है। इन सजीव मूर्तियों का चित्रण मौर्य कालीन कलाकारों के श्रेष्ठ कौशल का पूर्ण द्योतक है। निश्चय ही ये कलाकार इस काम में चिरकाल से लगे हुए थे और उन्होंने प्रस्तर खण्डों में तत्कालीन भारतीयों की जातिगत विशेषताओं को तफ़सील के साथ अङ्कित किया है। इस काल की यह कला अपने युग की संस्कृति को प्रमाणित करती है, जो कि मानव की आन्तरिक प्रेरणाओं को पूर्ण अभिव्यक्त करती है। अशोक कालीन दो सिर वाली सिंह मूर्तियां और पर्वतीय आकृति वाले स्तम्भों के विषय में कहा जाता है कि उन पर बाह्य प्रभाव था। यदि यह सच है, तो भी हमारे पास प्रमाण है कि भारतीय संस्कृति यद्यपि बाह्य प्रभाव से नितान्त मुक्त न थी फिर भी वह भारतीय थी। भारत के उस युग में भारतीय संस्कृति में पश्चिमी एशिया की संस्कृति का सम्मिश्रण हुआ था। भारतवर्ष उससे लाभान्वित हुआ। इस कला के नमूने पटना म्यूजियम में सुरक्षित हैं।

पुनः शुंग वंश के शासनकाल में हमें भारत की सांस्कृतिक अवस्था का दिग्दर्शन प्रस्तर खण्डों में दीख पड़ता है। भरहुत द्वार, जिसके विषय में कहा जाता है कि ईसा के १५० वर्ष पूर्व बने थे, पुनः हमें तत्कालीन भारत के सामाजिक चित्र की झाँकी दिखाते हैं। खुदे हुए पत्थर तत्कालीन भारतीय संस्कृति की कहानी कहते हैं। उन पत्थरों के चित्रों में हम जटाजूट धारी गुहा निवासियों के दर्शन करते हैं तथा मद्यपान गृह, पशुवध गृह, पाकशाला, वैश्यालय, माली, धोबी, ज्योतिषी, वस्त्र व्यापारी, स्वर्णकार, जौहरी, राजा, और अन्य कर्मचारी, पुरोहित, ब्राह्मण और महाजन, व्यापारी, श्मशान भूमि, व्यायामशालाएँ, हाथीसवार, घुड़सवार, रथी, पैदल सैनिक, नाविक, राज, दर्जी, नाई, केशसज्जक, शिकारी, व्याध, और बहेलिया आदि का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार बौद्ध काल से लेकर शुङ्ग काल तक के भारतीय जीवन की पूरी झाँकी हमें प्रस्तर खण्डों में मिलती है। जातक कथाएँ भी इन्हीं प्रस्तर खण्डों में अंकित थीं। आधुनिक समालोचना के अनुसार बहुतसी जातक कहानियाँ बुद्ध के पश्चात् जोड़ी जाती रहीं और इस प्रकार जातक माला की वृद्धि होती रही। इन जातक कहानियों में उनके रचनाकाल के जीवन के चित्र स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं और इसी कारण शुंगकाल की मूर्ति कला तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक जीवन को अभिव्यक्त करती है।

इन प्रस्तर मूर्तियों से हम देखते हैं कि तत्कालीन भारतीय जीवन आज के जीवन क्रम से अधिक भिन्न नहीं था। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि जिस प्रकार समुद्र यात्रा का वर्णन हमें ऋग्वेद में मिलता है, उसी प्रकार यह प्रस्तर मूर्ति कला हमें कुशल नाविकों का परिचय प्रदान करती है। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक काल के पश्चात् और शुंगकाल के पूर्व—इस मध्यकाल में भारत का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार खूब चटकता रहा। यह बात रूढ़िवादी ब्राह्मणों के उस कथन को सर्वथा मिथ्या करती है, जो कहते हैं कि कलियुग में समुद्र यात्रा निषिद्ध है। शुङ्गकाल कलियुग में ही पड़ता है अतएव यह प्रस्तर मूर्तिकला उन पंडितों के कथन को एकदम निस्सार कर देती है। अतः इस युग की कला भी अपने काल की सांस्कृतिक प्रतिभा की गवाही देती है।*

शुङ्ग काल में ही दक्षिण में कलिंग देश का राजा खारवेल हुआ, जिसने यह दावा किया कि वह चेदी के राजर्षि वसु का उत्तराधिकारी है। वह ईसा से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हुआ था। उसने हाथी गुम्फा के शिलालेख में जिसे उसने उड़ीसा के भुवनेश्वर नामक स्थान में स्थित

* A. Gruenwedel "Buddhist Art in India"

हाथी गुम्फा गुफा नामक में खुदवाया था, यह दावा किया था कि उसने पांड्य देश से लेकर उत्तर पश्चिम प्रान्तों (उत्तरापथ) तक पूरे देश को जीत लिया था, जब कि शुङ्ग वंश मगध में राज्य कर रहा था। † वह कहता है कि उसने मगध के राजा वकस्तिमित को अपने पैरों पर झुकाया और जिन मूर्ति की पुनःस्थापना की, जिसे राजा नन्द उठा ले गया था। उसने बड़े बड़े सुन्दर स्तम्भ बनवाये, जिनकी भीतरी दीवारों पर खुदाई हुई है और सौ राजगीरों की एक बस्ती बसाई थी, जहाँ पर ये लोग भूमि कर से मुक्त कर दिये गये थे। यह वही जैन सम्राट् था, जिसने जैन धर्म का उद्धार किया, जैन शास्त्रों—अङ्गों—का संकलन किया और खोये हुए या इधर उधर बिखरे हुए जैन ग्रन्थों का पुनः एकत्र किया, उसने विद्वान् जैनों को जैन साहित्य का उद्धार करने के लिए भारत के कोने-कोने से एक सम्मेलन—'संघयोनम्'—में एकत्र किया।

यह शिलालेख केवल राजनीतिक क्षेत्र पर ही प्रकाश नहीं डालता वरन् तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक जीवन को भी व्यक्त करता है। इस शिलालेख में महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें कलिंग की जिन मूर्ति का उल्लेख है। वह स्पष्टतः प्रमाणित करता है कि धार्मिक नेताओं की मूर्तियों का निर्माण और उन्हें समादृत करने की रीति ईसा से चार सदी पूर्व ही यहां आरम्भ हो चुकी थी। नन्द और नन्दवंश ने सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व मगध पर शासन किया था और इस वंश का अन्तिम शासक इस जैन सम्राट् का समसामयिक था। अतः भारत में सिकन्दर के आक्रमण के समय में ही मूर्तिपूजा का प्रचलन था। हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मंदिरों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उससे मन्दिरों के भीतरी भागों में क्या रहता था, इसका कुछ भी पता नहीं चलता। इससे ज्ञात होता है कि जैन और बौद्ध जैसे अवैदिक सम्प्रदायों में मूर्तिपूजा का प्रचलन था। जब इन्होंने वैदिक यज्ञों का तिरस्कार किया, तो उसके स्थान पर एक नया आविष्कार किया। सरल साधारण मानव मस्तिष्क अपने आपको व्यस्त रखने के लिए कुछ उत्सवों और कर्मकाण्ड का सहारा चाहता है। भक्ति और श्रद्धा से सनी हुई मानव की आन्तरिक प्रेरणा केवल दर्शन और शुष्क वादविवाद से ही तृप्त नहीं की जा सकती। अतएव जटिल वैदिक यज्ञों तथा ब्राह्मणों द्वारा प्रणीत अन्य कर्मकाण्ड के स्थान पर विरोधी सम्प्रदायों ने भी अपने धार्मिक नेताओं की मूर्तियाँ स्थापित कीं और उन मूर्तियों की पूजा करके अपनी भक्ति भावना को तृप्त किया। मन्दिरों के विषय में कौटिल्य का यह कथन महत्वपूर्ण है कि "राजा उस धर्म गुरु को पदच्युत कर देगा जो उसकी आज्ञा पर अयाज्य—जातिवाह्य—को वेद नहीं पढ़ावेगा, या उस अयाज्य द्वारा किसी यज्ञ का सम्पादन कराना अस्वीकार करेगा"।* क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि ब्राह्मण सम्प्रदाय में जोकि प्राचीन वैदिक धर्मके अनुयायी हिन्दू-समाज का बड़ा भाग था, अपने धार्मिक गुरुओं की पूजा अथवा मूर्तिपूर्ति का प्रचलन अभी तक नहीं हुआ था।

अस्तु, इस शिलालेख से यह भली भाँति पता चलता है कि भारत का एक बहुत बड़ा सम्प्रदाय अपनी भक्ति-भावना की तुष्टि इन धर्मगुरुओं की प्रतिमाओं की पूजा करके किया करता था। यहाँ यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन प्रस्तर प्रतिमाओं की कला भारत की तत्कालीन सांस्कृतिक सामग्री में समाविष्ट होने लगी थी। यह एक ही बात इस ऐतिहासिक सत्य को भी सूचित करती है कि उदयगिरि और खण्डगिरि की सुकल्पित और सुचित्रित कन्दराएँ, जो कि भुवनेश्वर के समीपवर्ती चट्टानों में बनाई गई थीं, इन जैनों की ही रचना थीं। इन्हीं में से एक हाथी गुम्फा नामक कन्दरा में उपर्युक्त शिलालेख लिखा गया था। सुन्दर और सुखदायक कमरे, जिनकी छतों के नीचे बरसाती पानी बह जाने के लिए पतली नालियों की व्यवस्था थी और पत्थर के जलखाते जिनमें उतरने के लिये सीढ़ियाँ बनी होती थीं, इत्यादि वस्तुएं तत्कालीन शिल्पकारों के कौशल तथा उस युग की भारतीय सभ्यता का अनुपम परिचय देती हैं। कन्दराएं तपस्वियों की आवास भूमि थीं, किन्तु फिर भी उनको सुखदायक बनाने में जो परिश्रम किया गया था, वह उस युग की सभ्यता के उच्च स्तर को भलीभाँति व्यक्त करता है। खैरमूर पहाड़ियों के रेखाचित्रों की इन कन्दराओं

† Epigraphia Indica Vol. XX No. 7. The Hathigumpha Inscriptions.

* शामशास्त्री —"कौटिल्य अर्थशास्त्र,, पृ० १६

की शिल्प कला से कोई तुलना नहीं की जा सकती। निश्चय ही इस समय के भारतीय इंजीनियरिंग की कला एवं टेकनीक में कहीं आगे बढ़ गये थे।

कुछ शताब्दी पश्चात् सातवाहनों के शासन काल में हम बौद्ध सन्यासियों को नासिक (दक्षिण) की कन्दराओं में निवास करते हुए पाते हैं। ब्राह्मणकालीन राजा इन सन्यासियों के भरण-पोषण के लिए उन्हें गाँव दान में दे देते थे। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि न तो ये कन्दराएँ जो भारत में सर्वत्र फैली हुई मिलती हैं अशिक्षित और असभ्य लोगों की मांदें थीं और न ये भिक्षु आदिम गुहा मानव थे जो कि गृहनिर्माण कला से सर्वथा अनभिज्ञ थे। हम पहिले जातकों में देख चुके हैं कि इन कन्दराओं में जटाजूटधारी योगी निवास करते थे। यह स्पष्ट है कि इन कन्दराओं में विभिन्न सम्प्रदायों के योगी और सन्यासी आश्रय लिया करते थे। इस प्रकार के जीवन का कुछ अर्थ होना चाहिये।

यह भलीभाँति ज्ञात है कि भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा के पहाड़ी लोग आज भी ऐसी ही गुफाओं में रहते हैं। यह गुफाएँ उन्हें जल वायु की कठोरता और जातीय युद्धों में आश्रय का काम देती हैं। चट्टानों में कटी हुई कन्दराएँ ग्रीष्म में शीतल और शीतकाल में उष्ण रहती हैं। यह असम्भव नहीं है कि यह कन्दरा-वास की कला उन प्राचीन भारतीय आर्यों की प्रथा थी, जो प्राचीन काल से आज तक निरन्तर चली आ रही है। किन्तु उत्तरकालीन युग के भारतीयों ने इसे धार्मिक स्वरूप दे डाला और इस कला को वैज्ञानिक इंजिनियरिंग के स्तर पर पहुँचा दिया। यह भारतीय आर्यों के मस्तिष्क के विकास को सिद्ध करता है और उनके सांस्कृतिक उत्थान को व्यक्त करता है, जिससे वे गुहा मानव की मंजिल से चलकर एक सुसंस्कृत सन्यासी के जीवन तक पहुँचे और इन शीतल, सुचित्रित, सुनिर्मित एवं सुव्यवस्थित कन्दराओं में एकान्तवास करते हुए निर्विघ्न चिन्तन का जीवन व्यतीत करते थे। यह शिल्प तत्कालीन भारतीय संस्कृति का एक और प्रमाण उपस्थित करता है।

इसके बाद ईसा की तृतीय शताब्दी में साँची के स्तूपों * में हम कुछ शिलालेख पाते हैं, जिनसे देश की सांस्कृतिक अवस्था के सम्बन्ध में बहुत सी जानकारी प्राप्त होती है। सांची स्तूप बौद्ध गृह शिल्प का एक नमूना और बौद्ध जन साधारण की भक्ति का अभिव्यंजक है। उसके लेख इन भक्तों की धार्मिक प्रेरणाओं की गवाही देते हैं। इनमें हम देखते हैं कि पंच अर्थात् ग्राम समितियों के प्रभावशाली सदस्य और मालवा की कृषक जनता बौद्ध मत की अनुयायी थी। इनमें यह भी दिखाई देता है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व में ही भारतवर्ष में मन्दिरों के नियन्त्रण के लिये ट्रस्टियों की कमेटियां (बोध गोथी, बन्द गोष्ठी) होती थीं। यह इतने आरम्भिक काल में भी भारतीयों की संगठन शक्ति का एक अच्छा उदाहरण है। फिर हम वेदसाक् दमितकार अर्थात् विदिसा के हाथीदांत के कारीगरों के सामूहिक दान का उल्लेख पाते हैं। इस प्रकार यहाँ हम हाथी दाँत के कारीगरों के निगमों का संकेत पाते हैं। दान दाताओं की सूची से हमें सामाजिक स्तरों का पता चलता है। इस सूची से यह भी मालूम होता है कि व्यापारी लोग ही बौद्ध धर्म के आधार थे। यह भी पता चलता है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व में ही पेशेवर लेखकों का एक वर्ग (राजलिपिकार, लेखक) विकसित हुआ था। साथ ही दान दाताओं में जन साधारण और थोड़े से भिक्षुओं की नामावली में शैव और वैष्णव पौराणिक पूजा की सूचना तीसरी और दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व या बकलर (Buchler) के कथनानुसार उससे भी बहुत पहले मिलती है।†

इस प्रकार सांची के स्तूपों से तत्कालीन गृह-शिल्प-कौशल का ही नहीं, किन्तु सांस्कृतिक अवस्था का भी पता चलता है। इसके अतिरिक्त ये स्तूप और चैत्य उन टीलों और मकबरों की ही सन्तान हैं जो कि वैदिक काल में मृतकों की राख और हड्डियों पर बनाये जाते थे। वैदिक साहित्य के प्रयोगों में इसका प्रमाण मिलता है।‡ इस प्रकार बौद्ध भक्तों का गृह शिल्प न केवल तत्कालीन भारतीयों की सांस्कृतिक शक्ति का वरन् भारतीय कला और संस्कृति की सतत शृंखला का भी परिचय देता है।

* Ep. Ind. Vol. II, No. 7.

† Ibid Op. cit. p. 89

‡ शतपथ ब्राह्मण १३.८ और आश्वलायन गृह्यसूत्र ४१.५।

इसके पश्चात् उन शिलालेखों से जो कि एक नवीन और पुनरुज्जीवित भारत का उल्लेख करते हैं हम यह देखते हैं कि भारतीयों का धर्म ही नहीं किन्तु कला और गृह शिल्प भी एक नया रूप ले रहा है। मध्य भारत के भारशिव और वाकाटक राजों (नवनागों) और विष्णु पुराण के विन्ध्य शक्ति राजों के शिलालेखों से हम यह देखते हैं कि इन दो वंशों के राज्यकाल में शैव मन्दिर सारे देश में सर उठाने लगे। वाकाटक वंश के महाराज प्रवरसेन द्वितीय के ताम्र लेखों§ में इस बात का उल्लेख है कि "महेश्वर के श्रद्धालु उपासक वाकाटकों के महाराज रुद्रसेन, जो कि महेश्वर के परम भक्त थे, स्वामी महा भैरव जो भारशिवों के महाराजः प्रसिद्ध भवनाग के दौहित्र थे, (भारशिवों के राजवंश की उत्पत्ति शिव की महती कृपा से हुई, क्योंकि उन्होंने अपने कन्धों पर शिव लिंग का भार लिया था और उनके मस्तक पर उन्हीं की वीरता से प्राप्त भागीरथी का जल छिड़का गया था और उन्होंने दश अश्वमेध यज्ञ करने के बाद उसमें स्नान किया था), प्रसिद्ध प्रवरसेन, जिन्होंने प्रसिद्ध अग्निष्टोम, अप्तोर्याम, उकथ्य, षोडशिन, आतिरात्र, वाजपेय, बृहस्पतिसव और साद्यस्क यज्ञों का और चार अश्वमेध यज्ञों का सम्पादन किया था और जो विष्णुवृद्ध गोत्र के थे—इनकी आज्ञा से मधु नदी के तट का एक ग्राम जिसका नाम चारमंगिक है विभिन्न गोत्रों के एक हज़ार ब्राह्मणों और चारणों को दिया गया।"

इस शिलालेख में हम नये युग की सूचना संक्षेप में पाते हैं। बौद्ध धर्म पीछे हट रहा है और भिक्षुओं के स्थान पर ब्राह्मणों को दान दिये जा रहे हैं। जैसा कि सातवाहनों के दान से देखा जा सकता है; शैव धर्म राजकीय आश्रय पाकर अपना सर उठा रहा है और वैदिक कर्मकाण्ड की पुनः स्थापना हो रही है। इसके अतिरिक्त यह दान हमें बताता है कि भारत एक नये सामाजिक तथा आर्थिक युग में प्रवेश कर रहा है, अर्थात् सामन्त युग में। इस लेख में यह लिखा है कि "हम उस निर्दिष्ट प्रथा का पालन करते हैं, जो कि चतुर्वेदियों के इस ग्राम के उपयुक्त है, अर्थात् इसे कर से मुक्त करते हैं। इसमें सेनाएं प्रवेश न करेंगी; इसे गाय बैल या फूल और दूध या चरागाह, चमड़ा और कोयला या गीला नमक खरीदने के लिये खानों का अधिकार प्राप्त न होगा; यह बेगार से सर्वथा मुक्त होगा, इसमें छिपे हुये खज़ाने और खनिज हैं तथा क्लृप्त उपक्लृप्त भी हैं।"

§ C. I.I. Vol. III. No. [illegible], pp. 240-242.

* C. I. I. Vol III. [illegible]

इस प्रकार यह शिलालेख हमें कट्टर ब्राह्मणवाद के नवीन पुनरुद्धार काल में ही नहीं ले आता, किन्तु सामन्तशाही करों और आर्थिक प्रथाओं के सम्बन्ध में भी बतलाता है। हम हिन्दू संस्कृति की एक नई मंज़िल में प्रवेश करते हैं। इस काल से आगे हम ब्राह्मण सम्प्रदाय को भी अपने पौराणिक देवताओं के लिए मंदिरों का निर्माण करते हुए पाते हैं और ब्राह्मण मस्तिष्क में मूर्ति पूजा को पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित देखते हैं। पौराणिक कथाओं में देवताओं का प्रादुर्भाव इन पौराणिक देवताओं के लिए मंदिरों का निर्माण भारतीय कला को एक नया रूप प्रदान करता है। भारतीय कला विभिन्न पौराणिक कथाओं को अभिव्यंजित करने के लिए अनेक बाहुओं और मुखों से युक्त देवता, देवी देवताओं की विभिन्न मुद्राएँ जिनमें—पौराणिक ब्राह्मणवाद की रहस्यवादी व्याख्याओं को मूर्त रूप दिया गया था, बनने लगीं। इस युग में हम कला में सामाजिक विचारों की एक नई अभिव्यंजना पाते हैं। भारतीय कला की इस नई अभिव्यंजना में प्रतिष्ठित सांस्कृतिक सामग्री अब जातक कथाओं को मूर्तमान नहीं करती, जिनका आधार वास्तविक भारतीय जीवन था, किन्तु ब्राह्मणवादी कथाओं और रहस्यों की आदर्शवादी अभिव्यंजना करती है। तत्कालीन रहस्यवादी भौतिक मुद्राएँ इस नवीन भारतीय कला में व्यक्त होने लगीं। यह कला सोरोकिन नामक समाजशास्त्री के शब्दों में प्रत्ययवादी स्तर पर पहुँच गई थी।

इसके पश्चात् गुप्त सम्राटों के राज्य काल में कुछ हम अन्य बातों की अपेक्षा अधिक संख्या में विष्णु मंदिरों को बनते हुए देखते हैं। इस काल में हम देखते हैं कि गाय श्रद्धा का पात्र बन गई है। हम चन्द्रगुप्त द्वितीय के सांची के शिलालेख में पाते हैं कि उसने पाँच भिक्षुओं के भोजन के लिए दीनारों के दान और रत्न गृह में दीप जलाने की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है और उसमें यह आज्ञा दी गई है कि "जो इस व्यवस्था में विघ्न डालेगा वह गो अथवा ब्राह्मण की हत्या का पापी होगा।"

यहाँ पर हम भारतीय राजाओं की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में कुछ और ज्ञान प्राप्त करते हैं। एक कट्टर ब्राह्मणवादी शासक बौद्ध मन्दिर को दान दे रहा है इससे यह प्रकट होता है कि दोनों मतों के अनुयायियों में कोई सांस्कृतिक द्वन्द्व नहीं था। कम से कम शासक दोनों सम्प्रदायों की रक्षा करता था। इसके अतिरिक्त दीनार नामक सिक्का रोमन दीनारियस की याद दिलाता है। इससे प्रकट होता है कि रोमन संसार और भारत के बीच प्रचुर व्यापार होता था। यह हमें प्लिनी की शिकायत की भी याद दिलाता है जो ईसा की पहिली शताब्दी में हुआ था और जिसने कहा था कि "रोमन महिलाएँ कितनी विलासप्रिय हो गई हैं कि वे सिवाय भारतीय रेशम के और कोई कपड़ा नहीं पहिनना चाहती हैं और भारतीय व्यापारी सोने के सिक्कों में ही कीमत लेना चाहते हैं। इस प्रकार लाखों सोने के सिक्के प्रतिवर्ष रोमन संसार से भारतीय व्यापारियों के पास चले जाते हैं।" इस प्रकार रोमन सिक्कों की आमदनी का प्रभाव भारत पर पड़ा और भारतीय स्वर्ण मुद्रा भी उसी के नाम पर पुकारी जाने लगी। यह इस बात का एक नया प्रमाण है कि समुद्र यात्रा के विरुद्ध पुरोहितों के श्राप निरर्थक थे। भारत ने सदा बाहरी दुनिया से सांस्कृतिक सम्बन्ध रक्खे और उसके सारे इतिहास में सांस्कृतिक सामग्री का विनिमय होता रहा।

इसके अतिरिक्त इस शिलालेख में हम पहिली बार गो-हत्या को एक पाप के रूप में देखते हैं। यह ब्राह्मण धर्म में एक नया सिद्धांत था। अवश्य ही भारतीय संस्कृति एक नये युग में पदार्पण कर रही है। गुप्तवंश के एक दूसरे दान पत्र में जिसका उल्लेख स्कन्दगुप्त के 'इन्दार' नामक शिलालेख में मिलता है। (गुप्त सं० १४६) हमें एक सामन्त का नाम और सूर्य मंदिर की सूचना मिलती है। इस दान पत्र में लिखा हुआ है कि "सूर्य मंदिर को अर्पित एक ब्राह्मण का दान तैलिक श्रेणी की स्थायी संपत्ति है" यहाँ पर हम व्यापारियों की एक और श्रेणी का नाम पाते हैं; जो कि आज एक आनुवंशिक जाति के रूप में परवर्तित हो गई है। इसमें आगे और कहा है कि "यह सूर्य मूर्ति क्षत्रियों द्वारा स्थापित की गई है जो कि इन्द्रपुर नामक नगर के व्यापारी थे।" इससे प्रगट होता है कि क्षत्रिय वर्ण उस समय में विद्यमान था और क्षत्रिय व्यापारी भी हो सकता था। इस लेख से ब्राह्मणों के पुराणों और स्मृतियों में उल्लिखित कथनों का एक और खंडन प्राप्त होता है।

इसके पश्चात् कुमारगुप्त और बंधु वर्मन (मालवा सं० ४९३ और ५२९) के मंदसोर के शिलालेख में हम देखते हैं कि कई रेशम के बुनकर लताविषय अर्थात मध्य या दक्षिण गुजरात से आकर दशपुर नामक नगर में बसे, जिसका शासक बंधु वर्मा था। इस शिलालेख में यह लिखा हुआ है कि "लता के प्रान्त से ऐसे मनुष्य आए जो संसार में रेशम की बुनाई के लिए प्रसिद्ध थे। यहाँ के मकान इस कला को सूचक पताकाओं से युक्त, कोमल स्त्रियों से पूरित, अत्यन्त शुभ्र और ऊँचे हैं, और मकानों की छतों पर दूसरे लम्बे भवनं कुंजों सहित बड़े सुन्दर बने हुये हैं। इस प्रकार एकत्र होकर वे लोग इस नगर में बस गये। उनमें से कुछ तो इस लिये कि वे बाणविद्या में बड़े निपुण थे। दूसरे सैकड़ों श्रेष्ठ कलाओं के सम्पादन में लगे हुए विचित्र कथाओं से परिचित हो गये, कुछ रेशम बुनने के अपने ही काम में बहुत निपुण थे, और कुछ अन्य लोग ऊंचे उद्देश्यों से प्रेरित हो कर ज्योतिष विद्या के पंडित बने, और दूसरे लोग आज भी युद्ध में वीरता के कारण अपने शत्रुओं का संहार करते हैं और इस प्रकार श्रेणी की सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है।" यहाँ पर हम रेशमी कपड़े बुनने की कला का परिचय प्राप्त करते हैं, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इस प्रकार प्लिनी की शिकायत की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

इससे हम यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि रेशम के बुनकरों का एक प्रारम्भिक समूह तीन भिन्न भिन्न देशों में बँट गया और उत्तर कालीन प्रथा के अनुसार भिन्न जीविकाओं का आश्रय लेने वाला जुलाहों का यह दल ब्राह्मण (ज्योतिषी), क्षत्रिय (बाण विद्या विशारद), वैश्य (बुनकर), वर्गों में विभाजित हो गया होगा। यह

सामाजिक सूची हमें कट्टर ब्राह्मणवादी गुप्त काल के सांस्कृतिक जीवन का दर्शन कराती है। यह शिलालेख और इसके पूर्वोलिखित शिलालेख इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि उन दिनों में भी जातिप्रथा वंशानुगत नहीं हुई थी।

इसके पश्चात् बुद्धगुप्त (४८४, ४८५ ई०) के शिलालेख में एक स्तम्भ के निर्माण का उल्लेख है, जिसे ध्वजस्तम्भ अर्थात् विष्णुदेव की पताका का स्तम्भ कहते हैं। इसी प्रकार हम इतिहास में "परम भागवतो हलियोदारो" के द्वारा विष्णु के एक ध्वज स्तम्भके निर्माण की बात सुनते हैं। प्रकट रूप से वह बैक्ट्रिया के राज से आया हुआ कोई यूनानी व्यक्ति रहा होगा।* यह स्मारक न केवल सामन्त युग में भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक सम्बन्धों को वरन् भारतीय इतिहास की नूतन सांस्कृतिक घटनाओं का भी प्रमाण देता है।

अब भारतवर्ष पूर्ण रूप से सामन्तशाही के सामाजिक और आर्थिक युग में प्रविष्ट हो गया। आर्थिक विषमताओं पर सामाजिक भेद प्रतिष्ठित हो गये थे। इस सामाजिक भेद के अनुरूप ही इहलोक और परलोक में धार्मिक भेद भी स्थापित किए गये। महायान और पौराणिक ब्राह्मण धर्म में हम देवताओं में आध्यात्मिक स्तर भेद देखते हैं। महायान में भिक्षु से आरम्भ करके स्वयं बुद्ध तक अनेक स्तर थे। बौद्ध मूर्तिकला और चित्रों में हम महायान के इस स्तर भेद को पाते हैं। किसी प्रकार ब्राह्मण धर्म में वैदिक देवताओं को हम एक केन्द्रीय संगठन में व्यवस्थित रूप में पाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति दिखाई देती है। इन्द्र भी अब एक मात्र जातीय देवता न रह कर स्वर्ग में देवताओं का सर्वोच्च अधिकारी मात्र रह गया था। उसकी सभा भी तत्कालीन भारतीय शासकों की पार्थिव सभाओं का अनुकरण मात्र थी। एलोरा के गुहा मन्दिर में इन्द्र-सभा प्रस्तरखण्ड में चित्रित है, किन्तु वह हरि नामक अश्व का आरोही, पीतस्मश्रु, लम्बोदर, सोमपायी इन्द्र नहीं हैं। तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति की प्रतिक्रिया चिन्तनशील मानवों की विचार धारा में भी हुई है। अतः उस युग के सांस्कृतिक संस्थान कला में भी प्रतिबिम्बित हुए हैं। परिणामस्वरूप हम नाना रूपों वाली सम्पन्न कला का दर्शन करते हैं, जो देवियों और देवताओं की रहस्यात्मक शक्तियों का अभिव्यंजन करती हैं। इस प्रकार हमें नटराज शिव की मूर्त्तिमें उनके रहस्यात्मक नृत्य का, त्रिशूल पंचमुख शिव के रूप में ईश्वर की संहार शक्ति का, सिंहवाहन-शक्ति के रूप में ईश्वर की शक्तिमत्ता और असुरों का संहार करने वाली तथा दशभुजा सिंहवाहना दुर्गा देवी के रूप में दशों दिशाओं में फैली हुई ईश्वर की इसी शक्ति का दर्शन होता है।

इस तरह उस युग की धार्मिक विचारधारा नवीन धर्म की कला के रूप में सांस्कृतिक सामग्री में चित्रित है। इसके अतिरिक्त इस सामन्त युग में महायान बौद्धधर्म, जनप्रिय हिन्दू धर्म अर्थात् पौराणिक ब्राह्मणवाद के समीप पहुँच रहा था। और ये दोनों धर्म इतने समीप आ गये कि महायान धर्म वर्तमान जनप्रिय हिन्दू धर्म में लुप्त हो गया। इन दोनों संस्कृतियों का यह सामीप्य भी कला में प्रतिबिम्बित हुआ। डाक्टर कुमार स्वामी कहते हैं कि "अनन्त तो नहीं किन्तु असंख्य आयु वाले पुरुषोत्तम बुद्ध जिन्हें संसार के आदि काल से ही बुद्धत्व प्राप्त है, सृष्टि विज्ञान और मनोविज्ञान की दृष्टि से तथा शाब्दिक समता से भी (लोकपिता स्वयंभू प्रजनोवित्) संसार के पिता ब्रह्मा प्रजापति के साथ तादात्म्य प्राप्त करते हैं।" बुद्ध और ब्रह्मा का यह तादात्म्य भी मूर्त्तियों मे प्रतिफलित हुआ है।

इस समय से आगे उत्तरी भारत में हिन्दू शासन के अंत तक हमें एक समुन्नत कला मिलती है जो कि उस समय के सांस्कृतिक संस्थान की अभिव्यंजना करती है। यदि ब्राह्मण धर्म की पौराणिक कला प्रत्ययात्मक और धार्मिक रहस्यों की अभिव्यक्ति करने वाली थी, तो सूर्य पूजा और बौद्ध धर्म आदि की कला का वास्तविक पक्ष भी था।

कहा जाता है कि सूर्य पूजा श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब के द्वारा बाल्हीक (बल्ख) से भारत में लाई गई। उस समय वक्त्र (बल्ख) शकों की भूमि कहलाता था। इस लिये वह अपने साथ कुछ मग ब्राह्मणों को लाया था। सूर्य मूर्त्ति और उसके पुरोहित जिन्हें आजकल शाकद्वीपी

* V. Smith "Early History of India"

ब्राह्मण कहते हैं अपने वास्तविक जातीय वेश में चित्रित किए गये हैं। पुरोहित सहित जो सूर्यमूर्ति राजशाही (बंगाल) में वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी के संग्रहालय में सुरक्षित है, उससे यह प्रकट होता है कि यह हिन्दू देवता ठुड्डीपर नुकीली दाढ़ी रखता था और सर पर कुलाह (ऊँची नुकीली टोपी) पहिनता था और शरीर पर एक चुस्त कोट और पाजामा तथा घुटनों तक के ऊँचे जूते पहिनता था। उसका पुरोहित भी यही वस्त्र पहिने हुए है। निश्चय ही यह अभारतीय और मध्य एशिया की पोशाक है, जिसे एक हिन्दू देवता ने पहिना है। ठीक उसी प्रकार के ऊंचे बूट जैसे मूर्ति में चित्रित हैं आज भी तुर्किस्तान में पहिने जाते हैं।

यह मूर्ति जो कि देश के विभिन्न भागों में पाई जा रही है भारतीय सांस्कृतिक इतिहास पर प्रकाश डालती है। हिन्दू देवता के रूप में यह मध्य एशिया के नस्ल की आकृति न केवल बाहरी सांस्कृतिक प्रभाव का द्योतक है बल्कि भारतीय शिल्पी की कलात्मक प्रतिभा को प्रमाणित करती है। इसी प्रकार इसी मूर्ति के पास उसी संग्रहालय में एक प्रस्तर में खुदी हुई एक विष्णु की मूर्ति भी सुरक्षित है। मानव-वैज्ञानिक की दृष्टि में इसका चेहरा बिल्कुल बंगाली जैसा है, यद्यपि दोनों एक ही स्थान से प्राप्त हुई हैं। यहाँ हमें मानना पड़ेगा कि यह कलात्मक चित्रों का रेखांकन अत्यधिक वास्तविक है। यह मूर्ति कलाकारों के वैज्ञानिक निरीक्षण की तीक्ष्णता को सिद्ध करती है, जिससे उन्होंने इन दोनों मूर्तियों में जातिगत आकृतियां चित्रित की हैं। यह तत्कालीन मानव-प्रकृति का एक प्रमाण है।

यदि यह कहा जाय कि ब्राह्मण कला भारतीय कला की प्रत्ययात्मक पक्षकी अभिव्यंजना करती है, तो बौद्ध कला अधिक वस्तुवादी है। वह वास्तविक मनुष्यों और उनके आचरणों को व्यक्त करती है। इस विषय में भारतीय कला का वर्गगत स्वरूप स्पष्ट लक्षित होता है। बौद्धधर्म धर्म में समानता का समर्थक होने के कारण जनता को नहीं भूलता। उसका आधार जनता ही है। इसीलिये उसने उसके जीवन को पुस्तकों में और पत्थरों पर चित्रित किया है।

इसके फलस्वरूप हम बौद्ध काल में तत्कालीन लोगों का सजीव चित्र देखते हैं। भारतवर्ष के समान्तयुग की मूर्त्ति कला और चित्र कला से हम तत्कालीन मानवों की जातिगत विशेषताओं का पता पाते हैं। अजन्ता में भारतीय चित्र कला के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। न केवल कलात्मक कौशल के लिए किन्तु उसमें चित्रित शारीरिक आकृति के लिए भी वह प्रशंसनीय है। एक मानवशास्त्री मनुष्यों की इन आकृतियों को पहिचान सकता है जो कि इन चित्रों में मुखाकृति सम्बन्धी विशेषताओं के साथ अंकित है। आजके भारतीयों में भी पहिचान सकता है। पुलकेशी द्वितीय के दरबार में स्थित ईरानी व्यक्ति को उच्च वर्ग तथा निम्न वर्गीय मनुष्यों को और उनके आचारों को हम चित्र में असंदिग्ध रूप से पहिचान सकते हैं। सब वहाँ अपनी विशेषताओं के साथ चित्रित हैं। फॉन आईक्सटेट नामक मानवशास्त्री ने कहा है कि भारत की आदर्श सुन्दरता वहाँ अपनी सच्ची विशेषताओं के साथ चित्रित है। खैरमूर के दीवारों पर बने चित्रों और अजन्ता के चित्रों में कितनी दूरी है? आर्य संस्कृति का मनुष्य सांस्कृतिक मार्ग पर बहुत आगे बढ़ गया। यह कहा जाता है कि प्राचीन यूनानी कला की पूर्णता फीडियाज की कला में व्यक्त हुई है, जो पिरेक्लेस के काल में पार्थेनन में चित्रित है, किन्तु यह भी कहा जाता है कि यूनानी कला आदर्शात्मक थी। मुख और सिर की आकृति चुने हुए मनुष्यों का अनुकरण होती थी। यह आदर्श आकृतियाँ होती थीं। हम नहीं जानते कि भारतीय शिल्पी अपने आदर्शों के लिए इस प्रकार मनुष्यों को चुनते थे या नहीं, किन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि वर्तमान भारत के नरनारियों के चित्र अजन्ता के चित्रों में देखे जा सकते हैं। यहाँ भारतीय चित्रकार ने अपने देशवासियों को रंग और ब्रश से अधिक वस्तुवादी चित्रित किया है और इन सजीव चित्रों में अपना कौशल प्रदर्शित किया है। अतएव उसकी रचनात्मक प्रतिभा अत्यन्त प्रशंसनीय है।

इस प्रकार अजंता की कला तत्कालीन सांस्कृतिक स्तर का एक और प्रमाण उपस्थित करती है और इससे दोनों क्षेत्रों का सम्बन्ध प्रकट होता है।

जैसा कहा गया है कला और संस्कृति का साक्षात् सम्बन्ध है। जितनी ही किसी जाति की ललित कला उन्नत होती है, उतना ही उसका सांस्कृतिक स्तर ऊँचा

होता है। उसकी वर्गगत विशेषताएँ भी होती हैं। हमें जानना चाहिये कि कला किस वर्ग को चित्रित कर रही है और समाज के किन स्वार्थों का द्योतन करती है तथा किस वर्ग की मनोवृत्ति उसमें प्रतिबिम्बित होती है।

यह भी कहा जा चुका है कि 'कला कला के लिए' जैसी कोई वस्तु नहीं है। यदि युरोप की मध्ययुगीन कला तत्कालीन कलात्मक संस्कृति का द्योतन करती है, तो वह उस समय के धर्माधिकारियों के प्रभाव को भी व्यक्त करती है। जैसा कि सोरोकिन ने कहा है:— "मध्ययुगीत कला की नम्रता गम्भीर है जो कि ईसाई धर्म की आत्मा है।" इसलिये कला सम्प्रदाय के उपयोग की चीज़ थी। इस कारण हमें आश्चर्य न होगा यदि कला में वर्गगत विशेषताएँ दिखाई पड़ें। संस्कृति का वर्गगत रूप होता है। अतः कला पर भी यह छाप पड़ेगी। श्री एम० एन० दत्त कहते हैं— "यद्यपि चित्रकारी एक सांसारिक विषय हो गया है और उसका अध्ययन बहुत से ऐसे लोग भी करते हैं, जिनमें कोई विशेष मानसिक शुद्धता नहीं होती, फिर भी वह मानव जाति का प्राकृतिक वरदान है; जैसा कि व्रात्य और आदिम जातियों के दीवारों की सजावट, शरीर, मुख और हाथों के गोदने से ज्ञात होता है। किन्तु उच्च विचार और देवत्व प्राप्ति की भावना कला में भिक्षुओं और सन्यासियों के द्वारा प्रविष्ट की गयीं। असीरियन और मिश्र लोगों में भी शिल्पी लोग मन्दिरों के अधिकारी होते थे और धर्माधिकारियों की कोटि में होते थे।" इस प्रकार कला वर्ग लक्षणों से मुक्त नहीं होती। इसके बाद वह कहते हैं "श्रद्धा और प्रेम के वश भिक्षु लोग महान् व्यक्तियों के दैनिक जीवन और विचारों को मूर्त्तियों और चित्रों के रूप में व्यक्त करने की चेष्टा करते थे, जिसके द्वारा वे जनता से प्रभावशाली अपील करके इन महात्माओं के प्रति उसकी श्रद्धा और प्रेम को उद्बुद्ध करते थे। इस प्रकार ये सन्यासी ही पीछे मूर्तिकार और चित्रकार बन गये।" इससे यह सिद्ध होता है कि कला किसी के लिए है और उसके पीछे कोई स्वार्थ होता है।

* M. N. Dautta "Dissertation on Painting p. 21.

अन्त में हम फिर इस बात को दुहराते हैं कि कला किसी जाति की संस्कृति और सभ्यता में अग्रसर होने की शक्ति का सूचक है। एम० एन० दत्त लिखते हैं "जो राष्ट्र विकास के सर्वोच्च स्तर पर है वह अपने विचारों को ठोस रूप देने का प्रयत्न करेगा और किसी राष्ट्र में जितनी अधिक सफल मूर्तियां हैं, उसकी संस्कृति को उतनी ही ऊँची माननी चाहिये।"

एक शब्द मुसलिम काल की भारतीय कला के सम्बन्ध में भी कह देना आवश्यक है। यह सच है कि मुसलिम तुर्की आक्रमणों के समय बराबर एक नई सांस्कृतिक प्रवृत्ति भारत में प्रविष्ट होती रही, किन्तु गौड़ से अहमदाबाद तक इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि भारत में मुसलिम कला भारतीय कला ही थी। इसमें सन्देह नहीं जैसा कि हैवेल ने कहा है कि वह हिन्दू बौद्ध गृह शिल्प के ढाँचे का मुसलिम आवश्यकताओं के अनुसार रूप परिवर्तन है। अतएव मुसलिम धार्मिक आशाओं के पालनार्थ उसमें कुछ नवीनताएँ लाई गई हैं। किन्तु कुल मिलाकर वह भारतीय कला की शृंखला में ही है।

"ताज विस्मयजनक है, ताज एक स्वप्न है।" ताज का दर्शक विभोर होकर कहता है। किन्तु पांच गुम्बज अर्थात् चार छोटे छोटे गुम्बज चारों कोनों पर और एक केन्द्रीय गुम्बज मध्य में बनाने की शैली भारतीय स्थापत्य की पंचरत्न पद्धति का ही मुसलिम संस्करण है, जिसकी परम्परा हम शेरशाह के सहसराम के मकबरे से लेकर आगरे के ताज तक देख सकते हैं। यहीं उसका चरम उत्कर्ष हुआ है। यहाँ हम यह भी बता देना चाहते हैं कि भारतीय मुसलिम मकबरों और मसजिदों पर गुम्बज जिस प्रकार के बने हुए हैं, वैसे दूसरे मुसलिम देशोंमें नहीं पाए जाते। भारतीय मुसलिम कला स्वरूपतः भारतीय है। विदेशी प्रवृत्तियों से उसकी सम्पन्नता बढ़ी है। उसका प्रभाव मुसलिम काल में उत्तरी भारत के हिन्दू स्थापत्य और चित्र कला पर पड़ा है।

समाजवाद और नीतिशास्त्र

प्रो० मुकुटबिहारी लाल

समाजवाद के विरोधियों का खयाल है कि समाजवाद और नीतिशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं। उनका विचार है कि समाजवाद सभी नैतिक सिद्धान्तों की अवहेलना करता है और उसका दृष्टिकोण बिलकुल ही अनैतिक है। इन विचारों की पुष्टि में वे बहुत सी दलीलें पेश करते हैं। वे कहते हैं कि नीतिशास्त्र का आधार अध्यात्म और आदर्शवाद है और समाजवाद इन दोनों का विरोधी है। समाजवाद तो भौतिकवादी है। वह ईश्वर और आत्मा दोनों को नहीं मानता और समाज में प्रचलित सभी नैतिक पद्धतियों का विरोध करता है। फिर भला वह किस तरह नैतिकता का हामी हो सकता है। समाजवादी खुद समाजवाद को वैज्ञानिक बताते हैं और यह सभी जानते हैं कि विज्ञान और नीतिशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं।

समाजवाद के विरोधियों की इन दलीलों में बहुत सी गलतियां हैं। समाजवाद वैज्ञानिक ज़रूर है पर वह कोरा वैज्ञानिक समाजशास्त्र ही नहीं है। वह तो एक जन-आन्दोलन भी है। समाजवाद समाज की स्थिति और गति का विश्लेषण करता है और बताता है कि समाज बहुत सी मंज़िलें तय करता हुआ वर्गविहीन समाज की ओर बढ़ रहा है। वह यह भी बताता है कि पूँजीवाद अब टिकने का नहीं, विरोधी शक्तियां ताक़त पकड़ती जारही हैं और आज की दुनिया की उलझनों को सुलझाना पूंजीवाद के लिये नामुमकिन है। समाजवाद के सिद्धान्त से यह भी सिद्ध है कि पूंजी युग वर्ग समाज की आख़री मंजिल है और समाज की अगली मंजिल वर्गविहीन समाजवादी युग ही है। पर समाजवाद यह भी मानता है कि वर्गविहीन समाज क़ायम करने के लिये क्रान्तिकारी जन-संघर्ष ज़रूरी है। और इसलिये वैज्ञानिक सामाजिक विश्लेषण के साथ साथ समाजवाद उत्पादक जनता, खासर मजदूर वर्ग में क्रान्तिकारी चेतना पैदा कर वर्ग संघर्ष तथा क्रान्ति के लिये उसे संघटित और तैय्यार करता है और मौक़ा आने पर सामाजिक क्रान्ति का आदेश देता है। एक विज्ञानवेत्ता अपने वैज्ञानिक खोजों को करते समय नीतिशास्त्र को भूल सकता है और कह सकता है कि ठीक ठीक खोज करना और उसके नतीजों को सही सही बताना ही उसका काम है। वैज्ञानिक खोजों की परख सत्य की कसौटी पर होती है। सत्य में ही विज्ञान की नैतिकता है। लेकिन सामाजिक आन्दोलन की परख मानव-हित की कसौटी पर होती है। उसे यह साबित करना होता है कि उसका लक्ष्य नैतिक अर्थात मानव-हितकारी है। समाज की गति में बहे चले जाना एक सामाजिक कार्यकर्ता का काम कभी नहीं हो सकता। उसका तो फ़र्ज़ है कि वह सामाजिक साधन, परिस्थिति और गतिको मानव हित में लगाये और उनके ज़रिये मानव हितकारी लक्ष्य की सिद्धि करे। समाजवाद विज्ञान भी है और जन-आन्दोलन भी है। इसलिये उसे यह सिद्ध करना होगा कि उसका सामाजिक विश्लेषण वैज्ञानिक यानी सच है, और उसका सामाजिक लक्ष्य सामाजिक गति के मुताबिक ही नहीं बल्कि मानव-हितकारी यानी नैतिक भी है। समाजवाद इन दोनों कसौटियों पर परखे जाने के लिये सदा तय्यार है। उसकी धारणा है कि उसका समाजशास्त्र वैज्ञानिक और सत्य है; और उसके सामाजिक आन्दोलन का लक्ष्य मानव-हितकारी और नैतिक है। उसकी यह भी धारणा है कि मानवहित ही नीतिशास्त्र का आधार हो सकता है और वर्गविहीन समाज में ही मानव हित की पूरी पूरी सिद्धि मुमकिन है। मौजूदा पूंजी युग में तो उत्पादक जनता की लूट खसोट ज़ोरों पर है, वर्गहित ही मानवहित समझ लिया जाता है और सरमायेदार अपने निजी हित पर मानव-हित को न्यौछावर करने में ज़रा भी नहीं हिचिकते।

समाजवाद के विरोधियों की यह धारणा भी गलत

है चूँकि समाजवाद धर्म और आदर्शवाद का विरोधी है, इसलिये अनैतिक है। धर्म और आदर्शवाद को नीतिशास्त्र या नैतिक जीवन का ठेकेदार समझ बैठना एक भारी भूल है। कई धर्मगुरुओं ने नीतिशास्त्र के अच्छे अच्छे सिद्धान्तों को समाज के सामने रखा है। धर्म ने नैतिक जीवन पर भी जोर दिया है। कई धर्मों ने कुछ मौक़ों पर सत्ताधारियों का विरोध किया और सरमायेदारों की लूट खसोट और स्वार्थ भावना की निन्दा भी की है। ईसाई धर्म ने तीन सौ साल तक जनता के सामने वर्गविहीन समाजवादी समाज का आदर्श रखा और रोम की राजसत्ता के आतंक को सहा। मध्यकाल में धर्म की गोद में ही नीतिशास्त्र ने परिवरिश पाई है। पर इसमें भी शक नहीं कि धर्म ने नीतिशास्त्र को अपनी रूढ़ियों और पद्धतियों की उलझनों में उलझाकर नीतिशास्त्र के विकास को हानि पहुँचाई है। बहुत से धर्मगुरुओं ने कर्मकाण्ड पर ही ज़ोर दिया है। आज धार्मिक रुढ़ियों और नैतिक सिद्धान्तों में भेद करना मुश्किल हो रहा है। धर्म ने समाज के रीति-रिवाजों और पद्धतियों को धर्म का अंग मानकर और उन्हें सनातन बताकर समाज के विकास में भी बाधा डाली है और प्रगतिशील शक्तियों का विरोध किया है। सभी धर्मों के गुरुओं और पुरोहितों ने सत्ताधारियों के हाथ की कठपुतली बन जनता को अपने भाग्य पर सब्र कर चुपचाप ज़ुल्म सहने की शिक्षा दी है और इस तरह धर्म ने जनता के लिये अफ़ीम का भी काम किया है। यह भी सभी जानते हैं कि संसार में बहुत से ऐसे पुरुष हुये हैं, जो धर्म को नहीं मानते पर उनका जीवन सर्वथा नैतिक था। अपने ही देश में पंडित जवाहरलाल नेहरू धर्म को नहीं मानते, पर कौन कह सकता है कि उनका जीवन अनैतिक है या वे नीतिशास्त्र के महत्व से मुनकिर हैं। नीतिशास्त्र या नैतिक जीवन के लिये धर्म पर ईमान लाना ज़रूरी नहीं। धार्मिक बन्धनों से मुक्त पुरुष भी मानव-हितके आधार पर अपना नैतिक जीवन बना सकता है और नीतिशास्त्र के मानवहितकारी सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सकता है। वास्तव में नीतिशास्त्र के विकास के लिये नीतिशास्त्र को धर्म से अलग करना ज़रूरी है। इस बात को पूँजीवाद के समर्थक विद्वानों ने भी मान लिया है और इस पूंजी युग में नैतिक समस्याओं पर सामाजिक दृष्टि से ही विचार होता है। आज के नीतिशास्त्र का आधार धर्म के स्थान पर समाज ही है। धर्म और नीतिशास्त्र का मेल तो सामन्तशाही ज़माने की बात है और आज की दुनिया में इस बात पर वही लोग जोर देते हैं, जो मध्यकालीन सामन्तशाही के असर में हैं। हिन्दुस्तान जैसे मुल्कों में भी जहां सामन्तों और मध्यकालीन संस्कृति का अब भी बड़ा असर है, धीरे धीरे विद्वान लोग चाहे वे समाजवाद को मानते हों या उसके विरोधी हों, मानते जा रहे हैं कि नैतिक जीवन के विकास के लिये नीतिशास्त्र को धर्म से अलग करने की ज़रूरत है। हमारा नैतिक जीवन इस समय मध्यकालीन रूढ़ियों और पद्धतियों के जाल में फंसा हुआ है। उन रूढ़ियों और पद्धतियों पर विश्वास रखना और उनका लफ़्ज़-ब-लफ़्ज़ पालन करना ही हम में से बहुतों ने नैतिकता समझ रखा है। कुछ धर्म सुधारकों ने रूढ़ियों और पद्धतियों के बजाय धर्म में बताये मूल नैतिक सिद्धान्तों पर जोर दिया है और नीति धर्म को ही धर्म माना है। इन सुधारकों की मेहनत से हमारे नैतिक जीवन का विकास हुआ है और हम में से कुछ लोग यह भी समझने लगे हैं कि मानवहित ही नैतिक जीवन का आधार है और भिन्न भिन्न धर्मों के नैतिक आदर्शों में बहुत कुछ मेल है। पर यह बात धीरे-धीरे साफ होती जा रही है कि धर्म-सुधार या सर्व-धर्म-समन्वय के ज़रिये हिन्दुस्तान के सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक सवाल हल नहीं हो सकते, उन्हें सुलझाने के लिये सर्वमान्य राष्ट्रीय नैतिक आदर्शों की ज़रूरत है और ये तभी मुमकिन हैं जब कि नीतिशास्त्र को धर्मशास्त्र के बजाय समाजशास्त्र का अंग माना जाय और जनहित की बुनियाद पर राष्ट्र के नैतिक जीवन का निर्माण हो। इन सब बातों से यह साफ ज़ाहिर है कि पुराने ज़माने में धर्म की छत्र छाया में परवरिश पाने पर भी मौजूदा ज़माने में धर्म से अलग हो समाजशास्त्र का अंग बन कर ही नीतिशास्त्र का विकास हुआ है और हो सकता है। ऐसी हालत में इस बिना पर कि समाजवाद का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं, यह नहीं कहा जा सकता कि समाजवाद अनैतिक है या समाजवाद और नीतिशास्त्र का कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं।

आदर्शवाद और आदर्श दो जुदा चीज़ें हैं। आदर्शवाद का विरोधी भी उच्च जीवन-आदर्शों को मान सकता है और आदर्शवादी भी मानवीय नैतिक आदर्शों से रहित हो सकता है। अफ़लातून जैसे आदर्शवादी विद्वान् ने गुलामी जैसी संस्था को नैतिक और प्राकृतिक बताया, हीगल जैसे विद्वान् ने राज्य के निस्सीम अधिकार का समर्थन किया और हिन्दुस्तान के बहुत से आदर्शवादियों ने ऊँच-नीच तथा छूत-छात की प्रथाओं को ठीक बताया। आज कल के ज़माने में आदर्शवाद के आधार पर हिटलर और मोसोलीनी ने नाज़ीज्म और फासिज्म जैसी घातक और प्रतिगामी शक्तियों को पुष्ट किया। सच तो यों है कि आदर्शवाद को छोड़कर ही संसार की वास्तविकता का ठीक ठीक पता चल सकता है और वास्तविकता की मजबूत बुनियाद पर ही मानव समाज का निर्माण हो सकता है। आदर्शवाद को छोड़ने के साथ साथ आदर्शवादी विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सभी आदर्शों और सिद्धान्तों को छोड़ना ज़रूरी नहीं। मार्क्स ने आदर्शवाद का विरोध किया पर हीगल के द्वन्द्वात्मक न्याय को ठीक समझ कर अपनाया। समाजवाद आदर्शवाद द्वारा प्रतिपादित सभी नैतिक सिद्धान्तों का विरोध नहीं करता। वह तो इन नैतिक सिद्धान्तों को वास्तविकता की कसौटी पर परख कर उनके काल्पनिक अंश को अलग कर उनके प्रगतिशील सजीव अंश की मदद से मानवीय नैतिक आदर्शों और नीतिशास्त्र का प्रतिपादन करता है।

समाजवाद के विरोधियों का यह खयाल भी बिलकुल गलत है कि भौतिकवाद नीतिशास्त्र का दार्शनिक आधार नहीं हो सकता। चार्वाक के कुछ उपलब्ध वाक्यों के आधार पर यह निश्चय कर लेना कि भौतिकवाद अनैतिक है एक बड़ी भारी भूल है। मौजूदा ज़माने में नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के करीब करीब सभी विद्वान् किसी न किसी रूप में भौतिकवाद को मानते हैं। भौतिकवाद ही आधुनिक समाजशास्त्र और नीतिशास्त्र का दार्शनिक आधार है। हम भौतिकवादी विद्वानों के नैतिक सिद्धान्तों से असहमत हो सकते हैं: पर यह नहीं कह सकते कि उनका नीतिशास्त्र निकम्मा या अवैज्ञानिक है। वास्तव में नैतिक समस्याओं पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करने का श्रेय इन्हीं विद्वानों को है। इन्हीं के परिश्रम से आज नीतिशास्त्र को विश्वास और दर्शन के बजाय वास्तविकता और विज्ञान का स्वरूप हासिल हुआ है। कहा जाता है कि भौतिकवाद के कारण ही आज संसार में संघर्ष और कलह का बाज़ार गर्म है और मानव समाज को हर पन्द्रह बीस वर्ष के बाद विश्वव्यापी युद्धों का सामना करना पड़ता है। पर इस बात में भी भूल है। विश्वव्यापी संघर्ष, कलह और युद्ध का कारण भौतिकवादी दर्शन नहीं है, बल्कि उत्पादन के साधनों पर सरमायेदारों का आधिपत्य है। जब तक निजी जायदाद के तरीके की वजह से समाज वर्गों में बटा रहेगा तब तक वर्गसंघर्ष भी चलता ही रहेगा और समाज को लड़ाई झगड़ों का सामना करना ही पड़ेगा। मध्यकाल में धर्म और आदर्शवाद का ज़ोर होने पर भी समाज में संघर्ष, कलह और युद्ध चलते ही रहे। मौजूदा ज़माने में आदर्शवादी फासिज्म और नाज़ीज्म ने लड़ाई के आध्यात्मिक महत्व पर जितना ज़ोर दिया उतना ज़ोर तो शायद ही किसी भौतिकवादी ने दिया हो। जहां फासिज्म और नाज़ीज्म युद्ध को मनुष्यत्व के विकास के लिये ज़रूरी समझते हैं, वहां समाजवाद युद्ध को बिगड़ी समाज-व्यवस्था का बुरा नतीजा समझता है। जहां फासिज्म और नाज़ीज्म संघर्ष और युद्ध को सदा कायम रखना सामाजिक विकास के लिये ज़रूरी समझते हैं, वहां समाजवाद की धारणा है कि वर्गविहीन समाज में संघर्ष और युद्ध बन्द हो जायंगे और सामाजिक विकास द्वन्द्वात्मक सहयोग के ज़रिये होगा।

समाजवाद के विरोधी कहते हैं कि भौतिकवाद तो यांत्रिक और नियतिवादी है, फिर भला समाजवाद में नैतिक सवाल उठ ही कैसे सकते हैं। यहां भी एक बड़ी भारी भूल है। पूंजीपतियों का अठारहवीं सदी का भौतिकवाद यांत्रिक ज़रूर था, पर समाजवाद का मार्क्सवादी भौतिकवाद तो द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मनुष्य को कर्तृत्व-शक्ति से रहित और सर्वथा वंशगत गुण और परिस्थिति का फल नहीं मानता। उसकी तो धारणा है कि 'जिस प्रकार मनुष्य परिस्थितियों को बनाता है उसी प्रकार परिस्थितियां मनुष्य को बनाती हैं'। वह तो मनुष्य और परिस्थितियां दोनों को सक्रिय और परिवर्तनशील मानता है और

मनुष्य के सक्रिय व्यवहार पर जोर देता है। उसका विचार है कि मनुष्य 'स्वयं प्रकृति की एक शक्ति है' और अपने सक्रिय व्यवहार से परिस्थितियों द्वारा निश्चित सीमा के भीतर इतिहास का निर्माण करता है, प्रकृति और परिस्थितियों को बदलता है, अपने स्वभाव को बदलता है और अपनी सोई शक्तियों का विकास करता है। बस समाजवाद की नज़र में मनुष्य घड़ी की सूई की तरह बेबस नहीं वह कुछ सामाजिक और प्राकृतिक सीमाओं के भीतर स्वतन्त्र है और अपने कामों का बहुत हदतक ज़िम्मेदार है। इसलिये उसके कामों को नीति की कसौटी पर परखा जा सकता है।

समाजवाद के विरोधियों की इस दलील में कोई जान नहीं कि चूँकि समाजवाद प्रचलित नैतिक व्यवस्था को नहीं मानता इसलिये वह अनैतिक है और उसका नीतिशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं। पादरी, पुरोहित और मुल्ला चाहे कुछ ही क्यों न कहें, इसमें ज़रा भी शक नहीं कि हरेक नैतिक व्यवस्था अपने ज़माने की सामाजिक व्यवस्था की बुनियाद पर बनी है। और ज़माने के साथ साथ नैतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं को भी बदलना होता है। कोई नैतिक व्यवस्था भी हमेशा कायम नहीं रह सकती। उसे सनातन समझ हमेशा कायम रखने की कोशिश बेकार ही नहीं प्रतिगामी भी है। मनु ने स्वयं भी इस बात को माना है कि हरेक युग में स्मृति बदल जाती है। अगर हम प्रचलित नैतिक व्यवस्था के खिलाफ आवाज़ को ही नीति-विरोधी मान लें तब तो हमें बुद्ध, ईसा और मुहम्मद को भी नैतिक जीवन का विरोधी मानना होगा चूँकि इन सबने बहुत से प्रचलित नैतिक समझे जाने वाले रीति-रिवाजों का विरोध किया और जनता के सामने नया नैतिक आदर्श रखा। कौन कह सकता है कि प्रचलित नैतिक व्यवस्थाओं में तबदीली की ज़रूरत नहीं। जो विद्वान् समाजवाद को नहीं मानते वे भी यह बात मानते हैं कि प्रचलित नैतिक व्यवस्थाओं में मौलिक तबदीली की ज़रूरत है। मौजूदा ज़माने में इन व्यवस्थाओं को मानने वाले भी इनका पालन नहीं कर पाते। वेद भी आपद्धर्म के नाम पर अपने लिये बहुत सी सहूलियतें कर लेते हैं। लेकिन यह तरीका ठीक नहीं। इस तरीके से की गई तबदीली का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं होता और युगधर्म को आपद्धर्म जैसी घृणित उपाधि से सम्बोधित किया जाता है। इस तरीके में सबसे बड़ा दोष यह है कि जब कि धर्म-अधिकारी और सत्ताधारी अपने रहन सहन में मनमानी तबदीली कर लेते हैं जनता पुरानी रूढ़ियों और पद्धतियों में जकड़ी रहती है।

कहा जा सकता है कि जरूरत सुधार की है क्रान्ति और संहार की नहीं। सुधार हो या क्रान्ति यह एक सामाजिक सवाल है। इस सवाल का निपटारा समाज की परिस्थिति ही कर सकती है। सामाजिक क्रान्ति के ज़माने में नैतिक सुधारों से काम नहीं चल सकता। समाज-व्यवस्था में क्रान्तिकारी तबदीली के साथ साथ नैतिक आदर्शों में भी क्रान्तिकारी तबदीली की ज़रूरत होती है। समाजवाद का खयाल है कि दुनिया का काम अब सुधारों से नहीं चल सकता। उसे सामाजिक क्रान्ति की ज़रूरत है। समाजवादी सामाजिक क्रान्ति पिछली सब क्रान्तियों से बड़ी क्रान्ति होगी। जहाँ पूँजीवादी क्रान्ति ने एक प्रकार के वर्ग-समाज की जगह दूसरी तरह का वर्ग-समाज कायम किया, वहाँ समाजवादी क्रान्ति वर्ग-समाज की जगह वर्गविहीन समाज को कायम करेगी। इस सामाजिक क्रान्ति को सफल करने के लिये इस क्रान्ति के अनुरूप क्रान्तिकारी नैतिक आदर्शों की ज़रूरत है। वर्गविहीन समाज की नैतिक व्यवस्था वर्ग-समाज की नैतिक व्यवस्था से भिन्न होगी ही। निजी स्वार्थ और निजी सम्पत्ति के आधार पर कायम समाज के नैतिक आदर्शों से भला सहयोग और सामाजिक सम्पत्ति के आधार पर कायम वर्गविहीन समाज का काम कैसे चल सकता है। इस क्रान्तिकारी तबदीली को संहार समझना गलत होगा। क्रान्ति वेग, मात्रा और शक्ल में सुधार से भिन्न है। पर सुधार की तरह क्रान्ति भी विकास का अङ्ग है। सामाजिक क्रांति संहार नहीं बल्कि सामाजिक विकास है। उसका मकसद समाज को खत्म करना नहीं बल्कि समाज की नई व्यवस्था करना है। वर्गविहीन समाज वास्तविकता की बुनियाद पर कायम होगा। नई सामाजिक और नैतिक पद्धति बनाते समय समाज के सभी अनुभवों और ज्ञान को ध्यान में रखा जायगा। प्रतिगामी शक्तियों, बेकार रूढ़ियों और रीति-रिवाजों को छोड़ प्रगतिशील सजीव शक्तियों और क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के क्रान्तिकारी क्रियात्मक मेल के जरिये एक नया सामाजिक, आर्थिक और नैतिक ढांचा तय्यार होगा। वर्गविहीन समाज की नैतिक व्यवस्था मानवीय होगी। मानवता, समता, सहयोग और लोकहित ही नयी नैतिक व्यवस्था के आधार होंगे। इन नैतिक सिद्धान्तों पर वर्ग समाज में भी बहुत से धर्मात्माओं, महात्माओं, पीरों, पैगम्बरों और नैतिक विद्वानों ने जोर दिया है। पर निजी सम्पत्ति की प्रथा और स्वार्थ संघर्ष की वजह से नैतिक सिद्धान्त वर्ग-समाज की नैतिक व्यवस्था आधार नहीं बन सके। समाज में इनका पालन हो सका। कुछ ही सज्जन बड़े परिश्रम और संयम बाद इन्हें अपने जीवन का आधार बना सके। क्रान्तिकारी नैतिक सिद्धान्त वर्गविहीन समाज में वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के नैतिक आधार बन सकते हैं और यही समाजवादियों का नैतिक लक्ष्य है।

इतिहास

श्री अमृतराय

सुमेर के बाप कानूनगो थे। उन्हों ने गांव के प्रायमरी स्कूल में उसकी आना दो आना महीना फीस दी हो तो उसकी बात अलग है, मगर दर्जा चार के बाद से आज तक (अब तो वह एम० ए० में पढ़ रहा है) उसकी पढ़ाई अपने पौरुष से हुई है। उसके बाप को उसका इतना पढ़ना मंज़ूर नहीं था, अगर कहें कि खलता था तो भी कुछ ज्यादा झूठ न होगा गो कि जब उसकी पढ़ाई के मद में उनकी गाँठ से कानी कौड़ी भी नहीं जाती थी तब खलने की तो कोई बात थी नहीं। बहर सूरत वह इतनी पढ़ाई को गलत समझते थे जिससे कि किसी को अपच हो जाय। यही तो हमेशा कहते थे वह कि आजकल जिसे देखो पढ़ाई का अपच है, ज़माने की रफ्तार ही कुछ बेढंगी है, हवा खराब हो गयी है, नहीं तो (अपने ही हम उम्र हम खयाल किसी खबीस आदमी को सम्बोधित करके कहते) आप ही बताइये हम लोग क्या किसी से बुरे हैं? दिल में, दिमाग़ में, तन्दुरुस्ती में किससे खराब हैं हम लोग? नहीं तो ये आज कल के लड़के हैं, सूरत न शकल कुत्ते की नकल, एक झाँपड़ कसकर रसाद कर दो तो मुहँ से खून फेंक दें। साहब, तन्दुरुस्ती हजार नियामत है, लेकिन आजकल खराब तन्दुरुस्ती तो फैशन में शुमार है साहब, फैशन में। आज वह कलजुग लगा है साहब कि अच्छा गठीला बदन गँवारपन समझा जाता है, किसी के जरा भरे हुए कल्ले देखे कि लगे फबतियाँ कसने, यह नहीं कि कुछ नसीहत लें उससे। दूर क्यों जाइए, मेरे ही लड़के को देखिये न, सुमेर को। कोई उसको देखकर कह सकता है कि मेरा लड़का है?...लेकिन है साहब।...और मैं कहता हूँ साहब कि तन्दुरुस्ती बिगड़े न तो हो क्या आपने किताबों के वह पहाड़ देखे हैं जो आज कल लड़कों को अपने सर पर लेकर घूमने पड़ते हैं...मुझे तो उसे देखकर गश आता है।

सुमेर के कानूनगो बाप चाहते थे कि सुमेर भी कानूनगो का इम्तहान पास करे। कानूनगो साहब मिलने जुलने वाले आदमी थे और उन्हें अपनी ही वजह से इस बात का भरोसा था कि ज़रूर कहीं न कहीं सुमेर का सिलसिला जम जाता। लेकिन बकौल उनके जिसके भाग में दर दर की ठोकरें खाना लिखा होता है उसे भगवान भी नहीं बचा सकते।

वही ठोकरें अब सुमेर खा रहा था। शादी काफी जल्दी यानी जब वह मैट्रिक में था तभी हो गयी थी। अब वह एम० ए० में था। अगर वह कमासुत होता तो अब तक अपना और अपने बाल बच्चों का ही नहीं, घर भर का पेट पालता, लेकिन उसे किताबों से झख मारने से फ़ुरसत हो तब तो।...लेकिन खैर भाई, यह तो

समाजवादी क्रान्ति की रूपरेखा

आचार्य नरेन्द्र देव

हमको यह समझ लेना चाहिये कि अब समय आ गया है कि हम प्रचार के स्तर से ऊपर उठें। इसमें संदेह नहीं कि कांग्रेस में मजदूर और विद्यार्थियों में काम करने का महत्त्व हमारे कारण हुआ है। यह भी निर्विवाद है कि किसानों में आर्थिक आधार पर काम करने की प्रवृत्ति कांग्रेस में हमारे कारण हुई है। यदि हम कहें कि हमारी पार्टी की नीति और कार्यक्रम का यह फल है कि अगस्त सन् ४२ में कांग्रेस ने किसान-मजदूर राज्य की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया तो अत्युक्ति न होगी। किन्तु इन सब क्षेत्रों में हमारा काम प्रचारात्मक रहा है। पर अब इस प्रकार के कार्य का उतना महत्त्व नहीं रह गया है। अगस्त-क्रान्ति के फलस्वरूप राष्ट्रीय और क्रान्तिकारी भावना देश के विविध वर्गों में व्याप्त हो गई है। भारत की स्वतंत्रता का लक्ष्य सबने स्वीकार कर लिया है। आन्दोलन का विस्तार तो हो गया है, किन्तु अब उसमें गंभीरता लाने की आवश्यकता है। यह कार्य व्याख्यानों द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिये क्रान्तिकारी ढंग का रचनात्मक कार्य करने की आवश्यकता है। जिस प्रकार हमारे लिये यह जानना जरूरी है कि बिना संघर्ष के भारत को पूर्ण स्वतंत्रता नहीं मिल सकती, उसी प्रकार यह समझना भी जरूरी है कि पुराने ढंग की तैयारी हमको स्वतंत्रता नहीं दिला सकती। गत अगस्त-क्रान्ति का इतिहास मनन करने से हमको अपनी दुर्बलता और त्रुटियाँ मालूम हो जायँगी। हमको मालूम हो जायगा कि सफलता के लिये तैयारी और संगठन की आवश्यकता है तथा क्रान्ति स्वतः सफल नहीं हुआ करती। यह ठीक है कि बहुजन समाज का क्रान्ति में सम्मिलित होना क्रान्ति को बल देता है तथा इसी प्रकार क्रान्ति लोकतंत्र के मार्ग से विचलित नहीं होती। किन्तु यह भी निर्विवाद है कि क्रान्ति का संगठन सुदृढ़ होने से ही तथा क्रान्ति के संचालकों की दृष्टि स्पष्ट तथा रचनात्मक होने से ही क्रान्ति सफल होती है तथा उसकी आधारशिला मजबूत होती है। आज की अवस्था में इस तैयारी में प्रचार का बहुत निम्न स्थान है। आवश्यकता है, क्रान्तिकारी मनोवृत्ति से रचनात्मक और संगठनात्मक काम करने की। अतः प्रत्येक क्षेत्र में काम के ढंग को बदलना आवश्यक है। बड़ी बड़ी सभाएँ करना तथा राष्ट्रीय पर्व मनाना ही अबतक हमारा काम रहा है। संस्थाओं के पदों के लिए होड़ भी होता रहा है। किन्तु अब आवश्यकता इस बात की है कि हम जगह जगह गाँवों के समूहों को क्रान्ति का केन्द्र बनावें जहाँ के लोग इस प्रकार संगठित हों कि विदेशी शक्ति को हटाकर अपनी शक्ति को जमा सकें और ग्राम की संस्थाओं द्वारा राज काज चला सकें। मिदनापुर और सतारा के उदाहरण हमारे सामने हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम कुछ क्षेत्रों को चुनकर उनमें इस प्रकार काम करें, जिसमें वहाँ के रहनेवाले नवीन शिक्षा ग्रहण कर लोकतंत्रात्मक ढंग से अपने संगठन को चलावें तथा जीवन के कई विभागों में यथासंभव आत्मनिर्भर हों! इन क्षेत्रों में प्रौढ़शिक्षा और सहयोग (Co-operation) को उत्तेजन दिया जाय; ग्राम पंचायत द्वारा सब झगड़े तय किये जायँ; किसान युवकों के स्वयंसेवक दल का संगठन कर आत्मरक्षा का विधान किया जाय; जमींदार, महाजन तथा पुलिस के अत्याचारों का विरोध करने की क्षमता पैदा की जाय; जनता की राजनीतिक चेतना की सतह को ऊँचा किया जाय तथा अन्य सब आनुषंगिक कार्य किये जायँ जिनसे हमारे उद्देश्य की पूर्ति हो। यदि केन्द्र में क्रान्ति की भावना न हो, तो यह सब कार्य निर्जीव हो जायँगे। इसी प्रकार मजदूरों में शुद्ध मजदूर आंदोलन की सतह से ऊपर उठकर हमें मजदूरों को समय आने पर आम हड़ताल के लिये तैयार करना चाहिये। यह ठीक है कि इसका भी आधार एक सुदृढ़ मजदूर आंदोलन ही होगा, किन्तु हमारा कार्य केवल इस आधार को विस्तृत तथा गम्भीर करने तक

सीमित न होगा। यह तो सुधारवादियों का काम है। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम इस कार्य को हेय समझते हैं। हम इसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। यह भी ठीक है कि क्रान्ति नित्य नहीं हुआ करती है तथा सुधारवादी समझा जानेवाला काम ही क्रान्ति का आधार बनता है। किन्तु अब हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं, जब पुरानी रूढ़ियाँ टूट रही हैं, जब वर्तमान समाज के आधार में ही आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है, जब राजनीतिक तथा सामाजिक क्रान्ति के बिना मानवसमाज का कल्याण नहीं हो सकता है, तब सुधारवाद को अपना एकमात्र उद्देश्य बनाना हमारी भूल होगी। आज सुधार के कार्य क्रान्ति के सहायक होकर ही समाज के उपकारक हो सकते हैं। इसी प्रकार विद्यार्थियों को कार्यकुशल बनाना, उनमें विविध क्षेत्रों में लोकनायक होने की क्षमता उत्पन्न करना तथा वर्तमान समस्याओं को समझने और समाधान करने की योग्यता उत्पन्न करना हमारा प्रधान कार्य होना चाहिये। इसी प्रकार यदि कांग्रेस को क्रान्ति का उपकरण बनना है तो उसको भी अपनी परिपाटी बदलनी होगी। वास्तविकता यह है कि उसके काम का ढंग पुराना पड़ गया है और उससे नये युग की आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं होतीं। सच तो यह है कि इन सब वर्गसंस्थाओं पर कांग्रेस का साया पड़ा है और जबतक कांग्रेस नहीं बदलती, इनके बदलने में भी कठिनाई है। किन्तु वे लोग जो संग्राम की अनिवार्यता के कायल हैं, उनका उत्तरदायित्व इस दिशा में औरों से कहीं अधिक है! उनको नया मार्ग दिखाना चाहिये और जो लोग आज उनके कार्यक्रम को सन्देह और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं, उनके सामने कार्य से, न कि केवल बातों से अपने कार्यक्रम की उत्कृष्टता प्रमाणित करनी चाहिये। अतः समाजवादियों का कर्तव्य है कि वह नए कदम को उठावें। जबतक हम अपने दिल और दिमाग को न बदलेंगे, तबतक कार्यसिद्ध नहीं होगी। सफलता की यही कुंजी है। इसके बिना जो भी कार्य किया जायगा, वह क्रान्ति को निकट लाने में सहायक न होगा।

एक और कारण है जिससे इस नए ढंग का अख्तियार करना जरूरी है। आज हम देखते हैं कि देश में नई नई अनेक पार्टियाँ बन रही हैं। आज के युग में जब समाज के मौलिक आधार के विषय तीव्र मतभेद है और सर्वसाधारण का यह विश्वा[illegible] रहा है कि आजादी बहुत निकट आ गई है, पा[illegible] की संख्या में वृद्धि होना स्वाभाविक है। यह युग [illegible]दाय का है, न कि व्यक्ति का। जब आर्थिक क्षे[illegible] समूह की प्रधानता हो रही है तथा सामुदायिक नीति का महत्व रोज बढ़ता जाता है; तब यह समाज के सब अंगों में व्याप्त होता जाता है। [illegible] आज समूह से अतिरिक्त अपना पृथक् महत्त्व [illegible] रखता। समूह के उद्देश्य को चरितार्थ करके ही कृतकृत्य होता है। वह मशीन के एक पुर्जे के [illegible] हो रहा है। पुनः राज्यशक्ति सन्निकट है, इस वि[illegible] के कारण विविध समुदायों का उदय होता है जो [illegible] अपने लिये उस शक्ति को प्राप्त करना चाहते [illegible] इनमें से बहुतेरे युग-धर्म का प्रतिनिधि बनने का [illegible] करते हैं और उनकी वाणी भी युग के अनुकूल है। यह युग समाजवाद का युग है, अतः इन[illegible] बहुतों को अपने को समाजवाद का समर्थक [illegible] पड़ता है। अब इनमें यदि विवेक करना है तो [illegible] मात्र से विवेक न होगा। इनकी समस्त चेष्टा, [illegible] कार्यकलाप देखकर ही इनमें विवेक किया जा [illegible] है। वाणी का अनुसरण करनेवाला कार्य ही विशे[illegible] सकता है। अन्यथा जनता में संस्थाओं की बहुलत[illegible] कारण बुद्धि विभ्रम होने का डर है।

अगस्त-क्रान्ति के बाद से कहीं कहीं यह भी [illegible] सुन पड़ती है कि विचार धारा की सर्वथा उपेक्षा [illegible] हमको उन सब शक्तियों को एकत्र करना चाहिये [illegible] साम्राज्यवाद का ध्वंस करना चाहती हैं। आज समाजवाद सर्वत्र सफल या अग्रसर हो रहा है [illegible] उसकी सर्वथा उपेक्षा कर केवल राजनीतिक क्रान्ति [illegible] बात सोचना युग के साथ विश्वासघात करना है। [illegible] यह कहना कि यह मन्जिल मध्यमवर्गीय क्रान्ति [illegible] बड़ी भारी भूल होगी! आज एक ही क्रान्ति द्वारा छलांग मार कर किसान-मजदूरों का राज कायम [illegible] सकते हैं और ऐसा तभी हो सकता है जब हमारे सा[illegible] राजनीतिक क्रान्ति के साथ साथ सामाजिक क्रान्ति भी ध्येय हो। अधिक से अधिक क्या संभव है [illegible] किन साधनों द्वारा सम्भव है, इसका ज्ञान होना [illegible]

आवश्यक है। अन्यथा विदेशी सत्ता के हटने पर वह विविध शक्तियाँ परस्पर ही लड़ जायँगी, जिन्होंने मिलकर यह कार्य सिद्ध किया है। भविष्य के संबन्ध में इनमें कुछ समझौता होना आवश्यक है। यह भी हो सकता है कि दृष्टि के स्पष्ट न होने के कारण हम संभाव्य से कम पर ही सन्तोष कर लें।

किन्तु इस कथन से यह न समझना चाहिये कि हम सिद्धान्तों की बहस में पड़कर शक्ति को खर्व करना चाहते हैं और एक जीवित आन्दोलन को साम्प्रदायिक संकीर्णता से पंगु बना देना चाहते हैं। हम उन लोगों में भी नहीं हैं जो अपने को एक मात्र क्रान्ति का ठेकेदार समझते हैं। हमारे मत में सच्चा मार्क्सवाद कोई अटल सिद्धान्त (Dogma) नहीं है। जीवन की गति के साथ साथ यह भी बदलता है। इसकी विशेषता इसका क्रान्तिकारी होना है। मार्क्स की शिक्षा में समय के अनुसार हेर फेर करना तब तक Revisionism नहीं है जब तक आप इस परिवर्तन से उसके क्रान्तिकारी तत्वों को सुरक्षित रखते हैं। Bernstein और Kautsky Revisionist इसलिये थे कि उन्होंने मार्क्सवाद के हीर को ही, उसके तत्त्व-विशेष को ही निकाल कर फेंक दिया था। क्या लेनिन ने मार्क्सवाद की मूल शिक्षा में परिवर्तन नहीं किया? क्या आज जो कुछ कम्यूनिस्ट पार्टियाँ कर रही हैं, वह मार्क्सवाद को बहुत कुछ अंश में बदलना नहीं है? आज उनका सबसे ज़ोर केवल लोकतंत्र पर है। आज क्या वह अन्य दलों के साथ, चाहे वह समाजवादी से अन्य भी क्यों न हों, सम्मिलित गवर्नमेन्ट नहीं बना रही है? यदि हैं, तो कम्यूनिस्टों की इनमें से कुछ बातों को हम समय की आवश्यकता समझते हैं। किन्तु कम्यूनिस्टों का हमारे प्राचीन भाष्यकारों की तरह प्रायः ढंग यह है कि वह सूत्रों को ठीक मानते हुये उनका अर्थ ही बदल देते हैं। विवाद के समय वह मार्क्स के सब सिद्धान्तों को यथार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे; किन्तु उनका आचरण इनमें से कुछ के कभी कभी विरुद्ध भी होगा और तब भी वह यह स्वीकार नहीं करेंगे कि वह किसी पुराने सिद्धान्त को तोड़ रहे हैं। धार्मिकों की प्रवृत्ति ठीक इसी तरह की होती है। मूल को गलत कहने से उनके धर्म के शाश्वतत्व को हानि पहुँचती है। किन्तु काल मूल में परिवर्तन चाहता है और इसलिये इनको मूल को बिना बदले उसका नया अर्थ करना पड़ता है। जीवन में गति और क्रिया होती है। अतः मार्क्सवाद भी गतिशील और क्रियाशील है और इसीलिये उसमें लोच है। किन्तु जब वह स्थिर वस्तु हो जाता है, तब उसका क्रान्तिकारी तत्व नष्ट हो जाता है और वह एक प्रकार का राजनीतिक व्याकरण हो जाता है जिसके कठोर नियमों में किसी प्रकार का हेर फेर नहीं हो सकता। मार्क्सवाद को एक जिन्दा शास्त्र मानने में ही उसका गौरव है। एक तो यों ही पुराने विचार निरर्थक हो जाने के पीछे भी बहुत दिनों तक जीवित रहते हैं और जीवन को प्रभावित करते रहते हैं और इसी कारण आर्थिक पद्धति के बहुत कुछ बदल जाने पर भी पुरानी विचारशैली के बदलने में बहुत समय लगता है। और जब हम किन्हीं सिद्धान्तों को अटल मान लेंगे तब तो हमारा कार्य और भी कठिन हो जायगा।

मार्क्सवाद और उसके तरीकों के संबंध में यह कहना एक गलतफहमी है कि वह लोकतंत्रात्मक नहीं है। यह एक मिथ्या धारणा है। सोवियट रूस की शासनप्रणाली के लोकतंत्रात्मक न होने के कारण यह धारणा पुष्ट हो गई है। पुनः राजनीतिक लोकतंत्र के अपूर्ण होने के कारण तथा पूंजीवाद के युग में उसकी प्रतिष्ठा होने के कारण हम उसको 'Capitalist democracy' कहकर उसका बार बार उपहास करते रहे हैं। इन्हीं कारणों से लोकतंत्र एक मखौल की वस्तु बन गया था। १९वीं शती का लोकतंत्र अपूर्ण अवश्य था और अपूर्ण होते हुये भी वह पूर्णता का दावा करता था। इस कारण उसकी कमजोरियों का दिखाना और भी आवश्यक था। २०वीं शती में लोकतंत्र की व्याख्या और विस्तृत होती गई है और नागरिक स्वतंत्रता तथा राजनीतिक लोकतंत्र के साथ साथ आर्थिक जनतंत्र भी इसका आवश्यक अंग माना गया है, किन्तु 'Capitalist democracy' का मखौल उड़ाने से तथा सोवियट रूस में राजनीतिक लोकतंत्र के अभाव से लोकतंत्र के इस अंग को क्षति पहुँची है। इसका बुरा परिणाम यह हुआ है कि बहुत से ऐसे लोग जो पहले कम्यूनिस्ट थे, इस कमी के कारण आर्थिक लोकतंत्र की भी उपेक्षा करने को तैयार हैं। उनके मत में प्रधान वस्तु व्यक्ति की स्वतंत्रता है।

इस प्रकार लोकतंत्र का क्षेत्र दोनों ओर से संकुचित हो गया है। हमको एक पूर्ण वस्तु चाहिये। दोनों प्रकार के लोकतंत्र से ही व्यक्तित्व की कृतकृत्यता हो सकती है किन्तु पार्थक्य के कारण समाज में Totalitarianism की वृद्धि हुई है और मार्क्सवाद को क्षति पहुँची है। फैसिज्म के जन्म में भी Capitalist democracy का विरोध और उसका उपहास सहायक रहा है। उसको अपूर्ण बताना आवश्यक था; किन्तु पूंजीवाद के साथ साथ उस अधूरी चीज़ का मज़ाक उड़ाना ठीक न था। इस बात में कम्यूनिज्म और फैसिज्म की समानता होने के कारण कुछ लोगों ने दोनों को एक ही कोटि में रखा है। इङ्गलैंड के एक अर्थशास्त्री तो इस कारण समाजवाद को ही गुलामी की ओर ले जानेवाला समझते हैं। उनके मत में आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता रहने से ही अन्य प्रकार की स्वतंत्रता सुरक्षित रह सकती है। वह लोकतंत्र की दुहाई देकर पूँजीवाद को ही जिन्दा रखना चाहते हैं। पुनः कई फासिस्ट राज्यों के कायम हो जाने से नागरिक स्वतंत्रता तथा राजनीतिक लोकतंत्र का प्रश्न एक महत्व का प्रश्न हो गया। इस प्रश्न ने अन्य प्रश्नों को थोड़े समय के लिये अभिभूत कर लिया। तब कम्यूनिस्टों की भी आँखें खुलीं और उन्होंने फासिज्म का सफल विरोध करने के लिये राजनीतिक लोकतंत्र की रक्षा के नाम पर जगह जगह संयुक्त मोर्चा बनाया। यही कारण है कि युद्धकाल में योरप के कम्यूनिस्टों के प्रोग्राम राजनीतिक लोकतंत्र तथा नागरिक स्वतंत्रता पर ही ज़ोर देते थे और उसमें समाजवाद को स्थान न था तथा आज भी उनका सबसे अधिक ज़ोर लोकतंत्र पर ही है। किन्तु खेद की बात है कि सोवियट रूस ने इस ओर कार्य नहीं हुआ है। यदि वहाँ राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना हो जाती तो स्थिति में महान् परिवर्तन हो जाता। फासिस्ट शक्तियों का विनाश इसी नारे के आधार पर हुआ है। यदि बहुजन इसी आधार पर फासिज्म का विरोध करने के लिये संगठित हो सका तो इस आधार की रक्षा करना हमारा कर्तव्य हो जाता है।

पुनः मार्क्स ने लोकतंत्र का तथा प्रत्येक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का कई जगह उल्लेख किया है और यह भी बताया है कि समाजवाद की स्थापना से ही यह उद्देश्य पूरा हो सकता है। आज मार्क्स की इ[...] शिक्षा पर विशेष ज़ोर देने की ज़रूरत है। अतः सह[...] रूप से यह प्रश्न हमारी विचार कोटि में आ जाता है। यह कार्य कैसे पूरा हो सकता है। इस संबन्ध में विच[...] धारा के नाम का प्रश्न आ जाता है। नाम का भी अप[...] महत्त्व है। मार्क्स और एंगल्स ने जब 'कम्यूनि[...] मैनिफेस्टो' लिखा था तब पुस्तक के नाम का प्रश्न उन[...] सामने था। मैनिफेस्टो की भूमिका में इस प्रश्न [...] विवेचन किया गया है और क्योंकि उस समय काल्पनि[...] समाजवाद (Utopian socialism) का बड़ा प्रभा[...] था, इसलिये 'सोशलिस्ट' नाम रखना उचित न समझ[...] गया। इसी कारण संस्था का नाम भी कम्यूनिस्ट ली[...] रखा गया। किन्तु सन् १८६५ के लगभग हम देख[...] हैं कि कम्यूनिस्ट नाम का परित्याग किया जाता है। सन् १८६३ में लसाल (Lasalle) ने जर्मनी में ए[...] सोशलिस्ट लेबर पार्टी स्थापित की थी और सन् १८६[...] में बाबेल (Babel) और लिब्कनेख्त (Liebknech[...] ने एक दूसरी पार्टी की स्थापना की थी, जिसका ना[...] 'सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी' रखा गया था। सन् १८[...] में दोनों एक में मिला दी गईं। इन पार्टियों [...] प्रतिष्ठापक मार्क्सवादी थे और इस समय से मार्क्सि[...] पार्टियों का नाम सर्वत्र यही रखा जाने लगा। नाम यह परिवर्तन क्यों हुआ, यह विचारणीय है। काल्पनिक समाजवाद का महत्त्व नष्ट हो चुका थ[...] इसलिये सोशलिस्ट नाम का प्रयोग करने में अब को[...] खतरा नहीं था। उस समय समाज में डेमाक्रे[...] राजनीतिक क्षेत्र में सबसे उग्र समझे जाते थे और [...] लोकप्रिय भी थे। अतः समाजवादियों को बताना था[...] उनकी भी राजनीति उग्र है। इसलिये उन्होंने इस ना[...] को अपनाया; किन्तु अपनी विशेषता को भी नाम [...] व्यक्त करना था, इस कारण सोशल डेमोक्रैट नाम रख[...] गया। अर्थात् वह डेमोक्रैट जो सामाजिक प्रश्नों [...] दिलचस्पी लेते हैं, जिनके उद्देश्य में राजनीति औ[...] समाजनीति दोनों का समावेश है। रूस की पार्टी [...] भी यही नाम था। किन्तु जब प्रथम महायुद्ध में रू[...] को छोड़ कर अन्य देशों की पार्टियों ने बासेले कानफ्रें[...] (१९१२) के निश्चय के विरुद्ध अपने अपने देश [...] पूँजीपतियों का युद्ध में साथ दिया, तब लेनिन

कम्यूनिस्ट नाम को फिर से जिंदा किया। लेनिन के उद्योग से कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल की स्थापना हुई और रूस की पार्टी कम्यूनिस्ट पार्टी कहलाने लगी।

इस इतिहास से हमको यह मालूम होता है कि कम्यूनिज्म शब्द का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। नाम रखते समय हमको यह विचार करना है कि जो नाम हम स्वीकार करें, वह समय की माँग को ध्यान में रखे और वह ऐसा न हो जिससे किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो। यदि कोई नाम बदनाम हो चुका है तो उसका परित्याग करना ही उचित है। जिस समय हमारी पार्टी का जन्म हुआ था, उस समय भारत के कम्यूनिस्ट कांग्रेस के विरोधी थे और इसीलिये सन् १९३० के सत्याग्रह आन्दोलन में उन्होंने मजदूरों को उसमें शरीक होने से रोका था। अतः हमें अपने को उनसे पृथक् करना आवश्यक था। हम इसके भी विरुद्ध थे कि हमारी पार्टी किसी बाहरी संस्था के अधीन हो। हम किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में शरीक होने के विरुद्ध कभी भी न थे, और आज भी नहीं हैं; किन्तु हम इसके लिये तैयार नहीं कि कोई बाहरी संस्था हमारा नियंत्रण करे, विशेष कर जब उस संस्था में एक ही देश का प्राधान्य हो।

इसलिये हमारी पार्टी का नाम 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी" रखा गया। सोशल डेमोक्रैट बदनाम हो चुके थे, इसलिये इस नाम को हम अपना नहीं सकते थे। पुनः 'डेमोक्रैट' शब्द के प्रयोग की अब कोई आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि डेमोक्रैट शब्द अब उग्र राजनीति का सूचक नहीं रह गया था। हमारे देश में इसका कोई सम्बन्ध भी न था। हमारे विरोधियों ने हमको Social fascist आदि नामों से पुकारा, किन्तु वही सन् ४२ की परीक्षा में खरे नहीं उतरे। उनकी नीति Revisionism कहलायगी; क्योंकि उन्होंने, जहाँ तक हमारे देश का सम्बन्ध है, लेनिन के साम्राज्यवाद विरोधी युद्ध के नारे को जन-युद्ध के नारे में परिवर्तित कर दिया और इस प्रकार मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी तत्त्व का परित्याग किया। ४२ के आचरण के कारण कम्यूनिस्ट नाम हमारे यहां और भी बदनाम हो गया है।

आज हमारे लिये नाम का सवाल फिर उठ गया है। कहा जाता है कि 'कांग्रेस' शब्द निकाल देना चाहिये; क्योंकि इसके जोड़ने से हम लोगों में एक प्रकार से यह भ्रम फैलता है कि 'कांग्रेस' ने हमको स्वीकार कर लिया है। मैं नहीं समझता कि ऐसा भ्रम किसी को हुआ है; किन्तु यदि ऐसी आपत्ति की जाती है तो मुझको ऐसा करने में कोई एतराज नहीं है।

इससे भी अधिक महत्व का प्रश्न यह है कि आज अपने उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिये समाजवाद में कोई विशेषण लगाना चाहिये या नहीं। मैं समझता हूँ कि ऊपर हम जिस प्रश्न का विवेचन कर चुके हैं, उससे 'प्रजातांत्रिक समाजवाद' इस शब्द के प्रयोग की आवश्यकता स्पष्ट हो चुकी होगी। 'Social democracy' न कह कर 'Democratic socialism' कहना चाहिये। इससे मार्क्स का अभिप्राय ठीक ठीक व्यक्त होता है तथा Democracy को छोड़ कर सच्चे समाजवाद की स्थापना नहीं हो सकती है, यह बात भी जाहिर हो जाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि आवश्यकता पड़ने पर मजदूर जमात का अधिनायकत्व थोड़े समय के लिए न स्थापित किया जाय। इसकी सदा आवश्यकता होगी, ऐसी कोई बात नहीं है। जिस समय मार्क्स ने इसकी चर्चा की थी, उस समय स्थिति सर्वथा भिन्न थी। आज भी सर्वत्र एक ही स्थिति नहीं है। यदि प्रजातांत्रिक क्रान्ति किसान मजदूर के नेतृत्व में हुई तो बहुत संभव है कि अधिनायकत्व की स्थापना का प्रश्न न उठे।

रूस में मजदूर वर्ग का अधिनायकत्व न होकर कम्यूनिस्ट पार्टी का अधिनायकत्व है तथा वह धीरे धीरे स्थायी होता जाता है। यदि रूस में वर्ग-विहीन समाज की स्थापना हो चुकी है जैसा कि कहा जाता है तब अधिनायकत्व की क्या आवश्यकता रह गयी है? अनुभव बताता है कि प्रभुता के मद से उन्मत्त व्यक्ति और संस्थाएँ अपने अधिकार को स्थिर बनाने का प्रयत्न करती हैं। इसलिये यदि इसकी आवश्यकता आ पड़े तो इस अधिकार को जितने कम समय के लिये बर्ता जाय, उतना ही अच्छा है और अधिकार का प्रयोग करनेवालों की संख्या जितनी बड़ी हो सके, उतना अच्छा है।

श्रेणीसजग किसान और मज़दूरों के नेतृत्व में की गई जनतांत्रिक क्रान्ति को इसकी कदाचित् आवश्यकता न होगी। मैं नहीं समझ पाता कि इस सवाल को लेकर इतना वादविवाद क्यों है? मार्क्स ने स्वयं यह नहीं कहा है कि इस मंजिल से गुजरना सर्वत्र अनिवार्य है। आज तो इसकी अनिवार्यता और भी कम होती जाती है। योरप के कई देशों में एक दल की गवर्नमेंट नहीं बन पाई है। वहाँ समाजवाद और कम्यूनिज्म का झगड़ा सर्वत्र चल रहा है। दोनों का एक संगठन में मिल जाना कठिन है। यदि यह दो दल एक कार्यक्रम पर एक मत हो जाय तो कई देशों में जनतान्त्रिक ढंग से धीरे धीरे समाजवाद की स्थापना हो सकती है। दुःख इसी का है कि वामपक्ष में कहीं भी एका नहीं हो पाती। कहना ही पड़ता है कि कम्यूनिस्टों की नीति इसके लिये जिम्मेदार है।

अतः हम जनतांत्रिक समाजवाद के पक्षपाती हैं। उत्पत्ति के साधनों को समाज के अधीन करने से अधिकारीवर्ग (Bureucracy) का प्रभुत्व बहुत बढ़ जाता है। इसकी रोकथाम करनी होगी। इसके लिये ऐसे नियम काम में लाने होंगे जिनसे जनता का उनपर नियंत्रण रहे। उद्योगव्यवसाय के प्रबन्ध में राज्य के अतिरिक्त मजदूरों का काफी हाथ होना चाहिये। स्वायत्त शासन की संस्थाओं द्वारा भी कुछ व्यवसायों का संचालन हो सकता है। समाज से रंग, जाति और वर्ण का भेद मिटा देना चाहिये; प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति का पूरा अवसर मिलना चाहिये। समाजवादी राष्ट्र को साम्राज्यवाद का विरोधी होना चाहिये, आर्थिक तथा राजनीतिक समानता की प्रतिष्ठा हो[illegible] चाहिये।

किन्तु जबतक हम जनतांत्रिक समाजवाद की स्[illegible]पना नहीं कर पाते तबतक हमारी क्या नीति हो[illegible] पार्टी ने विधानपरिषद में जाने का विरोध किया इसीलिये कि वह सर्वाधिकार प्राप्त संस्था नहीं है। [illegible] परिषद् का भविष्य अनिश्चितसा है। यदि इसने [illegible] विधान प्रस्तुत किया और वह प्रयोग में आया [illegible] अपनी नीति को और स्पष्ट रूप से निश्चित करने [illegible] समय हमारे लिये आयगा। किन्तु यह निर्विवाद है उस समय से ही समाजवादी क्रान्ति का युग शुरू हो[illegible] जिसे पूँजीवादी जनतान्त्रिक क्रान्ति का बचा हुआ [illegible] भी पूरा करना होगा। उस समय दलों का नए आध[illegible] पर पुनर्निर्माण होगा। आज की अवस्था में क्रांतिक[illegible] मनोवृत्ति को जिन्दा रखना, मजदूरों का सुदृढ़ संग[illegible] बनाना, किसान मजदूरों का जहाँ संभव हो, सं[illegible] मोरचा बनाना तथा किसान मजदूरों के जमींद[illegible] पूँजीपतियों से जो संघर्ष हों, उनका नेतृत्व कर[illegible] हमारा काम है। इन सब कार्यों को सुसंबद्ध करने [illegible]लिये पार्टी को एक उपयुक्त साधन बनाना अ[illegible] आवश्यक है। पार्टी के सदस्यों की शिक्षा-दीक्षा [illegible] उचित व्यवस्था करना, उनको विभिन्न कार्यों में नियु[illegible] करना तथा संगठन को सुदृढ़ करना हमारा कर्तव्य है[illegible]

---

* बिहार सोशलिस्ट पार्टी कांफरेन्स (झरिया, १६ फरवरी [illegible]) के सभापति पद से दिया गया भाषण

वैज्ञानिक पद्धति की प्रगति

(१)

प्रो० ललितकिशोर सिंह, एम० एस-सी०

मनुष्य के स्वभाव में जिज्ञासा और शक्ति के उत्कर्ष की कामना जन्म से ही प्रकट होती है। एक से मनुष्य की ज्ञान में प्रवृत्ति होती है और दूसरी से कर्म में। विज्ञान का विकास इन दोनों ही दिशाओं में हुआ है, और हो रहा है। विज्ञान का एक क्षेत्र तो वह है जहाँ प्रकृति का रहस्य समझने के लिये अनेक कल्पनाओं और सिद्धान्तों की सृष्टि होती है, और दूसरा क्षेत्र वह है जहाँ प्रकृति की अभिव्यक्तियों का व्यक्ति, जाति और समाज के उत्कर्ष के लिये उपयोग किया जाता है। किन्तु वैज्ञानिक जगत् में कर्मकाण्ड की अपेक्षा ज्ञानकाण्ड सदा प्रधान माना गया है; क्योंकि कर्मकाण्ड का आधार भी ज्ञानकाण्ड ही है।

अस्तु, प्रकृति के बाह्यरूप के भीतर प्रवेश करके इसकी नाना अभिव्यक्तियों के मूल में निहित व्यापक तत्व का अनुसंधान विज्ञान का मुख्य उद्देश्य है। मनुष्य का समष्टिरूप से यह दृढ़ विश्वास सा जान पड़ता है कि प्रकृति जैसी जटिल, असम्बद्ध और नाना रूपात्मक प्रतीत होती है, सचमुच वैसी नहीं है। यदि इसके बाह्य आवरण के भीतर दृष्टि पहुँच सके तो इसकी रहस्य-ग्रन्थि सुलझाई जा सकती है, इसका सम्बद्ध रूप खड़ा किया जा सकता है, अनेकत्व के मूल में एकत्व की स्थापना की जा सकती है।

किन्तु प्रकृति के बाह्य आवरण के भीतर प्रवेश करने की कोई प्रक्रिया होनी चाहिए; प्रकृति के निरीक्षण का एक विशेष दृष्टिकोण होना चाहिए। अर्थात् तत्व-बोध का कोई साधन या पद्धति सापेक्ष है।

प्राचीन काल में यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने एक पद्धति का निरूपण किया था। वे सामान्य से विशेष की निष्कृति मानते थे। उनकी धारणा थी कि ज्ञान का आधार जन्म-जन्मान्तर के अनुभव का संस्कार है। ज्ञान की परम्परा पर उनका विश्वास था। ज्ञानियों के भिन्न भिन्न मतों का [illegible] द्वारा चिंतन कर सामान्य सिद्धान्त निकाला जा सकता है, जिसकी पुष्टि घटना विशेष द्वारा हो सकती है। प्लेटो के मतानुसार आप्त वाक्य और अन्तश्चेतना के संयोग से ही तत्व-बोध सम्भव है।

प्लेटो के शिष्य ऍरिस्टॉट्ल ने इस पद्धति को ग्राह्य नहीं समझा। उनका विचार था कि ज्ञान का मूल चिन्तन नहीं, बहिर्जगत् का इन्द्रियस्पर्श या निरीक्षण है। इसलिये भिन्नभिन्न घटनाओं और अभिव्यक्तियों का निरीक्षण, उनका वर्गीकरण, फिर उनके कारण का अनुसंधान—इसी प्रक्रिया से ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। इस प्रक्रिया से प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही व्यापक सिद्धान्त की स्थापना हो सकती है। ऍरिस्टॉट्ल ने तत्त्व-बोध का अपनी पद्धति को इस प्रकार व्यक्त किया है—"पहले हम भिन्न भिन्न तथ्यों और घटनाओं को समझ लें, फिर उनके कारण का अनुसंधान करें।" "इन्द्रिय-विषय-संस्पर्श से स्मृति उत्पन्न होती है और स्मृति की बारबार आवृत्ति से अनुभव होता है; क्योंकि एक अनुभव में अनेक स्मृतियों का समावेश है।" "इन्द्रियानुभूति के बिना ज्ञान असम्भव है। इन्द्रियों के द्वारा ही हमें तथ्यों का ज्ञान होता है और तब हम व्यापक नियम पर पहुँचते हैं। यह अनुभव द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।"

अर्थात् ऍरिस्टॉट्ल विशेष से सामान्य की निष्कृति का प्रतिपादक था। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि इस पद्धति में ही आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति का बीज निहित था।

ऍरिस्टॉट्ल ने इस पद्धति का उपयोग अनेक विषयों में किया। सिकन्दर महान की आर्थिक सहायता और सहानुभूति से उन्होंने ग्रीस और एशिया के बहुत से देशों में कार्यकर्त्ताओं को भेजकर भिन्नभिन्न जाति के पौधों और जन्तुओं को इकट्ठा किया, जिनका अध्ययन कर उन्होंने 'प्राकृतिक इतिहास' लिखा। उन्होंने अपनी

पद्धति का उपयोग काव्य, नीतिधर्म, राजनीति आदि अनेक विषयों में किया; किन्तु भौतिक विज्ञान जैसे विज्ञान के मुख्य विभाग में वे अपने निर्दिष्ट मार्ग पर स्थिर न रह सके। इससे तत्त्व-बोध की वैज्ञानिक पद्धति अँकुरित होकर भी प्रस्फुटित न हो सकी और विज्ञान की प्रगति दो हज़ार वर्षों तक रुकी रही।

वैज्ञानिक पद्धति का तत्त्व समझने के लिए हिन्दू-पद्धति पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। इसमें संदेह नहीं कि बहुतेरे हिन्दू दार्शनिक प्लेटो के मत से मिलते जुलते ही किसी न किसी मत के अनुयायी थे। उन्होंने भी आप्त-वाक्य को पूरी प्रधानता दे रखी थी। श्रवण, मनन और निदिध्यासन को ही वे ज्ञान का साधन मानते थे। पर इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे दार्शनिक भी थे जो सिद्धान्त को अनुभव की कसौटी पर कसे बिना मान्य नहीं समझते थे। वे सम्वादि-ज्ञान को ही सत्य मानते थे; असम्वादि-ज्ञान का उनके लिए कोई मूल्य न था। बौद्ध दार्शनिक अनुभव सिद्ध सत्य को ही सत्य मानते थे। श्रीहर्ष ने 'प्रमा' और 'लोक-व्यवहार' का सम्बन्ध दिखाकर इस मत की पुष्टि की है। इसीलिये हिन्दू पद्धति में 'दर्शन' (निरीक्षण) को प्रधानता दी गई और अनेक शास्त्रों में इसका उपयोग भी किया गया। आयुर्वेद में शरीर-रचना-ज्ञान के निमित्त शव के निरीक्षण की विधि का प्रसंग मिलता है। व्याकरण, ज्योतिष आदि में भी सिद्धान्त निर्णय का 'दर्शन' मुख्य साधन माना गया है। ज्योतिष शास्त्र में गणित के परिणाम को प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा पुष्ट किया जाता था, जिसे 'दृग्गणितैक्य' कहा गया है। हिन्दू दार्शनिकों ने निरीक्षण के दोषों, जैसे भ्रम, अध्यास आदि की विवेचना तथा करणापाटव, सम्प्रयोग और संस्कार से उत्पन्न दोषों की भी चर्चा की है। हिन्दू शास्त्रों में निरीक्षण के उपरांत 'अनुमान' द्वारा सिद्धान्त पर पहुँचने की विधि का सविस्तर वर्णन मिलता है। हिन्दू दार्शनिकों ने सत्य की स्थापना के लिये अनुमान को बहुत बड़ा साधन माना है। अनुमान की सूक्ष्म विवेचना में बौद्धों, नैयायिकों और चार्वाकों में पारस्परिक मतभेद भी दिखाई पड़ता है। पर तत्त्व-निर्णय के लिये अनुमान की विशेष उपयोगिता प्रायः सभी ने मानी है।

प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वभाव-प्रतिबंध और [illegible] कारण-प्रतिबंध को स्वतः सिद्ध मानकर अन्वय व्यति[illegible] द्वारा व्याप्ति की स्थापना और कारण के अनुमान [illegible] प्रक्रिया प्रतिपादित की है। सामान्यतः हिन्दुओं [illegible] तत्त्व-निर्णय की पद्धति प्रत्यक्ष निरीक्षण और अनु[illegible] द्वारा सिद्धान्त का 'निगमन' है। अनुमान का [illegible] स्वभाव-प्रतिबन्ध (uniformity of nature) अथ[illegible] स्वाभाविक घटनाओं का सादृश्य और कार्यकारण-प्र[illegible]बन्ध (causality) अर्थात् प्रत्येक कार्य के लिए का[illegible] विशेष का नित्य अस्तित्व मान लेने से बहुत ही सरल [illegible] जाता है। इन दो स्वतः सिद्ध तथ्यों को आधुनिक वै[illegible]निक भी किसी न किसी रूप में मानते आए हैं। [illegible] प्रमाण का इस तर्क प्रणाली में एक ही उपयोग [illegible] सकता है—अर्थात् अनुभव के क्षेत्र को विस्तृत करन[illegible] व्यक्ति विशेष का अनुभव इतना व्यापक नहीं हो सक[illegible] कि स्वभाव-प्रतिबन्ध की निष्पत्ति हो सके। अतएव [illegible] भिन्न तत्त्वदर्शियों के अनुभवों की समष्टि से ही [illegible] अनुभव का [illegible] सकती है। यह पद्धति ऍरिस्टॉ[illegible] की पद्धति से [illegible] अंशों में अधिक पूर्ण और उत्कृष्ट [illegible]

उपर्युक्त [illegible] के अतिरिक्त एक और पद्धति प्र[illegible]लित थी जो [illegible] दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है [illegible] कुछ ऐसी प्राकृतिक घटनाएँ होती हैं, जिनकी उप[illegible] (Explanation) के लिए 'कल्पना' (hypothesis) की सहायता [illegible] पड़ता है। ऐसी कल्पना [illegible] अवस्था में [illegible] सकती है, इसके कुछ नियम [illegible] गए हैं। [illegible] 'कल्पना' निराक्षित घटना [illegible] 'उपपत्ति' [illegible] स्थापित कर दे दूसरा 'कल्पन[illegible] किसी दूसरी [illegible] घटना के विरुद्ध न हो [illegible] तीसरा यदि [illegible] दृष्ट प्रक्रिया से 'उपपत्ति' सम्[illegible] हो तो अदृष्ट [illegible] की कल्पना अनुचित है।† चौथा [illegible] यदि दो [illegible] सम्भव हों तो एक ऐस[illegible] घटना या [illegible] की आवश्यकता है जो दोनों [illegible] से एक का [illegible] करे। इनके अतिरिक्त [illegible] कल्पनाओं में [illegible] कल्पना-लाघव को ग्राह्य [illegible]

* 'दृष्ट [illegible] कल्प्यते न दृष्ट विघाताय'—जय-न्याय मञ्जरी

† 'यदि [illegible] न सिद्ध्यति कामम् [illegible] कल्प्यताम् [illegible] किं तदुपकल्पनेन'—जयत, तथा

कल्पना गौरव को त्याज्य समझना चाहिए। दो कल्पनाओं में जो साध्य के अधिक सन्निकट या उपयुक्त हो वही ग्राह्य है। यदि 'कल्पना' इन नियमों के अनुकूल हो तो उसका 'निर्णय' (Verification) भी साध्य होना चाहिए। निर्णय हो जाने के बाद ही कल्पना को सिद्धांन्त रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इस प्राचीन हिन्दू पद्धिति और अर्वाचीन वैज्ञानिक पद्धति में कितना अधिक साम्य है, यह वैज्ञानिक पद्धति की विवेचना से स्पष्ट होगा।

यद्यपि ऍरिस्टॉट्ल ने आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति का बीजारोपण किया तथापि पाश्चात्य देशों में विज्ञान की प्रगति दो हज़ार वर्षों तक रुकी रही। हिन्दू तार्किकों ने भी तत्त्व-बोध की बड़ी विशद पद्धति का निरूपण किया, फिर भी वैज्ञानिक क्षेत्र में भारतवर्ष बहुत ही पीछे पड़ा रहा। इसका मुख्य कारण यह है कि इन दोनों ही प्राचीन पद्धतियों में प्रयोग (Experiment) का नितान्त अभाव था ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव ही शुद्ध और पूर्ण समझा जाता था ज्ञानेन्द्रियों का क्षेत्र उपकरणों (Instruments) द्वारा बढ़ाने की चेष्टा नहीं की गई थी। सिद्धान्त-निर्णय के लिये नवीन घटनाओं और अभिव्यक्तियों के अनुसंधान की भी कमी थी। हिन्दू दार्शनिक निरीक्षण के व्याघात का समझते थे। पर स्वस्थ इन्द्रियों की भी क्षमता परिमित और अपूर्ण है; इसलिये ज्ञानेन्द्रियों पर ही सर्वथा निर्भर रहना उचित नहीं—इस ओर इनका ध्यान नहीं गया था। ऐसा नहीं कि हिन्दू वैज्ञानिक प्रयोग से अनभिज्ञ थे। हिन्दुस्तान के बने लैंसों और दर्पणों को प्लिनी ने सबसे अच्छा बताया है। धातुशोधन, इत्र, रंग आदि में भी समयानुसार विलक्षण चमत्कार पाया जाता है। पर सभी क्रियाएँ कला और कारीगरी के रूप में प्रचलित थीं। ज्ञान और विज्ञान की धाराएँ प्रायः विपरीत दिशाओं में बहती थीं। 'मोक्षे धीर्ज्ञानं स्यात् विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः'। तत्त्व-निर्णय के उद्देश्य से 'स्वतंत्र प्रमाण' या आविष्कार के रूप में प्रयोग का प्रसंग हिन्दू ग्रंथों में नहीं मिलता। उदयन ने 'किरणावली' में वायु का भार निर्णय के निमित्त प्रयोग की चर्चा की है, पर वह बहुत की अल्प और भ्रान्त है। उसमें भी तटस्थ निरीक्षण का ही अधिक अंश है।

इसके अतिरिक्त एक बात और थी जो विज्ञान के विकास के लिए बाधक सिद्ध हुई। मेकॉले के शब्दों में 'प्राचीन दार्शनिक प्रकृति-विज्ञान से विमुख नहीं थे, किन्तु......प्रकृति-विज्ञान का परिशीलन उनके लिए केवल मानसिक व्यायाम था। उन्होंने इसे वाद-विवाद का एक साधन बना लिया था, इसीसे इसमें नवीन आविष्कारों के उत्पादन की शक्ति न रही।' हिन्दू दार्शनिकों ने भी अपनी पद्धति का उपयोग प्रकृति को असंख्य अभिव्यक्तियों के विश्लेषण या संश्लेषण में नहीं किया। उनका ध्येय तो आत्मा, जीव और जड़ का सम्बन्ध और इनकी पारमार्थिक सत्ता का विचार था। अपनी विचार-शृंखला में जहाँ कहीं भी उन्होंने भौतिक अभिव्यक्तियों का स्पर्श किया, वहाँ आध्यात्मिक तत्त्व की सिद्धि के उद्देश्य से ही। हेय, हान, हेय का कारण और हान का कारण—इस चतुर्व्यूह का पारमार्थिक ज्ञान ही उनका तत्त्व-बोध था। इस दार्शनिक ऊहापोह में विशद वैज्ञानिक पद्धति रहते हुए भी विज्ञान का विकास कुण्ठित हो गया।

हिन्दू पद्धति में एक और बाधा उपस्थित हो गई। क्रमशः हिन्दू विचारप्रणाली में 'शब्द-प्रमाण' को इतनी प्रधानता मिल गई कि नवीनता और विज्ञान की दृष्टि से हिन्दू-पद्धति जड़ हो गई। फिर तो हिन्दू दार्शनिक की सारी तर्क-बुद्धि और प्रतिभा मत मतान्तरों के खण्डन मण्डन या उनकी 'एकवाक्यता' सिद्ध करने में ही सीमित हो गई।

पाश्चात्य जगत् में बेकन ने पहले पहल शास्त्रीय पद्धति के विरुद्ध घोषणा की। उन्होंने ऍरिस्टॉट्ल की पद्धति में प्रयोग का समावेश किया और अतिलौकिक दृष्टिकोण की निन्दा की। उन्होंने ऍरिस्टॉट्ल की भाँति, केवल 'प्राकृतिक इतिहास' से नहीं वरन् 'प्राकृतिक और प्रयोगात्मक इतिहास' से सिद्धान्त के निगमन का प्रतिपादन किया। इस काल में बेकन की पद्धति की प्रेरणा से, वैज्ञानिकों ने समाज और धर्माचार्यों से उत्पीड़ित होकर भी नए नए पयोग प्रारम्भ किए और उनका प्रदर्शन किया। उनके प्रयोगों के फलस्वरूप बहुतेरे प्राचीन सिद्धान्त खण्डित हो गए, जिससे उन्हें सनातनी समाज में अनेक क्लेशों का सामना करना पड़ा। इस सम्बन्ध में गेलीलिओ का

प्रयोग इतिहास प्रसिद्ध है। ऍरिस्टोट्ल का मत था कि भारी पदार्थ हलके पदार्थ की अपेक्षा पृथ्वीपर शीघ्र गिरेगा। गेलीलिओ ने इस मत का खण्डन किया और दर्शकों की बहुत बड़ी भीड़ के सामने पीसा के मीनार पर चढ़कर दो गोले—एक १० पाउंड का और दूसरा १ पाउंड का—साथ ही छोड़े। सभी ने विस्मय के साथ देखा कि दोनों ही गोले जमीन पर साथ ही गिरे! कुछ लोगों ने गेलीलिओ के मतको मान लिया, पर अधिकांश ने उन्हें ऋषि निन्दक ही समझा। फल यह हुआ कि गेलीलिओ को जेल की यातना तक सहनी पड़ी।

पर गेलीलिओ की तपस्या से एक नए युग—प्रयोग युग—का प्रारम्भ हुआ। इस युग में नए नए उपकरण तैयार हुए, जिनसे निरीक्षण का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हो गया। बहुत सी प्राकृतिक अभिव्यक्तियां और घटनाएँ आविष्कृत हुईं, जिनके आधार पर विज्ञान सर्वथा नवीन और लौकिक रूप में खड़ा हुआ।

किन्तु बेकन की पद्धति में कई त्रुटियाँ दीख पड़ीं। एक तो इतनी अभिव्यक्तियों का संग्रह, जिनसे कोई सिद्धान्त निर्धारित किया जा सके, बड़ा ही दुष्कर कार्य था। दूसरे इस पद्धति में कल्पना और प्रतिभा को कोई स्थान न था। (यह पहले बताया जा चुका है कि हिन्दू दार्शनिक कल्पना का मूल्य और इसकी अनिवार्यता समझते थे।) इसलिये वैज्ञानिकों ने यह निश्चय किया कि सत्यके निकट पहुँचने के लिए असंख्य असीम घटनाओं का संग्रह न तो सम्भव ही है और न आवश्यक ही। कुछ महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्तियोंकी व्याख्या के लिए उपपत्ति की कल्पना और फिर उस कल्पना के निष्कर्षों की प्रयोग द्वारा परीक्षा-सिद्धान्त की स्थापना के लिए इतना ही यथेष्ट है। कल्पना जब स्वतन्त्र प्रयोग से सिद्ध हो जाय तभी उसे सिद्धान्त का रूप देना चाहिए। इससे वैज्ञानिकों की कल्पना और प्रतिभा का क्रीड़ा क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हो गया। वैज्ञानिक पद्धति के विकास की नई भूमिका प्रारम्भ हुई।

उपर्युक्त पद्धति का सरल उदाहरण 'गुरुत्वाकर्षण' का सिद्धान्त है। न्यूटन ने वस्तुओं के पृथ्वी की ओर गिरने की व्याख्या के निमित्त 'गुरुत्वाकर्षण' की कल्पना की। इसी कल्पना के आधार पर उन्होंने चन्द्रमा की गति का हिसाब लगाया। उनके गणित का निष्क निरीक्षण से सिद्ध हो गया। इस 'निर्णय' के बाद यह कल्पना सिद्धान्त के रूप में मानी गई। फिर इसका उपयोग सभी ग्रहों के गति निर्धारण में हु और इस प्रकार यह एक व्यापक सिद्धान्त सिद्ध हुआ

इस नवीन पद्धति की सार्थकता प्रकाश सम्बन्‍ कुछ सिद्धान्तों पर ध्यान से और भी स्पष्ट हो जायगी प्रकाश के सरल-रेखा-गमन (Rectilinear prop gation of light), परावर्तन (Reflection वर्तन (Refraction) आदि कुछ अभिव्यक्ति की उपपत्ति में न्यूटन ने 'कण सिद्धान्त' (Corpu cular theory) का निरूपण किया। इस कल्प के अनुसार प्रकाश तीव्र वेग वाले कणों का पुंज है इस सिद्धान्त से एक परिणाम निकलता था कि प्रका का वेग काँच या जल जैसे घनतर माध्यम में व या शून्य की अपेक्षा अधिक हो जाना चाहिए। इ सिद्धान्त में कष्ट कल्पना का भी कुछ अंश था, जिस न्यूटन के समसामयिक हाइगेन ने 'तरंग सिद्धा (wave theory) का प्रस्ताव किया। इस अनुसार प्रकाश का वेग घनतर माध्यम में कम जाना चाहिए।

कुछ दिनों तक इन दोनों सिद्धान्तों के विषय वाद विवाद होता रहा। पीछे विवर्तन (Diffra tion), ध्रुवीकरण (Polarisation), व्यतिक (Interference) आदि कुछ ऐसी अभिव्यक्तियों आविष्कार हुआ जिनकी उपपत्ति में 'तरंग सिद्धान अधिक सरल हुआ। साथ ही साथ प्रयोग द्वारा भी प्रमाणित हो गया कि घनतर माध्यम में प्रकाश वेग कम हो जाता है। इस प्रयोग ने 'तरंग' और 'कण' की कल्पनाओं के बीच 'विनिगमक' का का किया और 'कण-सिद्धान्त' का निराकरण कर 'तरंग सिद्धान्त' को प्रतिष्ठित किया।

किन्तु उन्नीसवीं सदी के अंत में कुछ ऐसी अभि व्यक्तियों का आविष्कार हुआ जिनकी उपपत्ति 'तरंग सिद्धान्त' से सर्वथा असम्भव प्रतीत हुई। इन अभि व्यक्तियों के सन्तोषजनक स्पष्टीकरण के लिए प्लांक और आइन्स्टाइन ने क्वाटम-सिद्धान्त' प्रस्तुत किया और इस प्रकार न्यूटन का 'कण-सिद्धान्त' फिर नई भूमि

में प्रगट हुआ। परन्तु इन दोनों में से कोई एक सिद्धान्त प्रकाश की सभी अभिव्यक्तियों का समाधान करने में असमर्थ रहा; इसलिये ये दोनों सिद्धान्त विज्ञान के क्षेत्र में साथ ही साथ पनपते रहे। यह द्वैध शासन वैज्ञानिकों के लिए बहुत बड़ी समस्या हो रही थी। वे 'तरंग' और 'कण' के समन्वय के लिए चिंतित थे। अंत में स० १९२३ ई० में डो० ब्रोंग्ली इस समन्वय में सफल हुआ, जब से भौतिक विज्ञान के 'नव्यतर युग' का आरम्भ समझा जाता है। डी० ब्रोंग्ली की कल्पना है कि प्रत्येक द्रव्यकण के साथ तरंग का नित्य अस्तित्व है और प्रत्येक तरंग-समूह में एक स्थान पर शक्ति सम्पुटित रहती है जो कण का रूप धारण करती है। श्रोडिंगर ने इस कल्पना का उपयोग परमाणु-संस्थान-संबंधी बहुतेरी जटिलताओं को दूर करने में किया और जी० पी० टाम्सन ने एलेक्ट्रोन-विवर्तन के प्रयोग से इसकी चमत्कारपूर्ण पुष्टि की।

आधुनिक पद्धति का सबसे विलक्षण उपयोग 'अपेक्षावाद' (Relativity) में हुआ। 'इथर' परम स्थिति की दशा में है या पृथ्वी के साथ वह गतिशील है—इसके निर्णय में अनेक वैज्ञानिक लगे हुए थे। प्रयोग में दोनों ही प्रकार के प्रमाण मिलते थे जिससे वैज्ञानिकों की द्विविधा मिटती न थी। अंत में प्रकाश-व्यतिकरण का बड़ा ही सूक्ष्म प्रयोग करके माइकेलसन और मार्ले ने यह परिणाम निकाला कि इथर की अपेक्षा पृथ्वी की गति का कोई पता नहीं पाया जाता। इस परिणाम से प्रेरित होकर आइन्स्टाइन ने यह कल्पना की कि प्रकाश का वेग पृथ्वी पर से मापा जाय तो सभी दिशाओं में समान पाया जायगा। न्यूटन की धारणा की दृष्टि से यह कल्पना सर्वथा अनर्गल है, पर आइन्स्टाइन ने इसी कल्पना की नींव पर 'अपेक्षावाद' की इमारत खड़ी की जिसने आकाश-काल-सम्बन्धी सनातनी धारणा को बिलकुल बदल दिया। 'अपेक्षावाद' से आइन्स्टाइन ने कई परिणाम निकाले—जैसे, वेग के साथ वस्तु के जाड्य या मात्रा की वृद्धि और प्रकाश-वेग के बराबर वेग हो जाने पर जाड्य या मात्रा का अनंत हो जाना; द्रव्य और शक्ति का अभेद, फलतः सूर्य के पास से आती हुई नक्षत्र की किरणों का मुड़ जाना, आदि। ये सारे परिणाम बड़े ही विलक्षण हैं, पर बादको ये सभी परिणाम प्रयोग से सत्य प्रमाणित हुए। इसके अतिरिक्त, 'अपेक्षावाद' के परिणामों का उपयोग अन्य बहुतेरी जटिल समस्याओं के हल करने में किया गया। इसकी प्रयोग द्वारा पुष्टि और सफलता देखकर अनेक दुराराध्य वैज्ञानिकों को भी इसे सिद्धान्त रूप में ग्रहण करना पड़ा।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है आधुनिक विज्ञान का विकास प्रयोग-कल्पना-प्रयोग की शृङ्खला में हुआ है। यही क्रम आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति का प्राण है। केवल उपपत्ति कल्पना या व्याप्ति अर्थात् व्यापक नियम का निरूपण विज्ञान की विशेषता नहीं है। किसी व्याप्ति या कल्पना का निर्णय सम्भव न हो तो वह वैज्ञानिक पद्धति में ग्राह्य न होगी। आजकल इस भ्रम का व्यापक प्रचार दीख पड़ता है कि घटनाओं के विश्लेषण के आधार पर कोई सामान्य नियम निकाल लेना ही वैज्ञानिकता है। इस प्रकार का विश्लेषण संश्लेषण इतिहास अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि सभी शास्त्रों में पाया जाता है। पर इस व्याप्ति-निरूपण का विज्ञान से कोई विशेष सम्पर्क नहीं है। यह तो सभी शास्त्रों की सम्पत्ति है। वैज्ञानिक पद्धति का वैशिष्ट तो व्याप्ति की निर्णयता है। जहाँ व्याप्ति का निर्णय सम्भव नहीं, वहाँ विज्ञान की क्षमता का पर्यवसान है।

दूसरे लेख में वैज्ञानिक पद्धति की अति आधुनिक धाराओं का प्रसंग दिया जायगा।

भारत के देशी राज्यों का प्रश्न

प्रो० शंकरसहाय सक्सेना

बटलरकमेटी की रिपोर्ट में दिये गए आंकड़ों के अनुसार देशी राज्यों की संख्या ५६२ है। यद्यपि ये सब राज्य या रियासतें कहलाती हैं, किन्तु उनमें क्षेत्रफल, आय, जन संख्या और अधिकारों की दृष्टि से आकाश पाताल का अन्तर है। जहाँ भारतवर्ष में ऐसे राज्य हैं, जिनका क्षेत्रफल हज़ारों वर्गमील है, वहाँ ऐसी भी रियासतें हैं जिनका क्षेत्रफल कुछ एकड़ भूमि ही है। जहां कुछ देशी राज्यों की जन संख्या लाखों और करोड़ों में है, वहां ऐसी भी रियासतें हैं जिनकी जन संख्या १०० से भी कम है। जहाँ कुछ रियासतों की आय करोड़ों रुपये हैं, वहाँ कुछ की आय सौ रुपये से भी कम है। जहाँ कुछ को न्याय सम्बन्धी पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं, वहाँ कुछ ऐसी भी रियासतें हैं जिन्हें नाम मात्र के अधिकार हैं। इन सब में केवल एक ही समानता है कि ब्रिटिश भारत के कानून वहाँ लागू नहीं होते। सच तो यह है कि देशी राज्यों में इतनी विभिन्नता है कि उनका कोई संतोषप्रद वर्गीकरण नहीं किया जा सकता

किन्तु देशी राज्य एक राजनैतिक इकाई नहीं हैं। वे एक दूसरे से असम्बद्ध राज्य हैं जिनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके आपस के सम्बन्ध वे स्वयं निर्धारित नहीं करते, वरन् सार्वभौम सत्ता के द्वारा होते हैं। देशी राज्यों से सम्बन्धित समान प्रश्नों का निर्णय तथा समान विषयों का शासन प्रबंध करने के लिए भी कोई राजनीतिक संस्था नहीं है। शासन पद्धति की दृष्टि से भी उनमें बहुत विभिन्नता है। उनमें केवल एक ही समानता है कि सारे देशी राज्य निरंकुश शासकों द्वारा शासित होते हैं और वे ब्रिटिश सम्राट के अधीन हैं।

देशी राज्यों के क्षेत्रफल, जन संख्या और आय में नरेशों की पदमर्यादा, पगड़ी, साफ़े और तोपों की सलामी में चाहे कितनी ही विभिन्नता क्यों न हो, किन्तु अपनी निरीह प्रजा का अन्तिम रक्तबिन्दु तक शोषण करने, प्रजा की गाढ़ी कमाई को अपनी रंगरेलियों में पानी की तरह बहाने, प्रजा पर मनमाना अत्याचार करने और अपने प्रभु राजनैतिक विभाग के कर्मचारियों की चाटुकारिता में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करने में आश्चर्यजनक समानता दृष्टिगोचर होती है।

आज जब कि देश ब्रिटिश साम्राज्यवाद के जुए को अपने कंधों से उतार फेंकना चाहता है, और उसके लिए क्रान्तिकारी शक्तियां प्रयत्नशील हैं, उस समय ब्रिटिश सरकार भारत में अपने साम्राज्यवादी व्यूह की नवीन रचना में व्यस्त है। इस साम्राज्यवादी व्यूह रचना में भारतीय नरेशों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अस्तु हमें देशी राज्यों के प्रश्न को भली भांति समझ लेना चाहिए। आज देश में ब्रिटिश साम्राज्यशाही के नेतृत्व में जो प्रतिगामी और राष्ट्रविरोधी शक्तियों का सुदृढ़ गठबंधन हो रहा है, यदि हमने उसके भयंकर स्वरूप को नहीं समझा और ब्रिटिश साम्राज्यशाही के इस भयंकर षड्यंत्र का क्रान्तिकारी ढंग से प्रतिकार नहीं किया, तो देश को भयंकर विपत्ति का सामना करना पड़ सकता है। देशी नरेश भारत में ब्रिटिश साम्राज्यशाही के व्यूह की पहली दीवार हैं; अस्तु हमें देशी राज्यों के प्रश्न को भली भांति समझ लेना चाहिए।

भारतवर्ष में राज्यों की समस्या नई नहीं है प्राचीन काल में ऐसे राज्य इस देश में मौजूद थे जिनका शासन केन्द्रीय सरकार अर्थात् सीधा सम्राट के द्वारा नहीं होता था, वरन् उसकी अधीनता में उसके सामन्त वहां का शासन करते थे। मुगल सम्राटों के शासन काल में भी यही बात थी।

मुगल साम्राज्य के शक्तिहीन होकर टूटने के बाद यह राजे स्वतंत्र शासक बन गए। उस समय ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रही थी। क्रमशः कंपनी ने कूटनीति के द्वारा समस्त देश पर अपना प्रभुत्व जमा लिया और यह स्वतंत्र राजे भी उसकी अधीनता में आगए। कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों ने आवश्यकतानुसार देशी नरेशों के

वनवासी भारत की समस्या

श्रीब्रह्मदत्त दीक्षित, एम० ए०, एल० टी०

हमारे देश में जो आज जागृति की चेतना आई है और जिसने हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को जागरूक बना दिया है, उसने आज हमारे सामने सैकड़ों प्रकार की समस्याएँ लाकर खड़ी कर दी हैं। जागृति के इस हलचल भरे युग में यह स्वाभाविक ही है। उन अनेकों समस्याओं में से जिनकी ओर हम आज विशेष रूप से आकर्षित हुए हैं एक ऐसी भी समस्या है जिसकी ओर अपेक्षाकृत हमारा ध्यान कम आकर्षित हुआ है। इसका कारण यह नहीं है कि वह समस्या अपनी कम विशेषता रखती हो वरन उसका बहुत कुछ कारण यह भी है कि हमें एक तो उसका ज्ञान भी कम है और दूसरा कारण यह भी है कि हमारे सामने वास्तव में भावी भारत के पूरे स्वरूप की कल्पना (जिसमें आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं अन्य जीवन के क्षेत्रों की व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा) का अभाव भी है। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा की चिरकाल से जुड़ी हुई लड़ी को जोड़ने जिस समय भी आप बैठेंगे, उस समय तो इस समस्या के बिना आपका (ऐतिहासिकों एवं समाज शास्त्रियों का) काम ही नहीं चलेगा। यह समस्या वनवासी भारत की समस्या है जिसे कतिपय लोगों ने आदिवासी का नाम दिया है।

ये लोग कौन हैं, कहाँ से आए, कब और कहाँ रहे—कैसे रहे आदि प्रश्नों का उत्तर देने में हमारा इतिहास और समाजशास्त्र एक दम चुप रह जाता है। किन्तु इतिहास की ऐसी अधूरी स्थिति को तो हम भविष्य में सहन नहीं कर सकेंगे। अतः कभी न कभी बरवश हमें इस महत्वपूर्ण विषय पर सोचना ही पड़ेगा। किन्तु यहाँ यह भी भय उपस्थित हो सकता है कि इस विषय पर यदि हमारा ध्यान बहुत देर से गया तो सम्भव है कि हम फिर उस दृष्टि से इस लुप्त समाज को न देख सकें, क्योंकि जिन भारी आर्थिक परिवर्तनों के साथ होकर हम चल रहे हैं वे तत्परता से हमारे जीवन और इतिहास को एकदम परिवर्तित करते चले जा रहे हैं—भाषा, भाव, वेश भूषा, रहन सहन, रीति, प्रथाएँ तथा विचारधाराएँ जिस द्रुतगति से बदल रही हैं, उनमें बहुत संभव है हमारा वनवासी समाज अपनी आज की दशा में नहीं देखा जा सकेगा। यह ऐतिहासिक हानि हम अपने आलस्य और दीर्घसूत्रता के कारण कर बैठेंगे। अतः आज ही जब हमारे जीवन के प्रत्येक द्वार पर चेतना आ रही है—हम अपने उस ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपरा के एक शून्य स्थान को पूर्ण करने के लिये तत्पर हो जायं जिस कार्य के लिये हम कभी न कभी बाध्य होंगे।

अतः प्रथम तो इन वनवासियों की समस्या से परिचित हो जाना प्रत्येक भारतीय के लिये अत्यावश्यक है। उनकी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अवस्था का क्या स्वरूप है—परिवर्तन किस गति से चल रहा है—किस दिशा को जा रहा है और किस ओर जाना चाहिए आदि बातों का संक्षेपतः विचार कर लेने की विशेष आवश्यकता है। हमारे देश की आबादी में इनका एक विशेष अंश है जो निम्न प्रकार है:—

सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार देश के प्रत्येक प्रान्त में इनकी स्थिति इस प्रकार है:—आसाम में २८ लाख २४ हजार ५८६, कुल आबादी में २२ प्रतिशत। बंगाल में १९ लाख २५ हज़ार ४५७, आबादी का ३ प्रतिशत। बिहार में ६१ लाख ९४ हजार ६२०, आबादी का १६ प्रतिशत। उड़ीसा में ३२ लाख ११ हज़ार २२३, आबादी का २४ प्रतिशत। संयुक्तप्रान्त में २ लाख ८९ हज़ार ४२२, आबादी का ½ प्रतिशत। मध्यप्रान्त और बरार में ३७ लाख ८ हज़ार ८९२, आबादी का २० प्रतिशत। बम्बई में २२ लाख ६७ हज़ार ७९, आबादी का ७½ प्रतिशत। सिन्ध में ३६ हज़ार ८१९, आबादी का ½ प्रतिशत। मद्रास में ५ लाख ६२ हजार ३७, आबादी का १ प्रतिशत।

मैसूर में ९ हज़ार ४०५, आबादी का ½ प्रतिशत। ट्रावनकोर में १ लाख ३२ हज़ार ६८२, आबादी का २ प्रतिशत। हैदराबाद में ६ लाख ७८ हजार १४९, आबादी का ४ प्रतिशत और भोपाल में ७० हजार ९६९, आबादी का ९ प्रतिशत। कुछ राजस्थान की संख्या मिलाकर भारत में इनकी संख्या लगभग २½ करोड़ ज्ञात रूप से है। इनकी विशेष जातियों के नाम इस प्रकार हैं:—नगा, कूकी, गारो, खासी, सेमा, ल्होता, संथाल, खरिया, बिरहोर, कोरवा, मुंडा, हो, ओराँव, कोल्टा, केवट, खरवार, थारू, भोक्ता, खस, कोल, नट, पासी, हबूड़ा, सांखिया, भर, भुइया, खोंड, शबर, प्रजा, गोंड (भातृ-धुर्व, मेरिया, वैना), भील, अथेरिया, गदवा, कोइस, परियान, यनादी, नयादी, लम्बाडी, चेंचु, नायर, टोडा, कुसम्बा, कोटा, पुलयान, अवारी, कन्निकर, मलवेतान, द्रालिस, मलयन्तरम्, मन्नन्स, कप्पिलयन आदि। इनकी उपजातियाँ तो न जाने कितनी हैं।

१—इनके विशेष लक्षण:—यद्यपि ये विभिन्न विभिन्न जातियाँ अपनी विभिन्न ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा रखती हैं फिर भी कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएं भी हैं, जो सब में एक सी पाई जाती हैं, यहाँ उन्हीं का विचार होगा। इन सब जातियों के संगठन का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि किसी न किसी युग या काल में ये जातियां किसी विशेष कारण या घटना से अपने मूल वर्ग या वंश अथवा उस प्राचीन परम्परा से अलग हो गई जिनके अवशेष इनके जीवन क्षेत्रों में आज भी खंडहर के रूप में ही भले ही—पाए जाते हैं। इनकी रीति रिवाज, प्रथाएँ एवं मनोरंजन के साधनों से प्रगट होता है कि ये कभी न कभी अपने मूलवंश की परम्परा एवं संस्कृति अवश्य रखती थीं, जिनके प्रमाण यत्र तत्र इनके जीवन में आज भी मिलते हैं। ये अपने मूल वंश तथा परम्परा से कब अलग हुई यह आज भी खोज के लिये एक विशिष्ट क्षेत्र है।

२—दूसरे इन सभी में यह सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है कि ये लोग घने वनों, घाटियों, पर्वतों, झाड़ियों तथा ऐसे ही निर्जन स्थानों में रहने के आदी हो गये हैं। स्वभावतः ये लोग वनाद्रिवासी हैं। इसी कारण, इनका रहन सहन और वेशभूषा तथा बस्तियां आदि खुली हुई प्रकृति के अधिक समीप हैं।

३—इन सब के भीतर यह प्रधान प्रवृत्ति [illegible] जाती है कि ये लोग अपनी अपनी जाति के शुद्ध [illegible] का संरक्षण करने में सदैव सचेत रहते हैं। दूसरों [illegible] सम्मिश्रित हो जाना कभी स्वीकार नहीं करते हैं। सम्भव [illegible] यह प्राचीन व्यवस्था की कट्टरता का अवशेष हो—[illegible] परम्परा के साथ इनका प्राचीन सम्बन्ध रहा होगा।

४—इनके सामाजिक संगठन तथा जाति रक्षा [illegible] नियम इतने कट्टर और कठोर हैं कि जिन्हें देख [illegible] हम सब उन्हें बर्बरता का नाम दे देते हैं—किन्तु [illegible] इनके ऐतिहासिक विकास को देखा जाय तो यह [illegible] ही आज तक उन्हें इतना संगठित किये रहा—यह उ[illegible] स्वयं की एक आवश्यकता थी।

५—निर्जन वन और पर्वतों के वासी होने [illegible] भी इनमें विरागी एवं सन्यस्थ अवस्था की प्रवृ[illegible] नहीं है वरन् जीवन को मनोरंजक और आनन्द[illegible] बनाने के जितने साधन हमें इनके जीवन में मिलें [illegible] वे आज के सभ्य समाज तथा विकसित कही [illegible] पाली जातियों में न मिलेंगे। इन्होंने अपने जीवन [illegible] संगीतमय एवं आनन्द की प्रतिमूर्ति बना रखने [illegible] अथक परिश्रम किया है और सफल हुए हैं।

६—यद्यपि इनके आध्यात्मिक विचार उतने समु[illegible] नहीं हैं, किन्तु इनकी अपने विश्वासों में अटूट श्र[illegible] और भक्ति है। पार्थिव शरीर की सफल यात्रा [illegible] निर्जन वनों में रह कर करने के पश्चात् विशिष्ट चिन्[illegible] का अस्तित्व इनमें मिलना संभव नहीं, किन्तु फिर [illegible] सामाजिक संयम और मानवोचित अन्य गुण (सच्चा [illegible] सीधापन, ईमानदारी, वचनबद्ध होने पर दृढ़ रहन[illegible] वीरता, कठोर सकट में भी प्रसन्न रहना, हंसते हंस[illegible] जीवन व्यतीत कर देना, भ्रातृभाव और पारस्परिक प्रे[illegible] आदि) जितनी मात्रा में इन लोगों में स्वभावतः [illegible] पाए जाते हैं उन्हें देखकर हम सुसभ्यों को सदै[illegible] लज्जित होना पड़ेगा। हमारे मस्तिष्क का स्तर चा[illegible] कितना ही ऊँचा उठ गया हो किन्तु मानसिक त[illegible] हृदय का स्तर तो सहस्रों वर्ष पीछे ही है।

७—इन लोगों का खाना पीना वनों और पर्व[illegible] के आश्रित है, इसीलिये सभी मांसाहारी होते हैं [illegible] वेशभूषा भी नितान्त प्राकृतिक होती है। हथिया[illegible]

प्राचीन एवं महाभारत काल तक के अस्त्रशस्त्रों से विशेष परिचित हैं। पशुपालन की प्रवृत्ति भी कम ही है। व्यापार आदि भी बहुत कम, वह भी बनैली वस्तुओं का। पारिवारिक परम्परा कहीं पितृमूलक है कहीं मातृमूलक भी। विवाह प्रथाएँ बड़ी विचित्र हैं। युवक संगठन एवं व्यवहारिक शिक्षा दीक्षा का एक सुनियंत्रित क्रम है। इनकी भाषाएँ एवं बोलियाँ भिन्न भिन्न हैं, जिनमें लिखित साहित्य तो नहीं है। ये भाषाएँ खोज की दृष्टि से एक विस्तृत क्षेत्र उपस्थित करती हैं। कुछ गोंड और भील जैसी जातियों को छोड़कर इनके पास अपने इतिहास की सामग्री नहीं है। इनके जीवन क्रम का इतिहास स्वयंमेव खोज की वस्तु बनी हुई है जिसका उपयोग करके हमारा इतिहास अवश्य धनी हो सकता है।

अब यह देखना है कि ऐसे विचित्र प्राणियों के साथ हमारा क्या सम्पर्क रहा है। सच पूछा जाय तो जिस भारतीय समाज पर इन जातियों के उद्धार का उत्तरदायित्व था, उसे तो उसने कभी क्या आज तक भी न समझा और न उसके लिये समुचित प्रयास किया वरन् उसने तो इन्हें अस्पृश्य समझा भी और बना कर भी छोड़ दिया है। किन्तु यदि चारागाह हरा भरा हो और पड़ोसी चरवाहा या उस चारागाह का स्वामी सोता रहे तो कोई न कोई चरवाहा तो उस चारागाह का उपयोग कर ही लेगा। इस क्षेत्र में ठीक यही हुआ। भारत के वनाद्रिवासी क्षेत्रों के चारागाह में सहस्रों ईसा की भेड़ें घुस पड़ीं और उन्होंने चरने का कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

बनवासियों के इतिहास और हमारे भावी इतिहास में यह एक ऐतिहासिक घटना सत्य सिद्ध होगी। विदेशी लोग भारत में धर्म की पताका लेकर घुसे और हमारे शासक बन बैठे। इनका सर्वत्र यही रवैया रहा। पिछले ५०, ६० वर्षों से विदेशी मिशनरी लोग उत्तरी भारत के जाग्रत समाज को अकस्मात् छोड़ कर इन बनवासी क्षेत्रों में अपनी गुप्त योजनाओं को लेकर घुसे। यह क्षेत्र उन्होंने विशेष उपयोगी दो कारणों से समझा प्रथमतः बनवासी बस्तियां एवं क्षेत्र भारत में अछूत समझ कर भाग्य भरोसे छुटी पड़ी थीं, दूसरे इन बस्तियों में कार्य करने के लिए मिशनरियों को यहाँ के नामधारी राजाओं के राज्यों में रेज़ीडेन्ट आदि का राजनैतिक बल प्राप्त हुआ, क्योंकि इस प्रकार की बस्तियां अधिकांशतः ऐसे ही क्षेत्रों में पड़ती हैं। ये लोग मानवता का संदेश सुनाने के नाम से गये, किन्तु साम्राज्यवादियों द्वारा पोषित गुप्त योजनाओं का प्रसार करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ थे। इन्होंने लगभग २ करोड़ भूखे, नंगे एवं निरीह प्राणियों को भेड़ बना कर दीक्षित करने का ढोंग दिखाया। सन् १९४४ ई० में इस गुप्त योजना का भंडाफोड़ हुआ। जहाँ पर इन्होंने अपनी नई बस्तियां बसाई थी, उन्हें इन्होंने विदेशी उपनिवेश बनाने के संकल्प की घोषणा की। ये उपनिवेश अपने ही देश की वस्तुओं का शतप्रतिशत व्यवहार करें तथा उन्हीं देशों के आदेश से कार्य में प्रवृत्त हों आदि आदि योजनाओं का जब भंडाफोड़ हुआ, तो पता चला कि बाहरी ईसाई देश करोड़ों रुपये का जुआ जो धर्म के नाम पर यहाँ खेल रहे हैं, उसके पीछे भी वही साम्राज्यवादिनी शक्ति छिपी बैठी है। इनकी राजनैतिक चाल सम्भवतः यह थी कि यदि तमाम ऐसी पिछड़ी जातियों को धर्म के नाम पर आत्मसात् कर लें, तो थोड़े दिनों में ही इनकी जन-संख्या २॥ करोड़ से बढ़कर ५॥ करोड़ तक पहुँच जायगी। धर्म के नाम पर जब १० करोड़ मुसलमानों का पाकिस्तान बन सकता है, तो ५, ६ करोड़ की इनकी संख्या पर भी एक 'स्तान' उत्पन्न हो सकता है और जिस 'स्तान' के पीछे ईसाई जगत का राज-बल, धन-बल एवं सैनिक बल होगा। फिर तो साम्राज्यवादी देशों को यहाँ पर सदैव के लिए अड्डा मिल सकेगा और उनका स्वप्न चिरस्थायी होगा। इस प्रकार की योजनाओं का भंडाफोड़ करते हुए तथा सी. पी. प्रदेश के मॉडला आदि हिस्सों में बसे हुए उपनिवेश बस्तियों के कार्यकलापों की ओर संकेत करते हुए डा० वैरियर एल्विन ने एक वक्तव्य दिया था, जिसकी गम्भीरता महसूस करने योग्य है।* यहाँ यह बताना अत्यावश्यक है बनवासियों की समस्या का प्रश्न कोई धार्मिक प्रश्न नहीं है वह तो इन निरीह एवं मूक प्राणियों को शोषित करके कुछ लोगों का अपना उल्लू

(*श्री वैरियर एल्विन के १४ जून १९४४ वाले वक्तव्य को देखिये, जो उस ता० के हिन्दुस्तान टाइम्स में छपा है।)

सीधा करने का घृणित कार्य है। इस बहाने यदि बनवासियों की आर्थिक दशा कुछ कहीं अच्छी भी हो गई हो तो भी जिस आधार पर कार्य करने की प्रवृत्ति है उसका आगे चलकर क्या परिणाम होगा। डाक्टर वैरियर एल्विन जो कि एक खरे समाजशास्त्री एवं विद्वान व्यक्ति हैं—ने यह भी बताया है कि इन ईसाई उपनिवेश के व्यक्तियों ने इन बनवासियों के लिये कोई भी सांस्कृतिक तथा अन्य आर्थिक काम नहीं बताया है वरन् बनवासियों के जीवन क्रम में एक व्यतिक्रम उत्पन्न कर दिया है, जिसे उत्थान या उद्धार तो कदापि नहीं कहा जा सकता है।

इन्हीं की देखा देखी अथवा प्रतिस्पर्धा स्वरूप कुछ धार्मिक संप्रदायों (आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, रामकृष्ण मिशन, सनातन धर्म समाज पंजाब आदि) ने भी धर्म का उपदेश इन वनाद्रिवासी भाइयों को सुनाया। किन्तु कुछ धनाभाव के कारण और कुछ सच्ची लगन पर्याप्त न होने के कारण ये लोग उतने भी सफल न हुए। यद्यपि अब भी यत्र तत्र इस प्रकार की संस्थाएं कार्य कर रही हैं।

इसके अतिरिक्त पूज्य गांधी की प्रेरणा पाकर शुद्ध सेवा भाव का व्रत लेकर कुछ व्रती व्यक्तियों ने भी इन बनवासी भाइयों के भीतर प्रवेश किया जिनमें आदिवासी सेवा मंडल बम्बई, राजस्थान भील सेवक संघ (बामनियां) (इन्दौर), हरिजन सेवक संघ, द्वारा नियोजित दोहद सेवक मंडल, सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी के अन्तर्गत तथा कस्तूरबा स्मारक समिति की ओर से किये गये उद्योग आदि आदि हैं। इनके कार्य की लगन और सच्ची सेवा का व्रत स्तुत्य है। किन्तु ज्ञात ऐसा होता है कि जो केन्द्रीय दृष्टिकोण इस महत् कार्य में होना वांछनीय है, वह अभी तक वैज्ञानिक रूप से प्रारम्भ नहीं हुआ है। ऐसे ही आधार पर डाक्टर वैरियर एल्विन का भूमि जन सेवा मंडल माण्डला में था। किन्तु उसका कोई अखिल भारतीय आधार नहीं है। उनका प्रयोग अवश्य वैज्ञानिक ढंग पर था, जहाँ खोज आदि का कार्य वे स्वयं चला रहे थे। अब वे वहाँ से चले आए हैं।

अतएव आज हमारी सर्वांगीण चेतना अपना मूर्त रूप धारण कर रही है। हमें अपनी समस्याएँ स्वयंमेव सुलझाने का अवसर मिलने जा रहा है और हम अपने भावी इतिहास को अधिक समुन्नत बनाने का लेकर आगे बढ़ रहे हैं तो हमारा कर्तव्य है कि बनवासी समस्या पर भी भारतवर्षीय और राष्ट्रीय कोण से सोचें। हमारा राष्ट्र धर्म हमें संकुचित र काम करने के लिए प्रेरित नहीं करता। यदि धर्म विशेष तथा किसी स्वार्थ विशेष से प्रेरित हम अपनी इस समस्या का हल निकालने बैठेंगे तो न अपने वर्तमान जीवन को ही लाभान्वित कर और न अपने इतिहास की कड़ी को जोड़ने का श्यक प्रयास कर सकेंगे। स्मरण रखिये हमें प्रत्येक प्रकार की अखंडता सुरक्षित रखने के अपने अखंडित इतिहास, सभ्यता, संस्कृति, और भ विभिन्न जोड़ों को अभी ठीक करना है। जिसके ये बनवासी क्षेत्र जीती जागती पुरातत्व-सामग्री हैं। बानरों और ऋक्षों, केवटों और कोल किरातों ने को राम बनाकर भारतीय सभ्यता को जीवित रख तथा जिन शबर, भील और अन्य बनवासी ब पाँडवों के भारत की संस्कृति को सुरक्षित किया था जिन भील और गोंड सरदारों ने वीर प्रताप मरहठों की स्वातन्त्र्य भावनाओं को अमर ब हमारे लिए प्रेरणा प्रदान की थी—आज वही लाखों बनवासी भाई हमारे इतिहास को पुनः अखण्ड बना सकेंगे तथा अपनी जीवन धारा में उन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक लड़ियों को जो हमारे लिए गौरव की वस्तु होगी—और बिना हमारा इतिहास और संस्कृति अधूरी और बीच में टूटी सी दृष्टिगोचर होगी—जो कि एक राष्ट्र के लिए दुर्बलता का कारण होगी।

अतएव इस समस्या के हल करने में कुछ सु दिए जाते हैं, जो विचार करने योग्य हैं:—

१. सन् १९३५ के एक्ट के अनुसार ये बनव क्षेत्र प्रान्तीय सरकारों के अधीन न रख कर गवर्नर के शासन के सुपुर्द कर दिये गये थे जनता की भावना के अनुसार इनके जीवन में करना दुष्कर हो गया है। अतः शीघ्र ही ये क्षेत्र प्रा सरकारों को दे दिये जायं, जिससे वे अपना उत्तरदा समझ कर इन्हें उठाने का कार्य कर सकें।

२. संकुचित स्वार्थ को लेकर काम करने

और मानसिक तथा आर्थिक साधनों द्वारा शोषिण करने वाले संस्थाओं व्यक्तियों को इन क्षेत्रों से हटा दिया जाय। ये सब संप्रदाय की भावनाएँ उत्पन्न करके भावी संतति के मानवोचित मानसिक विकास में रुकावटें डालते हैं।

३. कुछ लोगों का कहना है कि उन्हें जंगलों और पर्वत घाटियों से निकालकर मैदानों में लाया जाना, उचित नहीं। उनके घर उतने ही प्यारे हैं जितने मैदान वालों के। दूसरे यहां लाकर और बसाकर मैदान की व्यवस्था में भी व्यतिक्रम पैदा करना ठीक नहीं। वरन् उन्हें वहीं विकास का पूरा पूरा अवसर और साधन दिए जाय। क्यों न हमारे वही वन और पर्वतीय घाटियाँ सुन्दर रमणीक स्थान बनें। उनका हटाया जाना सम्भव भी नहीं और मनोवैज्ञानिक रीति से अनुचित भी है।

४. इनके जीवन को समुन्नत करने की दृष्टि से एक केन्द्रीय बोर्ड बने जो प्रान्तीय सरकारों के सहयोग से इनकी आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान की योजनाओं को सर्वत्र कार्यान्वित करे, जिसमें सभी प्रान्तीय सरकारें सहयोग करें।

५. केन्द्रीय बोर्ड द्वारा नियोजित विभिन्न योजनाओं में पुरातत्व विभाग तथा इतिहास परिषदों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो, जो यह व्यवस्था करे कि इनके समाज का अध्ययन तथा अन्य खोज पूर्ण सामग्रियां एकत्रित करके हमारे इतिहास को पूर्ण करे और इन जातियों की देनों को स्वीकार करें। यहां यह ध्यान रहे कि जातियां कहीं म्यूज़ियम की सामग्री बनकर ही न रह जायं, वरन् अपनी उन्नति भी करती जायँ। इन्हें नष्ट करके उन्नत बनाने में कोई श्रेय नहीं है। इनके जीवन की प्रत्येक दिशा हमारे प्रेम और खोज की वस्तु बन जाय तो आज भी ये जातियां हमें और हमारे साहित्य तथा इतिहास को अमूल्य वस्तुएँ प्रदान कर सकता हैं।

हमारा दृष्टिकोण केन्द्रीय होना चाहिए। यत्र तत्र सुधार करने से फटे कोट में चिथड़े मात्र लगा देने से कोट की सुन्दरता बढ़ नहीं सकती। अतः हमारा विचार अधिक विस्तृत और व्यवस्थित होना चाहिए। यह समस्या सारे देश की है एक प्रान्त की नहीं। हम सबका प्रेमपूर्ण व्यवहार तथा व्यापक दृष्टिकोण इसे बड़ी सुन्दरता से हल कर सकता है। अतः ऐसी आशा है कि विचारशील भारतीय इस समस्या पर विचार करेंगे।

साहित्य की छान बीन

श्री बजनाथ सिंह विनाद

माटी की मूरतें — ले० श्री रामवृक्ष वेनीपुरी।

प्रकाशक—पुस्तक भण्डार, पटना। मूल्य ३)

"माटी की मूरतें" में ग्रामीण जीवन के ११ शब्द चित्र हैं। इनके सम्बन्ध में लेखक का कथन है :-"....ये कहानियाँ जिवनियां हैं। ये चलते फिरते आदमियों के शब्द चित्र हैं और मानता हूं, कला ने उन पर पच्चीकारी की है, किन्तु मैंने ऐसा नहीं होने दिया कि रंग रंग में मूल रेखाएं ही गायब हो जायं।" इन ११ शब्द चित्रों में यह हैं :—

१, बुधिया—एक ग्रामीण लड़की के लड़कपन, जवानी और जवानी में ही बुढ़ापेका चित्र। इसके अन्दर गांवों की छोटी जाति की युवतियों के रोमांस का भी संकेत मिल जाता है। पर उनमें वासना का उद्बोधन नहीं है, जीवन का एक हल्का सा उमंग है, जो उभड़नेके साथ ही गरीबी के अथाह समुद्र में समा जाता है।

२, बलदेव सिंह—एक पहलवन की ऐसा चित्र, जिसके अन्दर गाँवके युवकों की इच्छा भी निहित है और साथ ही जिससे ग्रामीण कुरूपता का भी पता चल जाता है। किन्तु जिसकी प्रेरणा में वीरत्व, सेवा और त्याग भावना निहित है।

३, मंगर—खेत जोतनेवाले खेत मजदूरों की आर्थिक स्थिति, उनमें का बचा नैतिक विश्वास और चरित्र। प्रेमचन्द जी के होरी का संक्षिप्त संस्करण इसे कह सकते हैं।

४, सरजू भैया—एक ईमानदार मध्यवृत्त किसान का चित्र, जिसके चरित्र में उदारता है और जिसका आर्थिक धरातल निरन्तर नीचे की ओर खसक रहा है। इसके अन्दर सूदखोरी का सूक्ष्म अध्ययन है। जैसे एक उदाहरण : "गन्दे कपड़े में, उन्हीं सा काला-कुचैला रंग लिये, वह चांलर चुपचाप पड़ा रहता है और हमारे खून को धीरे धीरे चूसता है और खून उसे अपने रंग में बदल देता है कि उसका चूसना हम जल्द अनुभव नहीं कर सकते और अनुभव करते भी हैं तो जरा सी सुगबुगी या ज्यादा से ज्यादा चुनचुनी मात्र। और अनुभव करके भी उसे पकड़ पाने के लिये तो कोई खुर्दबीन ही चाहिये (पृ० ३१)" और आधुनिक इतिहास साक्षी है कि इस सूदखोर चांलर के चलते ही किसानों के हाथ से जमीन खिसकी चली जा रही है।

५, भौजी—ग्रामीणों की शादी में उठनेवाले विवाद का चित्र। इसके अन्दर भाभी और देवर के सुन्दर तथा सरस सम्बन्ध का सजीव चित्र है।

६, देव—ग्रामों के नटखट और बहादुर बच्चों का कैसा विकास हो सकता है, ग्रामीण बालकों में कितना जीवट, तेज और धैर्य होता है, इसका सजीव चित्र। इस चित्र की सचाई पर शायद शहरवाले विश्वास न करें, पर सच तो यह है कि शायद ही ऐसा कोई अभागा ग्राम हो, जहां देव जैसे बालक न हों।

७, बालगोविन्द भगत—एक ग्रामीण भक्त का चित्र, जिसके अन्दर अटूट श्रद्धा, अविचल प्रेम और कबीरके विश्वास की छाप है (पृ० ५९ पर)। ऐसे भक्त कुछ दिनों पूर्व तक हमारे गावों में मिलते थे, जिनसे हमारे समाज को नैतिक बल मिलता था।

८, परमेसर—ग्रामीणों का गरीबी, कुसंस्कार और अपनी बुरी आदतों में भी सन्तोष के साथ जिन्दगी बिता देनेका चित्र। इस चित्र पर तरस भी आता है और करुणा भी आती है।

९, रूपा की आजी—जिन्हें बिहार के ग्रामों में रहने का मौका मिला होगा, उन्होंने डायनों की अनेक कहानियाँ सुनी होंगी। मैंने अनेक बिहारियों से ऐसी ऐसी कहानियाँ सुनी हैं। २० साल पहले युक्तप्रान्त में भी ऐसी कहानियाँ सुनी जाती थीं। मैंने देखा कि एक बुढ़िया से लोग अपने बच्चों को छिपाते फिरते थे। उसे लोग डायन कहते थे। ऐसी ही एक डायन का मर्म भरा यह चित्र है। इस चित्र के अन्दर से लेखकने स्त्रियों के अन्दर के अतृप्त और विकृत (पुत्र वात्सल्य) स्नेह की प्रतिक्रिया का उद्घाटन किया है। ठीक यही तथ्य है यह मनोवैज्ञानिक ही जाने, पर ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है।

१०, बैजू मामा—एक सीधे सादे चोर का चित्र, जिसने कैसे अभाव की पूर्ति के लिये बैल की चोरी की और अपनी सज्जन सिधाई के कारण उसमें विफल रहकर सजायाफ्ता हुआ। इसमें अपराधशास्त्र का एक सामाजिक पहलू और साथ ही किसानों की दयनीय स्थिति भी है।

११, सुभानखां—ग्रामोंके अन्दर के हिन्दू मुसलिम सम्बन्ध का चित्र। इस राजगीर मुसलमान के चरित्रकी विशेषता है: "सुभानखां ने मुझे उठाकर गोद में ले लिया फिर कन्धे पर चढ़ा कर इधर उधर घुमाया। तरह तरह की बातें सुनाई, कहा कहीं। मेरा मन बहला कर वह फिर अपने काम में लग गये। मुझे मालूम होता था, काम और अल्लाह ये दोही चीजें संसार में उनके लिये सबसे प्यारी हैं। काम करते हुये अल्लाह को न भूलते थे और अल्लाह से फुर्सत पाकर फिर काम में जुट जुत जाना अपना पवित्र कर्तव्य समझते थे। और काम और अल्लाह का यह सामंजस्य उनके दिल में प्रेम की वह मन्दाकिनी बहाता रहता था, जिसमें मेरे ऐसे बच्चे भी बड़े मजे में डुबकियाँ लगा सकते थे, चुभकियां ले सकते थे (पृ० ९६) और एक समय पर "बल्दू का बेटा, जबान सम्हाल कर बोल। तू किन्हें काफिर कह रहा है? और मेरे बुढ़ापे पर मत जा—मैं मसुजिद में चल रहा हूं। पहले मेरी कुर्बानी हो लेगी, तो गायकी कुर्बानी होगी (पृ० १०१)" अपनी बालकी अवस्था की कुछ बातें मुझे याद हैं। मेरे गांव में

ऐसे मुसलमान थे। किन्तु आज यह सब सपना है।

इन सभी शब्द चित्रों पर विचार किया जाय तो एक बात जो सब से पहले सामने आती है वह यह कि सभी चित्र गांवों की निचली आर्थिक सतह के हैं। चित्र की सामाजिक कमजोरियां इसी सतह की उपज हैं। किन्तु सभी चित्रों के सामाजिक गुण विकासमान मानवता से ओतप्रोत हैं। इससे दूसरा सामाजिक परिणाम यह निकलता है कि यदि गाँवों के इन चित्रों को अपेक्षाकृत उन्नत आर्थिक पृष्ठभूमि मिलती, तो इनकी मानवता का विकास कहीं ऊंचा होता। अतः इस समाज तत्त्व के आधार पर "माटी की मूरतें" प्रगतिशील रचना है। किन्तु इतना ही नहीं। "माटी की मूरतें" के सभी चित्र सब कहीं जीवन्त हैं। उनमें हा इतोस्मि कहीं नहीं है। देहात के रहने वाले जैसे रहते हैं, "माटी की मूरतें" के पात्र उनकी सही अनुकृति हैं। उनमें जीवन रसका कहीं अभाव नहीं है। ये शब्द चित्र किसी पट पर नहीं हैं, पत्थर पर नहीं है। ये शब्द मय हैं। ये बोलते हैं, रोते हैं, हंसते हैं और क्षुब्ध भी होते हैं। इनकी भाषा लिखित है, पर उस भाषा में ध्वनि है। कहीं कहीं चित्रों के अन्दर चित्र हैं, जो हमें सोचने के लिये मजबूर कर देते हैं, किन्तु अवसाद नहीं देते। जैसे इन चित्रों का प्रथम और प्रधान गुण जीवन हो।

इसकी भाषा में "ताबड़तोड़", "घिस्से", "घसवाहा", "रन", "भगवा", "पैना", "हहास", "कुटमैती", "कुटान-पिसान", "सुधुआपन" आदि स्थानीय शब्दों तथा कुछ मुहावरों का खपने लायक प्रयोग किया गया है। शायद यदि ऐसे शब्दों और मुहावरों का प्रयोग न किया जाता या उनका संस्कृत रूप ढूंढ़ा जाता, तो भाषा का प्रवाह खतम हो जाता। "माटी की मूरतें" की भाषा से यह सिद्ध होता है कि उचित स्थानीय शब्दों और मुहावरों के बिना प्रयोग के भाषा में झंकार और प्रवाह सम्भव नहीं।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी — श्री जयप्रकाश नारायण; समता प्रकाशन, पटना, मूल्य १)।

प्रस्तुत पुस्तिका श्री जयप्रकाश नारायणजी के कुछ व्याख्यानों का संग्रह है, जिसे उन्होंने पिछले अगस्त में पटना के एक अध्ययन-मण्डल में दिया था। सभी व्याख्यान कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के जन्म, उसकी नीति और कार्य से सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये इसे पार्टी का परिचयात्मक इतिहास भी कह सकते हैं। जयप्रकाशजी पार्टी के जन्मदाताओं में प्रमुख हैं, इसलिये पार्टी के सम्बन्धमें बहुत सी बातें इससे जानी जा सकती हैं। पार्टी का जन्म १९३२ में हुआ, इस सम्बन्ध में जयप्रकाशजी कहते हैं—"मैं बम्बई सरकार के वारंट पर गिरफ्तार हुआ था। इसलिये मुझे नासिक सेंट्रल जेल में रखा गया। यहीं अशोक मेहता, अच्युत पटवर्धन, मसानी, दांतवाला, नारायन स्वामी, एन० जी० गोरे, एस० एम० जोशी आदि लोग थे। आपस की बहस से तै हुआ कि जेल से छूट कर हम कांग्रेस-समाजवादी दल बनायेंगे। जेल में ही इस दल का विधान तैयार किया गया और हम लोगों ने खुफिया तौर से उसे बाहर भेज दिया (पृ० ४)।" इस योजना के अनुसार सब से पहले बम्बई प्रेसीडेंसी कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई। पर इसके कुछ पहले ही बिहार में एक सोशलिस्ट पार्टी कायम हो चुकी थी, जिसके मन्त्री श्री गंगाशरण सिंह थे (पृ० ५) किन्तु अखिल भारतीय आधार पर १७ मई १९३४ को पटना में, पार्टी का संगठन हुआ, जिसके सभापति आचार्य नरेन्द्रदेवजी थे (पृ० ९, १०)। जहां तक इस सम्बन्ध में मेरी जानकारी है उस समय युक्त प्रान्त में भी नेताओं का ध्यान समाजवाद की ओर जोरों से हो चुका था। जेलों में ही इसकी चर्चा हुयी। लाहौर से कलकत्ता तक क्रान्तिकारियों की जो एक लड़ी थी, उसमें भी सोशलिज्म की चर्चा थी। लाहौर षड्यन्त्र केस की फाइल यदि देखी जाय तो उससे मालूम हो जायगा कि उसका नाम सरदार भगत सिंह के उद्योग से "हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी" रखा गया था। और जयप्रकाशजी ने पंजाब में इस दल का सहयोग भी प्राप्त किया था (पृ० २७)। इन सभी प्रमाणों से सिद्ध होता है कि देश में समाजवाद की भावना बढ़ रही थी, जिसकी अभिव्यक्ति कांग्रेस समाजवादी दल के रूप में हुयी।

जयप्रकाशजी ने पार्टी के कामों पर भी प्रकाश डाला है कि किस प्रकार उन्होंने देश के विभिन्न दलों को पार्टी में मिलाने की कोशिश की। भारतीय राजनीति को जरा गहरा जानने वाला व्यक्ति जानता है कि जयप्रकाशजी ने किसी भी कीमत पर वामपक्षी और समाजवादी एकता को कायम रखने की कोशिश की है। बहुत से ईमानदार कम्युनिस्ट भी इस बात को कबूल करते हैं। इस सम्बन्ध में जयप्रकाशजी ने जो कुछ लिखा है उससे अनेक राजनीतिक तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता है।

वक्ताने पार्टी के कामों पर इस तरीके से प्रकाश डाला है कि कहीं भी संयम और शील की उपेक्षा नहीं हुई है, कहीं भी अपने कामों की डींग नहीं हांकी गयी है। यहां तक कि उन्होंने अपनी गलतियों तक को कबूल किया है। पार्टी के संगठन की कमजोरी पर प्रकाश डालते हुए वक्ता ने बताया है:—

"(१) कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के मेम्बर कांग्रेस के भी मेम्बर होते हैं। कांग्रेस का संगठन शुरू से ही ढीला रहा है, उसके कार्यकर्ताओं को ट्रेनिंग कभी नहीं है। पार्टी में उनके आने से वे ही दोष यहां भी चले आये।

"(२) यह पार्टी एक दलीय नहीं थी। इसमें कम्युनिस्ट और रायवादी भी मिल गये थे। वे इसमें शामिल होकर भी अपनी अलग अलग नीति चलाने की कोशिश करते थे, पार्टी के अन्दर होते हुए भी उसके अनुशासन को कमजोर करते थे; अपने संगठन को अलग बनाये रखने की चेष्टा करते थे। इस प्रकार हमारा संगठन कभी ठोस न हो सका।

"(३) अब तक हमारा काम आन्दोलनात्मक था। क्रान्ति के लिए तैयारी करना उस समय की हालत में कुछ कठिन था। लेकिन वह भी एक आवश्यक अवस्था थी और हम लाचार थे। आज रचनात्म काम अर्थात् क्रान्ति की तैयारी करने का अवसर आ गया है।" और यदि गम्भीरता से देखा जाय तो यही इसकी कमजोरी का कारण है भी।

भारतीय राजनीति से दिलचस्पी रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह किताब महत्वपूर्ण है।

समाजवादी की डायरी

विश्व समाजवादी सम्मेलन

इंगलैण्ड की इण्डिपेण्डेण्ट लेबर पार्टी इस मास में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आमंत्रित कर रही है। इसकी बैठक लन्दनमें होगी और इसमें योरप के समाजवादी, ब्रिटेन की सब समाजवादी और मजदूर संस्थाओं के प्रतिनिधि तथा संसार की साम्राज्य विरोधी शक्तियों के प्रतिनिधि बुलाए जायेंगे। इस सम्मेलन का उद्देश्य योरप में समाजवादी राज्यों का संघ स्थापित करना है। पार्टी का कहना है कि समाजवाद के आधार पर ही सच्ची एकता और शान्ति हो सकती है, तथा इसी प्रकार साम्राज्यवादी शक्तियों का संघर्ष तथा उनकी प्रतियोगिता का अन्त किया जा सकता है और पूर्व तथा पश्चिम का भेद मिटाया जा सकता है। पार्टी का मत है कि जब तक ब्रिटेन के भीतर और बाहर समाजवाद की स्थापना के लिये उद्योग नहीं किया जायगा तब तक ब्रिटेन तृतीय युद्ध में सर्वनाश से अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं होगा।

इस संकल्प को पूरा करने के लिये इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी ने प्रचार का कार्य दिसंबर में ही आरम्भ कर दिया था। पार्टी का मत है कि ब्रिटेन को पूंजीवाद से अपना पल्ला छुड़ाना चाहिये और तुरत उन सब प्रधान व्यवसायों को जो अन्य व्यवसायों के आधार हैं समाज की अधीनता में ले आना चाहिये तथा उनपर मजदूरों का नियंत्रण होना चाहिये, उपनिवेशों को गुलाम बनाने की प्रथा का अन्त होना चाहिये तथा उसे अपने कार्य से यह प्रदर्शित करना चाहिये कि इंगलैंड साम्राज्यवाद का विरोध करता है। फौज की जबरन भरती बन्द होनी चाहिये तथा समाजवाद के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त कर अपनी रक्षा का समुचित विधान करना चाहिये।

ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति

संयुक्त राष्ट्र संघ में भाषण करते हुए आइवर थॉमस ने कहा कि मैं विश्वास पूर्वक कुछ सकता हूं कि बहुत से स्वतंत्र राज्यों की अपेक्षा ब्रिटिश उपनिवेशों में आधारभूत स्वतंत्रताओं की अधिक रक्षा की जाती है। उपनिवेशों से होने वाली आय की चर्चा को निराधार बताते हुए उन्होंने कहा कि अगले दस वर्षों में इन उपनिवेशों पर १२ करोड़ पौंड ब्रिटिश करदाता के धन से खर्च करने का ब्रिटेन का इरादा है।

फ्रांस के आम चुनाव

राष्ट्रीय व्यवस्थापक सभा (National Assembly) के ६१८ में से फ्रांस खास (Metropolitan) और अल्जीरिया के ५७५ स्थानों का अंतिम चुनाव फल इस प्रकार है:—

दल	प्राप्त स्थान	पहिले से कम या ज्यादा
कम्यूनिस्ट	१६९	१०
एम.आर.पी. (M.R.P.)	१६०	—२
सोशलिस्ट	९३	—२७
पोपूलर रिपब्लिकन (P.R.L.)- तथा दक्षिण पंथी	७३	+६
गॉलिस्ट यूनियन	९	+९
रेडीकल और उनके साथी	५९	+१९
अल्जीरिया स्वातंत्र्य आंदोलन तथा मुसलिम	१२	+१

गत चुनाव की भांति इस बार भी कम्यूनिस्ट पार्टी सब बड़ी पार्टी है। सोशलिस्टों को सब से अधिक हानि हुई त दक्षिण पथियों को सब से अधिक लाभ हुआ। 'डेली हैराल्ड' के संवाददाता के विचार से सोशलिस्टों की हार का सबसे ब कारण यह है कि उन्होंने कम्यूनिस्टों के विरुद्ध डट कर मो नहीं लिया।

इस बात पर लगभग सभी एक मत हैं कि डी गॉले के हस्तक्षे के कारण कम्यूनिस्टों का सबसे अधिक फायदा हुआ। उदाहरण ब्लम साहब का कथन है कि डी गाले के हस्तक्षेप ने चुनाव दो दलों में—पहिला जो कम्यूनिज्म (साम्यवाद) के पक्ष और दूसरा जो उसके विरुद्ध—बांट दिया और चूंकि सोशलि इनमें से कोई भी पक्ष ग्रहण नहीं करना चाहते थे, लोगों इसका यह असर पड़ा कि सोशलिस्ट चुनाव ही नहीं लड़ रहे हैं

स्कॉटलैण्ड के म्युनिसिपल चुनाव

इस चुनाव में ९३ स्थानों पर मजदूर दल की विजय त ३३ स्थानों पर हार हुई। कई स्थानों पर मजदूर दल की हार क कारण यह था कि स्वतंत्र मजदूर दल तथा कम्यूनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार होने के कारण मजदूर वर्ग के वोट आपस में बंट गये

इन चुनावों की ध्यान देने योग्य एक बात यह थी कि मजदूर दल ने अपना पुराना नारा—मजदूर दल को वोट दो और देर कि हम तुम्हें क्या देते हैं—त्याग कर उसके स्थान पर एक नय अधिक प्रजातांत्रिक नारा—मजदूर दल को वोट देकर अपने योग्यतम व्यक्तियों को ही स्थानीय स्वशासन के लिये भेजो—अपनाया

जापान का आम निर्वाचन

गत वर्ष १० अप्रैल को जो आम निर्वाचन हुआ था उसके बारे में अब जानकारी प्राप्त हो सकी है। लिबरल १४०, प्रोग्रेसिव ९३, सोशल डिमोक्रेट ९२, कोआपरेटर्स १४, कम्यूनिस्ट ५, अन्य छोटे दल ३८, स्वतन्त्र ८२। पहली असेम्बली में इन दलों के स्थान इस प्रकार था—प्रोग्रेसिव २७४, लिबरल ४६, कोआपरेटर्स २८, सोशल डिमोक्रेट्स १७, और कम्यूनिस्ट ०।

नव संस्कृति संघ

अभी तक हमारा काम राजनीति तक ही सीमित रहा है। सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की दिशा में हमने कहने लायक कुछ भी नहीं किया है। साहित्य के क्षेत्र में एक प्रगतिशील लेखक संघ है। पर उसने भी दल विशेष की राजनीति से अपने को बांध लिया है। शायद इसीलिये उसकी प्रगतिशीलता का सिद्धान्त सामाजिक आर्थिक परिस्थियों और उनके संघातों पर आधारित न होकर राजनीति विशेष के ध्येय की सिद्धि का साधन मात्र रह गया है। सांस्कृतिक क्षेत्र में कुछ भी रचनात्मक कार्य नहीं हो रहा है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में रचनात्मक कार्य के लिये हममें से अनेक साथियों का ध्यान अलग अलग गया है। कहीं कहीं, जैसे महाराष्ट्र में, कुछ कार्य भी हो रहा है। किन्तु जरूरत इस बात की है कि हम अपने कार्य को सामूहिक रूप दें। इस दिशा में भाई रामवृक्ष वेनीपुरीजी और हम लोगों ने सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के लिये एक योजना तयार की है। इस योजना को हम यहाँ दे रहे हैं।

हम लोगों ने अपने कार्य को संघटित रूप देने के लिये इस संस्था का नाम रखा है–"न्यू कल्चर सोसायटी", जिसका हिन्दी नाम होगा "नव संस्कृति संघ"। इस संघ का उद्देश्य होगा—

"अपनी संस्कृति का ऐसा विकास करना, सभी सांस्कृतिक पहलुओं को ऐसी नई दिशा में प्रेरित करना, जिससे हमारा सामाजिक जीवन स्वाधीनता, समता और मानवता के आधार पर पुनः संघटित हो तथा उसमें सौन्दर्य और आनन्द की पूर्णरूप से अभिव्यक्ति हो सके।"

अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये हम लोगों ने यह कार्यक्रम बनाया है:—

"१, लेखकों, कवियों, कथाकारों और पत्रकारों का ऐसा संघटन करना, जिसमें वे पारस्परिक आदान प्रदान द्वारा सामूहिक रीति से जन जीवन के अभावों की अभिव्यक्ति करते हुए परिपूर्ण सामाजिक जीवन की ओर साहित्य को आगे बढ़ावें।

"२, रंगमंच, संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि में लगे हुए कलाकारों को इस तरह संघठित और प्रोत्साहित करना कि वे अपनी कला के द्वारा जन जीवन का अधिकाधिक प्रतिनिधित्व करते हुए उसे सौन्दर्य और आनन्द से ओतप्रोत करें।

"३, शहरों और गांवों में ऐसे सांस्कृतिक केन्द्र संचालित करना, जहां नई संस्कृति से दिलचस्पी रखने वाले लोग मिले जुलें, विचारों का आदान प्रदान करें और साहित्यिक तथा कलात्मक कृतियों अथवा प्रदर्शनों द्वारा समाज में नई जिन्दगी का विकास करें।

"४, सुविधानुसार नई संस्कृति पर पुस्तिकाएं, पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित करने का आयोजन करना।"

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये हम लोगों ने एक अस्थायी समिति भी संघटित करली है, जिसके संयोजक श्री रामवृक्ष वेनीपुरी हैं। श्री वेनीपुरीजी शीघ्र हिन्दुस्तान के विभिन्न प्रान्तों के सांस्कृतिक और साहित्यिक महानुभावों से पत्र व्यवहार करेंगे, उनके निकट अपने उद्देश्य और कार्यक्रम को रखकर विचारों का आदान प्रदान करेंगे। फिर एक सूची बनाकर सभी प्रान्तों के सांस्कृतिक और साहित्यिक व्यक्तियों का एक सम्मेलन बुलाने की योजना बनायेंगे। बहुत सम्भव है यह सांस्कृतिक सम्मेलन बनारस में हो।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस सांस्कृतिक आयोजन का सम्बन्ध राजनीति से नहीं है। कम से कम इस सम्मेलन के नियन्त्रण का सम्बन्ध राजनीति से नहीं है। हमारे उद्देश्य से सहमत कोई भी कलाकार, साहित्यकार और पत्रकार हमारे यहां आदर और सम्मान का अधिकारी है।

—बैजनाथसिंह 'विनोद'

प्रगतिवाद: एक ऐतिहासिक मांग

जीवन के अभाव की कलात्मक अभिव्यक्ति में साहित्य की मूल प्रेरणा निहित है। इसमें उसका अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने का उद्देश्य स्पष्ट होता है। हम अपने जीवन में जिसे नहीं पाते; सामाजिक, आर्थिक या नैतिक दबाव के कारण जिसे नहीं पा सकते, उसे कल्पना में पाने की कोशिश करते हैं—पढ़ कर, लिख कर। साहित्य-सृजनकी यह प्रवृत्ति जिस सीमा तक समाजव्यापी और सूक्ष्म होती है, साहित्य उतना ही महान और दीर्घजीवी होता है।

एक समय में, जन जीवन में विलास और भोग व्याप्त था, समाज के दुख की ओर किसी का ध्यान नहीं था, जीवन में शान्ति और साधना का स्थान नहीं रह गया था, तब इस अभाव ने भगवान् बुद्ध की शान्त और वैराग्यपूर्ण वाणी में अपनी पूर्णता का आश्रय ढूंढ़ा। साहित्य उस ओर प्रधावित हो उठा। किन्तु जब मुण्डित मस्तक सन्यासियों की बाढ़ से समाज आक्रान्त होने लगा, तरुण अपनी तरुणी पत्नी को जीवित वैधव्य से रुलाने लगे, माता का मातृत्व जब क्रन्दन करने लगा, तथा और भी सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियां पैदा हुईं, तो महाकवि कालीदास की सौन्दर्यलहरी में जीवन के अभाव को परितृप्ति होने लगी। नैतिक आदर्श की ऊँचाई से बंधे हुए सामाजिक-मनने साहित्य में परकीया की अनैतिकता को भी कबूल किया और उससे ऊबकर उसने समाज-सुधार का राग भी गाया। इन सभी तथ्यों से सिद्ध होता है कि जीवनके अभाव की कलात्मक अभिव्यक्ति में परितृप्ति साहित्य की मूल प्रेरणा है।

किन्तु उसके साथ कुछ और बातें भी हैं। साहित्यकार जिस समाज का होता है, उसकी शिक्षा-दीक्षा जैसी होती है, वह जिन लोगों—जिस समाज—को अपने साहित्य से प्रभावित करना चाहता है, उसका भी प्रभाव उसके साहित्य पर पड़ता है। अर्थात् उसके साहित्य में निहित मूल प्रेरणा में विभिन्न भंगिमा से उसके समाज के अभाव की अभिव्यक्ति रहती है। इसी लिये साहित्य सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। वह वर्ग विशेष का प्रतिभू स्वरूप होकर रह जाता है।

किन्तु उसके साथ कुछ और बातें भी हैं। साहित्यकार की संवेदना, उसकी उदारता और मानवता, उसके संस्कार, उसका बौद्धिक विकास और उसकी शक्ति जिस सीमा तक समाजव्यापी होगी, उसी सीमा तक साहित्यकार अपनी सामाजिक वर्गगत पृष्ठभूमि से आगे जाकर मानव समाजकी पीड़ा को आत्मसात करेगा; उसी सीमातक आगे बढ़कर वह मानव समाज के अभावों की अभिव्यक्ति करेगा। साहित्यकार किसी न किसी रूप में, यद्यपि कम संख्या में, सदा यह करता आया है। इसीलिये हम कभी कभी साहित्य में निचली सतह के भी चित्र पाते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि साहित्य में गति है और उसकी गतिका मापदण्ड है उसका ज़्यादा से ज़्यादा समाजव्यापी होना। अर्थात् मानव समाज के अधिकतम लोगों के अभावों को कलात्मक अभिव्यक्ति करना यह तत्व साहित्य में सदा रहा है। पर इस तत्त्व के आधार पर न तो साहित्यका कोई शास्त्र अब तक था और न इस तत्त्व की दृष्टि से कभी साहित्यका नियमन हुआ इसलिये कहा जा सकता है कि साहित्य के इस गति तत्व की अब तक उपेक्षा हुयी और उपेक्षा अभाव का एक पहलू है। शायद इसीलिये इस विज्ञान युग में, जब कि गति की ओर समाजका ज़्यादा रुझान है, साहित्य में भी प्रगतिशीलता का रव सुनायी पड़ता है।

साहित्य के अध्ययन से पता लगता है समाज में, सामाजिक और आर्थिक उपकरणों के साथ साथ जहाँ समाजका विकास हुआ, विचारों का विकास हुआ, वहाँ साहित्य में विचारों और विचारों की अभिव्यक्ति के उपकरणों का भी विकास हुआ है। विकास की इस शृंखलाको इतिहास के किसी भी काल में देखा और समझा जा सकता है। आज साहित्य के विकास का एक नया अध्याय शुरू हुआ है। अभी तक यह साहित्यिक

की संवेदना पर निर्भर था कि वह अपने समाज के, वर्ग के, आवरणों से ऊपर उठे। पर आज समाज की यह आवश्यकता है कि सामाजिक वर्ग-भेदकों मिटा कर वर्ग-हीन समाजकी रचनाकी जाय। इसलिये आज साहित्यिक के लिए यह धर्म हो गया है कि वह अपनी संवेदना को समाजव्यापी करे, समाज के ज्यादा से ज्यादा समुदाय के अभावको अपनी संवेदना में आत्मसात करके उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति करे। पहले जहाँ साहित्यकार का श्रोता, सामन्त वर्ग और उसका धार्मिक सम्प्रदाय—पुरोहित, पुजारी, उनका आश्रय दाता और भक्त—था, फिर जहाँ साहित्यकार का श्रोता या पाठक कुछ शिक्षित और अवकाश प्राप्त बाबू समाज था या अब भी कुछ है, वहाँ आज साहित्यकार के सम्मुख विराट संख्या में अभावग्रस्त जन समाज है—जिनमें मजदूर और किसान भी हैं। पहले समाज पर घात-प्रति-घात करने वाले उपकरण देश की भौगोलिक सीमा के अन्दर थे; पर आज यह स्थिति नहीं है। आज भौगोलिक सीमाएं टूट गयीं हैं, आज अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थियों का बड़ा व्यापक प्रभाव जन समाज के जीवन पर पड़ रहा है। इसलिये साहित्यकार के लिये उन नियामक परिस्थितियों का भी जानना आवश्यक हो गया है। इन सारी परिस्थितियों ने आज साहित्यकार को उस सीमा पर लाकर खड़ा कर दिया है, जिस सीमाको प्रगतिवाद की संज्ञा दी जाती है या दी गयी है।

इस तरह प्रगतिवाद हमारे साहित्य के विकास की एक मंजिल है। वह हमारे ऐतिहासिक मांग की पूर्ति है। उसमें हमारे युग के अभाव की अभिव्यक्ति निहित है, उससे हमारे साहित्यकी व्यापकता सम्भव है।

—बैजनाथसिंह 'विनोद'

प्रजातंत्र सच्चे समाजवाद का प्राण है

पूँजीवाद के विरोध ऐसे हैं कि राष्ट्रों के झगड़े और विरोध कभी न कभी खुले रूप में सामने आ जायँगे। समाज की नींव बुरी तरह हिल गई है और पुराना शासक वर्ग अब यह नहीं समझ पाता कि इस बदली हुई हालत में शासन कैसे चलाया जाय। नई परिस्थितियों के अनुसार अपने को बदलने में यह असमर्थ है और नई नींव पर समाज का निर्माण करने की इसके पास न बुद्धि है न शक्ति। नित्य प्रति यह स्पष्ट होता जा रहा है कि जब तक वर्तमान साम्पत्तिक सम्बन्धों में भी आमूल परिवर्तन नहीं किया जाता तब तक दुनियाँ में स्थायी शांति नहीं हो सकती। एक नये युग का प्रादुर्भाव हो रहा है और समाजवाद की स्थापना का समय आ ही गया मालूम देता है। मगर अब भी कुछ बड़ी दिक्कतें हैं, जिन पर फतह पाए बिना दुनियाँ मंज़िलेमक़सूद तक नहीं पहुँच सकती। उसूलों की दुनियाँ में हमें इस ख्याल का मुकाबिला करना है कि समाजवाद और प्रजातंत्र में असंगति है। कुछ तो यहाँ तक कह गये हैं कि समाजवाद गुलामी की ओर ले जानेवाली राह है। एक ब्रिटिश अर्थशास्त्री की राय में जाती आज़ादी ऐसे ही समाज में कायम रह सकती है, जहाँ आर्थिक जीवन स्वतंत्र है और उस पर राज का कोई नियंत्रण नहीं है। वे स्वतंत्र उद्योग के हिमायती हैं और जब कि समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन और उपभोग व्यवस्थित तथा नियंत्रित होता है। उनकी राय में ऐसी व्यवस्था में अति आवश्यक स्वतंत्रतायें सुरक्षित नहीं रखी जा सकतीं। सोवियत रूस में समाजवाद के विकृत रूप के फलस्वरूप राजनीतिक स्वतंत्रता के लोप हो जाने से लोगों के दिल में यह विश्वास उत्पन्न हो गया है कि व्यवस्थित आर्थिक पद्धति हमें नौकरशाही और सर्वशक्तिवाद की ओर ले जाती है।

दुर्भाग्य की बात है कि रूसी व्यवस्था आगे स्थापित होनेवाले समाजवाद का नमूना मान ली जाती है और सारी आलोचना इसी आधार पर की जाती है। वे लोग, जिनका कम्यूनिज्म में विश्वास रूस की राजनीतिक और सामाजिक अवस्थाओं के कारण से बुरी

तरह हिल चुका है और जो अब व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मानवीय अधिकारों को प्रधानता दे रहे हैं, वे इस अवस्था के लिये स्टालिनवादी ग्रुप के कुचक्रों को दोषी बताते हैं। साथ ही जो लोग ऐसे हैं जो इसमें और गहरे डूबते हैं उनकी ऐसी धारणा है कि व्यवस्थित उत्पादन में वैयक्तिक स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाती है। इन दोनों विचारधाराओं में सत्य का अंश कुछ है, लेकिन प्रजातांत्रिक प्रणाली के इस्तेमाल से खतरे को दूर किया जा सकता है। व्यवस्थित उत्पादन में कोई ऐसी बात नहीं जिससे मानवीय अधिकार पर बहुत बड़ा खतरा आ ही जाय। राज्य का आर्थिक उत्पादन इस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है कि इस कार्य के करने में कम से कम हानि उठानी पड़े। राज के बाहर प्रजातंत्र की योजना, आर्थिक व्यवस्था का अकेन्द्रीकरण, कुछ उद्योगों को चलाने के लिये गैर सरकारी कारपोरेशनों की स्थापना और समाज के आर्थिक जीवन के ऊपर मजदूरों के स्वतंत्र संगठनों का नियंत्रण इन सब तरीकों से इस खतरे से बचाव हो सकता है।

इसके अलावा एक और कारण है जिससे कम्यूनिज्म की बदनामी हुई है। कम्यूनिस्ट पार्टी का व्यवहार, उसकी चालबाजियाँ और दोरुखी कार्रवाइयाँ, उसकी निरी अवसरवादिता और उसके दूसरों के साथ व्यवहार करने में नैतिकता की पूरी अवहेलना करने के कारण समाजवाद बदनाम हो गया है। कम्यूनिस्ट पार्टी ने जब कभी दूसरी राजनीतिक पार्टियों के साथ एक संयुक्त मोर्चा कायम किया है, तब ऐसा उसने अपने फ़ायदे के लिये किया है, और जब कभी उसने किसी दूसरे संगठन के साथ सम्बन्ध कायम किया है, तो ऐसा उसने उसे अपने अधिकार में लाने या उसे तोड़ने के लिये किया है। उसकी नीति और रीति में इस प्रकार निरंतर हेर फेर होता है कि उसके साथ चलना मुश्किल हो जाता है।

सच तो यह है कि कम्यूनिस्ट पार्टियों के असैद्धान्तिक काम और उसकी दोहरी नैतिकता के कारण समाजवाद को बड़ा धक्का लगा है। और इसमें कोई शक नहीं कि यदि उसके व्यवहार की सतह भिन्न होती तो वाम पक्षियों में एकता हो गई होती।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि यद्यपि आ प्रजातंत्र की वकालत करते हैं, लेकिन ऐसा मालूम है कि क्षणिक लाभों को प्राप्त करने के लिए यह क निस्टों की एक चालमात्र है। वे बात के सच्चे नहीं हैं। इससे साबित होता है कि सोवियत रूस के लोगों राजनीतिक स्वतंत्रता दिलाने के लिए वे कुछ भी न करते। सुप्रसिद्ध बलगेरियन कम्यूनिस्ट, डिमिट्र अपनी पार्टी से यह नहीं छिपाता कि यह प्रजातंत्रात रीति अपना काम निकालने का तरीका है। उस कहना है—'इस समय पार्टी को साधारण प्रजातंत्रात पार्टी का रुख अवश्य धारण करना चाहिये। कम्यूनिस्ट इस दोहरे ख्याल से परेशान होते हैं, या तो मार्क्सवादी नहीं हैं या उभाड़ने वाले ल (provocateurs) हैं। इस वक्तव्य को ख्याल रख कर यह कैसे आशा की जा सकती है कि कम्यूनिस्ट कम्यूनिस्टों से सहयोग करें?

फासिज्म और युद्ध के खतरे से लड़ने के लि दुनियाँ भर के कम्यूनिस्टों को प्रजातन्त्र और स्वतन्त्र के समान आधार पर जन प्रधान मोर्चे कायम कर पड़े। युद्ध काल में कम्यूनिस्टों ने युरोप के निरोधात्म आंदोलन में अपने कार्यक्रम में साम्यवाद की बात की। उनका एकमात्र ज़ोर प्रजातन्त्र पर था। प्रजातन और स्वतन्त्रता के नाम पर जनता को फासिज्म लड़ने के लिये तैयार किया गया और जब युद्ध जी लिया गया है और धुरीराष्ट्रों का विध्वंस हो गय तब यह तर्क संगत बात है कि हम इन उच्च विचार की गहरी शक्तियों को महसूस करें और यह बेलाग स्प कर दें कि हम प्रजातान्त्रिक समाजवाद के समर्थक हैं।

जहाँ तक कांग्रेस सोशलिस्टों का सम्बन्ध है, हम सदा प्रजातन्त्र और आज़ादी के लिए खड़े रहे हैं। हमने सदैव इसे एक स्वयं सिद्धि माना है कि केवल समाजवाद में ही पूर्ण प्रजातन्त्र है और वह एक दर्शन है, जो मानव व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास पर उतना ही ज़ोर देता है, जितना कि आर्थिक स्वतन्त्रता पर। विविध प्रकार के मानव प्रयत्नों में सोवियत रूस ने जो सफलता प्राप्त की है, उसी कारण हम उसका आदर करते हैं, मगर हमने मित्रवत् आलोचना भी की है और इस

बात से दुखी रहे हैं कि वहाँ राजनीतिक स्वतंत्रता के प्रति उदासीनता का भाव रहता है।

ऐसा सोचना गलत है कि मार्क्स की शिक्षाएं प्रजातन्त्र के खिलाफ जाती हैं। मार्क्स अपने समय के बड़े-से-बड़े मानवता के पुजारियों में से था। वह वाक् स्वतन्त्रता के अधिकार को सबसे अधिक पवित्र मानव अधिकार समझता था। उसकी व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये की गई जोशीली वकालत मशहूर है। उसके कम्यूनिज्म का आधार पूर्ण प्रजातन्त्रता थी। इसी कारण उसका विश्वास था कि प्रजातान्त्रिक इंगलैंड और अमेरिका में समाजवाद हिंसा के बिना सफल हो सकता है। उसका मत है है कि प्रतिस्पर्द्धा और सम्पत्ति का जो नियंत्रण मनुष्यों पर होता है, वही सब बुराइयों की जड़ है। एंगेल्स की परिभाषा के अनुसार कम्यूनिज्म मज़दूर वर्ग की स्वतन्त्रता के साधनों का सिद्धान्त है। निश्चय ही मार्क्स और एंगेल्स ऐसे समाजवाद का प्रचार नहीं कर सकते, जो लोगों को काम देकर उन्हें गुलाम बना ले और उनकी अत्यावश्यक स्वतन्त्रताओं को छीन ले।

मार्क्स के अनुसार, मानव-विकास की सामंती और पूँजीवादी अवस्थाओं ने व्यक्ति की मानवता को नष्ट कर दिया है और केवल मज़दूर क्रांति ही उसकी लुप्त संपूर्णता को पुनः स्थापित करेगी। उसकी धारणा थी कि मज़दूर वर्ग मानवता का प्रतिनिधि है और उसकी विजय मानवता की विजय होगी। अपनी योजना में उसने सामाजिक मनुष्य को केन्द्रस्थल में रखा है। मार्क्स द्वारा संस्थापित कम्यूनिस्ट लीग के मुख पत्र the Cologne Communist Trial Number of the Communist Journal से उद्धृत नीचे के अनुच्छेद से इस बात पर प्रकाश पड़ता है, (सितम्बर १८४७)—

"हम उन कम्यूनिस्टों में से नहीं हैं जो निजी स्वतंत्रता को नष्ट करना चाहते हैं, जो दुनियाँ को एक बड़े बैरेक या वर्कहाउस के रूप में बदल देना चाहते हैं। कुछ कम्यूनिस्ट आसानी से निजी स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं करते और उसे दुनियाँ से बाहर कर देना चाहते हैं क्योंकि पूर्ण एका स्थापित करने के लिये इसे वे एक बाधा समझते हैं। लेकिन हम लोग समता से स्वतंत्रता का विनिमय नहीं करना चाहते। हमारा विश्वास है सामाजिक स्वामित्व के आधार पर निर्मित समाज में पूर्ण स्वतंत्रता जितनी सुरक्षित होगी, उतनी और किसी समाज में नहीं।

यह कहा जा सकता है कि जब मार्क्स स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के हिमायती थे, तो उसने मज़दूरों के एकाधिपत्य की बात क्यों कहीं। हमें याद रखना होगा कि ऐसे एकाधिपत्य की कल्पना मार्क्स ने उन देशों के लिये की थी, जहाँ पर प्रजातंत्रात्मक संस्था और प्रथाएं घर नहीं कर पायी थीं और जहाँ पर पूँजीपति वर्ग अपने विरोधी शक्तियों के खिलाफ़ तुरन्त राजकी सारी सैनिक शक्ति को लाकर खड़ा कर सकता था। इस एकाधिपत्य की कल्पना थोड़े समय के लिए की गई थी और इसका स्वरूप सभी मेहनतकशों के प्रजातांत्रिक एकाधिपत्य का था, न कि किसी एक पार्टी के एकाधिपत्य का।

मार्क्सवादी दर्शन का उद्भव इसलिये नहीं हुआ था कि निजी स्वतंत्रता को स्थापित करने के लिये जो अच्छा काम हो उसे बरबाद कर दिया जाय, बल्कि इसलिये कि उस प्रजातंत्र और स्वतंत्रता को साधारण जनों के लिए पूर्ण रूप से उपलब्ध करा दिया जाय। मार्क्स ने १९ वीं सदी के आर्थिक मानव को अमानुषिक तथा पाशविक कह कर निन्दा की थी, क्योंकि पूँजीवादी प्रथाने जन साधारण को अर्धदास और चल सम्पत्ति की अवस्था में पहुँचा दिया था।

प्रजातंत्र की जिस धारणा का सम्बन्ध पूँजीवाद के विकास के साथ है, यह अपूर्ण है, क्योंकि यह राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित है। २० वीं शती के प्रारम्भ से धीरे धीरे यह बढ़ता गया है और इसके अन्दर आर्थिक प्रजातंत्र का भी समावेश हो गया। प्रजातंत्र की पूंजीवादी कल्पना की कमियों को दिखाना कम्यूनिस्टों के लिये ज़रूरी था, लेकिन उदार परम्परा के प्रति आदर का भार नष्ट करके उन्होंने बड़ी गलती की। अपने प्रचार द्वारा उन्होंने प्रजातांत्रिक संस्थाओं के प्रभाव को कमज़ोर कर दिया। इस प्रकार कम्यूनिस्टों ने उदार परम्परा के विनाश में मदद दी, जिस पर आगे चल कर फ़ासिस्टों द्वारा भी आक्रमण हुआ और जिसने फासिज्म के लिये रास्ता साफ़ कर दिया। इस भारी भूल के लिए सोशलिज्म को गहरा दाम चुकाना पड़ा। जर्मनी में जिस गति से फासिज्म की वृद्धि हुई और फासिस्ट विचारधारा जिस तरह सारी दुनियाँ में फैल गई, उससे समाजवाद ही नहीं, समस्त मानव प्रगति खतरे में पड़ गई।

मैंने प्रजातंत्र बनाम समाजवाद के प्रश्न पर ही अपने विचार प्रकट किए हैं, क्योंकि आज यह एक मौलिक प्रश्न है। हमें प्रजातंत्र और स्वतंत्रता में अपना विश्वास फिर से प्रकट करना है। आज ऐसी घोषणा की सबसे बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि यदि गत महायुद्ध ने कुछ सिद्ध किया है तो यह कि जन साधारण अपने काम के लिए और काम की अच्छी हालतों को सुरक्षित करने के बाद अपने संपूर्ण विकास के लिए निश्चय ही स्वतंत्रता और प्रजातंत्र की मांग करेगा।

हम एक और बात की ओर संकेत करना चाहेंगे। आज कई पार्टियों की माँग है कि वाम-पक्ष में एकता हो। उनका कहना है कि वाम पार्टियाँ एक साथ हो जायँ और एक संयुक्त मोर्चा कायम करें। बेशक सभी क्रांतिकारी और समाजवादी शक्तियों की एकता अगर हो सके तो प्रतिगामी शक्तियों के खिलाफ एक अजेय शक्ति की सृष्टि होगी। लेकिन दुर्भाग्यवश उन कारणों की वजह से, जो सबको अच्छी तरह मालूम हैं और जिनका संकेत ऊपर हुआ है, ऐसी एकता निकट भविष्य में सम्भव नहीं दिखलायी देती। हम कांग्रेस सोशलिस्टों ने इस देश में स्वयं बड़ा नुकसान उठाकर समाजवादी एकता कायम करने की भरपूर कोशिश की है और आखिर में हमें पता चला कि हम मृगमरीचिका की ओर दौड़ रहे थे और ज़िन लोगों ने एक होने की इच्छा प्रकट की थी वे केवल अपनी पार्टी के फायदे के लिए ऐसा करना चाहते थे न कि आन्दोलन की मज़बूती के लिए। आश्चर्य की बात है कि यह हिन्दुस्तान की विशेषता नहीं है, एक सार्वभौ रोग है। वाम पक्षियों में कम्यूनिस्टों के व्य और उनकी चलन में ऐसी कोई बड़ी ग है जो समाजवादियों की इतनी फूट के लिए उत्तरद है। जब तक उनमें मौलिक परिवर्तन नहीं होता, तक एक होने की आशा किसी भी जगह कम दिखलाई पड़ती है। कम्यूनिस्ट लोगों के पत्र (सित १९४७) से एक अंश सभी वाम पक्षियों, खा कम्यूनिस्टों के लिये यहाँ उद्धृत किया जाता है:—

"यहाँ हमें कुछ शब्द उस मज़दूर वर्ग से हैं, जो दूसरी राजनीतिक या सामाजिक पार्टियों में हम आज के समाज से लड़ने निकले हैं, क्योंकि हमें पीड़ा पहुँचाता है और गरीबी और घोर दुख में हमें सड़ाता है। अफसोस है कि इस बात महसूस करने और अपनी एकता कायम करने जगह हम आपस में झगड़ते हैं, एक दूसरे से लड़ जिसमें हमारे उत्पीड़कों को खुशी होती है। एक तंत्र राज को स्थापित करने के लिये एक होकर करने की जगह, जिसमें हरेक पार्टी अपने विचार लिये ज़बानी या लिखित रूप में बहुमत प्राप्त सकेगी, हम एक दूसरे से इस बात पर लड़ते हैं एक पार्टी के विजयी हो जाने पर क्या होगा न होगा।

अगर हमें एकता स्थापित करनी है तो पार्टियों के मुख्य वक्ता और भिन्न मत वालों के ऊपर आक्षेप करना अवश्य छोड़ दें और दूसरे सिद्धान्त समर्थकों को गालियाँ देना भी बन्द कर दें।"

—नरेन्द्र

मुसलिम जन सम्पर्क—श्रणी संघटन में

आज की हिन्दू मुसलिम समस्या का आभास कविगुरु रवीन्द्रनाथ को बंगभंग के समय ही लग गया था और उन्होंने कहा था कि मुसलमानों को बहकाने के लिए हमें अंग्रेजों को दोष नहीं देना चाहिये। बल्कि हमें तो उनका कृतज्ञ होना चाहिये कि उन्होंने हमें समय रहते सावधान कर दिया। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि हमने, हमारे राष्ट्रीय नेतृत्व ने बंगभंग से सबक नहीं लिया, हम सावधान नहीं रहे। और नतीजा हमारे सामने है। सहज बुद्धि का राष्ट्रवादी हिन्दू मुसलमानों को देश का विरोधी और अंग्रेजों का पिट्ठू कह कर अपनी खीझ का परिचय दे देता है। औसत दर्जे का कांग्रेस नायक लीग को अंग्रेजों का एजेंट कह कर सन्तोष कर लेता है। इस तरह हमारी राष्ट्रीय तरुणाई मुसलिम विरोध की दिशा में गतिशील हो चली है। पर ऐतिहासिक की नजरों में हमारी राष्ट्रीय तरुणाई को दिग्भ्रम हो गया है।

हम इतिहास की ओर नजर डालते हैं, तो हमें अंग्रेजों का पहला शत्रु मुसलमान दिखाई देता है। हम यहां बादशाहों की बात न भी करें तो हजरत वहीउल्ला के वहाबी आन्दोलन को तो नहीं ही भुला सकते। यह सही है कि इस आन्दोलन का मेरुदण्ड कुरान की नैतिक शिक्षा है! किन्तु यह भी सही है कि इस आन्दोलन के नेताओं ने हिन्दुओं के विरुद्ध साम्प्रदायिक आधार पर मुसलमानों को नहीं भड़काया था! १८ वीं शती में इन नेताओं ने बंगाल में किसान आन्दोलन चलाया था और उनके आन्दोलन में हिन्दुओं की संख्या काफी थी। वह जमीदारों के विरुद्ध जनता को उभाड़ते थे, चाहे जमीदार हिन्दू हो या मुसलमान। यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि जब योरोपियन मॉडल पर अंग्रेजी हुकूमत हिन्दुस्तान में जमींदारी प्रथा की बुनियाद डाल रही थी तो वहाबी नेताओं ने यह कह कर उसका विरोध किया कि जमीन खुदा की है। उनके इस आन्दोलन की नैतिकता की प्रशंसा आचार्य क्षिति-मोहन सेन सरीखे सन्त ने अपने कलकत्ता यूनिवर्सिटी के भाषण में भी की है। उस सारे काल में मुसलमानों का अंग्रेज विरोध इस सीमा तक था कि वे अंग्रेजी सहायता प्राप्त मदरसों तक का बहिष्कार करने लगे थे। अंग्रेजी जेलों में सबसे पहले राजबन्दी मुसलमान ही थे और उन्हीं के लिये १८१८ का रेगुलेशन ६ बना है। अपने अंग्रेज विरोध की कीमत भी मुसलमानों को काफी देनी पड़ी। शिक्षा के क्षेत्र में वे काफी पिछड़ गये। मेकाले ने अंग्रेजी शिक्षा की नींव चाहे हमारी संस्कृति को तबाह करने के लिये, नौकरों के रूप में कुछ गुलाम पैदा करने के लिये ही डाली हो; पर शिक्षा अपने आप में एक ज्योति है। चोर चाहे चोरी के लिए ही घर में दियासलाई जलाये, पर उससे रोशनी तो होती ही है; और उस रोशनी से सोनेवाला जगकर चोर को भगा भी सकता है। यही हुआ भी। अंग्रेजी शिक्षा से एक नई लहर योरोप से आई। मुसलमानों ने अंग्रेज-विरोध को अंग्रेजी शिक्षा के-योरोपीय लहरों के विरोध में परिणत कर दिया। नतीजा यह हुआ कि वे इस क्षेत्र में पिछड़ गये। हिन्दुओं ने इसका विरोध नहीं किया। इसके अनेक कारण थे, जिनमें एक अंग्रेजों की नीति भी थी, इसलिये वे इस क्षेत्र में आगे रहे। योरोप की नई लहरों के परिचय के कारण हिन्दुओं में राष्ट्रीयता का जोर बढ़ा। धीरे धीरे उनमें अंग्रेजों का विरोध बढ़ा। इस विरोध का पता लगाने के लिये ह्यूम ने १८८५ में कांग्रेस की स्थापना की थी। पर कांग्रेस तो उन्हीं की होगी, जो उसमें होंगे। राष्ट्रीय भावनाओं के दबाव का यह परिणाम हुआ कि कांग्रेस अंग्रेजों के हाथ से खिसक कर राष्ट्रवादियों के हाथ में आ गयी। इधर अंग्रेज देश की बढ़ती हुई राष्ट्रीयतासे सावधान थे। उन्होंने अब मुसलमानोंकी पीठ ठोंकनी शुरू कर दी। मुसलमानोंने भी गुजरते हुए जमानेमें देखा कि अंग्रेजी अमलदारीने जिस मध्य श्रेणोकी, बाबूवर्गकी, सृष्टिकी उसकी तादाद हिन्दुओंमें ही ज्यादा है और इससे मिलने वाले लाभ उन्हींको मिलते हैं। मुसलमान उन लाभोंसे वंचित रहते हैं। उससे उनमें यह प्रतिक्रिया हुई कि अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजोंकी कृपामें रहनेसे मुसलमानोंका हित सम्भव है। मुसलमानोंकी इस भावनाका नेतृत्व (सर) सैयद अहमद खांने किया। अंग्रेजी हुकूमत इस सारी स्थितिसे वाकिफ़ थी; उसे हिन्दुस्तानके उमड़ते हुए राष्ट्रवादको रोकना भी था। इसलिये उसने मुसलमानोंको प्रेरित करके १९०६ में मुसलिम लीगकी स्थापना करवायी। इस तरह कांग्रेस और लीग दोनोंकी स्थापनामें अंग्रेजोंका स्वार्थ और उनकी नीतिका प्रधान हाथ रहा है। पर सामाजिक दृष्टिसे देखने पर यह भी मालूम होता है कि हिन्दुओंका मानसिक विकास पहले हुआ—उसके विकासके लिये राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियोंने उसे पहले आगे किया (ख्याल रहे कि यह राजनीतिक परिस्थिति साम्राज्यवादी और पूंजीवादी थी) और मुसलमानोंको बादमें। इस तरह दोनोंके सामाजिक और राजनीतिक विकासमें २१ सालका अन्तर है। यदि हम इस ऐतिहासिक अन्तरको सामने रखें, तो मुसलमानों पर खीझते, उनको देशद्रोही समझने उन्हें अंग्रेजोंका पिट्ठू समझनेका कोई कारण नहीं रह जाता। यह सही है कि अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता उभाड़ने के लिये लीग की स्थापना करवायी थी। पर क्या कॉंग्रेस की स्थापना उन्होंने स्वराज्य के लिए करवायी थी? अतः हमें किसी मुसलमान से, उसके लीगी रुख से, खीझने और परेशान होने की जरूरत नहीं। जरूरत इस बात की है कि हम मुसलमानों को ज्यादा से ज्यादा जन सम्पर्क में लाकर, उनके अंग्रेज विरोध, जमीदारी विरोध, सूदखोर (याद रहे सूदखोरी इसलाम में कुफ्र है) विरोध, महाजन विरोध और अन्त में पूंजीवाद विरोध में परिणत कर दें।

यहां साधारण कार्यकर्ता को परेशानी हो सकती है कि मुसलमान तो कांग्रेस के नाम से भड़कता है, वह कांग्रेस को अपना शत्रु समझता है, वह लीग के अलावा और किसी की नहीं सुनता, ऐसी हालत में वह क्या करे? मुसलमानों के इस रुख से भी हमें परेशान होने की जरूरत नहीं। मुसलमानों का यह रुख भी हमारी कमज़ोरी के कारण है—यह हमारे पापों का परिणाम है। आज जिन भू-भागों को आधार बनाकर लीग पाकिस्तान की मांग करती है, वहां पिछले २० सालों में कांग्रेस की नीति गलत रही है। बंगाल में मुसलि[illegible] आबादी ज़्यादा है और उसमें मुसलिम आबादी क[illegible] अधिकतम भाग किसान है। बंगाल की ज्यादा [illegible] ज्यादा जमीदारियां हिन्दुओं की हैं। पर सन् १९२६ [illegible] लेकर १९३८-३९ तक जितने भी किसानों के हक [illegible] कानूनी सुधार आये, सबका बंगाल की कांग्रेस ने विरो[illegible] किया, उसके कार्यों की आलोचना से मालूम हो जात[illegible] है कि बंगाल की कांग्रेस कमेटी बराबर ज़मींदारों [illegible] हक में रही है। यही हाल पंजाब का भी रहा है। पंजाब की कांग्रेस कमेटी ने डा० गोपीचन्द भार्गव [illegible] नेतृत्व में पिछली असेम्बली में किसानों के हित [illegible] विरोध किया था। यह सही है कि बंगाल और पंजा[illegible] की कांग्रेस कमेटियों के इस रुख को अखिल भारती[illegible] कांग्रेस कमेटी ने उचित नहीं समझा। पर उसने दबा[illegible] डालकर इन सूबा कमेटियों को सही रास्ते प[illegible] चलाया भी नहीं। अपनी इस नीतिगत और नैति[illegible] कमजोरी के कारण बंगाल और पंजाब के किसानों [illegible] कांग्रेस कमेटी नहीं पहुँच सकी। दूसरे अर्थ में व[illegible] मुसलमानों के निकट नहीं पहुंच सकी। इसके सा[illegible] ही इन सूबों की कांग्रेस कमेटियों पर ऐसे लोगों [illegible] प्रभाव था, जिनमें उस सामातक हिन्दुस्तानी मनोवृ[illegible] नहीं थी कि वह मुसलमानों को भी अपनी ओर खीं[illegible] सकें। इसलिये इन सूबों का मुसलिम क्षेत्र कांग्रेस [illegible] प्रायः अछूता पड़ा रहा। इस क्षेत्र को लीग ने इस्तेमा[illegible] किया। लीग साम्प्रदायिक संस्था है। इसलिये उस[illegible] प्रचार से इन सूबों के मुसलमानों में साम्प्रदायिकता [illegible] कर गयी। बाकी अल्प संख्यक मुसलिम सूबों [illegible] मुसलिम जन सम्पर्क की उपेक्षा की गयी। अने[illegible] स्थानों में तो एक ही आदमी कांग्रेस और हि[illegible] सभा या आर्य समाज का अधिकारी होता र[illegible] है। मुसलिम मनोवृत्ति को जगह ही नहीं दिया गया इसलिये मुसलमान जनता लीग के प्रचार औ[illegible] प्रभाव में आती गयी। जहाँ पिछले चुनाव में लीग को कोई [illegible] नहीं थी, वहाँ लीग आ[illegible] मुसलिम बहुमत का प्रतिनिधित्व करती है! यह औ[illegible] कुछ नहीं हमारी गलत नीति, उपेक्षा तथा अकर्मण्यत[illegible] का सबूत है।

राजनीति में नीति-निर्धारण और फिर उस प[illegible]

भरपूर अमल आवश्यक है। इनमें से एक के भी व्यतिरेक का परिणाम भयंकर हो सकता है। यद्यपि कांग्रेस की नीति में मुसलमानों के लिए काफी गुंजाइश है। पर प्रारम्भ में ही विकास क्रम की गलती के कारण तथा कांग्रेस के हिन्दू बहुमत की गलती से ऐसी परम्परा बन गयी, जिससे मुसलिम जन समुदाय में कांग्रेस के प्रति आकर्षण नहीं रह गया। मुसलिम बहुमत की यह मनःस्थिति एक तथ्य है और इस तथ्य को मान कर ही चला जा सकता है। इस तथ्य को मान कर चलने का अर्थ है कि मुसलमानों में कांग्रेस के नाम से काम न किया जाय। मुसलमानों में आर्थिक आधार पर काम किया जाय। किसानों, मजदूरों और बुनकरों का संघटन किया जाय। इनका संघटन करते समय इस बात का खास ध्यान रखा जाय कि इन संघटनों में ज्यादा से ज्यादा मुसलमान आवें। जिस क्षेत्र में ये संघटन किए जाय, उस क्षेत्र के मुसलमानों की तालिका बना ली जाय, उस तालिका के आधार पर मुसलमानों को उस संघटन में लाने की कोशिश की जाय। पर किसी भी तरह उनका अलग पन न रहने दिया जाय। ऐसा न हो कि उस क्षेत्र के मुसलमानों का अलग गिरोह बनने लगे। यदि ऐसा हुआ तो ये आर्थिक संघटन भी नष्ट हो जायंगे। उनको देश के राजनीतिक विकास से परिचित कराया जाय; पर किसी भी हालत में किसी भी मुसलिम नेता को बुरा भला न कहा जाय। उनके निकट यह स्पष्ट किया जाय कि १७५७ के प्लासी युद्ध के बाद से अंग्रेजी कूटनीति किस तरह चल रही है। हिन्दू जमीदार और मुसलिम जमीदार किस तरह एक ही तरह से किसानों का शोषण करते हैं, यह उदाहरण के साथ उन्हें समझाया जाय। किस तरह हिन्दू पूंजीपति मुसलमान पूंजीपति से और मुसलमान पूंजीपति हिन्दू पूंजीपति से अपने स्वार्थ के लिए मिल जाता है, यह उनको समझाया जाय। इसके बाद यह भी उनको बताया जाय कि पाकिस्तान के पीछे मुसलिम मूल धन का स्वार्थ है—पाकिस्तान के पीछे मुसलिम बूर्जुआ श्रेणी का क्या स्वार्थ है। उनको समझाया जाय कि वह मि० जिन्ना से पाकिस्तानी अर्थनीति और समाजनीति की व्याख्या तथा उसकी रूप रेखा की मांग करें। मुसलमानों से भाई चारा, आपसी व्यवहार और सामाजिक सम्बन्ध कायम किया जाय। बिना ऐसा किए मुसलमानों में कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता।

इस तरह अब श्रेणी संघर्ष के लिये श्रेणी संघटन के आधार पर ही हिन्दू मुसलिम एकता सम्भव है। श्रेणी संघर्ष के लिये श्रेणी संघटन कांग्रेस और लीग किसी में भी न तो सैद्धान्तिक दृष्टि से सही है और न सम्भव। और बिना श्रेणी संघटन के मुसलिम जनता को एक मोर्चे पर इकट्ठा नहीं किया जा सकता। पर जब तक एक मोर्चे पर हिन्दू और मुसलमान दोनों नहीं जुटते तब तक न तो अंग्रेजी पूंजीवाद मुल्क से हटेगा, न देशी पूंजीवाद का खात्मा होगा और न समाजवाद की स्थापना हो सकेगी। इसलिये बहुत सावधानी के साथ, कांग्रेस की परम्परागत कमजोरियों से ऊपर उठ कर, श्रेणी संघर्ष के आधार पर श्रेणी संघटन के अन्दर मुसलिम जनता से सम्पर्क कायम करना और उनका संघटन करना इस वक्त हमारा ऐतिहासिक कर्तव्य है। और इसी कर्तव्य की सफलता विफलता पर हमारे राष्ट्र का गठन निर्भर करता है।

—बैजनाथ सिंह 'विनोद'

आवश्यक सूचना

१—"जनवाणी" का व्यवस्था-विभाग—सालाना ग्राहक बनना-बनाना, एजेंसी कायम करना और विज्ञापन की व्यवस्था आदि का विभाग अब लखनऊ चला जायगा। इसलिये इस तरह के सारे पत्र व्यवहार अब इस पते पर किए जाने चाहिये :—

श्रीयुत टी० एन० सिंह
"संघर्ष" और "जनवाणी" कार्यालय
पानदरीबा,
लखनऊ

२—सम्पादकीय विभाग का पता—

'जनवाणी' कार्यालय
काशी विद्यापीठ
बनारस

जनवाणी

सम्पादक-मण्डल

आचार्य नरेन्द्र देव वी० पी० सिन्हा

राजाराम शास्त्री बैजनाथसिंह 'विनोद'

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य ८) 'जनवाणी' सम्पादकीय विभाग एक प्रति का ॥।)

काशी विद्यापीठ, बनारस

जनवाणी

भाग २] जून १९४७ [अङ्क १

रे कवि, एक बार सम्हाल

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आज मेरी कल्पने! उड़चल पुनः उस देश में, जिसमें मलय-मकरन्द-वासित वायु के हिल्लोल से हैं हिल रहे दुर्ललित कांचन-पद्म, इठलाते नवीन मराल-दम्पति परम उत्सुकतासहित अर्द्धोपभुक्त मृणाल-कवलों से परस्पर को समादृत कर रहे, चिक्कन-मसृण सुस्निग्धवपु गजशाव ले कर में सुगंधित वारि देता प्यार से ढरका करेणु-विलासिनी के भाल पर, उन्मद-चटुल जल कुक्कुटों की पांति नाना भांति कलकल्लोल से भरती हृदय अभिभूत; — मैं हूं ऊब उठा इस अनर्गल वंचना के लोक से जिसमें कहीं भी है न रस का लेश; केवल मार काट-गुहार, केवल स्वार्थ का संघात. केवल क्षुद्रता की अहमिका और केवल त्राहित्राहि पुकार। मेरे सामने अति शुष्क दूर्वा-धवल यह मैदान है फैला सुदूर दिगन्त तक मानों किसी प्राचीन पंडित का पसारा विरस विद्याजाल जिसका आदि अन्त कहीं न! मेरा चित्त व्याकुल है कि मैंने बांध रक्खा है स्वयं को आत्म-निर्मित ढोंग के जंजाल से।

—मन में रमे हैं पूर्व युग के स्वर्ण मणिमय सौध, मरकत-खचित क्रीड़ा शैल, लाक्षा-लसित कुट्टिम भूमि, कंकण मुग्ध नवल मयूर, सित गजदन्तशायि विपंचिका कुवलय मनोहर नयन, बाल मराल-मंथर गमन, कंकण किंकिणी का क्वणन, मृदुता, चारुता शालीनता का अति अपूर्व विधान;—आंखें देखती हैं ठठरियों के ठाठ, चिथड़ों के घृणास्पद ढूह, गंदे रेंगते

[एक

चाहे व्यक्ति का जीवन हो या समूह का, वह कभी परिपूर्ण नहीं होता, और वह कभी अस्तव्यस्तता से और विरोधों से पूर्णतः मुक्त नहीं होता। एक पर्याप्त विश्वास का कर्तव्य है कि वह जीवन के इस गुण को पहचाने किन्तु यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक यह खुला या ढँका विश्वास नहीं होता कि ईश्वरीय करुणा उसे भी पूर्ण कर सकती है जिसे हम पूर्ण नहीं कर सकते। सम्भव है कि ऐसा विश्वास दूषित हो जाय और मनुष्यों को उनके दायित्व से हटा दे, किन्तु इसके पर्याय रूपी जो सांसारिक आदर्श हैं, वे भी गहरे दोषों को उत्पन्न करते हैं। मानव-अवसाद के मूल को यह दूसरों में तलाश करते हैं, अपने में नहीं और यदि अन्ततोगत्वा वह उसे अपने में पाते हैं तो उनकी आशावादिता निराशा में परिवर्तित हो जाती है। यदि इस शताब्दी के भाव की तुलना १९ वीं शती की आशावादिता से की जाय तो वह बहुत कुछ उस निराशा सी मालूम पड़ेगी, "जिसकी उत्पत्ति मिथ्या आशा से होती है।

गीत

श्री रांगेयराघव

हे जन शक्ति महान्!
जागो और जगाओ।

हम पृथ्वी स्वर्ग बनायेंगे,
हम दुनिया नई बनायेंगे,
हम महा जागरण [illegible]
अविराम चेतना [illegible]!

हे मजदूर किसान!
जागो और जगाओ।

हम जलती आग बुझायेंगे,
मानव सन्तोष जगायेंगे,
हम ज्योति लिये उन्नति पथ पर
अविरत बढ़ते ही जायेंगे।

हे जन गौरव प्राण!
जागो और जगाओ।

हम श्रम का वन्दन करते हैं,
मेधा का गायन करते हैं,
हम मानव का निर्माण अमर
लख कर सुख गर्जन करते हैं।

हे जीवन अभिमान!
जागो और जगाओ।

जीवन मरु उपजाऊ कर दें,
घन तम में उजियाला भर दें,
हम रूढ़ि नाश, भय कर समाप्त
मानव दुख का उन्मोचन कर दें।

हे सत्यों के गान!
जागो और जगाओ।

हम हैं नव युग के अग्रदूत,
हम काल-जलाधि-नाविक अभूत,
हम साम्य दीप के नव प्रकाश,
हम विजयोन्मादी क्रांति-पूत।

हे प्रदीप्त गति-भानु!
जागो और जगाओ।

आधुनिक भारत का उदय

श्री बैजनाथसिंह "विनोद"

अँग्रेज़ी हकूमत के साथ ही अँग्रेज़ी भाषा, साहित्य और यूरोपीय सभ्यता संस्कृति का प्रवेश देश में हुआ। उस समय के अँग्रेज़ी साहित्य में यूरोप और अमेरिका की क्रान्तियों के कारण सामन्तकालीन बन्धनों से मुक्ति की भावना बलवती थी। भौतिक विज्ञान की उन्नति का भी प्रभाव उसके अन्दर था। भारतवर्ष में अँग्रेज़ विजेता थे और उसका शासन सूत्र इंगलैंड से संचालित करते थे। अँग्रेज़ी शासन की सुविधा के लिए ज़रूरी था कि भारतवर्ष में अंग्रेज़ी जानने और समझने वाले मित्र अँग्रेज़ों को मिलें। उसी तरह यह भी ज़रूरी था कि भारतीय समाज और परम्परा का ज्ञान अँग्रेज़ शासकों को प्राप्त हो, इसीलिये उन्होंने अट्ठारहवीं शती के अन्तिम भाग से ही इस दिशा में प्रयत्न शुरू कर दिए। बङ्गाल की एशियाटिक सोसाइटी (१७८४ ई०) और कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज का लक्ष्य यही था। भारतवर्ष में अँग्रेज़ी शिक्षा की प्रतिष्ठा की गई तथा कुछ अँग्रेज़ों ने भारतीय इतिहास साहित्य तथा भाषाओं और उसकी सामाजिक परम्पराओं का ज्ञान भी प्राप्त करना शुरू कर दिया। अँग्रेज़ों ने प्रारम्भ से ही फूट डालो और राज करो की नीति को अपनाया था। भारतीय समाज और परम्परा की जानकारी में भी उन्होंने इस प्रवृत्ति को कायम रखा। अँग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार में भी उनकी नीति सावधानतापूर्वक यही थी। लार्ड मेकाले ने कहा था "हम हिन्दुस्तान के अन्दर एक ऐसी नई कौम पैदा कर देना चाहते हैं जो देखने में भले ही हिन्दुस्तानी मालूम हो लेकिन जिसका दिल और दिमाग़ दोनों अँग्रेज़ियत की बू से भरे हुए हों।" ईस्ट इण्डिया कम्पनी में काम करने वालों तथा अँग्रेज़ी राज्य के मददगारों को लेकर एक मध्यम वर्ग की सृष्टि हुई, जिसके अन्दर अँग्रेज़ों को मित्र मिले। अँग्रेज़ों के निकट सम्पर्क में रहने के कारण इस मध्यम वर्ग पर अँग्रेज़ी सभ्यता का असर पड़ने लगा। उसने उस समय के यूरोप के सामाजिक आदर्शों की तुलना भारतवर्ष के उस समय के रूढ़ि ग्रसित सामाजिक व्यवहारों से की। फलस्वरूप वह यूरोप के प्रति ज़्यादा आकर्षित होने लगा। अपनी संस्कृति के प्रति उसके सम्मान की दृष्टि संकुचित होने लगी। इसके अलावा एक प्रभाव यह भी पड़ा कि नए रूप में भारतवर्ष का सम्बन्ध दुनिया के और हिस्सों से हो गया। इसके फलस्वरूप उसका दृष्टिकोण कुछ व्यापक हुआ। सब कुछ मिला कर और अँग्रेज़ों के न चाहने पर भी पश्चिम के सम्पर्क से उसे नए रूप में भौतिक विज्ञान की एक ऐसी दृष्टि मिली, यद्यपि वह बहुत स्पष्ट नहीं थी, जिससे उसने प्रत्येक वस्तु को कार्य कारण की परम्परा और विकास क्रम के अन्दर से देखना शुरू किया। इस प्रारम्भिक समय में यूरोप के औद्योगिक विकास से उत्पन्न व्यक्तिवाद ने भारतवर्ष के एक ऐसे वर्ग में, अपना घर बनाया, जिसकी इंगलैंड से किसी प्रकार की प्रतिस्पर्धा नहीं थी, जो निरीह और नौकरी का भूखा था तथा जिस पर यूरोप की क्रान्तियों का नहीं, इंगलैंड की सुधारवादी सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव था। इसीलिये इस वर्ग में अँग्रेज़ों के प्रति मैत्री की भावना बलवती थी। अँग्रेज़ी हकूमत में दूसरे देशों पर शोषण के लिए शासन की प्रेरणा थी। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप से आने वाले क्रांतिकारी प्रभाव को अंग्रेज़ी हकूमत ने नियन्त्रित करने की नीति अपनाई। इसी लिये धार्मिक और सामाजिक सुधारों के मामले में हकूमत ने तटस्थता की नीति को अपनाया। कहने के लिए यह १८५७ ई० के ग़दर की प्रतिक्रिया थी। पर इसका फल यह हुआ कि वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था और धार्मिक रूढ़ियों ने भारतवर्ष के वैज्ञानिक विकास के पथ को न केवल अवरुद्ध कर दिया, बल्कि उसने भारत राष्ट्र के विकास पर भी रोक लगा दी। अंग्रेज़ों की इस

नीति के अन्दर यह भाव भी निहित था कि भारतवर्ष को ज्यादा से ज्यादा पिछड़ी हालत में रखकर उसका दोहन किया जाय। इसी अभिप्राय से उन्होंने भारतवर्ष के प्राचीन शिल्प का सर्वनाश किया, औद्योगिक विकास को रोका और इसी निहित स्वार्थ के अभिप्राय से उन्होंने भारतवर्ष में रेलपथ का जाल भी बिछाया।

अंग्रेज़ों का हिन्दुस्तान पर जो असर हुआ उसमें ईसाइयत का प्रचार भी था। इस प्रचार के अन्दर साम्राज्यवादी उद्देश्य निहित था। इसके कारण अंग्रेज़ी जाति के सम्पर्क का जो धर्म-निरपेक्ष वैज्ञानिक प्रभाव सम्भव था और जिसका मूल उत्स यूरोप की क्रांतियों में है, वह भी विकृत हो गया। भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में धर्म और साम्प्रदायिकता के प्रभाव के बच रहने का कुछ कारण यह भी है। अंग्रेज़ों के सम्पर्क से धार्मिक रूढ़ियों (सामंतकालीन बंधनों) से मुक्ति की भावना और कार्य कारण सम्बन्ध तथा विकास क्रम की वैज्ञानिकता को तो देश में स्वीकार करने की प्रवृत्ति थी पर ईसाइयत के प्रचार को सहन करने, एक विदेशी तथा विजातीय धार्मिक रूढ़ि को स्वीकार करने और अपनी संस्कृति तथा परम्परा से एक दम विच्छिन्न होने के लिए देश तैयार नहीं था। इसीलिये भारतीय राष्ट्रीयता में धर्म का पुट या सम्प्रदायों का प्रभाव बच रहा। इस भाव धारा का नेतृत्व स्वर्गीय राजा राममोहन राय ने किया। उन्होंने १८२८ ई० में ब्रह्म समाज की स्थापना करके जिस आन्दोलन की सृष्टि की उसका असर देश के मध्यम वर्ग पर व्यापक हुआ। हिन्दुस्तान को पश्चिम के सम्पर्क से जो कुछ सर्वोत्तम मिला या मिलता, उसको उन्होंने स्वीकार कर लिया। उन्होंने उन धार्मिक रूढ़ियों का विरोध किया, जिन से देश के सामाजिक विकास की गति रुकी थी और एक ऐसी चेतना दी, जिससे हिन्दुस्तान की सभी जातियों और धर्मों की एकता सम्भव थी। इससे अंग्रेज़ी शिक्षा सम्पन्न लोगों के अन्दर ईसाइयत की ओर जो बढ़ाव था, वह रुक गया। मध्यम वर्ग के अन्दर अंग्रेज़ों के साये में अपने अधिकारों के लिए एक चेतना भी पैदा हुई।

मुगल सम्राट्, मुसलिम और हिन्दू सामंतों के अन्तर द्वन्द्व के कारण भारतीय राष्ट्र शक्ति छिन्न भिन्न हो चुकी

थी। इस मौके से अंग्रेज़ों ने फ़ायदा उठाया। उन्होंने अपने कूटनीतिक दाँव पेंच से राष्ट्र-शक्ति पर अधिकार जमाया। इस तरह एक अर्थ में मुसलिम हुकूमत का अंत अंग्रेज़ों के हाथ से हुआ। इसके बाद अंग्रेज़ों ने मुसलमानों का दमन भी खूब किया। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया भी मुसलमानों में हुई। उन्होंने महसूस किया कि इसलाम की असली शिक्षा की कमी के कारण ही मुसलमानों का नैतिक पतन हुआ जिससे वे पराजित हुए। परिणामस्वरूप क़ुरान की शिक्षा को केन्द्र करके मुसलमानों में एक आन्दोलन चला। यह आन्दोलन बंगाल से लेकर पेशावर तक आश्चर्यजनक रूप से संघटित था। इस आन्दोलन के नेता सैयद अहमद बरेल्वी और शाह वली उल्ला हुए। इसे इतिहास में वहाबी आन्दोलन कहा गया है। इस आन्दोलन में जेहाद तक शामिल था। अंग्रेज़ी राज ज़मीन का जो नया बन्दोबस्त कर रही थी उसके भी विरुद्ध यह आन्दोलन था। इस तरह इस आन्दोलन में अंग्रेज़ी राज से देश को मुक्त करने के साथ ही ज़मीन को नए क़िस्म की व्यवस्था से मुक्त करने का भाव भी निहित था। अंग्रेज़ों और अंग्रेज़ी राज के मददगारों के विरुद्ध इस आन्दोलन का खास रुझान था। १८३० में इन लोगों ने पेशावर पर भी अधिकार जमा लिया था। १८३१-३२ में इन लोगों ने २४ परगना (बंगाल) में ज़मीन्दारी के (ज़मीन के नए बन्दोबस्त से जो ज़मीन्दारियाँ पैदा हुई थीं) विरुद्ध बढ़ चढ़ कर आन्दोलन छेड़ा था कि ज़मीन खुदा की है। १८४६ के सरकारी रिपोर्ट से पता चलता है कि ८०००० हिन्दू मुसलिम किसान आपसी भेदभाव भूल कर इस आन्दोलन में शरीक हुए थे। १८७१-७२ के शासन रिपोर्ट से पता चलता है कि ज़मीन के बारे में इनके आन्दोलन से सरकार परेशान हो गई थी। अंग्रेज़ी शिक्षा और अंग्रेज़ों के सम्पर्क का विरोधी यह आन्दोलन था। इस आन्दोलन का प्रभाव १८५७ के विद्रोह में भी था। इसीलिये १८५७ के विद्रोह को भारतीय स्वाधीनता की पहली लड़ाई कहते हैं। अतः स्वभावतः अंग्रेज़ी सरकार मुसलमानों को अपना शत्रु समझने लगगई थी। मुसलमान अंग्रेज़ी स्कूलों से दूर रहते थे, अंग्रेज़ों के सम्पर्क से भी वे दूर थे। अंग्रेज़ भी मुसलमानों को शक

की निगाह से देखते थे। नतीजा यह हुआ कि अंग्रेज़ों के सम्पर्क से जिस मध्यम वर्ग की उत्पत्ति उस काल में हुई, उस मध्यम वर्ग का जन्म मुसलिम समाज में क़रीब क़रीब नहीं सा हुआ। यूरोप के सम्पर्क से जिस नई चेतना का उदय हुआ—सामन्ती बन्धनों को तोड़ने की प्रवृत्ति, कार्य कारण और विकास क्रम की वैज्ञानिक नीति पद्धति, अपने अधिकार के लिये विरोध करने का साहस और राष्ट्रीयता—उससे मुसलिम जन समाज दूर पड़ गया।

इस बीच ईसाई मिशनरियों का प्रचार ज़ोरों से चल रहा था। इन मिशनरियों का ध्यान हिन्दुस्तानियों को ईसाई बनाने की ओर था। राजा राममोहन राय ने इस का जो निराकरण बताया था वह मध्यम श्रेणी के बाहर प्रभावशाली नहीं था। ईसाई मिशनरियों का प्रचार निम्न कोटि के हिन्दुओं के लिये बड़ा घातक सिद्ध हो रहा था। ऐसी ही परिस्थिति में दयानन्द सरस्वती का अविर्भाव हुआ। दयानन्द सरस्वती वैदिक साहित्य के पण्डित थे। उनके सामने उस समय के हिन्दुओं की दयनीय स्थिति थी—ईसाईयों के प्रचार का प्रभाव निम्न कोटि के हिन्दुओं पर हो रहा था और इन सब के ऊपर भी गुलामी की लौह-शृंखला। इस सारी परिस्थिति का सामना स्वामी जी को करना था। सब से पहले उन्होंने हिन्दुओं की कमज़ोरियों को देखा नाना जाति पाँति और छूतछात में विभाजित हिन्दू जाति को शक्ति सम्पन्न करने का कार्य बड़ा कठिन था। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए उन्होंने वेद की ऐसी व्याख्या की जो उस समय नई थी, पर जिसके आधार पर जाति पाँति और छूतछात की समस्या का समाधान सम्भव था। "आर्य" शब्द की जातिमूलक व्याख्या के आधार पर यूरोपियन पण्डितों का जो छद्म रूप से साम्राज्यवादी प्रचार जारी था—जिसके अन्दर यह निहित था कि हम अर्थात् जर्मन और अंग्रेज़ (नार्डिक) आर्य जाति के हैं और यह सदा से विजयी जाति है अतः हिन्दुस्तान सांस्कृतिक दृष्टि से भी गुलाम रहने के क़ाबिल है—उसके विरुद्ध उन्होंने वेद के आधार पर "आर्य" शब्द की गुणमूलक व्याख्या की, जिस पर मैक्समूलर ने अपनी ग़लती का संशोधन आर्य जाति की जगह आर्य भाषा को स्वीकार करके किया। स्वामी दयानन्दजी के ये कार्य सम्पूर्ण हिन्दू समाज़ के इतिहास में प्रगतिशील और आक्रमणमूलक थे। उनके सिद्धांतों में अपनी संस्कृति की रक्षा और विजातीय संस्कृति को आत्मसात् करने का गुण था। किन्तु अंग्रेज़ों की गूढ़ार्थमयी कूटनीति को समझना स्वामी जी सरीखे साधु पुरुष का काम नहीं था। उस समय देश की राजनीतिक चेतना भी ऐसी नहीं थी कि अंग्रेज़ों के अन्तर्राष्ट्रीय दाँव पेंच को समझा जा सके। उस समय की राजनीति में अंग्रेज़ों का ही सितारा बुलंद था। ब्रह्म समाज और आर्य समाज का आन्दोलन हिन्दुओं में राष्ट्रीयता की चेतना का संचार कर रहा था। मुसलमानों के अन्दर भी धीरे धीरे मध्यम वर्ग पैदा हो चला था। उनमें भी राष्ट्रीय चेतना पैदा हो रही थी। १८५७ के विद्रोह से अंग्रेज़ मुसलमानों से पहले ही से सावधान थे। इस नई परिस्थिति को अंग्रेज़ कूटनीतिज्ञों ने अमेरिका की स्वाधीनता की लड़ाई में देखा और ऐसी बंदिश की कि कहीं हिन्दुस्तान जैसा अनेक जातियों, धर्मों और भाषाओं का देश भी अमेरिका की तरह ही सशक्त और एक राष्ट्रीयता के [illegible] न जाने पावे। किन्तु हिन्दुस्तान का नेतृवर्ग इस राजनीतिक चेतना से बेखबर था। यही कारण था कि सर सैय्यद अहमद खां को अँग्रेज़ों ने भारतीय राष्ट्रीयता से अलग कर दिया और यही कारण था कि दिल्ली दरबार के समय जब स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री केशव चन्द्र सेन और सर सैय्यद अहमद खाँ एक जगह बैठ कर देश की स्थिति पर विचार करने लगे, तो उनमें आपसी एकता न हो सकी। वेद की सर्वमान्यता के प्रश्न से टकरा कर राष्ट्रीय एकता का प्रश्न दूर हट गया। इस काल में हिन्दू दृष्टिकोण के अनेक गायक भी अनेक स्थानों पर पैदा हुए।

ब्रह्म समाज की सामाजिक पृष्ठभूमि में अंग्रेज़ों के सम्पर्क से पैदा हुआ मध्यम वर्ग था। इसके सुधार आन्दोलन भी इसी वर्ग के स्वार्थ से प्रेरित थे। राजा राममोहन राय के प्रयत्न से ही १८१७ ई० में कलकत्ते में हिन्दू कालेज की स्थापना हुई। उस काल की परिस्थिति को देखकर कहा जा सकता है कि अँग्रेज़ी शिक्षा की ओर देश को प्रवृत्त करने में राजा राममोहन राय का प्रधान-हाथ था। स्वामी दयानन्दजी के प्रचार का क्षेत्र हिन्दी भाषाभाषी प्रान्त था। आर्य समाज की पृष्ठभूमि में अंग्रेज़ों से सम्बन्धित मध्यम वर्ग का स्थान गौण था।

आर्य्य समाज के आन्दोलन से निम्न मध्यम वर्ग अनुप्राणित था। ऐसा भी कहा जा सकता है कि राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्दजी के सामाजिक आन्दोलनों ने तीन वर्णों को स्पर्श किया—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। इन तीन वर्णों में भी जो शिक्षित थे उन्हीं को इन आन्दोलनों से विशेष लाभ पहुँचा। इन महत्व-पूर्ण समाज सुधारक नेताओं के आन्दोलनों में समान और रचनात्मक विषय थे जाति पाँति और छुआछूत का विरोध मिटा कर हिन्दू समाज को एक स्तर पर लाना तथा समाज में स्त्रियों की स्थिति और स्थान को सामञ्जस्यपूर्ण बनाना। राजा राममोहन राय ने सती-दाह के विरुद्ध आन्दोलन करके उसे १८२९ ई० में कानूनन बन्द करवा दिया। उनके आन्दोलन के परिणामस्वरूप ब्रह्म समाज के दायरे में विधवा विवाह कानूनन जायज़ हो गया। पर हिन्दू समाज के लिए वे ऐसा कानून न बनवा सके। विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा और बहु विवाह निषेध आन्दोलन को राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, श्री केशव चन्द्र सेन और रानाडे आदि सभी नेताओं ने समान भाव से संचालित किया। स्त्रियों संबंधी इस आन्दोलन में पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्न से हिन्दू समाज में विधवा विवाह कानूनन जायज़ होकर रह गया। वह समाज में सर्वसम्मत नियम न बन सका। बहु विवाह को समाज में हीन दृष्टि से देखा जाने लगा और रईसों की आर्थिक स्थिति की गिरावट से भी वह रुक गया। स्थायी रूप से एक मात्र स्त्री-शिक्षा पर ज्यादा ध्यान दिया गया। स्त्री-शिक्षा की दिशा में सरकार पहले कुछ करने के लिये तैयार नहीं थी, इसको अपने दायरे से बाहर समझती थी। पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर महोदय के आन्दोलन से सरकार ने स्त्री-शिक्षा के प्रति अपने उत्तर-दायित्व को समझा। प्रारम्भ में स्त्री-शिक्षा के प्रति सरकारी उपेक्षा का परिणाम यह हुआ कि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों का मौलिक विकास न हो सका। छूत-छात और जाति-पाँति की प्रथा के विरुद्ध इस युग के सभी महान नेताओं ने प्रबल आन्दोलन किये। उन्होंने लोकमत को झकझोर भी दिया। किन्तु ब्रिटिश हकूमत ने इन प्रबल सामाजिक आन्दोलनों का सहारा लेकर शूद्रों

बीस]

की स्थिति सुधारने के लिए ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। उस ने शूद्रों को न तो शिक्षित करने की दिशा में कुछ किया न उन्हें पुलिस और फ़ौज आदि की नौकरियों में स्थान दिया तथा न उन्हें आर्थिक दृष्टि से सहारा दिया। राजा राममोहन राय के आन्दोलन में अन्तर जातीय विवाह भी शामिल था। ब्रह्म समाज में कुछ दूर तक यह सफल भी हुआ, जिसका कारण शायद यह था कि ब्रह्म समाज अंग्रेज़ों के सम्पर्क से पैदा हुए मध्यम वर्ग द्वारा गठित था। पर आर्य समाज में यह सफल नहीं हो सका—यद्यपि स्वामी दयानन्दजी भी अन्तर जातीय विवाह के समर्थक थे। आर्य समाज और ब्रह्म समाज दोनों के सामाजिक गठन तत्वों में अन्तर था, इसलिये दोनों के कार्यों और परिणामों में भी अन्तर मिलता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी इस अंतर का प्रभाव पड़ा। ब्रह्म समाज कालेजों का समर्थक था और आर्य समाज गुरुकुल का। दोनों के परिणामों में भी अंतर थे। एक को सरकारी सहायता की अपेक्षा रहती थी, जब कि दूसरे आदर्श की शिक्षण संस्था सरकारी सहायता की उपेक्षा करती थी। एक के विद्यार्थियों की दृष्टि नौकरी की ओर थी, जब कि दूसरी शिक्षण संस्था के विद्यार्थी लोक सेवा को ही सर्वोपरि मानते थे।

इस तरह भारतीय समाज खास कर हिन्दू समाज का विकास तीव्र गति से हो रहा था। इस अवधि में मुसलिम समाज में भी मध्यम वर्ग का उदय हो गया था। हिन्दू समाज के इस विकास का भी प्रभाव उस पर पड़ रहा था। इस काल में मुसलिम समाज के नेता सर सैय्यद अहमद खाँ हुए। उन्होंने देखा कि अंग्रेज़ी हकूमत के सम्पर्क में रहकर हिन्दू समाज का हित हो रहा है और अंग्रेज़ी हकूमत से नफ़रत करके मुसलिम समाज का कोई भी लाभ नहीं है। इसकी प्रतिक्रिया उनमें हुई। उन्होंने अंग्रेज़ी राज से सहयोगमूलक आन्दोलन चलाया। मुसलमानों में अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार का आयोजन किया। मुसलमानों में अंग्रेज़ों के प्रति मैत्री भाव की प्रेरणा दी। मुसलिम मध्यम वर्ग के लिए सरकारी नौकरियों की मांग की। इस आन्दोलन में उन्हें पुराने मौलवियों और उलेमाओं का विरोध भी सहना पड़ा। पर उस काल में मुसलिम मध्यम वर्ग पैदा

[जून १९४७

हो गया था और यह आन्दोलन इस वर्ग का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर रहा था। यह एक विचारणीय बात है कि जिस काल में हिन्दू मध्यम वर्ग में अंग्रेज़ों के शत्रु भी पैदा होने लग गये थे, उस काल में मुसलिम मध्यम वर्ग में अँग्रेज़ों से सहयोगमूलक आन्दोलन चलाया गया। इसके अन्दर सामाजिक दृष्टि से प्रतिक्रिया है। पर बहुत सम्भव है कि यदि ईसाई मिशनरियों का प्रचार न होता तथा हिन्दू समाज में जो आन्दोलन चले वे सभी यदि धर्म से ही अनुप्राणित न होते तो मुसलमानों के लिए उन आन्दोलनों का रुझान आकर्षक होता: ऐसी परिस्थिति में शायद मुसलमानों के अन्दर इस प्रकार के आन्दोलन न होते! किन्तु ऐसी स्थिति नहीं थी। एक ओर हिन्दू मध्यम वर्ग जाग्रत होकर राष्ट्रीय भावों से अनुप्राणित हो रहा था, दूसरी ओर मुसलिम मध्यम वर्ग पैदा होकर अंग्रेज़ों की ओर मैत्री का हाथ बढ़ा रहा था। अंग्रेज़ों ने इस काल के मुसलिम समाज के विकास का कूटनीतिक उपयोग किया। फलतः मुसलिम मध्यम वर्ग के आन्दोलन को अंग्रेज़ों ने सहारा दिया। इसी काल में मुसलिम हितों का नायक भावी पैदा हुआ था। यहीं से भारतीय सामाजिकता और राष्ट्रीयता में दरार पैदा हो जाती है।

आधुनिक भारत का अरुणोदय राजा राममोहन राय से शुरु होता है। राजा राममोहन राय सिर्फ़ समाज सुधारक ही थे ऐसा नहीं भी कहा जा सकता है। यह ऐतिहासिक सत्य है कि राजा राममोहन राय ने प्रजातां-त्रिक फ्रांस के तिरंगे झण्डे का अभिनन्दन किया था। स्पेन की स्वाधीनता की खुशी में उन्होंने सभा की थी। दक्षिण अमेरिका के स्पेनीय उपनिवेशों के सफल विद्रोह की खुशी में उन्होंने कलकत्ते के टाउनहाल में एक भोज का आयोजन किया था। विद्वानों का मत है कि राजा राममोहन राय अंग्रेज़ों के मित्र थे पर साथ ही प्रजातंत्र-वादी भी थे। उनके साथियों में ऐसे लोग भी थे जो फ्रान्सीसी जनता के क्रान्तिकारी विचारों से सहानभूति रखते थे। केशवचन्द्रसेन ने भी प्रजातान्त्रीय क्रान्तिकारी मनोवृत्ति की ओर लोगों को प्रेरित किया। केशवचन्द्र सेन के अनु-यायियों में ही बहुत से लोगों ने मिलकर भारत की सर्वप्रथम राजनैतिक संस्था 'इण्डिया लीग' की स्थापना की थी, यद्यपि और भी बहुत से लोग उसमें शामिल थे। इसी

जून १९४९]

दल के लोगों ने मैज़िनी, गैरिवाल्डी तथा अमेरिकन क्रान्तिकारी नेताओं की जीवनियाँ बङ्गला में लिखीं। यही समय स्वामी विवेकानन्द के उदय का भी है। स्वामी विवेकानन्द मुख्यतः धार्मिक व्यक्ति थे पर इनके धर्म-प्रचार का ढङ्ग निराला था। वह कहा करते थे—"गीता के मार्ग की अपेक्षा फुटबाल के खेल से स्वर्ग आसानी से मिल सकता है, अतः दृढ़ इच्छाशक्ति वाले मनुष्यों की आवश्यकता है।" वह भारतीय धर्म, संस्कृति और गीता का भी उपदेश देते थे, पर उनके धर्म में, उनके प्रचार में ज्ञान कर्म और उल्लास था। अपने देश और अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में वह एक सैनिक की मनोवृत्ति वाले थे। उस समय हिन्दुस्तान में थियासोफ़िस्टों का सर्वधर्म-समभाव का प्रचार चल रहा था, उससे हिन्दुओं के अन्दर एक प्रकार की प्रति-क्रियां शुरु हो गई थी। स्वामी विवेकानन्दजी के वेदांत आन्दोलन ने इस बुद्धिविलासी विभ्रमवादी धर्म की साख उड़ा दी। अमेरिका में उनकी सफलता ने हिन्दुओं के अन्दर आत्मविश्वास और दृढ़ता का भाव पैदा किया। उस समय उन्होंने वेदांत के माध्यम से भारतीय संस्कृति के अन्दर की चेतना से ओतप्रोत ऐसा सन्देश दिया जिसने उठने हुए राष्ट्र में आक्रमणशीलता बढ़ी।

अँग्रेज़ों के सम्पर्क से जिस मध्यम वर्ग का जन्म हुआ उसकी ज़रूरत अँग्रेज़ों को भी थी। बिना इस मध्यम वर्ग के शासन का कार्य सुचारुरूप से चलना सम्भव नहीं था, किन्तु अँग्रेज़ों के साथ से ही इस मध्यम वर्ग में जहाँ यह भावना पैदा हुई कि ईश्वर की असीम कृपा से ही हिन्दुस्तान का अँग्रेज़ों से सम्पर्क हुआ, वहाँ धीरे धीरे सरकारी नौकरियों में अपेक्षाकृत ऊँचे पदों की भी लालसा पैदा हुई। यूरोप से आने वाले क्रान्तिकारी विचारों का कुछ असर भी उन पर होने लगा। एक अँग्रेज़ी हकूमत के सम्पूर्ण देश पर कायम रहने के कारण सम्पूर्ण देश में इस वर्ग का एक स्वार्थ था, इस कारण एक सी चेतना पैदा होने लगी। १८५१ ई० में कलकत्ता में ब्रिटिश इण्डियन एसोशिएशन की स्थापना हुई। १८५३ ई० में बम्बई एसोशिएशन और मद्रास एसो-शिएशन की स्थापना हुई। १८७० ई० में पूना सार्व-जनिक सभा की स्थापना हुई। १८५७ के विद्रोह की

[इक्कीस

भौगोलिक सीमा वाले प्रदेशों से अँग्रेज़ सावधान थे इस लिये उन प्रदेशों में मध्यम वर्ग को विकसित होने का मौका नहीं मिला और उन प्रदेशों के अन्दर अँग्रेज़ों के प्रति वफ़ादारी की भावना भी नहीं थी। इसलिये इस क्षेत्र में ऐसी संस्थाओं का जन्म नहीं हुआ। किन्तु छिट-फुट रूप से ऐसे वर्ग का अभाव इस क्षेत्र में भी नहीं था। मध्यम वर्ग का सम्बन्ध पूरे यूरोप से हो गया था। इस-लिये यूरोप के क्रान्तिकारी विचारों से वह प्रभावित हो रहा था। १८५७ ई० के विद्रोह की स्मृतियाँ भी जन-साधारण में सुलग रही थीं। इस सारी परिस्थिति से अँग्रेज़ अवगत थे। उन्होंने इस असन्तोष भावना को वैधानिक दिशा देने के लिए उपाय सोचा और ह्यूम के प्रयत्न से १८८५ ई० से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। इस तरह अँग्रेज़ों से बने मध्यम वर्ग ने, अँग्रेज़ों से टकराने वाले अपने स्वार्थ की रक्षा वैधानिक रूप से करने के लिये कांग्रेस को जन्म दिया। पर इस मध्यम वर्ग में जो लोग यूरोपीय और अमेरिका की क्रान्तियों से अनुप्राणित थे उनके संघातों ने इस कांग्रेस को राष्ट्रीय बनाया। इस तरह राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ।

अंग्रेज़ों ने पहले तो भारतीय उद्योगों का नाश किया। पर जिस स्वार्थ से प्रेरित होकर उन्हों ने भारतीय उद्योग का नाश किया उसी स्वार्थ से प्रेरित होकर भारतीय कच्चे माल को इंगलैण्ड पहुँचाने की सुविधा से उन्होंने भारतवर्ष में रेल-पथ का जाल बिछाया। आगे चल कर उसी पूंजी-वादी स्वार्थ के लिए उन्होंने कलकत्ते के आसपास चट-कलों की स्थापना की। इन सब उद्योगों में शतप्रतिशत विदेशी पूंजी और विदेशी स्वार्थ था। धीरे धीरे अंग्रेज़ों की देखादेखी भारतीय पूँजीपति भी आधुनिक औद्यो-गिक क्षेत्र में उतरने लगे। बम्बई, मद्रास और पूना में भारतीय पूंजी से सूती मिलों की स्थापना हुई। सूती उद्योग के क्षेत्र में भारतीयों को आगे बढ़ते देख कर इङ्गलैंड के पूंजीपतियों को बुरा लगा। उन्होंने तरह तरह से बाधा देना शुरू किया। यह सही है कि उस समय मिलों में काम करनेवाले भारतीयों की स्थिति बहुत खराब थी। फैक्ट्री कानून नहीं था, काम के घण्टे नियत नहीं थे और सात साल के बालकों तक से दस दस घण्टे काम लिया जाता था। पर इंगलैंड में मज़दूरों के हित के कानून बन गये थे। इससे भारतीय पूँजीपतियों को मजदूरों की सुविधा थी। इस सुविधा पर रोक लगाने की नीयत से इङ्गलैण्ड के सूती उद्योगपतियों ने बम्बई के सूती मिल के मजदूरों की स्थिति की जाँच की माँग की। इस पर १८७५ ई० में भारत मन्त्री के आदेश से बम्बई के मजदूरों की जाँच के लिए बम्बई सरकार ने एक कमीशन बैठाया, पर इस कमीशन ने फैक्ट्री कानून बनाने और मजदूरों को संरक्षण देने का विरोध किया, जिसे बम्बई सरकार ने स्वीकार कर लिया। इसका इङ्गलैण्ड के औद्योगिक क्षेत्रों में फिर विरोध किया गया। इस पर १८८१ में पहला फैक्ट्री कानून पास हुआ, जिसमें ७ से १२ वर्ष के बालकों के लिए ९ घण्टे का दिन निश्चित हुआ। इसका भारतीय मजदूरों ने कस कर विरोध किया। बम्बई में मजदूरों का एक सम्मेलन किया गया। इसमें ५५००० मजदूरों के हस्ता-क्षर से एक मेमोरियल तैयार किया गया, जिसमें साप्ताहिक छुट्टी, दोपहर में आध घंटे की छुट्टी और चोट लगने पर हरजाने की माग की गई थी। इस आन्दोलन में बम्बई के मजदूरों की विजय हुई। श्री लोखाडे ने १८९० में बम्बई मजदूर संघ कायम किया और "दीनबन्धु" नामक एक मजदूर पत्र भी निकाला। १८९० ई० में भारत सरकार ने भारतीय मजदूरों की स्थिति की जाँच के लिए फिर कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन ने स्त्री मजदूरों के काम के घण्टे प्रति दिन ११ नियत किये और बालकों की उम्र ९ से १४ तक कर दी। १८९९ में बजबज के चटकल में हड़ताल हुई। शायद यह मजदूरों की पहली हड़ताल थी। इस तरह इङ्गलैण्ड के पूँजीपतियों के स्वार्थ ने भारतवर्ष में नए किस्म के उद्योगों को जन्म दिया। नए उद्योगों ने मजदूरों को इकट्ठा किया। फिर इङ्गलैण्ड के पूँजीपतियों के स्वार्थ ने भारतीय पूँजीपतियों पर रोक के लिए, भारतीय-मजदूरों की अपनी सुविधा की माँग के लिए मजबूर किया, जिससे भारतीय मजदूरों में अपने हितों के लिए संघटित होने की प्रेरणा मिली, उन्होंने संघबद्ध होकर मांग करना सीखा और इस क्रम से भारतीय मजदूर आन्दोलन का जन्म हुआ।

[जून १९४७

राजा राममोहन राय ने ही सर्वप्रथम समुद्र यात्रा करके उस समय की हिन्दू समाज की रूढ़ि को तोड़ा था। उस समय से अनेक हिन्दू परिवार विदेशों में घूमने लगे; अनेक युवक शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेश जाने लगे। श्री अरविन्द घोष भी उनमें से एक थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा इंगलैण्ड में हुई थी। इंगलैण्ड से आकर ये बड़ौदा में शिक्षा के उच्च पद पर काम करते थे। अरविन्द घोष के मस्तिष्क को यूरोप के क्रान्तिकारी विचारों ने आलोड़ित किया था। उस समय कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी; पर कांग्रेस ने क्रान्ति के पथ को नहीं प्रार्थना के पथ को अपनाया था। किन्तु देश में क्रान्तिकारी भावना का आलोड़न हो रहा था। बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब और युक्तप्रान्त के कुछ हिस्सों में ऐसे नवयुवकों का संघटन भी शुरू हो गया था। इस तरह धीरे धीरे यूरोप की क्रान्तिकारी विचारधारा हिन्दुस्तान की सर जमीन पर अपना जड़ जमाने लगी। क्रान्तिकारी विचारधारा और संघटन का सब से पहला परिचय १८९७ ई० में २२ जून को पूना में रैण्ड की हत्या के रूप में हिन्दुस्तान की जनता को मिला। इस केस में क्रान्तिकारी दामोदर ने बड़े गर्व के साथ कहा था— "मैंने रैण्ड की हत्या की है, मैंने बम्बई में विक्टोरिया के मुख में कोलतार पोता था।" १९०५ से भारतीय क्रान्तिकारियों का संघटन व्यापक हो चला। महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक और पंजाब में लाला लाजपतराय तथा सरदार अजीत सिंह आदि ने इस संघटन को व्यापक बनाना शुरू कर दिया। श्यामकृष्ण वर्मा ने भी इस संघटन को सम्हाला। संघटन दृढ़ करने के लिए भूपेन्द्र-नाथ दत्त (अब डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त) ने बंगाल और बिहार का दौरा किया, जिसमें गांधी पैदल ही जाना पड़ा था। क्रान्तिकारियों ने जगह जगह अखाड़े खोले, पुस्तकालयों की स्थापना की। जाहिरा तौर पर इसका उद्देश्य शारीरिक स्वास्थ्य और शिक्षा प्रचार था। पर इसी माध्यम से इसका असली उद्देश्य था क्रान्तिकारी पैदा करना। पंजाब और युक्तप्रान्त के कुछ हिस्सों में आर्य समाज के माध्यम से क्रान्तिकारियों का प्रचार होता था। क्रान्तिकारी दलों में शरीक होने के पहले लोगों की बड़ी कड़ी परीक्षा होती थी। अविचलित निर्भयता, अटूट साहस और मौत का सामना करने की शक्ति का परिचय देकर ही क्रान्तिकारी दलों में शरीक हुआ जा सकता था। जहाँ इन क्रान्तिकारी दलों में दुश्मनों या देशद्रोहियों को मार डालने का निश्चय अनिवार्य था, वहाँ इनके अन्दर बड़ी सख्ती से स्त्रियों पर हाथ न उठाने का और डकैती के समय यदि गोली चलाना अनिवार्य ही हो जाय तो कमर के ऊपर गोली न चलाने का नियम पालन किया जाता था। स्वामी विवेकानन्द जी ने गीता की व्याख्या कर्म और क्रान्तिमूलक की थी। इस काल के क्रान्तिकारियों में हिन्दू ही ज्यादा थे और उनका धर्म गीता का धर्म था।

एक ओर देश में क्रान्तिकारी शक्ति का इस प्रकार विकास हो रहा था और दूसरी ओर अंग्रेजी हुकूमत भारतीय राष्ट्रीयता को छिन्न भिन्न करने का षडयन्त्र रच रही थी। राष्ट्रीयता का प्रभाव बंगाल में ही विशेष था। इसलिये सरकार ने बंगाल को दो हिस्सों में बाँट देने का निश्चय किया। लार्ड कर्जन ने ढाका के नवाब सलीमुल्ला को मिलाकर इस षडयन्त्र को चलाया। इसके पीछे बंगाल को हिन्दू मुसलिम दो हिस्सों में बाँट देने का कुचक्र था। लार्ड कर्जन ने १९०५ ई० में बंगाल को दो हिस्सों में बाँट देने का निश्चय किया। इससे सारा राष्ट्र क्षुब्ध हो उठा। बंगाल ने सरकार के इस निश्चय के विरोध में आन्दोलन छेड़ दिया। कलकत्ते के प्रेस कर्मचारियों ने सरकारी निश्चय के गजट में छपते ही प्रेस में हड़ताल कर दिया। भारतीय इतिहास में शायद यह सब से पहला राजनीतिक हड़ताल था। बंगाल में विदेशी बायकाट और स्वदेशी का प्रकट रूप से बड़ा प्रबल आन्दोलन छिड़ गया। गुप्त रूप से क्रान्तिकारी आन्दोलन बढ़ चला। दिल्ली में लार्ड कर्जन पर बम फेंका गया। अनेक अंग्रेज़ अफसरों की हत्याएं हुई। अनेक क्रान्तिकारी गिरफ्तार हुए। कलकत्ते के मानिकतल्ला मुहल्ले में बम का कारखाना पकड़ा गया। बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब गरम हो गया। तिलक ने खुल कर क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन किया। देश ने सबसे पहले क्रान्तिकारी चेतना का यह रूप देखा। इससे ब्रिटिश हकूमत परेशान हो गई। सरकार ने बंग-भंग के निश्चय को रद्द कर दिया। किन्तु इससे ब्रिटिश

[जून १९४७]

[शेष]

कूटनीतिज्ञ हताश नहीं थे। उन्होंने उस काल के मुसलिम मध्यम वर्ग को अपनी ओर मिला ही लिया था। इसी मध्यम वर्ग के कुछ लोगों से लार्ड मिंटो ने मुसलमानों के लिए अलग चुनाव की मांग कराकर उस मांग को मंजूर कर लिया। इस तरह उठते हुए भारतीय राष्ट्र से मुसलिम समाज को अलग रखने का स्थायी प्रबन्ध कर लिया गया। इस तरह राजा राममोहन राय से बंगभंग के आन्दोलन तक आधुनिक भारत की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का उदय हो गया। संक्षेप रूप से इस काल में निम्नलिखित प्रवृत्तियों का जन्म हुआ:—

१. अंग्रेज़ों के सम्पर्क तथा अंग्रेज़ी नीति के घात प्रतिघात से हिन्दुओं में मध्यम श्रेणी का उदय। मध्यम श्रेणी पर अंग्रेज़ों के सम्पर्क के कारण इंगलैण्ड की सुधारवादी वैधानिक नीति का प्रभाव। नाना कारणों से इसी वर्ग के हाथ में देश का नेतृत्व।

२. समाज संस्कारक आन्दोलन। अंग्रेज़ी राज और ईसाई धर्म प्रचार के कारण समाज संस्कारक नेताओं ने धर्म पर बहुत जोर दिया। धर्म पर बहुत जोर देने तथा प्रारम्भ में अंग्रेज़ों के मुसलिम विरोध के परिणामस्वरूप मुसलमानों में मध्यम वर्ग के देर से उत्पन्न होने के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों में एक दृष्टि का न हो सकना।

३. अंग्रेज़ी वैधनिक मनोवृत्ति के साथ राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म और यूरोपीय क्रान्तियों के परिणामस्वरूप क्रान्तिकारी आन्दोलन का प्रारम्भ। अपने अधिकारों के लिए संघटित और सीधा संघर्ष।

४. देशी उद्योग-धन्धों के साथ मजदूर आन्दोलन का जन्म।

५. मुसलिम मध्यम वर्ग के प्रभाव से तथा उसके हितों के लिए मुसलिम लीग का जन्म।

६. पुरुषों के नेतृत्व में नारी आन्दोलन का जन्म।

७. व्यापक और वैज्ञानिक पद्धति से देखने की दृष्टि।

८. इन सभी के संघातों से भाषा, शिक्षा, चिन्ता-धारा, साहित्य, वेष भूषा और सामाजिक क्रियाओं में परिवर्तन के अस्पष्ट लक्षण।

ज़हरमार

श्रीमोहनसिंह सेंगर

बाजार से लौटकर जब मैंने सहन में प्रवेश किया, तो देखा कि वहाँ एक खासा मेला सा लगा है। सब घर वाले भोला को घेरे हुए हैं और उसे तरह तरह से डरा धमका रहे हैं। पिताजी का चेहरा तमतमाया हुआ है और बार बार बेंत भोला की नाक के पास ले जाकर वे कहते हैं—'बोल, सच सच बता वर्ना आज पुलिस में दिए बिना नहीं छोड़ेंगे। नमकहराम कहीं का!'

मैं यह सब देखकर हक्का बक्का सा रह गया। भोला हमारा पुराना और विश्वस्त नौकर था। उसके साथ यह व्यवहार मैंने पहले कभी नहीं देखा था। मैंने ज़रा आगे बढ़कर पूछा—'क्या बात है?'

मुझे देखकर माँ ने ज़रा व्यंगपूर्वक कहा—'ये आगए बाबूजी! भोला का बड़ा पक्ष लेते हैं। इन्हीं से पूछो ज़रा, यह क्या क्या करने लगा है!'

'राजीव'—पिताजी ने ज़रा कड़क कर कहा—'तुम चाहे हमारा बला से समाजवादी बनो या साम्यवादी, पर खुदा के लिए इन नौकरों को ज्यादा मुंह न लगाओ। शह दे दे कर तुमने भोला को बिल्कुल बिगाड़ दिया है। जब यह गाँव से आया थी, तो कितना सीधा था। और अब? सामने जवाब देता है। कहता है, जूठा नहीं खाऊँगा; गाली नहीं सुनूँगा; किसी ने हाथ उठाया तो अच्छा न होगा! ...'

मैंने दोनों हाथ उठाकर पिताजी से चुप होने का अनुरोध करते हुए कहा—'अच्छा, अच्छा, यह सब तो मैं पहले भी सुन चुका हूँ। आप यह बताइये कि आखिर इस बेचारे ने किया क्या है?'

'आहा, बड़े आए बेचारे के हिमायती!'—माँ ने उसी व्यंग के लहजे में कहा और फिर ज़रा विकृत मुद्रा से बोलीं—'आजकल यह बड़ी चोरियाँ करने लगा है। अभी अभी बहू की सोने की अंगूठी और घड़ी गायब कर ली है—अभी, कोई १० मिनट पहले ही।'

तुम्हें ठीक ठीक मालूम है माँ कि तुम क्या कर रही हो? 'इसका सबूत?'—मैंने पूछा।

'मुझसे ही सबूत तलब करेगा?'—माँ ने आँखें फाड़ कर कहा—'गोया मैं झूठ बोल रही हूँ! अरे, अभी बहू अँगूठी और घड़ी स्नानघर में छोड़ कर बाहर निकली और भोला पानी भरने उसमें गया। इतने में ही दोनों चीजें गायब हो गईं! न वहाँ कोई गया, न आया। भला तू ही बता फिर वे चीज़ें क्या हुईं? भोला के सिवा उन्हें और ले ही कौन सकता था?'

मैंने भोला की ओर देखा। वह शिकारियों से घिरी विवश हरिणी अथवा कसाइयों से घिरी निरीह गौ की तरह मानो आसन्न प्राणदण्ड की प्रतीक्षा में खड़ा काँप रहा था। उसकी डबडबाई आँखें मानो किसी सहारे एवं आश्वासन की भीख माँग रही थीं। मैंने पूछा—'भोला, सच सच बताओ, तुमने अँगूठी और घड़ी ली है?'

हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते हुए भोला बोला—'नहीं, मालिक। हम जो देखी हों, तो हमारी आँखें फूटि जायँ। छुई हो, तो हमारे हाथ में कोढ़ हो जाय। और जो हम मालिक से झूठ कहें, तो हमारे मुँह में कीड़े पड़ें। हम, गऊ की कसम खाय के कहत हैं मालिक, अँगूठी या घड़ी हम देखा हूँ नहीं। आप कहें, तो मन्दिर में चलके अभी गंगाजली उठाय सकत।'

भोला के मुँह से इतनी दुहाइयाँ सुनकर मुझे हँसी भी आई और दया भी। अकेला भोला एक ओर था और सारा घर दूसरी ओर। भोला जहाँ इस अप्रत्याशित आरोप से आहत हो हतबुद्धि हो रहा था, घर वालों ने यह सोचने की आवश्यकता ही नहीं समझी कि वह निर्दोष भी हो सकता है। वे सब इस बात पर ज़ोर दे रहे थे कि वह सीधे सीधे अँगूठी और घड़ी लौटा दे; वर्ना उसकी खैर न होगी। परिस्थिति गंभीर थी और

में सुरमा, कान पर बीड़ी, बाएँ हाथ में घड़ी, पान से लाल मुँह, मिल के अच्छे कपड़े और क़ीमती बूट-मोज़े उसे मानो किसी दूसरी ही दुनिया का जीव बना चुके थे। पूछने पर उसने स्वीकार किया कि बीड़ी, पान और चाय ही नहीं, कभी कभी चार दोस्तों में बैठने पर वह शराब का भी शौक़ करने लगा है। परिस्थितियाँ और सोहबत आदमी को क्या से क्या बना देती हैं?

उस दिन कई घंटे भोला हमारे यहाँ ही रहा और घरवालों से मिल भेंट कर शाम की गाड़ी से लौट गया। न जाने क्यों, इस बार उससे मिलकर मुझे कोई खास खुशी नहीं हुई।

(४)

एक दिन भोला की चिट्ठी मिली कि हड़ताल में प्रमुख भाग लेने के कारण उसे और उसके कई साथियों को छँटनी के बहाने से नौकरी से हटा दिया गया है। चूँकि उसने कलकत्ते आने की इच्छा प्रकट की थी, मैंने उसे लिखा कि मिल जितनी तनख्वाह तो हम लोग दे न पायेंगे, पर अगर वह गुज़र बसर के खयाल से रहना चाहे, तो हमारे घर का दरवाज़ा उसके लिए सदा खुला है। इसका कोई जवाब नहीं आया और कुछ दिनों की प्रतीक्षा के बाद हमलोगों ने उसकी आशा छोड़ दी।

कुछ समय बाद पड़ोसियों के नौकर ने आकर बतलाया कि भोला कलकत्ते में ही है और उसने एक सेठ के यहाँ काम कर लिया है! यह जान कर जहाँ खुशी हुई, वहाँ इस बात का मलाल ज़रूर हुआ कि आखिर यह हम लोगों से मिला क्यों नहीं? पर अब भोला पर हम लोगों का अधिकार ही क्या था! यह समझे, तो सब कुछ, वर्ना कुछ भी नहीं।

एक दिन छोटे बच्चे ने आकर मुझे सूचना दी—'बाबूजी, भोला आया है।' और फिर बड़ी प्रसन्नता तथा सन्तोष के साथ कहा—'उसने तीन मुसल्मानों को मारा है! हाँ।'

मैं कुछ कहूँ, इससे पहले ही बच्चे ने पूछा—'बाबूजी, आपने कितने मुसल्मानों को मारा? एक को तो हम भी मारेंगे, बाबूजी। हाँ।'

बच्चे की बात सुनकर मैं स्तम्भित रह गया। साम्प्रदायिक अन्धेपन का जो बुरा असर नई पौध पर हो रहा था, बच्चे का अन्तिम वाक्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण था। बच्चे की तरफ़ ग़ौर से देखकर मैंने कहा—'तुम हमें मारोगे?'

हतप्रभ हो बच्चे ने नकारात्मक ढंग से सिर हिला दिया।

मैंने फिर पूछा—'क्यों नहीं?'

'तुम तो हमारे बाबूजी हो न।'

'और मुसल्मानों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?'

'वे बदमाश हैं। हिन्दुओं को मारते हैं।'

'तुमको भी मारा किसी ने?'

'नहीं।'

'तब तुम उन्हें क्यों मारोगे?'

'हम क्या जाने। भोला कहता था कि हर हिन्दू को कम से कम एक मुसल्मान को तो मारना ही चाहिए। हम भी बाबूजी, एक को तो हम ज़रूर मारेंगे।' यह कहता हुआ बच्चा मेरे कमरे से बाहर हो गया।

उसके पीछे पीछे मैं भी माँ के कमरे में पहुँचा। उनकी पूजा अभी खत्म ही हुई थी। सामने भोला बैठा था और आसपास घर के अन्य व्यक्ति। सभी बड़े प्रेम और आनन्द से उसकी 'बहादुरी' की बातें सुन रहे थे। मैं जब कमरे में दाखिल हुआ, भोला कह रहा था—'पहले तो मैं काँप जाता था माँजी, पर अब तो हाथ ऐसा पड़ता है कि मजाल क्या जो कोई बच निकले।'

भोला के सामने पड़ी हुई लोहे की छड़ और छुरे को देखकर माँ को एक हल्की सी कँपकँपी आई और फिर भोला के मुँह की ओर देखकर उन्होंने कहा—'पर यह क्या अच्छा काम है, भोला?'

'माँजी, आप लोग अमीर आदमी हैं, सुरक्षित जगह पर हैं। आपको क्या मालूम कि कितने ग़रीब हिन्दुओं को अकारण मौत का शिकार होना पड़ा है। उनका सर्वस्व लुट गया है और उनके घर तक फूँक डाले गए हैं। और तो और बच्चों पर भी वे अत्याचार क्या नहीं करते।'

'हाँ, सुना तो यही है। पता नहीं इन्हें यह क्या हो गया है। आखिर अब तक हिन्दू मुसल्मान साथ साथ रहते ही थे और आइन्दा भी रहेंगे।'

'अच्छा तो माँजी, मैंने जो कहा, उसके लिए कुछ हो जाय।' भोला ने अपना संकेत दुहराया।

माँ एक क्षण रुककर कुछ सोचने लगीं। फिर बोलीं 'बहू, जा, १०) रुपए लाकर भोला को दे दे, ज़्यादा की अभी गुंजाइश नहीं। फिर देखा जायगा।'

अब मुझसे न रहा गया। आगे बढ़कर मैंने कहा—'नहीं माँ, इस काम के लिए इस घर से एक पाई भी नहीं दी जायगी। तुम्हारे पूजा पाठ का क्या यही निष्कर्ष है? निर्दोष और निरीहों को मरवाना ही क्या तुम्हारा धरम-करम है?'

मेरे स्वर ने माँ और भोला को कुछ चौंकाया दिया। सकपका कर भोला ने कहा—'पर बाबूजी, वे जो निरीह और निर्दोष हिन्दुओं को मार रहे हैं।'

'जो अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकते, उनको मरना ही चाहिए। तुम जैसे भाड़े के लोग कितने दिन तक उनकी रक्षा कर सकेंगे? और कल यही छुरे हिन्दुओं पर न चलेंगे, इसकी क्या गारंटी? इस तरह कहीं यह ज़हर शान्त होगा?'

पर शायद मेरी बातें भोला और माँ की समझ के बाहर थीं। अतः उसे समझाने की गरज़ से मैंने कहा—'सुनो भोला, आइन्दा बिना मेरी इजाज़त के इस घर में पाँव न रखना। जाओ, निकलो यहाँ से।'

भोला ने एक गमछे में छुरा और छड़ लपेटे और माँ के पाँव छू कर तेज़ी से बाहर चला गया।

इसके बाद फिर कभी भोला के दर्शन नहीं हुए।

भारतीय महिला जागृति

श्रीमती कृष्णा दीक्षित बी० ए०, बी० टी०

आधुनिक भारतवर्ष के इतिहास में महिला आन्दोलन का प्रारम्भ महिलाओं द्वारा नहीं हुआ है, पुरुषों द्वारा महिला आन्दोलन का आरम्भ होता है। जिन यूरोपीय विचारधाराओं से राजा राममोहन राय को समाज-सुधारक आन्दोलन की प्रेरणा मिली, उसी की प्रेरणा से उन्होंने भारतीय महिला आन्दोलन को जन्म दिया। भारत में स्त्रियों के सती होने की प्रथा बहुत पुरानी नहीं है—यद्यपि कुछ विद्वानों के मत से वेदों में भी सतीदाह का वर्णन है—पर गुप्त काल तक हमें कुलीन और सम्भ्रान्त स्त्रियों के दूसरे विवाह का पता चलता है। अन्तिम गुप्त काल से लेकर मुसलिम विजेताओं के भारत में आने तक यह प्रथा काफ़ी ज़ोरों पर फैल चुकी थी। कुछ विद्वानों का मत है कि शक और हूण आदि जातियाँ जब आर्यों के संसर्ग में आईं तब नए कुलीनता के अभिमान में यह प्रथा उनमें भी तीव्रता से चली। राजपूताने में इस प्रथा का बहुत ज़ोर था जहाँ इन शातियों में आर्यीकरण किया गया था। जो भी राजा राममोहन राय के समय में सतीदाह की प्रथा ने भीषण रूप धारण कर लिया था। बड़ी अमानुषिकता के साथ पति की दहकती चिता में हाथ पैर बाँध कर रोती स्त्री को डाल कर ढोल बजाया जाता था। राजा राममोहन राय ने तीव्र आन्दोलन करके इस अमानुषी प्रथा को कानून द्वारा बन्द करवाया। १८२८ ई० में उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की। ब्रह्म समाज द्वारा उसी मध्य वर्ग को लाभ हुआ, जिस पर किसी न किसी रूप में यूरोपीय विचारधारा का प्रभाव था। ब्रह्म समाज ने सर्वपूर्व स्त्री-शिक्षा, परदा प्रथा का विरोध और विधवा विवाह का आन्दोलन छेड़ा। लड़कियों का बड़ी उम्र होने पर विवाह करना ब्रह्म समाज से ही शुरू होता है। ब्रह्म समाज के आन्दोलन से ब्रह्म समाजियों के लिए विधवा विवाह कानूनन जायज करार दिया गया। उत्तर भारतवर्ष में समाज सुधार का आन्दोलन स्वामी दयानन्द

सरस्वती से प्रारम्भ होता है। स्वामीजी ने वेदों के आधार पर स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया। प्राचीन हिन्दू शास्त्रों के आधार पर परदा प्रथा का विरोध किया और उसी आधार पर बड़ी उम्र की लड़कियों का विवाह तथा विधवा-विवाह का भी समर्थन किया। पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने भी स्त्री-आन्दोलन की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये। श्री रानाडे की पत्नी श्रीमती रमाबाई रानाडे ने भी अनेक महत्व के कार्य किये हैं। स्वामी दयानन्द जी पर आधुनिक यूरोपीय विचारों का प्रभाव नहीं था, यद्यपि इनके विचार बड़े क्रान्तिकारी थे। स्वामीजी की शिक्षापद्धति को कायम करने के लिये जहाँ पुरुषों के लिये गुरुकुल की स्थापना हुई, वहाँ स्त्रियों की शिक्षा के लिये लाला देवराजजी ने जालंधर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना की। महाराष्ट्र में भी समाज सुधार का आन्दोलन जोरों पर था। आचार्य कर्वे ने विधवा विवाह को काफी प्रोत्साहित किया था। विधवाओं की सहायता के लिए उन्होंने एक आश्रम खोला जिसने आगे चल कर महिला विश्वविद्यालय का रूप ले लिया। इस भाँति पिछली शताब्दी के अन्त होने के पूर्व भारतीय समाज में स्त्रियों की पूर्व हीन स्थिति को बदलने के लिये अनेक आन्दोलन हुए। इन आन्दोलनों का समाज पर काफ़ी असर हुआ। जहाँ राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द को इस लिये परेशान होना पड़ा कि लोग अपनी लड़कियों को स्कूलों में नहीं भेजते थे, वहाँ १९०५ में रविन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक निबन्ध में लिखा—"कि अब बड़े घरों में लड़की की शादी के लिये लिखना-पढ़ना जानना आवश्यक शर्त है।" जहाँ लोग स्त्रियों को सात परदे में रखने में अपना गौरव समझते थे, वहाँ बंकिमचन्द्र चटर्जी सरीखे सम्मानित व्यक्ति ने रेल यात्रा में एक अशिष्ट व्यक्ति को अपनी पत्नी की ओर घूरते देख कर, पत्नी के माथे का वस्त्र हटा कर उस अशिष्ट को शिष्ट कर दिया था। लोग अपनी बहुओं को लेकर सभाओं में जाने आने लग गये थे। स्त्रियों की समान सामाजिक प्रतिष्ठा का भाव इस काल तक समाज में आ गया। यद्यपि हम इसे कोई बहुत बड़ी क्रान्ति नहीं कहेंगे। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि इस सारे आन्दोलन ने स्त्रियों के प्रति समाज के दृष्टिकोण को बहुत दूर तक बदल दिया।

इनके पश्चात् श्रीमती पी० के० रे कलकत्ते की लेडी बोस, मद्रास की डॉक्टर मुट्ठलक्ष्मी, श्रीमती अनुसूयाबेन साराभाई ने पूर्ण लगन और परिश्रम के साथ नारी जागृति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये। इसके अतिरिक्त भोपाल की बी० अम्मन, अली भाइयों की माता, बड़ौदा की महारानी चिम्मनबाई आदि ने महिला जागृति में स्तुत्य कार्य किये हैं। श्रीमती सरोजनी नायडू का कार्य जीवन के अनेक क्षेत्रों में विशेष विख्यात रहा है। इन्हें साहित्य और कविता के क्षेत्र में "भारत कोकिला" कहा जाता है। कई बार इन्होंने विदेशों की महिला कॉनफ्रेन्सों में भारतीय महिलाओं का सफल प्रतिनिधित्व किया है और अपनी धाराप्रवाहिनी वक्तृता से विदेशियों को चमत्कृत किया है। आपकी तुलना किसी भी विश्वविख्यात और उच्चतम राजनीतिज्ञ महिला से की जा सकती है। महिला जागृति के लिये कार्य करने वालों को आपके जीवन और कार्यों से सदैव प्रेरणा और स्फूर्ति मिलती रही है।

सन् १९१७ में राष्ट्रीय आधार पर भारतीय महिलाओं का सर्वप्रथम संगठन "वीमनस् इंडियन ऐसोसियेशन" के नाम से मद्रास में हुआ। इस आन्दोलन में श्रीमती ऐनीबीसेन्ट ने प्रमुख भाग लिया। इस महिला संगठन के तीन मुख्य लक्ष्य थे। प्रथम स्त्रियों में शिक्षा की उन्नति करना, द्वितीय सामाजिक कुरीतियों का बहिष्कार करना और तृतीय राजनैतिक क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त करना। इस संगठन का लक्ष्य यह भी था कि इसके द्वारा समाज सेवाओं के हेतु महिलाओं का संगठन किया जाय। श्रीमती ऐनीबीसेन्ट को हम निस्सन्देह भारतीय महिला संगठन की जन्मदाता कह सकते हैं। सन् १९२४ में "वीमनस् ऐसोसियेशन" की ५१ शाखाएँ थीं, १८ केन्द्र और १०० सक्रिय कार्यकर्त्री थीं। इस ऐसोसियेशन की नीति का प्रचार करने वाला प्रमुख पत्र 'स्त्रीधर्म' था। देवदासी प्रथा को तोड़ने में जो कि मद्रास में प्रचलित थी, इस पत्र ने प्रमुख कार्य किया। इसके अतिरिक्त शरणार्थी शिविर, मद्रास सेवासदन और बालकों के लिये शिशु सहायक आश्रम खुलवाए। श्रीमती मार्गरेट कज़िन्स श्रीमती ऐनीबीसेन्ट की सहायक थीं। यह महिला ऐसोसियेशन की सेक्रेटरी और 'स्त्री धर्म' की सम्पादिका के पद पर कार्य करती थीं। इन्हीं के प्रयास से 'ऑल इण्डिया वीमेन्स कॉन्फ्रेन्स' और ऑल एशियन वीमेन्स कान्फ्रेन्स' की स्थापना हुई। इन कान्फ्रेन्सों के प्रारम्भिक अधिवेशन मद्रास प्रांत ही में हुए, क्योंकि प्रारम्भ में इस एसोसियेशन का सम्बन्ध थियोसोफिकल सोसायटी के साथ विशेष रूप से रहा। श्रीमती डाक्टर ऐनीबीसेन्ट की मृत्यु के पश्चात् डाक्टर मुट्ठलक्ष्मी रेड्डी इस एसोसियेशन की सभानेत्री हुई।

सन् १९१९ में मौन्टेग्यू चैम्स फोर्ड द्वारा प्रस्तावित सुधार हमारे देश में लागू हुए। इस समय श्रीमती सरोजनी नायडू, रानी लक्ष्मी बाई राजवाड़े और श्रीमती ऐनीबीसेन्ट का एक डेपूटेशन मद्रास में मौन्टेग्यू महोदय से मिला, जिसने स्त्रियों के समान अधिकार के लिये माँग पेश की। इसी समय इण्डियन नेशनल काँग्रेस के कलकत्ता वाले अधिवेशन ने श्रीमती ऐनीबीसेण्ट की अध्यक्षता में एक प्रस्ताव महिलाओं के अधिकार के विषय में पास किया। मिसेज ऐनीबीसेण्ट, श्रीमती सरोजनी नायडू और श्रीमती हीराबेन ताता ने ज्वाइंट पार्लियामेन्टरी कमेटी के सामने महिलाओं के अधिकार पर पूर्णरूप से ध्यान आकर्षित किया। इसके पश्चात् हर प्रान्त को इस बात की स्वाधीनता मिल गई कि वह अपने अपने प्रान्त में कितनी महिलाओं को वोट का अधिकार दें यह वही तय कर लें। मद्रास और बम्बई ने १९२१ में, यू० पी० ने १९२३ में, मा० पी०, बंगाल और पंजाब ने १९२६ में कार्यान्वित किया। इस प्रकार १९२३ में सबसे पहिले लेजिस्लेटिव असेम्बली और प्रान्तीय धारा सभाओं में महिलाओं को वोट दी गई।

एक निश्चित जायदाद पर ही वोट देने का अधिकार था। और यह अधिकार महिलाओं और पुरुषों को समान रूप से था इसलिये सन् १९२१ से १९२३ तक केवल ३१५६५१ स्त्रियों ने ही वोट दिये। वोट देने के अधिकार प्राप्त करने के लिये १९३२ में लोथियन कमेटी भारत में आई। इस बार स्त्रियाँ विरोध करने के लिये विशेष रूप से संघठित थीं। इस बार 'राउन्ड टेबिल कान्फ्रेन्स' में बेगम जहाँनारा शाहनवाज़ और श्रीमती राधा बाई सुब्रयन सभासद के रूप में भेजी गईं। इसके अतिरिक्त 'वीमेन्स इन्डियन ऐसोसियेशन' 'नेशनल काउन्सिल ऑफ वीमेन', और 'ऑल इण्डिया वीमेन्स कॉन्फ्रेन्स' के सम्मिलित प्रयत्न से राजकुमारी अमृत कौर, बेगम हमीदअली और डाक्टर मुट्ठलक्ष्मी रेड्डी ने ज्वाइन्ट पर्लियामैंट्री कमेटी के सम्मुख प्रतिनिधित्व किया। इसके फलस्वरूप १९३५ के एक्ट के अनुसार स्त्रियों को वोट देने का अधिकार और विस्तृत कर दिया गया। इस बार स्त्रियों के वोट देने की संख्या ६० लाख तक पहुँच गई। इस कानून के अनुसार विवाहित स्त्रियाँ और साक्षर स्त्रियाँ वोट दे सकीं।

भारतीय 'नेशनल काउन्सिल ऑफ वीमेन' की स्थापना सन् १९२५ में हुई। यह इण्टर नेशनल ऑव वीमेन की ही एक शाखा थी। इसका भी उद्देश्य महिला सुधार था। इसकी पाँच प्रान्तीय काउन्सिल—देहली, बम्बई, बिहार, सी० पी० और बंगाल में है। यह एक बुलेटिन प्रकाशित करती थी जो कि भारतीय महिलाओं को देश विदेश की महिला जगत् के समाचार देती थी। किन्तु इसकी सदस्यता का अधिकार बड़ा ही सीमित था। केवल अंग्रेजी पढ़ी लिखी धनी और उच्चतर वर्ग की महिलाएँ ही इसकी सदस्या बन सकती थीं। इसने सर्वदा महिला सुधार की ओर दृष्टि रक्खी किन्तु जैसा कि कॉन्फ्रेन्स के निश्चय थे उन्हें कार्यान्वित करने में यह असफल रही।

ऑल इण्डिया वीमेन्स कॉन्फ्रेन्स की स्थापना सन् १९२६ के अक्टूबर मास में हुई थी और इसका प्रथम अधिवेशन १९२७ में कान्फ्रेन्स के रूप में शिक्षा-सुधार के हेतु हुआ। इस संस्था ने शिक्षा, बाल-विवाह और स्त्रियों के समान अधिकार के क्षेत्र में पर्याप्त कार्य किये।

महिला आन्दोलन के इस दूसरे काल की यह विशेषता है कि महिला आन्दोलन के संचालन में महिलाओं का स्थान प्रधान होने लगा। इस काल में स्त्री शिक्षा समाज में निर्विवाद नियम के रूप में प्रचलित हो गई। कुलीनों के लिए ही नहीं, मध्य श्रेणी के लोगों के लिए भी अपनी लड़की का पढ़ाना जरूरी हो गया। तीव्र सामाजिक आन्दोलनों के दबाव के कारण सरकार को लड़कियों की शादी के लिये १४ साल की कैद का शारदा कानून बनाना पड़ा। किन्तु सरकार की नीति इस

सम्बन्ध में बहुत ही प्रतिक्रियाशील थी, उसने शारदा कानून को जैसा चाहिये था, वैसा नहीं बनने दिया। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव भी भारतीय नारी आन्दोलन पर तीव्र गति से पड़ने लगा। १९२५ ई० में कानपुर कांग्रेस की प्रेसिडेण्ट श्रीमती सरोजनी नायडू बनाई गईं। इसका असर महिला समाज पर खूब पड़ा। महात्मा गान्धी भी महिला जागृति के लिये बराबर कुछ न कुछ करते रहते थे। १९३०-३२ के जन आन्दोलन में हर प्रान्त में महिलाओं ने अच्छा हिस्सा लिया। इस आन्दोलन में न केवल सम्पन्न घरों की महिलाओं ने ही हिस्सा लिया, बल्कि निम्न मध्य श्रेणी की महिलाओं ने भी देश के लिये कारावास का दण्ड सहा, लाठियाँ खाईं। यह काल भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन की समाप्ति का है। पर फिर भी इस काल में कल्पना दत्त ने चटगांव के शस्त्रागार पर डाका डालने में पुरुष क्रान्तिकारियों का साथ दिया। वीणादास ने बंगाल के गवर्नर पर गोली चलाकर अपूर्व साहस का परिचय दिया। इसके बाद ही कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का काल आता है। इसमें श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को मन्त्रिपद मिला। इस समय पं० जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में राष्ट्र पुनर्निर्माण समिति बनी। इसकी योजना ने अभी तक व्यावहारिक रूप नहीं लिया। पर उसने स्त्रियों के लिये आर्थिक स्वाधीनता के सिद्धान्त को कुछ दूर तक स्वीकार कर लिया। इसके बाद द्वितीय महायुद्ध का काल आ जाता है। प्रत्येक युद्ध के गर्भ से सामाजिक परिवर्तन पैदा होता है। यह युद्ध भी विश्व की सामाजिक व्यवस्था को उलट पुलट करने वाला है। इस युद्ध ने रूस के समाजवादी सिद्धान्तों की ओर दुनिया के लोगों का ध्यान आकर्षित कर दिया और समाजवाद में स्त्रियों को पुरुषों के समान माना गया है। हमारे देश में भी समाजवादी आन्दोलन तीव्र गति से बढ़ रहा है। १९४२ के आन्दोलन का नेतृत्व भी अनेक महिलाओं ने किया था। इन सारी परिस्थितियों का प्रभाव भारतीय महिलाओं पर पड़ रहा है।

इस सारे काल को भारतीय महिला आन्दोलन का दूसरा काल कहा जा सकता है। इस काल में महिला आन्दोलन महिलाओं द्वारा संचालित हुआ, ज्यादा से ज्यादा महिलाओं ने प्रत्येक प्रगतिशील सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन में हिस्सा लिया तथा जिम्मेदारी के पदों को स्वीकार कर के कुछ महिलाओं ने अपनी योग्यता का परिचय दिया। इससे उनमें आत्मविश्वास की चेतना भी पैदा हुई। किन्तु इस प्रगति के बावजूद भी महिला जागृति अधिकांश में मध्यम श्रेणी और निम्न मध्यम श्रेणी में ही सीमित है। जन साधारण में अभी उसका प्रवेश नहीं हुआ है। जन साधारण महिलाओं में अभी तक समुचित शिक्षा का भी अभाव है, उनमें आत्म-निर्भरता की भी कमी है और अनेक कुसंस्कारों से भी वह जड़ित हैं। महिला जागृति और महिला आन्दोलन की दिशा अब इसी ओर है। शिक्षा प्रसार के साथ साथ इसी ओर महिला जागृति बढ़ेगी और इसी से देश का कल्याण सम्भव है।

महादेवी वर्मा के नारी विषयक विचार

डा० कमल कुलश्रेष्ठ एम० ए०, डी० फिल्०

आदर्श नारी

महादेवी वर्मा ने अपनी आदर्श नारी की भावना कहीं पर भी अलग से स्पष्ट नहीं की। परन्तु उनकी कृतियों को ध्यान से पढ़नेवाला पाठक इस बात का अनुभव करता है कि आदर्श नारी की रूपरेखा उनके मस्तिष्क में बहुत स्पष्ट तो नहीं है, लेकिन अपना अस्तित्व रखती है।

वे आदर्श नारी में ममता, कोमलता, सहानुभूति, भावुकता, विवेक संयम, साहस, दया,क्षमा, उद्यमशीलता, शिक्षा, त्याग, सहनशीलता, पातिव्रत आदि गुणों की अपेक्षा रखती हैं। वे चाहती हैं कि नारी अनुभव करे कि वह नागरिक है और उसका अपना व्यक्तित्व अलग होना चाहिए।

वे पश्चिम से प्रभावित आधुनिक भारतीय हिन्दू नारी को अपने आदर्श से बहुत दूर देखती हैं। आधुनिक नारी रूप और वय का पाथेय लेकर जीवन यात्रा में आगे बढ़ती है। इसे वे बहुत ही हीन वृत्ति समझती हैं। वे पुरुष और नारी के अलग अलग कार्यक्षेत्र मानती हैं और नारी का पुरुष बनना पसन्द नहीं करतीं।

अपने आदर्श के निकट उन्हें कदाचित कोई भी स्त्री नहीं मिली। न तो "अतीत के चल चित्र" में ऐसी किसी स्त्री का चित्र है जो उनके आदर्शों के निकट हो और न कहीं अन्यत्र उसका उल्लेख है। वे सुधारों की चर्चा करती हैं। सुधारों की चर्चा करते हुए वे स्वयं बहुत अधिक स्पष्ट नहीं हो सकी हैं। लेकिन इस विषय में स्पष्ट है कि वे नारी को पुरुष से होड़ लेती हुई नहीं देखना चाहती हैं। वे स्वयं नारी में ऐसे गुणों का दर्शन करती हैं जिनके बल पर नारी अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व बना सकती है और समाज के लिए महत्वपूर्ण हो सकती है।

वर्तमान स्थिति

हिन्दू समाज में नारी की वर्तमान स्थिति क्या है, महादेवी वर्मा ने इसका विश्लेषण किया है। उनका विचार है कि बड़ी ही दयनीय स्थिति में हिन्दू नारी आज है। वह अशिक्षित है, फलतः उसमें साहस तथा विवेक की कमी है। वह चीज़ को न तो ठीक तरह से समझ पाती है और न अवसर आने पर वीरता तथा धीरता से कार्य कर पाती है। उसमें आत्मनिर्भरता नहीं है। उसे पूर्ण रूप से पुरुष पर या किसी दूसरे व्यक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है। वह उस व्यक्ति के आधीन रहती है; जो वह व्यक्ति कहता या चाहता है वह बिना हाँ नहीं किए उसे करती जाती है। उसने अपने व्यक्तित्व तक को उस व्यक्ति में लुप्त कर दिया है। आज की हिन्दू नारी पुरुष की छाया मात्र रह गई है। उसमें व्यक्तित्वहीनता अपने चरम रूप में विद्यमान है। वह आर्थिक रूप से पति या पिता की दासी है। समाज के नियम ऐसे हैं कि पितृ धन में से उसे कुछ भी नहीं मिलता और वैसे भी समाज ने उसको आर्थिक स्वाधीनता से सर्वथा वंचित कर रखा है। इन बातों के अतिरिक्त उसे जीने की कला नहीं आती। जीने की कला से महादेवी वर्मा का विशेष तात्पर्य क्या है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है।

महादेवी वर्मा ने आधुनिक जाग्रत भारतीय नारियों की स्थिति का भी विश्लेषण किया है। उनका विचार है कि वे अत्यधिक पुरुषानुकरण प्रवृत्ति से भरी हुई हैं। वे पुरुष बन जाने के प्रयास में हैं। आधुनिक नारी चार निश्चयों के साथ आगे बढ़ी है।

१ वह उस भावुकता को नष्ट कर देगी, जिससे पुरुष उसे रमणी समझता है।

२. वह उस गृह-बन्धन को छिन्न भिन्न कर देगी, जिसकी सीमा ने उसे पुरुष की भार्या बना दिया है।

३ वह उस कोमलता को भी न रहने देगी, जिसके कारण उसे वाह्य जगत् से कठोर संघर्ष से बचने के लिये पुरुष के निकट रक्षणीय होना पड़ा है।

४ वह पुरुष को दिखा देगी कि वह उसके बराबर ही है।

महादेवी वर्मा का विचार है कि भावुकता को नष्ट कर देना प्रकृति से विकृति की ओर जाना है और इसका परिणाम यह है कि आज उसे अपने रूप, अपने शरीर और अपने आकर्षण का जितना ध्यान है, उसे देखते हुए कोई भी विचारशील उसे स्वतन्त्र नहीं कह सकेगा। आज की नारी अपने और पुरुष के सम्बन्ध को रहस्यमयी जिज्ञासा बना रही है। इस रहस्यमयी जिज्ञासा की भावना ने प्रणय के स्थायी आदान-प्रदान के अधिकार को नष्ट कर दिया है। वह थोड़ी देर के लिए पुरुष को विस्मयविमुग्ध मात्र कर सकती है। वह पश्चिम की नकल कर रही है; परन्तु पश्चिमी स्त्रियोंको जो सुविधाएँ और सुयोग मिलते हैं, वे उसे नहीं मिले। वह आज अपने हल्केपन का परिचय दे रही है

आधुनिक महिलाएँ तीन तरह की हैं :—

१ वे जिन्हों ने घर से बाहर निकल कर राष्ट्रीय आन्दोलनों में पुरुषों के साथ साथ भाग लिया।

२ वे शिक्षिताएँ जिन्हों ने शिक्षा और जागृति को अपनी आजीविका का साधन बनाया

३ वे सम्पन्न महिलाएँ जिन्होंने किताबी शिक्षा के साथ बहुत सी पाश्चात्य आधुनिकता का संयोग कर अपने जीवन को एक नए साँचे में ढाल दिया है।

ये तीनों ही प्रकार की महिलाएँ बहुत अधिक अकेलापन अपने जीवन में पाती हैं उनके पास निर्माण के उपकरण तो हैं, लेकिन कुछ भी निर्मित नहीं है। उसे किसी से सहायतापूर्ण सहानुभूति भी नहीं मिल पाती। यह स्थिति महादेवीजी के विचार से आकर्षक भले ही जान पड़े, सुखकर नहीं है।

राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेनेवाली स्त्रियों ने नारी की शक्ति का प्रमाण दिया है। परन्तु उन्होंने मानवता को मृत्यु का सौन्दर्य दिखलाया है, जीवन का वैभव नहीं। वे उत्तेजना प्रधान हो गई हैं, संवेदना प्रधान नहीं हैं।

दूसरे प्रकार की महिलाओं के विषय में महादेवीजी का मत है कि हमारी शिक्षिता बहिनों ने केवल गृहणीपन में सन्तोष न पाकर और उसके मूल में आर्थिक दासता को मान कर, घर के बाहर कदम रख कर, अपने को स्वाधीन बना लिया है। लेकिन ऐसी स्त्रियों ने समाज की सहानुभूति कुछ दूर तक खोई है। बहुत पढ़ी लिखी या कानून जाननेवाली स्त्री से उन्हें भय लगता है। ऐसी शिक्षिता महिलाओं को गृहणी-जीवन में अधिक सफलता भी नहीं मिल सकती।

सम्पन्न कुलों की आधुनिकता से भरी स्त्रियों के विषय में महादेवीजी लिखती हैं कि वे तो स्वयं को अलङ्कृत करके पिता या पति के घर का अलंकार मात्र बन कर जीना जानती हैं। इन महिलाओं के निकट सन्तान पालन का गुणगान कुछ भी महत्व नहीं रखता, क्यों कि उनके परिवार की प्रतिष्ठा के अनुकूल बल नहीं बैठता।

इस प्रकार महादेवी आधुनिकता से भरी भारतीय हिन्दू नारी को विजय-पथ का पथिक नहीं मानतीं। वे इस आधुनिकता से भागने की ही सलाह देती हैं। उनके हृदय में जितनी सहानुभूति तथा आदर निम्न वर्ग या निम्न मध्यम वर्ग की स्त्रियों के लिए है उतनी किसी अन्य वर्ग की स्त्री के लिए नहीं है।

निम्न वर्ग की स्त्री के विषय में वे हमें बतलाती हैं कि वह साध्वी और पति की संगिनी है। एक ओर तो वह गृह का कार्य तथा सन्तान पालन करती है और दूसरी ओर बाहर के कार्यों में तथा अर्थोपार्जन में पति का हाथ बँटाती है। उनमें चरम त्याग भावना मिलती है। महादेवीजी ने इसके उदाहरण भी हमारे सामने रखे हैं। उनकी 'रधिया' परम त्यागमयी स्त्री है। वह एक ओर तो अपने कुम्हार पति को मिट्टी के बर्तन बनाने में सहायता देती है और दूसरी ओर सन्तान पालन करती है। एक दूसरा उदाहरण उन्होंने 'सबिया' का दिया है। सबिया जात की मेहतरानी है। वह अपने पति की सन्तान पालती है, घर सँभालती है, कमाकर पति और सास को खिलाती है तथा पति के अनाचार का दण्ड भी भरती है।

नारी में अत्यधिक त्याग भावना होती है। 'रधिया' के माध्यम से महादेवीजी ने इस विशेषता का सुन्दर चित्रण किया है। उसे बच्चा हुआ, पति गरीब है, चमारिन एक रुपये से कम पर आने को तैयार नहीं हुई। इस कारण रधिया ने स्वयं लेटे लेटे दराती से नाल काट लिया। पति गरीबी में उसके लिए पुष्टिकारी भोजन का प्रबन्ध नहीं कर सकता। जब महादेवी ने उसके पति को बनिये के यहाँ से गुड़, सोंठ, घी आदि लाने का आदेश दिया तो रधिया कह उठी कि वे चीजें तो उसे खाने में नुकसान करती हैं। 'उसका पति जिस वस्तु का प्रबन्ध नहीं कर सकता वह रधिया के लिए हानिकारक हो उठती है' यह मनोवृत्ति उसकी हो गई थी।

निम्न वर्ग की नारी अत्यधिक उद्यमशील भी है। सबिया अत्यधिक उद्यमशील नारी है। "अतीत के चल चित्र" में आठवीं कथा की स्त्री भी आकर्षि रूप से स्वतन्त्र एवं स्वावलंबिनी होने के लिए उद्यमशील बनने को तैयार है। निम्न श्रेणी की स्त्रियाँ सबेरे ६ बजे गोद में छोटे बालक को तथा भोजन के लिए मोटी काली रोटी लेकर मज़दूरी के लिए निकलती हैं और शाम को ७ बजे लौटती हैं।

ये नारियाँ अपने पति से प्रेम भी करती हैं। सबिया इतने कष्ट अपने पति के लिए ही सहती है, वह उसके पति प्रेम का ही उदाहरण है।

ये नारियाँ अत्यधिक कृतज्ञ होती हैं। इनकी कृतज्ञता के सूत्र में इनका तथा इनके सम्पर्क में आनेवालों का स्नेह भाव मात्र रहता है। यह स्नेह भाव नारी में इतना अधिक होता है कि महादेवी को मधु खिलाने के लिए लछमा मधुमक्खी हाथ में पकड़ पकड़ कर पालता है। वे मक्खियां उसे काटती हैं लेकिन वह परवाह नहीं करती। अन्त में वह पाल कर ही रहती है और इस छत्ते का मधु महादेवी को खिलाती है। "अतीत के चलचित्र" में जो दूसरी कथा महादेवी जी ने दी है उसको विधवा नारी भी स्नेह बश ही महादेवी की इतनी अधिक कृतज्ञ है कि अन्त में अपने जीवन का सर्वनाश तक कर लेती है।

किन्तु नारी की दुर्दशा के जो चित्र महादेवी ने दिये हैं वे भी कम भयंकर नहीं हैं। स्त्रियाँ स्वयं अन्य स्त्रियों के प्रति कुव्यवहार करती हैं। बिन्दा की विमाता कितनी अधिक क्रूर है यह "अतीत के चलचित्र" के पाठक भली भाँति जानते हैं।

कभी कभी माँ के अपराधों का दण्ड भी उसकी पुत्री को सहना पड़ता है। "अतीत के चलचित्र" की आठवीं कथा में एक पतित कही जानेवाली माँ की पुत्री की कहानी है, वह पूर्ण रूप से पवित्र जीवन व्यतीत करती है लेकिन फिर भी समाज उसे साध्वी स्त्री स्वीकार करने को तैयार नहीं होता।

स्त्री पर पुरुषों के अत्याचार की कहानी भी अत्यन्त करुण है। सबिया का पति सदा सबिया के कष्टों एवं कलेशों का कारण रहा। लछमा अपने जीवित किन्तु अर्द्ध विक्षिप्त पति की सम्पत्ति का अधिकार छोड़ने को तैयार नहीं, इस कारण उसके देवर तथा जेठ उसे पीटते हैं। एक वृद्ध जेठ अपनी विधवा बहू पर झूठे शक करके उसे पीटता है। गया भी अपनी पत्नी के प्रति पूरा कर्तव्यशील नहीं है।

समाज द्वारा हर तरह से कुचली जानेवाली विधवाओं की करुण दशा पर भी वे प्रकाश डालती हैं। वे विधवाएं कैसी नरक यातना का जीवन व्यतीत करती हैं, यह "अतीत के चलचित्र" की कई कथाओं में दिया गया है।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त महादेवी केवल एक स्थल पर नारी के छल का उल्लेख करती हैं। अलोपी जिस स्त्री को लाकर अपने साथ रखता है और जिसे प्यार करता है वह उसका रुपया पैसा लेकर एकाएक भाग जाता है।

संक्षेप में महादेवी के ये ही हिन्दू नारी की वर्तमान स्थिति संबंधी विचार हैं। स्पष्ट है कि वे निम्न वर्ग तथा निम्न मध्यम वर्ग से अधिक संतुष्ट हैं।

नारी की प्रकृति

महादेवी वर्मा स्त्री की प्रकृति में पुरुष से कुछ विभिन्नता बतलाती हैं। उनका विचार है कि स्त्री में पुरुष की अपेक्षा अधिक कोमलता और सहानुभूति के तत्व हैं। पुरुष का जीवन संघर्ष से प्रारम्भ होता है और नारी का आत्मसमर्पण से। पुरुष अपने चारों ओर का जीवन रस चूसचूसकर बढ़ता है और नारी दुनिया को कम से कम कष्ट देकर बढ़ सकती है।

उसके लिए बहुत से व्यवसाय खुले हैं। वह किसी भी व्यवसाय को अपना सकती है। शिक्षा के लिए भारतीय स्त्रियाँ बहुत कम मिलती हैं। पढ़ी लिखी महिलाओं की संख्या तो वैसे ही उंगलियों पर गिनने योग्य है और उनमें भी भारतीय संस्कृति के अनुसार शिक्षिताएं बहुत ही कम हैं। जो हैं भी उनके जीवन के ध्येयों में इस कर्तव्य की छाया का प्रवेश निषिद्ध समझा जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में पुरुष अपनी स्वभावसुलभ कठोरता से असफल रह सकता है, लेकिन माता के सहज स्नेह को लेकर जब कोई स्त्री सच्चे रूप से आएगी तो समाज का अधिक कल्याण कर सकती है।

चिकित्सा के क्षेत्र में पुरुष की अपेक्षा नारी अधिक सफल होगी। पुरुष हृदय अधिक कठोर होता है। नारी का हृदय अपेक्षाकृत अधिक कोमल है। वह अधिक सफल होगी।

साहित्य भी स्त्रियों के लिए एक आवश्यक क्षेत्र है। इस व्यवसाय से उसे वह प्रसन्नता भी मिलेगी जो आत्मतुष्टि से उत्पन्न होती है और वह तृप्ति भी जो परोपकार से जन्म पाती है। साहित्य यदि स्त्री के सहयोग से शून्य हो तो उसे आधी मानव जाति के प्रतिनिधित्व से शून्य समझना चाहिए। यदि पुरुष किसी स्त्री का चरित्र निर्माण करे तो वह अधिक आदर्शवादी बना सकता है और विकृत भी कर सकता है, लेकिन अधिक सत्य तथा यथार्थ के समीप नहीं ला सकता। पुरुष के लिए नारी कल्पना है और नारी के लिये अनुभव। अतः नारी साहित्य के क्षेत्र में अत्यधिक सहायिका बन सकती है। इसके साथ हमें यह भी याद रखना चाहिए कि महिला साहित्य तथा बाल साहित्य सृजन में भी पुरुष की अपेक्षा अधिक अधिकारिणी है। बालकों के विषय में उसका ज्ञान जितना विशद होता है उतना पुरुष का नहीं हो सकता।

क़ानून के मामलों में भी स्त्री सफल साबित हो सकती है। वकील, बैरिस्टर महिलाओं की बड़ी कमी है। क़ानून से साधारण स्त्रियों को भी परिचित होना चाहिए। यदि वे क़ानून से परिचित होतीं तो शायद उनकी दशा आज इतनी गिरी हुई न होती।

इन कार्यों के अतिरिक्त स्त्रियाँ स्त्रियों तथा बालक[illegible] के लिए अन्य उपयोगी संस्थाएँ चला सकती हैं। उनसे भी उन्हें आय हो सकती है और वे अपनी जीविका उपार्जित कर सकती हैं।

लेकिन नारी को अपने नागरिकता विषयक पू[illegible] अधिकार मिलने चाहिए। शासन व्यवस्था में उन्[illegible] अधिकार न मिलने से आधा नागरिक समाज प्रतिनिधि[illegible] हीन रह जायगा। स्त्रियों की आवश्यकताओं की जितनी जानकारी स्त्रियों को हो सकती है उतनी पुरुष को नहीं हो सकती। यदि वे शासन संस्थाओं में स्थान पायें गी तो नारी हितों की सुरक्षा कर सकेंगी।

शासन संस्थाओं में स्थान मिल जाने पर स्त्रियों के स्त्री संबंधी क़ानून बदलने चाहिए। आज भारती[illegible] समाज में स्त्री संबंधी जो क़ानून बन रहे हैं वे अत्यन्त संकुचित और नारी का बड़ा अहित करने वाले हैं। हिन्दू नारी सम्पत्ति के स्वामित्व से सर्वथा वंचित है। इसका दुष्परिणाम सम्पन्न पुरुषों की विधवाओं और पैतृक धन रहते हुए भी दरिद्र पुत्रियों की [illegible] दशा देखकर स्पष्ट समझा जा सकता है। यह [illegible] संबंधी क़ानून अवश्य बदलना चाहिए। इससे हिन्दू नारी समाज को बड़ी हानि उठानी पड़ी है। हिन्दू नारी की आज की दारुण दशा के मूल में भी बहुत दूर तक यह क़ानून है। यह क़ानून पुरुषों द्वारा बनाया गया है। पुरुषों ने उसे अपने स्वार्थ के अनुकूल बना लिया है। इस प्रकार के अन्य क़ानून भी बदले जाने चाहिएं।

स्त्रियों में आत्मनिर्भरता होनी [illegible] इच्छा और प्रयत्न से ही वे आत्मरक्षा में समर्थ होंगी। यह इच्छा और प्रयत्न वास्तव में आत्मनिर्भरता के बिना नहीं आ सकते। वे पुरुष पर निर्भर करना छोड़ें, तभी उनका कल्याण हो सकता है।

नारियों को चाहिए कि वे घर के [illegible] घर के बाहर भी उनके कार्य के लिए क्षेत्र है। शिक्षा, चिकित्सा आदि में उनका सहयोग [illegible] बिना उनकी सहायता के इन क्षेत्रों में पुरुष पूर्ण सफलता के साथ कार्य नहीं कर सकता।

नारी को जीने की कला भी आनी [illegible] अपने जीवन का कुछ लक्ष्य बनाना चाहिए और

उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस समय भारतीय नारी के पास वे सभी विशिष्ट गुण मौजूद हैं जिन्हें लेकर किसी भी देश की स्त्री देवी बन सकती है। सहनशक्ति की सीमा, असीम त्याग, आज्ञाकारिता, पवित्रता, स्नेह सभी उसके पास हैं। यदि उसे जीने की कला और आ जाय तो वह बहुत सुखी हो सकती है।

इन सारे सुधारों के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि नारी में व्यक्तित्व हो। हिन्दू नारी में यदि स्वतंत्र व्यक्तित्व की चाह जाग जाय तो उसकी जड़ता दूर हो जाय। वह पति के व्यक्तित्व में अपने को इतना खो देती है कि कुछ सोच नहीं पाती। पुरुष के अंधानुसरण ने स्त्री के व्यक्तित्व को दर्पण बनाकर सीमित कर दिया है। अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को खोकर भारतीय हिन्दू नारी ने अपना विवेक खो दिया है। विवेकहीनता का परिणाम उसकी यह वर्तमान अवस्था है।

महादेवी वर्मा भारतीय हिन्दू नारी के जीवन में ये सुधार ही चाहती हैं। उनका विचार है कि यदि भारतीय हिन्दू नारी को शिक्षित बना दिया जाय, नागरिकता विषयक अधिकार दे दिए जायं, घर से बाहर के उपयुक्त क्षेत्रों में कार्य करने दिया जाय, आत्मनिर्भरता का गुण भर दिया जाय, आर्थिक स्वाधीनता दे दी जाय और स्वतंत्र व्यक्तित्व विकसित करने के अवसर दे दिए जायं तो उसकी करुण कथा समाप्त हो जायगी।

आलोचना

महादेवी वर्मा के नारी विषयक विचारों को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने इस विषय पर कभी क्रमिक रूप से मनोवैज्ञानिक तथा शास्त्रीय गंभीरता के साथ सोचा नहीं है। पाठक को कभी कभी ऐसा भी प्रतीत होने लगता है कि वे मूलतः कवि हैं और एक निबंधकार की शैली में वे सोच ही नहीं सकीं।

उनके आदर्श नारी विषयक विचारों की अस्पष्टता की ओर हम संकेत कर चुके हैं। वास्तव में उन्हें नारी से सहानुभूति अत्यधिक है। फलतः उनके आदर्श का प्रश्न और कसौटी दोनों उस सहानुभूति में दब गई हैं।

उनके आदर्श संबंधी विचारों की अस्पष्टता के मूल में उनका पश्चिमी नारी के जीवन संबंधी गंभीर अध्ययन का अभाव है। पश्चिमी नारी को वे निकट सहानुभूति से नहीं देख सकीं। शायद उन्होंने न तो उनके विषय में पुस्तकों का अध्ययन ही किया है और न उनके सम्पर्क ही में वे आई हैं। पश्चिमी नारी के संबंध में उन्होंने एक दो बातें सुनी सुनाई तथा रटी रटाई कह दी हैं। जिस प्रकार भारत से इंगलैंड और अमेरिका जानेवाली भारतीय नारियों को देखकर भारतीय नारी के विषय में सही धारणाएं नहीं बन सकतीं, उसी प्रकार इंगलैण्ड तथा अन्य देशों से भारत में आनेवाली इन नारियों को देखकर पश्चिमी नारी के विषय में सही धारणाएं नहीं बनाई जा सकतीं।

अपने आदर्श की धुंधली रूपरेखा बनाते समय उन्होंने नारी के गुणों में संतुलन नहीं रखा। एक ओर तो उन्होंने "अतीत के चलचित्र" में नारी की अति भावुकता समन्वित [illegible] चित्र दिए हैं जो अति आकर्षक तथा उदात्त हैं, [illegible] और यह भी दिखलाया है कि वह अपने [illegible] गुणों के कारण पीसी भी जा रही है। बुद्धि और [illegible] में, जीवन के किस क्षेत्र में किस [illegible] होना चाहिए, यह उनके निबंधों से [illegible] स्पष्ट नहीं हो पाता।

[illegible] की समस्या पर और प्राकृतिक [illegible] उन्होंने कुछ प्रकाश नहीं डाला है। यह नहीं [illegible] कि नारी के जीवन में प्रणय एक महत्वपूर्ण [illegible] भौतिकवादी समाज दो लक्ष्यों को लेकर [illegible] है। एक स्नेह-प्रणय, जिसका एक [illegible] है और दूसरा धन। कर्मेन्द्रियों की तथा [illegible] की परितृप्ति ही उसका प्रमुख लक्ष्य है। इन्द्रियों की [illegible] में प्रणय अत्यंत महत्वपूर्ण वस्तु है।

[illegible] आदर्श नारी की भावना को शायद आदर्श [illegible] भावना से अलग करके सोचने का प्रयत्न [illegible] आदर्श समाज वे किसे कहेंगी, इस पर उन्होंने [illegible] गम्भीरतापूर्वक नहीं सोचा और न भारतीय [illegible] प्रणाली पर ही उन्होंने कभी गंभीरतापूर्वक [illegible] भारतीय हिन्दू नारी की समस्या इन दोनों [illegible] साथ गुँथी हुई है। जब तक इनको [illegible] सुलझाया जाता, नारी समस्या भी नहीं सुलझ[illegible] शायद उनका ध्यान इस ओर नहीं

गया है। उन्होंने स्थिति का एक सामान्य विश्लेषण करके आदर्श बनाया और वह हमारे सामने रखा है। क्योंकि नींव खोखली है इस कारण भवन भी कमज़ोर है और डगमगा रहा है। यदि नींव मजबूत होती तो भवन भी मजबूत होता।

वैसे उनकी आदर्श नारी की भावना भारतीय आदर्शों के निकट है। वे त्याग, दया, ममता, सहानुभूति आदि गुणों की नारी में पुरुष की अपेक्षा अधिक मात्रा चाहती हैं। पश्चिमी नारी जिस प्रकार बुद्धिवाद को अपनाकर पुरुष की समानता की हामी भरती है, उसके निकट वे भारतीय नारी को नहीं ले जाना चाहतीं। पश्चिमी नारी जिस प्रकार अपने शरीर को पर्याप्त महत्त्व देती है वह भी महादेवी नहीं चाहतीं।

उनका नारी का आदर्श यदि कोई स्त्री प्राप्त करले तो जीवन में दुखी कितनी ही रहे, असंतुष्ट और अशांत नहीं रह सकती। लेकिन जिस आदर्श की कल्पना उन्होंने की है वह एक हवाई किला है। उनकी नारी, जीवन में सदा दुखी ही रहेगी। वे पुरुष और नारी के जीवन में संतुलन नहीं कर सकीं। नारी में उन्होंने सारे सात्विक गुणों की अपेक्षा की है। बहुत सुंदर और कंटकविहीन डाली में लगे फूलों को तोड़कर व्यथा को सर्वथा भूलकर कौन आत्मतुष्टि न करना चाहेगा। पुरुष की पशुवृत्ति के आगे एक दम सिर झुका देना ही यदि नारी जीवन का आदर्श है तो भारतीय हिन्दू नारी आज उससे अधिक दूर नहीं है। और जितनी दूर है भी, जितने अंशों में नहीं झुकती है, पुरुष उसको प्रकृति तथा संस्कारों से परिचित होने के कारण अपने पाशविक उपायों द्वारा, जिनमें शारीरिक ताड़ना भी है, उसे झुका लेता है। महादेवी भूल गई हैं कि ताली दो हाथों से बजती है, दोनों हाथ तैयार होने चाहिए, सामने के होने चाहिए और दोनों को दो विभिन्न दिशाओं से आकर एक स्थान पर और एक ही गति-वेग से मिलना चाहिए।

नारी की वर्तमान स्थिति का विश्लेषण करते हुए, मदादेवी जी की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक पैनी रही है। वर्तमान स्थिति के तत्वों पर उन्होंने जो विश्लेषण दिया है वह गलत नहीं है। शोषक तथा मुग्ध दोनों प्रकार की नारियों के चित्र उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से अंकित किये हैं। उनकी तूलिका की इस विषय में प्रशंसा की जानी चाहिए।

किन्तु वहां भी वे तस्वीर को पूरा नहीं खींच पाई हैं। निम्न मध्यम वर्ग की भारतीय, हिन्दू नारी के जीवन में जिस निष्प्राण जड़ता की अनुभूति हमें होती है उसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया। अज्ञेयजी ने अपनी एक कहानी 'रोज़' में उसका सजीव और कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण किया है।

उन्होंने वास्तविक जीवन में प्रणय संबंधी घात प्रतिघात, जो हमारे आज के जीवन को क्षुब्ध कर रहे हैं, नहीं दिए। शायद इसके मूल में यह तथ्य हो कि वे स्वयं नारी हैं और ऐसा विश्लेषण उन्हें सामाजिक रूप से बहुत हितकर सिद्ध न होता। कीचड़ की कहानी कहनेवाला समाज में बहुत ऊंची नजर से तब तक नहीं देखा जा सकता जब तक कि समाज उसे कोई सिद्ध पुरुष-महात्मा न मान ले।

महादेवी ने भारतीय परिवार विधान का विश्लेषण नहीं किया। गांवों में, दो चार गावों मात्र में जाकर नहीं वरन १००-१५० विभिन्न प्रांतों के गावों व नगरों में जाकर उन्हें स्थिति का विश्लेषण करना चाहिए था। भारतीय परिवार व्यवस्था में नारी का ऐसा अनादर नहीं है जैसा कि महादेवी के निबंधों तथा कथाओं को पढ़कर दिखलाई पड़ता है। वहां पर पत्नी का स्थान भले ही नीचा हो, लेकिन माता का स्थान पर्याप्त गरिमापूर्ण है। महादेवी कदाचित इस तथ्य के बिलकुल ही भूल गई हैं।

वैसे महादेवी जी का विश्लेषण पर्याप्त बौद्धिक रहा है। उनकी विश्लेषणात्मक बौद्धिकता में भावुकता अनुपस्थित तो नहीं है, लेकिन उसपर हावी नहीं हो पाई है। इससे विश्लेषण गलत नहीं हो पाया है।

स्त्री की प्रकृति के संबंध में महादेवी ने जो कुछ लिखा है वह ठीक है। जिन विशेषताओंकी ओर उन्होंने संकेत किया है वे विशेषताएं अत्यंत साधारण हैं। नारी मनोविज्ञान का उन्होंने निकट गहराई से अध्ययन नहीं किया। स्त्री का मस्तिष्क किस प्रकार कार्य करता है, वह किसी विषय को किस प्रकार सोचती है, उसकी कार्य शैली की अपनी विशेषताएं क्या हैं, उसमें भावना का कितने अंशों में आधिपत्य रहता है इन सब पर महादेवी ने गंभीर विचार नहीं किया।

नारी के सामाजिक रिश्तों पर भी महादेवी ने अधिक विचार नहीं किया है। उन्हें नारी की वैय्यक्तिक समस्याएं इतनी गंभीर और इतनी करुण दिखलाई पड़ती हैं कि वे उसे सामाजिक रूप में सोच ही नहीं पातीं। वे मां के विषय में तो सोचती हैं, लेकिन वही कुछ रटी रटाई रूढ़िगत परम्परा एवं शब्दावली में। सामाजिक रिश्तों में अधिकारों की सीमा-रेखा जो बार बार विचार, मनन एवं निर्धारण की अपेक्षा रखती है, महादेवी के विचार एवं मनन सीमा के बाहर ही रह गई। यह एक बहुत बड़ी कमी है।

हिन्दू नारी की वर्तमान अधोगति के कारणों पर भी महादेवी जी ने सम्यक विचार नहीं किया है। वे शायद यह मान कर चलना चाहती हैं, हालांकि यथार्थ ने उन्हें कुछ न कुछ सही रास्ते पर आने को मजबूर किया है, कि हिन्दू नारी की वर्तमान अधोगति के मूल में पुरुष ही है। पुरुष के आगे स्त्री क्यों झुकती गई, इसपर वे विचार नहीं करना चाहतीं। वे यही कहना चाहती हैं कि पुरुष उसे झुकाता गया है। वे कुछ सिद्धांतवाद पर अधिक ध्यान देती हैं। यह हम मान सकते हैं कि भारतवर्ष पर अंग्रेजों ने अपनी हकूमत स्थापित कर के उसे गुलामी के कटु एवं घातक बंधनों में कसकर बाँध दिया है, लेकिन हम यह माननें को तैयार नहीं हैं कि इसमें हमारी नालायकी की जिम्मेदारी नहीं है। सिद्धांत की दृष्टि से यह सही है कि अंग्रेजों को भारत पर पराधीनता नहीं लादनी चाहिए थी, लेकिन व्यावहारिक जगत् में इसे हम नहीं कह सकते कि भारत की गुलामी की वजह अंग्रेजों की मानवता विषयक सिद्धांतहीनता है। वर्तमान हिन्दू नारी की अधोगति में, इसमें कोई संदेह नहीं कि पुरुष का बहुत बड़ा हाथ है, लेकिन उसमें नारी का दोष कम नहीं है, वह अपने को पुरुष की दृष्टि से क्यों देखती रही है? वह अपने को इतनी व्यक्तित्व हीनता का शिकार क्यों होने देती रही है? वह इतनी अशिक्षित होना स्वीकार कैसे करती है? वह पशुबल के आगे सिर इतना क्यों झुकाती रही है? ये कुछ ऐसे बुनियादी सवाल हैं जिनपर महादेवी जी ने निष्पक्ष विचार नहीं किया। इतिहास का गंभीर अध्ययन करके उन्हो ने यह नहीं खोजा कि क्रमिक रूप से, हिंदू नारी का पतन किस प्रकार होता गया है। वे इतिहास की घटनाओं से विशेष परिचित नहीं हैं। यदि वर्तमान अधोगति के कारणों पर वे गंभीर अध्ययन एवं मनन के पश्चात लिखतीं, तो शायद अधिक अच्छा होता। कारणों का ऊपरी विश्लेषण तो वे सही करले गई हैं, लेकिन गहराई में वे असफल रही हैं। इसके मूल में अल्प अध्ययन, पूरे समाज को एक इकाई के रूप में न देखना और नारी के प्रति भावुकता भरी सहानुभूति है।

फिर भी जिन सुधारों की आवश्यकता महादेवी जी ने हमें बतलाई है वे सभी सही हैं। उनके द्वारा इंगित किसी सुधार के लिए हम यह नहीं कह सकते कि उस सुधार की आज जरूरत नहीं है। लेकिन सुधारों में कुछ लक्ष्यहीनता सी है। जैसे नारी जीवन की सम्यक इकाई पर उनकी दृष्टि जम नहीं सकी उसी प्रकार सुधारों में किसी सीमा रेखा का अभाव है। जिन सुधारों की ओर उन्होंने संकेत किया है, उनमें कौन सुधार अधिक आवश्यक है और कौन कम, यह उन्हो ने नहीं बतलाया। कहीं कहीं पर स्वयं सुधार भी कुछ अस्पष्ट हैं। जीने की कला से उनका तात्पर्य क्या है, यह विशेष स्पष्ट नहीं है। शिक्षा और साक्षरता में अंतर होता है। महादेवी ने नारी शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया है, लेकिन स्वयं शिक्षा से उनका क्या तात्पर्य है यह नहीं बताया है। दूसरी बात यह कि समाज की फटी चादर में उन्होंने पैबंद लगाना पसंद किया है। जितने पैबंद उन्होंने लगाने के लिए बतलाये हैं, क्या उतने पैबंद वर्तमान चादर में लग सकेंगे, इस समस्या पर उनका ध्यान नहीं गया।

संक्षेप में महादेवी वर्मा के नारी विषयक विचारों की यह एक आलोचना है। जैसा कि हमने संकेत किया है, महादेवी विचारक कम हैं, कवि अधिक। नारी जीवन की व्यथा वेदना, दर्द, कराह तो उनके निबंधों में साकार है परन्तु उसके आगे जहां पर विचारक की अपेक्षा है, वहां पर वे असफल हो रही हैं।

आलोचना का मार्क्सवादी आधार

प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त एम० ए०

मार्क्सवाद ने राजनीति, अर्थशास्त्र और दर्शन को ही एक नया पथ नहीं सुझाया, वरन् साहित्य को भी एक नवीन दृष्टि दी है। जो सत्य हमारे जीवन और साहित्य में निहित था उसको मार्क्सवाद प्रकाश में लाया है।

मार्क्सवाद का विचार-दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। इस विचार-दर्शन के अनुसार जगत को, जीवन को, मनुष्य की अपार ज्ञान-राशि को एक विकासमान और गतिशील रूप में देखा जाता है। समाज का रूप उसके आर्थिक अवलम्बों के अनुसार निरन्तर बदला करता है। कोई नया आविष्कार होता है, उसके कारण समस्त आर्थिक व्यवस्था बदल जाती है और इसका तत्काल प्रभाव सामाजिक सम्बन्धों पर भी पड़ता है। नई मशीनें उत्पादन के साधनों में मूल परिवर्तन करती हैं, इसके फलस्वरूप सामन्ती युग का अन्त और पूंजीवादी युग का आरम्भ होता है। इस नवीन समाज व्यवस्था में मनुष्य के विचार और अनुभूतियाँ भी नया स्वरूप ग्रहण करती हैं। नई परिस्थितियाँ नए विचारों और मानदण्डों को जन्म देती हैं। विचारों का अपना एक स्वतन्त्र जगत् है अवश्य, किन्तु वह जीवन से विलग कोई अन्ध कोठरी नहीं है। विचारों के जगत् और सामाजिक जीवन में निरन्तर घात प्रतिघात चला करता है। कालिदास का 'मेघदूत' अथवा 'शकुन्तला' आज कोई साहित्यकार नहीं लिख सकता, न बिहारी की सतसई अथवा मतिराम का 'रसराज'; किन्तु न प्राचीन कवि ही 'गीताञ्जलि' अथवा 'पल्लव' या 'गोदान' लिख सकते थे। इसका अर्थ यही है कि नए सामाजिक जीवन के अनुसार कवि के विचारों और अनुभूतियों का भी नया स्वरूप बनता है।

साहित्य, विज्ञान, दर्शन, कला आदि का एक परम्परागत रूप अवश्य है; यही रूप निरन्तर परिवर्तित और विकसित होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस परिवर्तन की गति सदैव ही अग्रगामी होती है। जब सामाजिक सम्बन्ध समाज की प्रगति पर बंधन बन जाते हैं, तब दर्शन, साहित्य और कला सभी की प्रगति रुक जाती है। पूंजीवाद की इस चरम अवनति के युग में वैज्ञानिक हतबुद्धि होकर ज्ञान में अपना विश्वास खोने लगता है और रहस्यवादी बन जाता है। कला और साहित्य में भी निराशा और असहायता की भावना आती है, और अनेक नए वाद प्रकट होते हैं, जैसे भविष्यवाद, प्रतीकवाद, अतिआधुनिकता अथवा ट्यूबिज़्म या सुर-रीयलिज़्म। इन नए वादों से प्रेरित कला में प्राण-भार बहुत हल्का पड़ जाता है, कलाकार रचना के रूप-प्रकार पर अपना समस्त ध्यान केन्द्रित करता है, वह प्रयोग के लिए ही प्रयोग का समर्थक बन जाता है। निरन्तर ही उसकी कला दुरूह, एकाकिनी और हतप्रभा बनती जाती है, किन्तु इन्हीं सामाजिक परिस्थितियों में नवजीवन के अणु परमाणु भी रहते हैं जिन पर भविष्य की सब आशा-अभिलाषाएँ केन्द्रित होती हैं। इस नव आशा से प्रेरित कला अतीत का समस्त उत्तराधिकार सँजो कर उसे नवजीवन से भर देती है। नव साहित्य का निर्माण एक लम्बा और कठिन प्रयास होता है; उसके विकास और पुनः प्राप्ति में कुछ समय भी लगता है।

साहित्य और कला की इस लम्बी यात्रा में कौन वस्तु निश्चित समान रूप से रही है, जिसको हमारे पूर्वजों ने रस कहा था? उन्होंने रस की विस्तृत व्याख्या की और उसके स्वरूप पर निरन्तर प्रकाश डाला। उन्होंने कुछ मोटे-मोटे वर्गों में रस को विभाजित किया और इन रूपों को सनातन और शाश्वत सत्य माना। भय, क्रोध, करुणा, स्नेह आदि का झंझा हमें आज भी झकझोर जाता है, किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान ने हमें मनुष्य के अवचेतन और अर्द्धचेतन जगत् से और अनुभूतियों के सूक्ष्मतम कोमल भेदों से भी परिचित करा दिया है, और आज का साहित्य-पारखी उन प्राचीन रस भेदों के बल पर अपनी कागज की नाव भावनाओं के गहरे सागर में अधिक दूर तक नहीं चला सकता। इस अन्तर्मन के नक्शे को भी शाश्वत मान लेना भारी भूल होगी, क्योंकि परिस्थिति के घात-प्रतिघात से मनोदशाओं और मनोभावनाओं में विकार आते हैं, अथवा उनका परिष्कार होता है।

साहित्यकार जिस जीवन को अपने चतुर्दिक् हिलोर मारता देखता है, उसी से वह प्रेरणा पाता है। उसकी अनुभूतियाँ इसी जीवन से सम्बन्धित हैं। उसका मानसिक संसार इनसे विलग कोई बन्द-मुक्त मंजूषा नहीं। अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी उसकी भावनाओं का संसार निरन्तर बाह्य जगत की घटनाओं से प्रतिध्वनित और झंकृत होता है। इसी कारण हम किसी कलाकार की रचना करते समय केवल उसकी बाह्य रूप रेखा पर ही अपना समस्त ध्यान केन्द्रित नहीं करते; हम उसके सम्पूर्ण प्राण की परीक्षा करते हैं। किन विचारों, भावनाओं और अनुभूतियों का वह प्रचार करता है, कला में इनकी अभिव्यक्ति के साधन उनका साथ देते हैं, यह सभी प्रश्न आलोचक का सामना करते हैं।

इस प्रकार कला की परिभाषा को हम किन्हीं शब्दों के जाल में चिरकाल तक नहीं बाँध सकते। वह सामाजिक जीवन के सतत परिवर्तनशील रूप के प्रति एक सचेत प्राणी की विशेष प्रतिक्रिया है, जो शब्दों अथवा रंगों, रेखाओं, नाद, लय, स्वरों आदि में व्यक्त होती है। इस प्रतिक्रिया और अभिव्यक्ति का रूप उसकी प्रेरणा के आधारों के अनुरूप बदला करता है। कहा जाता है कि माता की ममता सन्तान के प्रति अथवा प्रकृति का चिर सौन्दर्य जीवन के सनातन सत्य हैं और इन्हीं की प्रेरणा से अमर कला की सृष्टि हो सकती है, आज कल की घटनाओं के अवलम्ब से नहीं। क्या बंगाल के अकाल की विभीषिका में सन्तान की ममता गल कर नहीं बह गई? क्या इस दारुण परिस्थिति का निरूपण अमर कला को जन्म नहीं दे सकता? क्या प्रकृति का रूप भी समाज के विकास के साथ बदलता नहीं रहा? वह प्रकृति, जो कभी मानव की स्वामिनी है आज उसकी दासी है। कभी वह सुकुमार प्रणयिनी का रूप धारण करती है, तो कभी क्रान्ति की चण्डी का? श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य में भी यह भावना है कि विश्व के विध्वंस के लिए एक प्रबल झंझा चला आ रहा है; उनके दीपक की बाती मन्द मन्द जल रही है; 'उंगलियों की ओट में वे सब 'सुकुमार सपने' बचा लेना चाहती हैं।' 'पल्लव' के रजत और स्वर्ण के प्रभात और सन्ध्या 'ग्राम्या' में तांबे और पीतल के बन जाते हैं।

इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचक कलाकार के बाह्य रूप, उसकी शैली आदि पर ही कुछ टीका टिप्पणी करके सन्तोष नहीं कर लेता। वह कला के रूप रंग, गन्ध आदि से रस अवश्य लेता है, किन्तु वह उसके प्राणों को कुरेद कर उसकी सूक्ष्मतम कोमल अनुभूतियों, भावनाओं और उनमें निहित उसके जीवन-दर्शन की विवेचना भी करता है। वह व्यक्ति की इन भावनाओं को निरन्तर उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि में रख कर देखता है ताकि कलाकार जीवन का अपने अतीत अनुभव से कुछ सीख कर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सके। वह साहित्य को केवल जीवन का दर्पण ही नहीं मानता, किन्तु उसे बदलने का एक साधन भी। इसलिये वह कलाकार के विचार-दर्शन की निरन्तर व्याख्या करता है।

मार्क्सवादी विचार-दर्शन के अनुसार दो प्रकार की विचार धाराएँ होती हैं, एक प्रगतिशील, दूसरी प्रतिगामी। वे समाज की दो विरोधी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। क्षय ग्रस्त समाज-सम्बन्धों को स्वीकार करने वाली विचारधारा प्रतिगामी होती है; जीवन की नव-शक्तियों की प्रतिनिधि विचारधारा प्रगतिशील होती है। कोई न कोई विचारधारा अवश्य ही कला और साहित्य में व्यक्त होती है। विचार से शून्य कला की कल्पना असंभव है, यद्यपि आजकल के अनेक वाद कला के बाह्य रूप पर संपूर्ण ध्यान केन्द्रित करते हैं। कोण और वृत्त द्वारा अपनी समस्त प्रेरणा व्यक्त करने का प्रयास करते हैं, और शून्यता के वातावरण में अपनी

कला को बाँध रखना चाहते हैं। इस प्रयास में उनकी विफलता और पराजय दारुण हाहाकार करती हुई फूट निकलती है।

पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के शोषण और विसंगतियों से परास्त इन कलाकारों को मार्क्सवाद नव जीवन की ज्योति दिखाता है। वह उनका ध्यान क्रांति की बढ़ती शक्तियों की ओर खींचता है और उनका सम्बन्ध इन शक्तियों से स्थापित करता है। इस प्रकार नव आशा और उल्लास कला में अंकुरित होते हैं और केवल सब प्रकारों के खेल और प्रयोगों में कलाकार की प्रतिभा सीमित और कुंठित होकर नहीं रह जाती।

प्राचीन मान्यताओं और मूल्यों को, जो नए सामाजिक जीवन और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ हैं, कुछ विचारक कलेजे से चिपकाए रहते हैं। इन माप और बटखरों से तौलने पर नया साहित्य उनके समीप सदा हलका ही उतरता है। शुक्लजी को प्रेमचन्द और पंत की रचनाएँ पसन्द न आई थीं। जो मानदण्ड तुलसी, सूर और जायसी का मूल्य सफलता पूर्वक आंक सका, वह प्रेमचन्द और पन्त की परीक्षा में स्वभावतः असफल रहा। जो परीक्षक छायावादी पन्त, 'निराला' और महादेवी का रहस्य समझ पाए, वे 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'कुकुरमुत्ता', 'कुल्लीभाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा' अथवा 'अतीत के चलचित्र' आदि की सही सही परख करने में असफल रहे। इस साहित्य को इन्होंने प्रचार-साहित्य समझा और इसका मूल्य आँकने में वे असमर्थ रहे। प्रचार तो सभी कला में रहता है, क्योंकि जहाँ विचार है, वहीं प्रचार है! कलाकार को निश्चय यह करना है कि किन विचारों का, प्रचार वह करेगा, टूटती समाज-सत्ता के विचारों का, ह्रासोन्मुख शासक वर्ग के विचारों का, अथवा नव निर्माण की ओर उन्मुख क्रान्तिकारी जन समाज के विचारों का?

यदि वह उच्च कोटि का प्रचारक है तो "War a[nd] Peace", "Anna Karenina" अथवा 'गो[दान]' लिखेगा। यदि वह निम्न कोटि का प्रचारक है [तो] आदर्शवादी विचार-दर्शन अपनाकर भी कुछ न [कर] सकेगा। वह 'गोदान', 'ग्राम्य', 'माँ', 'कैलवेरी सड़क', 'पीकिंग का हल' भी लिख सकता है; य[दि] उसमें प्रतिभा नहीं है, तो उसका प्रचार केवल नारेबा[जी] होगा। प्रचार शब्द स्वयं बुरा नहीं है; साहित्य [का] प्रचार समाचार पत्रों के प्रचार से भिन्न अवश्य होगा।

मार्क्सवादी साहित्यिक सचेत होकर जीवनदायि[नी] शक्तियों का साथ देता है। उसके पास वस्तुस्थिति समझने का एक अचूक साधन है। उसका विचार-द[र्शन] वास्तविकता का अन्तरङ्ग परिचय उसे देता है, जब विवेक में आस्था खोकर रहस्यवादी लेखक अन्धेरे [में] खोजने से कुछ मालूम होते हैं, और स्वयं उन्हें अप[नी] कला अरण्य-रोदन मालूम होती है।

इस प्रकार मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्यालोच[न] वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और अधिक सर्वाङ्गीण होता है। वह कलाकार की रचना को उसकी सामाजिक पृष्ठभू[मि] में रखता है और उसके रूप की वैज्ञानिक दृष्टि [से] व्याख्या करता है। समाज विज्ञान, मनोविज्ञान औ[र] सौन्दर्य शास्त्र का अध्ययन उसे एक समन्वित दृष्टि [देता] है, जो पुरागामी आलोचकों द्वारा अधिकतर उपेक्षि[त] है। मार्क्सवादी दर्शन उसे सामाजिक और साहित्यि[क] गति का अन्तरङ्ग परिचय देता है, जिसे पाकर वह ए[क] उच्चतम लक्ष्य साहित्य और कला के सामने रखता है। मानव संस्कृति के इन प्रौढ़ और परिष्कृत रूपों को [वह] केवल मनोरञ्जन का साधन नहीं समझता; वह इ[न्हें] जीवन को अधिक सुन्दर और सफल बनाने का अस्त्र मानता है। वह समझता है कि कला का ध्येय केव[ल] जीवन का निरूपण ही नहीं, वरन उसे बदलना है।

पाकिस्तान का आर्थिक पहलू

डॉ॰ दिल्लीरमण रेग्मी पी॰एच-डी॰

[स]न् १९३४ में किसी विद्यार्थी के अपरिपक्व [म]स्तिष्क से उपजात यह विभाजन की योजना आज [ज]िस रूप में कोरी कल्पना से उठ कर व्यवहार में परि[ण]त हुई है, उससे लोगों को आश्चर्य तो हुआ ही है [स]ाथ ही उसकी व्यावहारिकता पर सन्देह भी। किन्तु यह [न]या विषय नहीं है। जब से मुस्लिम लीग ने एक जिम्मे[द]ार संस्था की हैसियत से अपने कार्यक्रम में पाकिस्तान [क]ो अग्रस्थान दिया, तब से इस पर वादविवाद जारी [है]। शत सहस्र लेख निकले और कई वृहद् पुस्तकें भी। [प]र निचोड़ द्विरुपात्मक रहा। फिर भी गत वर्ष तक [इ]सके सर्वाङ्गीण तथा व्यावहारिक होने में यथेष्ट शंका [प्र]कट की गई थी, जिसकी पुष्टि मन्त्री योजना के उस [स]ंकेत से होती है, जिसमें यह साफ कहा गया है कि [स्]वतन्त्र पाकिस्तान कई दृष्टिकोण से अव्यावहारिक होने [ह]ुएं भारत के सम्मिलित स्वार्थ के लिए घातक भी है। [र]ाष्ट्रीयता की परिभाषा किसी समूह की अलग रहने की [त]ीव्र अभिलाषा के शब्दों से जिस तरीके से कायदे [आ]ज़म जिन्ना ने की थी, उसमें भी पाकिस्तान के सामाजिक तथा आर्थिक पहलू पर ध्यान न दिए जाने की [ब]ात प्रदर्शित है। ऐसे ही कतिपय भावों को व्यक्त पाकर आम जनता की यह धारणा पक्की होती जा रही थी कि पाकिस्तान केवल झमेला पैदा करने के लिए ही गढ़ा गया है, अन्यथा न तो अँग्रेज ही इसके कार्यान्वित करने में दिलचस्पी लेंगे, न मुसलमान ही उसके लिए अधिक व्यग्र हैं। आज अनेक कठिनाइयों के बावजूद भी पाकिस्तान की योजना भारत से स्वीकृत हो गई है और इस तरह एक बार पाकिस्तान मूर्त हो उठा है। किन्तु क्या यह व्यवहार्य है? इसका ठीक ठीक उत्तर अभी तक न तो योजना के निर्माताओं ने ही दिया, न उन लोगों ने ही, जिन्होंने इसको स्वीकार किया है। हम यहाँ पर इसके एक पहलू को लेकर उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे।

प्रारम्भ से आसाम के साथ समूचे बंगाल और पंजाब को पाकिस्तान में सम्मिलित करने की माँग मुस्लिम लीग ने उपस्थित की थी। यदि यह मान ली जाती तो पाकिस्तान में भारत की चौथाई से अधिक भूमि और अपेक्षाकृत अधिक प्राकृतिक तथा अन्य साधन के क्षेत्र मिलाये जाते। परन्तु ३ जून की योजना में जिन्ना के पुरातन विरोध और धमकी के बावजूद भी आसाम कट गया और पंजाब और बंगाल के हिस्से ही पाकिस्तान को प्राप्त हुए। इस तरह कुल पाकिस्तान के पूर्व निर्धारित क्षेत्रफल से १, १८, ५०० वर्ग मील छंट जाते हैं। पंजाब और बंगाल के विभाजन से एक दूसरा अहित, पाकिस्तान को यह भी हुआ है कि अब उसके क्षेत्र से कतिपय ऐसे उद्योग धन्धों का पृथक्करण हुआ, जिनका समूचे पाकिस्तान में अन्य हो नहीं, बल्कि आज की हालत में जिनके पनपने की सम्भावना ही विद्यमान दिखाई नहीं देता। हम इस पर आगे चल कर विस्तार से लिखेंगे। यहाँ प्रांतवार आर्थिक साधनों का किसी भी राष्ट्र की पूरी आवश्यकताओं के अवलोकन के साथ तुलनात्मक ढंग से विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

पाकिस्तान के विभिन्न प्रदेश

पूर्वी बंगाल

पूर्वी बंगाल की आर्थिक स्थिति को संक्षेप में ही यहाँ दुहरा देना पर्याप्त है। पूर्वी बंगाल जैसा कि कहा गया है एक कृषि प्रधान देश है। उसमें कच्चे माल तो कुछ हद तक यथेष्ट मिलते हैं, यथेष्ट ही नहीं औद्योगिक प्रसार के लिए व्यापक सम्भावना से युक्त भी हैं। किन्तु औद्योगीकरण के लिए जिन शक्ति साधनों की आवश्यकतायें होनी चाहिए, वे उचित मात्रा में नहीं हैं। दृष्टांत के लिए कोयला और लोहा या अन्य इसी प्रकार के धातुओं को लें। यही नहीं कि पूर्वी बंगाल में इनका एक दम अभाव ही है; साथ ही

साहित्य की छानबीन

श्री वैजनाथ सिंह 'विनो[illegible]

प्रतीक—द्वैमासिक साहित्य संकलन, सम्पादक स० ही० वात्स्यायन, नगेन्द्र नगाइच, श्रीपतराय, नेमिचन्द्र। एक प्रति का १॥), वार्षिक ९), प्राप्ति स्थान, १४ हेस्टिंग रोड, इलाहाबाद।

प्रस्तुत अङ्क ग्रीष्म का है। ग्रीष्म में फूलने वाला अमलतास का फूल इसके आवरण पृष्ठ पर है। "संयोजना" (सम्पादकीय) में कहा गया है—"प्रतीक" आधुनिक हिंदी के समूचे साहित्यिक कृतित्व का प्रतिनिधित्व करने का प्रयत्न करेगा और इस एक दायित्व को इतना बड़ा मान लेगा कि साहित्येतर विविध विषयों की लुभावनी सामग्री ढूँढ़ने नहीं जायगा।" "साहित्य और संस्कृति को जनता तक पहुँचाना' यह आदर्श कइयों ने सामने रखा है; किन्तु क्या हम क्रमशः घटती हुई पूँजी को क्रमशः बढ़ते हुए वृत्त में फैलायेंगे, या कि उस पूँजी को भी समान अनुपात में बढ़ायेंगे? हमारे सामने इस प्रश्न के दो उत्तर नहीं हैं—साहित्य का सृजन ही प्राथमिक धर्म है और उसका प्रसार परिणामगत।"..... "हम समझते हैं कि प्रगति प्राचीन मर्यादाओं को भीतर से प्रसृत करके उदार बनाने में है, परम्पराओं के खण्डन में नहीं बल्कि मण्डन और उन्नयन में है।" इस तरह "प्रतीक" विशुद्ध साहित्यिक है। किन्तु वह साहित्य को जनता तक नहीं पहुँचायेगा, वह जनता का साहित्य नहीं सिरजेगा। इसका दूसरा पहलू यह भी है कि वह परम्परा के उन्नयन में प्रगति मानेगा। किन्तु यदि परम्परा के उन्नयन का अर्थ उसके अबतक के निहित अर्थ से भिन्न, उसके अर्थ का गुणात्मक परिवर्तन नहीं है, तो परम्परा का पोषण है, तो वह निहित स्वार्थ का समर्थन है या उसके समर्थन का वातावरण बनाना है; और इसलिये वह प्रतिक्रिया है। साहित्य स्रष्टा का काम साहित्य का प्रसार करना नहीं है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि साहित्यकार जनता का ख्याल करके साहित्य की सृष्टि न करे या जनता का ख्याल करके उत्तम साहित्य की रचना नहीं हो सकती अथवा साहित्यकार जन भावना से अलग रह कर कलाकृति को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना ले।

"प्रतीक" के प्रस्तुत अङ्क में जो सामग्रियाँ हैं [illegible] अच्छी तो हैं, पर सभी प्रथम कोटि की नहीं हैं [illegible] एकांकी तो किस कसौटी से "प्रतीक" में स्थान पा स[illegible] यह समझ सकना कठिन है, क्योंकि "प्रतीक" "संयोजना" में जिस परम्परा के उन्नयन की प्रतिज्ञा [illegible] गई है, उसकी इसमें हत्या है। "पलायन" (एकांकी) बुद्ध के अभिनिष्क्रमण को लेकर (भ्रमपूर्ण) मार्क्सवा[दी] दृष्टिकोण से लिखा गया है। लेखक बुद्ध के सन्यास [को] पलायन सिद्ध करना चाहता है। इसी के लिए एकां[की] की रचना है। किन्तु लेखक ने न तो उस काल [का] वातावरण प्रस्तुत किया है, न तो उसे उस काल की ना[री] के शील और विनय का ज्ञान है और न तो उसने बु[द्ध] के ऐतिहासिक व्यक्तित्व के साथ न्याय ही किया है। "पलायन" की 'आधुनिका' और 'क्रान्तिकारिणी' यशोध[रा] "कायर" सिद्धार्थ के अपने से ही भाग जाने पर "अस्तु[?]" देवर से निकाह क्यों नहीं किया, यही आश्चर्य है। "हालों-बेनूर्की बत्तखें" में कहानीकार अज्ञेय की क[ला] निखार पर है। "रसकी स्थिति" प्रामाणिक और उच्च कोटि का निबन्ध है। "नवान" और "सुमन" [की] कविताएं भी श्रेष्ठ हैं। और ये हैं "प्रतीक" में प्रथम कोटि की रचनाएं। आलोचना के क्षेत्र में "प्रतीक" चतुर्मुखी आलोचना कायम करना चाहता है। इस अङ्क में "टेढ़े मेढ़े रास्ते" की चार आलोचनाएं हैं, जिनमें श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की आलोचना सही और अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है। "प्रतीक" में प्रयोग की दृढ़ता है। पर प्रयोग की दिशा है काम से सम्बन्धित फ्रायड का मनोविश्लेषण। यह प्रयोग हिन्दी साहित्य में पुराना पड़ चुका है। प्रश्न है कि क्या आज के समाज को इस प्रयोग की जरूरत है? क्या आज नए समाज के निर्माण में साहित्य का यह प्रयोग कुछ कर रहा है? प्रयोग हमारे लिए है या हम प्रयोग के लिए? इस तरह कुछ चिन्त्य बातों के अलावा "प्रतीक" प्रथम कोटि का साहित्यिक संकलन है। "प्रतीक" का जीवित रहना हिन्दी साहित्य के लिए शुभ है।

वनवासी भारत—लेखक श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित एम० [ए]० और श्रीमती कृष्णा दीक्षित बी० ए०, बी० टी०। [सो]ल एजेंट स्टूडेन्स फ्रेण्डस्, इलाहाबाद। मूल्य २।)

प्रस्तुत ग्रन्थ में बताया गया है कि बम्बई, मध्य [प्रा]न्त बरार, मद्रास, मैसूर, ट्रावनकोर, हैदराबाद, भोपाल, [आ]साम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, लंका और यू० पी० [में] १९४१ की जनगणना के अनुसार वनवासियों की [सं]ख्या क्या है, उनकी कौन कौन जातियां हैं, उन [ज]ातियों के रीति रिवाज क्या क्या हैं, उनकी सामाजिक [र]ीति क्या है, उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति [कै]सी है और उनके पड़ोसियों का व्यवहार उनके साथ [कै]सा है। ये सारी बातें जातितात्विक आधार पर [क]ही गई हैं, इसलिये प्रामाणिक हैं। पर सारी बातें [सं]क्षेप में कही गई हैं, सरल बनाकर कही गई हैं, इसलिये उन सभी भारतियों के काम की हैं, जो अपने ही देश के इन भोले भाइयों की स्थिति से अपरिचित हैं या एक प्रान्त की इनकी स्थिति से कुछ परिचित हैं तो दूसरे प्रान्त से अपरिचित हैं।

इस समय हम सब भारत वासियों के सामने भारतीय समाज के नवनिर्माण का महत्वपूर्ण काम है। हमारे देशकी वनवासी जातियां जिनका कि विकास हिन्दू समाज के अंग के रूप में ही सहज सम्भव है, आज बहुत पिछड़ी हैं। उनके पिछड़े होने का बहुत कुछ कारण उनकी आर्थिक हीन स्थिति, हिन्दू समाज के कुछ लोगों का शोषण और अन्याय तथा राज्य की उनके प्रति उपेक्षा है। यदि रूस की किरगिज सरीखी पिछड़ी जाति उन्नत अवस्था को पहुंच सकती है, तो कोई कारण नहीं कि ये भारतीय वन्य जातियां पिछड़ी ही हालत में रहें। जरूरत इस बात की है कि भारतीय समाज और राष्ट्र का ध्यान उनकी ओर जाय। भारतीय समाज का ध्यान उनकी ओर खींचने के लिए यह पुस्तक पर्याप्त है। इस पुस्तक का महत्व इसी बात में है कि इसके जरिये सम्पूर्ण भारतीय वनवासी जातियों की ओर हमारा ध्यान खिंच जाता है। इस उपयोगी पुस्तक के लिए हम दीक्षित दम्पति को बधाई देना अपना कर्तव्य समझते हैं।

रियासतों का सवाल—श्री वैजनाथ महोदय, मूल्य २); प्राप्ति स्थान नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर।

रियासतों की समस्या पर हिन्दी में कोई किताब नहीं है, इसलिये प्रस्तुत किताब का स्वागत करना दूसरी बात है। किन्तु इसी दृष्टि से इस पर विचार करना हम जरूरी नहीं समझते। हम तो यह मानते हैं कि हिन्दी में रियासतों की समस्या पर कुछ न होना भी हमारे राजनीतिज्ञ समूह की एक विशेष मानसिक स्थिति का सूचक है। इस मानसिक स्थिति के प्रारम्भिक विकास पर हम न भी जायं तो भी रियासती जनता के आन्दोलनों से कांग्रेस की तटस्थता, नरेशों (सामन्ती व्यवस्था) के प्रति उसकी समझौते की नीति और रियासती जनता को मात्र थोड़े सुधार देने की प्रवृत्ति के अन्दर हम इस मानसिक स्थिति को आसानी से देख सकते हैं। और यह सब क्रान्ति के पथ को छोड़कर समझौते के पथ पर चलने का अनिवार्य परिणाम है।

प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें रियासतों का संक्षिप्त परिचय, उसके अन्दर की व्यवस्था, अंग्रेजों के साथ उनके रिश्ते, देशकी जागृति के साथ अस्पष्ट रूप से रियासती जनता का सम्बन्ध, जनता की प्रतिक्रिया और आज का प्रश्न है। परिशिष्ट में ब्रिटिश सरकार से सन्धि करनेवाली रियासतों की सन्धि का काल, स्वतन्त्र यूनिट के रूप में रह सकने वाली रियासतों की सूची, जिन रियासतों में धारा सभाएं हैं, उनकी सूची, हिन्दुस्तान की कुल रियासतों की सूची में रकबा और १९३१ की गणना के अनुसार आबादी के साथ; और रियासतों की जनसंख्या, आय तथा रकबा के हिसाब से वर्गीकरण है। रियासती भारत की समस्या के विद्यार्थियों के काम का सिर्फ परिशिष्ट है। ग्रन्थ में संसार और भारतवर्ष में चलने वाले जन-आन्दोलन, उसके साथ रियासती जनता का क्या सम्बन्ध होना चाहिए था और क्या सम्बन्ध हुआ, किन किन रियासतों में कितने किस्म की राजनीतिक पार्टियां हैं और वे क्या क्या कर रही हैं, किन किन रियासतों में किस सीमा तक राजनीतिक संघर्ष की शक्ति है आदि पर कुछ भी नहीं है।

कल्पना कानन—श्री ब्रिजलाल बियाणी; मूल्य २), 'हिन्द' प्रकाशन, राजस्थान भवन, अकोला, बरार।

—श्री ब्रिजलाल बियाणी राजनीतिक नेता हैं; समाज सेवा के क्षेत्र में उन्होंने काम किया है, साहित्य की ओर भी उनकी अभिरुचि है। इसलिये उनकी कल्पना कैसी होगी, इसे देखने समझने की रुचि लोगों में हो सकती है। शायद इसी दृष्टि से इस किताब को छापा गया है। सामाजिक दृष्टि से "कल्पना कानन" की कल्पना मध्यमवर्गीय है। इस वर्ग की इच्छा-आकांक्षा का सुन्दर रूप इस किताब में मिलेगा।

ज्योत्स्ना (कविता)—श्री जगत नारायण लाल। मूल्य ।।।) प्राप्ति स्थान हिन्द किताब्स लि०। नं० २६१-२६३, हार्नबी रोड, बम्बई।

प्रस्तुत पुस्तक बिहार के प्रसिद्ध नेता जगत बाबू की रचना है। इसकी रचना १९२८-२९ में हजारीबाग जेल के अन्दर हुई है। जगत बाबू का कहना है—"कारावास में मैंने एकादशी व्रत भी करना आरम्भ किया। एक एकादशी के दिन अकस्मात् ऐसा जान पड़ा मानों बाँध सी टूट गई—हिन्दी, अंग्रेजी के पद्य, व उर्दू के शेर व छन्दादि अनायास प्रवाहित होने लगे। यह प्रवाह एक एकादशी से लेकर दूसरी एकादशी तक पूरा एक पक्ष जारी रहा! उसे रोकना मेरे लिए असम्भव था। बस चुपचाप जो कुछ प्रवाहित होता उसे अति कातर अश्रुधारा के बीच गुनगुनाता हुआ लिखता चला जाता।"......"एक पक्ष के बाद प्रवाह रुक-सा गया, वे ही ये पद्य हैं।" इस तरह दुःख के समय और भक्ति की भावना से अनुप्राणित और उसीसे उद्भूत इसके छन्द हैं। अधिकतर दोहे हैं। यद्यपि अनेक जगहँ भाव और शब्द भी पुराने भक्त कवियों के हैं, किन्तु वे भक्ति के आवेग में अपने आप आये हैं, प्रयत्न करके नहीं गए हैं। विरह मिलन के छोटे से अध्या[illegible] कहीं कहीं ऐसी तड़पन और व्याकुलता है, जैसी त[illegible] और व्याकुलता कबीर के उन पदों में, जिनका सं[illegible] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने गुरुदेव के लिए किया।

जगत बाबू जन नेता हैं। उनके जीवन को [illegible] और समझने का जनता को अधिकार है। उनके [illegible] बहुल और परिस्थितिविपरीत जीवन में तथा आ[illegible] आधुनिक युग में भी भक्ति की ऐसी तीव्र भावना [illegible] इससे यह सिद्ध होता है कि भक्ति ऐसे व्यक्तिगत जी[illegible] में भी सम्भव है। भक्ति के लिए सामूहिक और सामा[illegible] प्रचार अनिवार्य नहीं भी है। इससे इसे भी सम[illegible] जा सकता है कि यदि राज्य धर्म के सामा[illegible] प्रचारात्मक रूप पर प्रतिबन्ध लगाये तो लोग स[illegible] सकें, कि धर्म व्यक्तिगत भावना पर आश्रित है [illegible] ऐसे प्रतिबन्ध से धर्म की हानि नहीं होती।

नयाकदम—सम्पादक श्री मुरारी लाल एम० ए[illegible] धर्मवीर और याज्ञवल्क्य। प्रगतिशील लेखक सं[illegible] अलीगढ़। मूल्य ।।।)

प्रस्तुत संकलन में आलोचना का मार्क्सवादी आध[illegible] वैदिक काव्य, प्रगतिवाद और प्राचीन संस्कृति, प्र[illegible] और साहित्य, साहित्य का प्रयोजन अच्छे हो सकने वा[illegible] निबन्ध हैं। यह संकलन उद्योगशील विद्यार्थियों [illegible] उद्योग का परिणाम है। यह शायद किसी प्रगतिशी[illegible] लेखक संघ का सर्व प्रथम प्रयास है। हम यह देख [illegible] हैं कि यह प्रयास स्तुत्य बन पड़ा है। यदि प्रेस का अच्[illegible] प्रबन्ध और अनुभवी साहित्यकारों का सहयोग [illegible] विद्यार्थियों को प्राप्त हो जाय, तो साहित्य की दिशा [illegible] ये स्तुत्य काम कर ले जायँ, इसमें सन्देह की गुंजाइ[illegible] नहीं है। हम इन प्राणधर्मा युवकों का अभिनन्दन करते[illegible]

समाजवादी की डायरी

भारतीय संघ और पाकिस्तानी संघके रूपमें देश का विभाजन हालकी सबसे महत्वपूर्ण घटना है। [illegible]चे इन क्षेत्रों की जनसंख्या के संबन्ध में कुछ ज्ञातव्य आँकड़े दिये जाते हैं।

पंजाब में सीमा-निर्धारण के प्रश्नको लेकर विभिन्न सम्प्रदायोंमें घोर संघर्ष मचा हुआ है। ३ जून [illegible]ी योजना के अनुसार जो अस्थायी विभाजन हुआ है उसके अन्तर्गत सीमान्त जिलों में मुसलिम और गैर-[illegible]सलिम जनसंख्या और उनकी संपत्ति का अनुपात निम्न लिखित है, जो कि 'वन्देमातरम्' के ८ तथा [illegible]० जून के छपे अङ्कों के आँकड़ों से लिया गया है।

पंजाब (क्षेत्रफल ७७००० वर्गमील, कुल आबादी २८४०००००)

१,६२००००० मुसलिम, ७५००००० हिन्दू, ३२००००० सिख

हिन्दुस्तान	जनसंख्या का अनुपात		आर्थिक अनुपात	
ज़िला	मुसलमान	गैरमुसलमान	मुसलमान	गैरमुसलमान
हिसार	२८.३३ प्रतिशत	७१.६७ प्रतिशत	२३ प्रतिशत	७७ प्रतिशत
रोहतक	१७.४२	८२.५८	१० ,,	९० ,,
गुड़गांव	३३.३६	६६.६४	३३ ,,	६७ ,,
करनाल	३०.६८	६९.३२	२७ ,,	७३ ,,
अंबाला	३१.३३	६८.६७	२६ ,,	७४ ,,
शिमला	१८.२०	८१.८०	१ ,,	९९ ,,
कांगड़ा	४.८१	९५.१९	१ ,,	९९ ,,
होशियारपुर	३२.२६	६७.७४	४५ ,,	५५ ,,
जालंधर	४५.२७	५४.७३	४१ ,,	५९ ,,
लुधियाना	३६.९५	६३.०५	२३ ,,	७७ ,,
फीरोज़पुर	४५.०७	५४.९३	२६ ,,	७४ ,,
अमृतसर	४६.५२	५३.४८	२० ,,	८० ,,
गुरदासपुर	५१.१४	४८.८६	३५ ,,	६५ ,,
पाकिस्तान	जनसंख्या का अनुपात		आर्थिक अनुपात	
लाहौर	६०.६२	३९.३५	३३ ,,	६७ ,,
सियालकोट	६२.०९	३७.९१	५१ ,,	४९ ,,
शेखपुरा	६३.६२	३६.३८	४८ ,,	५२ ,,
गुजरानवाला	७०.४५	२९.५५	५७ ,,	४३ ,,
मंटगोमरी	६९.११	३०.३९	५६ ,,	४४ ,,
लायलपुर	६२.८५	३७.१५	५७ ,,	४३ ,,
झंग	८२.६१	१७.३९	८९ ,,	११ ,,

की यह नीति सदा से रही है कि भारत का बँटवारा नहीं होना चाहिए। पार्टी ने आज भी इस नीति का परित्याग नहीं किया है और उसका विश्वास है कि समाजवादी विचारधारा के प्रचार से अन्त में भारत फिर एक होकर रहेगा। पार्टी का यह केवल मत ही नहीं है किन्तु वह इसके लिये प्रयत्न भी करेगी।

ऐसी अवस्था में पार्टी मौंटबैटन प्लैन को स्वी कैसे कर सकती।

हमारी तटस्थता हमारी अनिश्चित नीति का नहीं है। किन्तु परिपक्व विचार का फल है। ऐसी नी साधारणतः लोगों को पसन्द नहीं आती। किन्तु यदि ठ रूप में प्रश्न जनता के सम्मुख रखा जावे तो हम विचार है कि वह हमारे पक्ष का समर्थन करेगी।

—नरेन्द्र देव

पुराने और नये नेता

सरदार पटेल ने इधर कई बार इस बात को दुहराया है कि स्वतंत्रता के संग्राम के लिए हमारे नेता माहात्माजी थे। किन्तु अब जब स्वतंत्रता मिल गई है हमारे नेता जवाहरलालजी हैं। इस वाक्य का क्या अर्थ है कुछ ठीक समझ में नहीं आता। यह सही है कि आज महात्माजी की बातों से कांग्रेस के नेता सहमत नहीं हैं। उनकी अहिंसा की नीति का उन्होंने परित्याग कर दिया है। गांधीजी भारत की अखंडता चाहते थे। पर जवाहरलाल जी और सरदार ने देश का बँटवारा स्वीकार कर लिया। इतना ही नहीं, इन्होंने यहाँ तक कहा कि श्री जिन्ना बँटवारा चाहें या न चाहें, हम बँटवारा चाहते हैं। आल इंडिया कांग्रेस कमेटी की हाल की बैठक में सरदार साहब ने कहा कि कैबिनट मिशन प्लैन की अपेक्षा मौंटबैटन प्लेन कहीं अच्छा है। जवाहरलाल जी ने कहा कि पहला प्लैन तो हम पर लादा जा रहा था, पर दूसरे प्लैन को हमने खुद स्वीकार किया है। आज महात्माजी की राय इन नेताओं को पसन्द नहीं आती। स्वयं राष्ट्रपति ने, जो महात्मा जी के बड़े भक्त समझे जाते थे और जो उनकी विचारधारा के समर्थक रहे हैं, उनके नेतृत्व का प्रत्याख्यान किया है। उनका कहना है कि महात्माजी स्वयं अंधेरे में टटोल रहे हैं और वह इस लिए हमारे पथप्रदर्शक नहीं हैं। आज की राजनीति में महात्माजी का प्रभाव शून्य के बराबर है। सर्व साधारण पर उनका आज भी प्रभाव बहुत कुछ बना है। कांग्रेस के नेताओं की नीति के बनाने में उनका हा नहीं है। उनकी बात मानने को वह तैयार नहीं हैं किन्तु अपने काम के लिए वह उनका उपयोग करते हैं।

गांधीजी का सिद्धान्त अहिंसा है और उनकी अपनी एक विशिष्ट अर्थनीति है। यह विचित्र बात है कि जब तक ब्रिटिश गवर्नमेंट से लड़ना था तब तक उनके अनुयायी अहिंसा की दुहाई देते थे। सन् ४२ की क्रान्ति में जनता की ओर से जो हिंसा हुई उसकी निन्दा इन महानुभावों ने भी की। आचार्य कृपालानी ने तो यहाँ तक कहा कि आज जो देश में उच्छृङ्खलता और हिंसा की प्रवृत्ति पाई जाती है, उसके लिए ४२ की हिंसा ज़िम्मेदार है। किन्तु साम्प्रदायिक दंगों का सामना करने के लिए आज यही महानुभाव अहिंसा को एक दुर्बल और निकम्मा अस्त्र समझते हैं। महात्माजी से इनका जो मतभेद हो गया है, उसका यह एक बड़ा कारण है। हम अहिंसा को वह महत्व नहीं देते जो गांधीवादी देते आये हैं। हमने सदा यह समझा कि आवश्यकता पड़ने पर विदेशी शासन का मुकाबला करने में हिंसा का प्रयोग न्याययुक्त है। हम यह भी मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी और अपने पड़ोसी की रक्षा के लिए हिंसा के प्रयोग का अधिकार है। सच यह है कि हिंसा अहिंसा के इस शास्त्रार्थ ने हमको पंगु बना दिया है। व्यवहार में मने अहिंसा के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया है। न्तु अब भी हम अहिंसा की रट लगाए जाते हैं। चन और कार्य में आज सामंजस्य नहीं पाया जाता। ह अवस्था दयनीय है। गवर्नमेंट से तो हम अहिंसा सिद्धान्त को मनवा नहीं सकते; साम्प्रदायिक दंगों को कने के लिए हम हिंसा के प्रयोग का समर्थन करते हैं। न्तु अन्य कार्यों के लिए हम आज भी चाहते हैं कि ांग्रेस अहिंसा की नीति को अख्तियार करे। नेता हते हैं कि तलवार का जवाब तलवार से दो। प्रत्येक ान्त अपनी रक्षा स्वयं करे और पुलिस पर आश्रित न हो। किन्तु कांग्रेस स्वयंसेवक दल के लिए यह नियम बनाया जाता है कि वह जान, माल और आत्म-सम्मान की रक्षा अहिंसक रीति से करे। यह दो बातें बिलकुल बेजोड़ हैं।

यह बात समझ में नहीं आती कि जो महानुभाव अब तक अहिंसा का दम भरते थे और आज सहसा उस नीति को छोड़ बैठे हैं, उनको विदेशी शासन से क्या ऐसा प्रेम था जिसके कारण उसके विरुद्ध हिंसा का प्रयोग उनको खटकता था और अपने भाइयों के प्रति उसका प्रयोग उनको स्वीकार है। कहना यही पड़ेगा कि उनकी अहिंसा सारहीन थी। कदाचित वह यह समझते थे कि ब्रिटिश शक्ति का मुकाबला हिंसा से नहीं हो सकता। यदि ऐसा था तो वह अहिंसा को नीति के रूप में मानते थे, सिद्धान्त के रूप में नहीं। किन्तु उनका दावा था कि हम अहिंसा को सिद्धान्त के रूप में मानते हैं। अहिंसा का परित्याग करने से महात्माजी की कार्यप्रणाली का भी परित्याग होता है।

अब रही महात्माजी की अर्थनीति। यह कहना कठिन है कि कौन गांधीवादी उस नीति को किस दरजे तक मानता है। इनमें बहुत से ऐसे भी हैं जो उसको सर्वथा नहीं मानते। किन्तु अहिंसा के सिद्धान्त के नाते अपने को गांधीवादी कहते हैं। यह भी स्पष्ट है कि जो गांधीवादी आज महात्माजी के नेतृत्व का प्रत्याख्यान करते हैं उन्होंने उनकी अर्थनीति का भी त्याग किया है।

अहिंसा महात्मा जी का अटल सिद्धान्त है और अहिंसा के द्वारा ही उन्होंने अपनी विशिष्ट अर्थनीति का विकास किया है। आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन कर वह इस नतीजे पर नहीं पहुँचे हैं। उनका मार्ग बड़ा कठिन रहा है और इस कारण उनको अपनी आर्थिक और सामाजिक प्रणाली का विकास करने में बहुत समय लगा था। किन्तु जिस व्यक्ति के लिए अहिंसा उसके जीवन का अंग नहीं बन गई है और केवल बौद्धिक वस्तु रही है वह अहिंसा द्वारा किसी विशिष्ट अर्थनीति को विकसित नहीं कर सकता। वह तो इतिहास और अर्थ शास्त्र का अध्ययन करके ही किसी अर्थ नीति का निर्माण कर सकता है। अतः समता के आधार पर नये समाज का संगठन करना उसके लिए तभी संभव है जब वह समाजवाद के मौलिक सिद्धान्तों को स्वीकार करे।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि इन महानुभावों को आज की परिस्थिति में महात्माजी का नेतृत्व स्वीकार नहीं है। किन्तु उनके आशीर्वाद के बिना इनका काम भी नहीं चलता। नेपाल में तीन सरकार और पांच सरकार के बीच जो सम्बन्ध है, उसी प्रकार का सम्बन्ध यह रखना चाहते हैं। महात्मा जी को गद्दी पर बिठाकर स्वयं उनका पेशवा होना चाहते हैं। नेता का सत्कार और लाभ अपना यह नीति चल रही है। यह कोई नई नीति नहीं है। अपने देश के इतिहास में भी इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे।

किन्तु यह बात समझ में नहीं आई कि जवाहरलाल जी किस अर्थ में इनके नेता हैं। हम जानते हैं कि सरदार साहब जवाहरलाल जी की विचारधारा से सहमत नहीं हैं, यह भले ही ठीक हो कि उनकी आज की नीति से सरदार साहब सहमत हों। किन्तु स्थायी नीति के आधार पर ही किसी का नेतृत्व स्वीकार किया जाता है। यों तो दत्तात्रेय ने भी अनेक गुरु किये थे।

—राजाराम

श्रीगणेशशङ्कर हृदय-तीर्थ, चिरगाँव

गणेशशङ्कर विद्यार्थी उन ज्योतिर्मय आत्माओं में थे जिनके बलिदान ने हमको नया बल और नया विश्वास प्रदान किया है। उनके अपूर्व आत्मोत्सर्ग को १६ वर्ष से ऊपर हो गये। लज्जा की बात है कि आज तक हम उनके प्रति अपनी श्रद्धा को यथोचित रूप में प्रकट नहीं कर सके। उनकी पवित्र स्मृति जागरूक रखने के लिए गाँव गाँव में व्यापक प्रयत्न की आवश्यकता है। चिरगाँव का 'श्रीगणेशशङ्कर हृदयतीर्थ' इस दिशा में यत्किंचित् आयोजन है।

अमर हुतात्मा को चिरगांव से घर जैसा ही प्रेम था। जिस तिथि को अपने बलिदान से उन्होंने एक राष्ट्रीय पर्व बना दिया है, उस दिन उनके यहां होने की बात थी। दैव दुर्विपाक से उस दिन वे यहां नहीं आ सके। इसलिये चिरगांव में उनकी स्मृति को साकार रूप देने का जो उद्योग इस संस्था के द्वारा किया जा रहा है; उसका महत्व मात्र स्थानीय नहीं है। यह संस्था आप सबके संरक्षण और सहायता की अधिकारिणी है।

श्रीगणेशशङ्कर हृदय-तीर्थ की स्थापना स्वल्प साधनों के बल पर ही की गई है। अभी तक कुछ अधिक नहीं किया जा सका है। स्फूर्तिदायक साहित्य का प्रसार करने के लिए दो पुस्तकालय चलाये जा रहे हैं। "भारती भवन" नाम से एक विद्यालय नियमित रूप से संचालित है। व्यायामशाला की नींव भी पड़ रही है। ग्रामसेवा, ग्रामोद्योग और शिक्षाप्रसार के साथ साथ सांस्कृतिक सेवा इस संस्था का मुख्य उद्देश है। इसके द्वारा साम्प्रदायिक सद्भावना दूर दूर तक फैलाने का प्रयत्न किया जायगा।

संस्था को अविलम्ब अपने निज के भवन [की] आवश्यकता है, जिसके द्वारा केन्द्रीय वाचनालय, व्यायामशाला और ग्रामोद्योग के कार्य सुचारु [रूप से] चलाये जा सकें। उसका उपयोग सभाभवन के रूप में भी हो सके और उसी के साथ एक विराम-वन (पार्क) भी रहे, जहाँ हृदयतीर्थ की छाया में नागरिक साँझ-सवेरे शुद्ध वातावरण का लाभ ले सकें। हर्ष [की] बात है कि विगत कस्तूरबा स्मृतिदिवस संवत् २० [..] वि० के अवसर पर भवन का शिलान्यास राष्ट्रनायक पण्डित जवाहरलाल नेहरू द्वारा हो चुका है। इस अवसर पर ५२०० रुपये की निधि चिरगाँव निवासियों [ने] इस संस्था द्वारा उन्हें अर्पित की थी। पूज्य पण्डित [जी] ने उसे इसी भवन के लिये देकर इस संस्था को गौरवान्वित किया है। इस निधि से उसी नींव पर भवन का थोड़ा-सा भाग बन चुका है। पूरे निर्माण [में] ६०००० रुपये के लगभग व्यय होगा।

इसी के साथ गणेशशङ्कर स्मृतिग्रन्थ के प्रकाशन का उद्योग भी चल रहा है। प्रारम्भ में ही इसके लिए विश्ववन्द्य बापू का आशीर्वाद प्राप्त हो चुका है। [..] आकार के प्रस्तावित ग्रन्थ में १५००० से कम [व्यय न] होगा। हृदय-तीर्थ के द्वारा पुस्तकालय, वाचनालय, शिक्षामन्दिर, दातव्य औषधालय एवं अनेक प्रकार [के] रचनात्मक कार्य भी होने को हैं। गणेशशङ्कर जी [की] एक विशाल मूर्ति प्रस्तुत कराने की भी योजना है। इन सभी कार्यों के लिए कम से कम २५००० रुपये चाहिये ही।

विश्वास है, गणेशशङ्कर जैसे महापुरुष की स्मृति [में] अर्पित होने वाली यह एक लाख रुपये की निधि अधिक न समझी जावेगी और उसकी पूर्ति में विलम्ब न होगा।

पुरुषोत्तमदास टण्डन

नरेन्द्रदेव	रफीअहमद किदवाई
विजयालक्ष्मी	बदरीनाथ वर्मा
भवानीदयाल संन्यासी	बालकृष्ण शर्मा
श्रीराम शर्मा	बनारसीदास चतुर्वेदी
जैनेन्द्रकुमार	शिवपूजन सहाय
रामस्वरूप गुप्त	हरिशङ्कर विद्यार्थी
र० वि० धुलेकर	आत्मारामगोविन्द खेर
कालिकाप्रसाद अग्रवाल	चतुर्भुज शर्मा
मैथिलीशरण गुप्त	

गोविन्दवल्लभ पन्त

सम्पूर्णानंद	कैलाशनाथ काटजू
द्वारकाप्रसाद मिश्र	श्रीप्रकाश
माखनलाल चतुर्वेदी	श्रीकृष्णदत्त पालीवाल
वृन्दावनलाल वर्मा	नाथूराम प्रेमी
नवलकिशोर भरतिया	मूलचन्द अग्रवाल
डा० जवाहरलाल	शिवनारायन टण्डन
कुंजबिहारीलाल शिवनी	भगवन्नारायण भार्गव
(राय) कृष्णदास	सियारामशरण गुप्त

भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस।

रियासती जनता की माँगें

रियासती जनता की इन मांगों को समझने के लिए प्रो० मुकुटबिहारी लालजी का लेख जो इसी अंक में छपा है, पढ़ना जरूरी है। इन मांगोंको अलग से छपवा कर रियासती जनता का उसपर समर्थन प्राप्त करने का आन्दोलन रियासतों में छेड़ देना चाहिए। —सम्पादक

१. हरेक रियासत की जनता की सामूहिक सत्ता राज्य की प्रमुख सत्ता तसलीम की जाय।

२. रियासतों के सम्बन्ध में रियासती जनता का हित ही परम हित समझा जाय और रियासतों के राजनीतिक भविष्य का निर्णय जनहित के आधार पर जनमत के मुताबिक़ किया जाय।

३. सिन्ध, बिलोचिस्तान, सीमाप्रान्त तथा पंजाब की कुछ रियासतों को छोड़ जो पाकिस्तान में शामिल हो सकती हैं, बाक़ी सब रियासतों को हिन्दुस्तान संघ (इन्डियन यूनियन) में शामिल किया जाय। रियासतों को संघ से अलग बिलकुल स्वतंत्र रखा जाय या संघ से केवल उनका राजनीतिक संबन्ध हो इन विचारों का सारे राष्ट्र की ओर से सक्रिय सामूहिक विरोध किया जाय।

४. हिन्दुस्तान संघ (इन्डियन यूनियन) में शामिल होने के उद्देश से इन रियासतों की सरकारें जनता द्वारा चुने प्रतिनिधि हिन्दुस्तान की विधान परिषद में भेजें। जिन रियासतों की सरकारें विधान परिषद में शामिल न हों उन रियासतों की जनता को खुद अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया जाय।

५. उन रियासतों की, जो एक साधारण ज़िले के इन्तज़ाम का खर्च भी बर्दाश्त नहीं कर सकतीं, प्रथक शासनसत्ता खत्म कर दी जाय। इन रियासतों को अगर मुमकिन हो तो पास के किसी ज़िले में मिला दिया जाय, वरना कई रियासतों को मिलाकर उचित शासन-खण्ड बनाये जायँ।

६. हैदराबाद और मैसूर राज्य वैधानिक इकाइयों की हैसियत से हिन्दुस्तान संघ में शामिल किये जायँ। जम्मू-काश्मीर को भी अगर वहाँ की जनता ऐसा चाहे, तो हिन्दुस्तान संघ (इन्डियन यूनियन) में इसी हैसियत से शामिल किया जाय।

७. मध्यभारत, राजपूताना और गुजरात-काठियावाड़ में रियासतों और शासना-खन्डों को मिलाकर उपसंघ क़ायम किये जायँ। मध्यभारत में दो उपसंघ भी क़ायम किये जा सकते हैं। त्रावणकोर, कोचीन और मालाबार के ज़िलों को मिलाकर मालाबार उपसंघ क़ायम किया जाय। इन उपसंघों की केन्द्रीय सरकारें जनता द्वारा चुनी व्यवस्थापिका सभा के प्रति ज़िम्मेदार हों और उनका जनता से सीधा सम्बन्ध हो। ये उपसंघ वैधानिक इकाइयों की हैसियत से हिन्दुस्तान संघ (इन्डियन यूनियन) में शामिल हों।

८. दूसरी सब रियासतों का हिन्दुस्तान संघ (इन्डियन यूनियन) और पास के किसी प्रान्त से वैधानिक सम्बन्ध हो। प्रान्तों से सम्बन्धित रियासतों की सरकारों के वही अधिकार हों, जो उपसंघ से सम्बन्धित रियासतों को हासिल हों। इन रियासतों की जनता द्वारा चुने प्रतिनिधि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य हों और इन प्रतिनिधियों को उन सब मामलों पर राय देने और उन मुहकमों के इन्तज़ाम की देखभाल करने का समान अधिकार हो, जिनका रियासतों और ज़ि[लों] दोनों से सम्बन्ध हो।

९. हिन्दुस्तान संघ (इन्डियन यूनियन) का रियासतों और प्रान्तों के प्रति समान अधिकार और ज़िम्मेदारी हो।

१०. रियासती जनता का प्रान्तीय जनता की तरह हिन्दुस्तान संघ (इन्डियन यूनियन) से सीधा सम्बन्ध हो। जनमत ही संघ सरकार की सत्ता का आधार समझा जाय और जनता और उनके प्रतिनिधियों के ही संघ सरकार ज़िम्मेदार हो।

११. हिन्दुस्तान संघ (इन्डियन यूनियन) में रियासती जनता का प्रान्तीय जनता के बराबर का स्थान हो। रियासत का प्रत्येक निवासी हिन्दुस्तान संघ (इन्डियन यूनियन का) नागरिक तसलीम किया जाय और उसे समान नागरिक अधिकार और हक़ हासिल हों। उसके कर्तव्य भी समान हों।

१२. हिन्दुस्तान संघ (इन्डियन यूनियन) की व्यवस्थापिका सभा के लिये रियासती जनता द्वारा प्रतिनिधि चुने जावें।

१३. हिन्दुस्तान संघ (इन्डियन यूनियन) के विधान में रियासती जनता को भी नागरिकों के बुनियादी हक़ हासिल हों। उन नागरिक हक़ों की रक्षा के लिये रियासती जनता को हिन्दुस्तान के सुपरीम कोर्ट में अपील करने का हक़ हासिल हो।

१४. संघ विधान की धारा के ज़रिये संघ से सम्बन्धित सभी रियासतों में ज़िम्मेदार हकूमत क़ायम करना लाज़मी हो।

१५. संघ-विधान में यह साफ़ कर दिया जाय कि संघ की राजनीतिक और फौजी ताक़त रियासती जनता की लोकतान्त्रिक आज़ादी के संघर्ष को दबाने में इस्तेमाल नहीं की जायगी।

१६. रियासतों में जागीरदारी प्रथा ख़तम की जाय। जागीरदारों को उनके विशेष आर्थिक और राजनीतिक हक़ों और अधिकारों से वंचित किया जाय। जागीरदारियों में रहने वाली जनता को रियासती जनता के सब हक़ हासिल हों, वे जागीरदारों के राजनीतिक अधिकारों से मुक्त किये जाएँ और उनका रियासत की सरकार से सीधा और समान सम्बन्ध हो।

१७. संघ-विधान के ज़रिये संघ से संबन्धित रियासतों में प्रचलित दहेज में दी बाँदी-रखेली तथा दारोगा जैसी नीम गुलामी की प्रथाओं को ग़ैर क़ानूनी क़रार दिया जाय और इन प्रथाओं में फंसे लोगों को उनके बन्धनों से मुक्त किया जाय।

१८. रियासतों में जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों की विधान परिषदें क़ायम की जाय, और उनके द्वारा निश्चित विधान कार्यान्वित किये जायं। जब तक नये विधान के अनुसार सरकारें नहीं बनतीं तब तक के लिये प्रजामंडल, स्टेट कांग्रेस जैसी लोकप्रिय राजनीतिक संस्थाओं के मशवरे से अन्तरीम सरकारें बनाई जायं, जिन्हें शासन के सब अधिकार प्राप्त हों और जो विधान परिषदों के क़ायम होने पर उन्हें उत्तरदायी हों।

नरेन्द्र देव, मेम्बर, स्टेन्डिंग कमेटी
अखिल भारत देशीराज्य लोक-परिषद

मुकुट बिहारी लाल, मेम्बर, जनरल कौंसिल,
अखिल भारत देशीराज्य लोक-परिषद

मंगल सिंह, प्रधान, धौलपुर राज्य प्रजा मंडल

सम्पादक, मुद्रक तथा प्रकाशक—बैजनाथ सिंह 'विनोद', काशी। भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस

समाजवादी मासिक पत्रिका

जुलाई
१९४७

जनवाणी

सम्पादक-मण्डल

आचार्य नरेन्द्र देव बी० पी० सिन्हा
राजाराम शास्त्री बैजनाथसिंह 'विनोद'

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य ८) जनवाणी सम्पादकीय विभाग एक प्रति का ॥)
काशी विद्यापीठ, बनारस

भाग २] जुलाई १९४७ [अङ्क २

कहाँ समाप्त साधना ?

श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'

तुम पी रहे गरल
कि देख नीलकंठ मुग्ध हैं !
सुधा लजा गई
अमर पतित, असुर विक्षुब्ध हैं ।
मगर अभी तो पग प्रथम
कहाँ समाप्त साधना ?
कि है नरत्व तात्र पर,
लगा हुआ है ग्राम, गृह
नगर सभी तो दाँव पर ।
तुम्हें अगर है आन कुछ
मनुष्यता के नाम की,
तो ध्यान यह बना रहे -
वमन न हो, वमन न हो ।

तुम तप रहे हो जिसतरह
न तप सका निदाघ भी ।
तुम्हारी आग देख मंद
पड़ गई दवाग भी ।
मगर अभी तो पग प्रथम
कहाँ समाप्त साधना ?
लपट लपट से भेंट लो,
हर एक शोला, चिनगी चिनगी
अंक में समेट लो ।
बने अगर विभूति तो
जो आ रही हैं पीढ़ियाँ,
भविष्य में उन्हें कभी
तपन न हो, तपन न हो ।

जन, जनपद, महाजनपद*

डा॰ धीरेन्द्र वर्मा, डी॰ लिट्॰

प्राचीनतम ऐतिहासिक उल्लेखों के अनुसार मध्य-देशवासियों के आर्य पूर्वज 'जन' अथवा समुदायों या गिरोहों (clans) के रूप में संगठित थे। एक आर्य जन के सब लोग अपने को 'सजात' अर्थात् किसी एक मूल पुरुष से उत्पन्न समझते थे। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'पंचजन' शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि आर्यों के मूल प्रधान 'जन' केवल पाँच (कदाचित् पुरु, यदु, अनु, द्रुह्यु और तुर्वश) थे। बाद को धीरे धीरे ये ही अनेक आर्य जनों के रूप में विकसित हुए होंगे। कुछ गौण जनों के उल्लेख भी साथ साथ मिलते हैं।

जनों की राष्ट्रीय भूमियाँ 'जनपद' कहलाने लगीं। जनपद की साधारण जनता 'विश्' कहलाती थी। यह 'ग्रामों' अर्थात् अनेक कुलों के समूहों में संगठित थी। जन के ग्राम जहाँ बस जाते थे वे स्थान भी ग्राम कहलाने लगते थे। युद्ध के लिए एकत्रित ग्रामों के समूह से ही युद्ध के लिए 'संग्राम' संज्ञा पड़ी। ग्रामों का मुखिया 'ग्रामणी' कहलाता था। प्रत्येक ग्राम में अनेक 'कुल' होते थे। वर्त्तमान 'वैश्य', 'गाँव' और 'कुल' शब्द इन प्राचीन 'विश्', 'ग्राम' और 'कुल' संस्थाओं के ही परिवर्त्तित रूप हैं। प्रत्येक जनपद का एक 'पुर' या प्रधान नगर होता था जहाँ जनपद का राजा रहता था, फलस्वरूप जनपद की शक्ति तथा संस्कृति का यही केन्द्र होता था। प्रत्येक जन या विश राजनीतिक संगठन की दृष्टि से 'राष्ट्र' की संज्ञा जाती थी।

जनपद का राजा प्रायः दो संस्थाओं तथा अधिकारियों की सहायता से जनपद की रक्षा तथा न की व्यवस्था करता था। राजा को सहायता देने वाली संस्थाएं वैदिक साहित्य में 'सभा' और 'समिति' कहल थीं। 'सभा' कदाचित् पुरवासियों की संस्था थी जो को संभवतः 'पौर' कहलाने लगी थी। 'समिति' जन के ग्रामों के प्रतिनिधियों की संस्था थी और यह अ चलकर 'जानपद' नाम से पुकारी जाने लगी। नित्यप्र की शासन व्यवस्था में सहायता देने के लिए एक प्र का मंत्रिमंडल होता था जिसके प्रधान सदस्य पुरोहि सेनापति और ग्रामणी थे। मंत्रिमंडल के सदस्यों संख्या आवश्यकतानुसार धीरे धीरे बढ़ती गई थी।

राजा का बड़ा पुत्र प्रायः जनपद के शासन उत्तराधिकारी होता था, किन्तु उसका निर्वाचन मंत्रिमं तथा पौर और जानपद के परामर्श और स्वीकृति होता था। प्राचीन साहित्य में इस बात के अने उदाहरण मिलते हैं कि जनपद की जनता ने अन्या राजा को हटा दिया अथवा ज्येष्ठ पुत्र के उपयुक्त होने पर छोटे भाई अथवा राजकुल के किसी अन व्यक्ति को राजा के स्थान पर निर्वाचित किया। मध्यदे के प्राचीन जनपद स्वाभाविक इकाई वाले छोटे छो जीवित राष्ट्र थे। अतः इनके संबंध में निरंकुश शास अथवा विदेशी शासक की कल्पना करना भी असंभव मध्यदेश के सीमाप्रान्त के प्रदेशों में कुछ 'गण .राज अथवा पंचायती शासन प्रणाली रखने वा जन भी थे।

* प्रस्तुत लेख में हिंदी प्रदेश की प्राचीन जन, जनपद तथा महाजनपद संस्थाओं के विकास का संक्षिप्त परिचय है। यह लेखक के अप्रकाशित "मध्य देश का इतिहास" ग्रंथ का एक अध्याय है। आज के 'जन' या 'जनता' शब्द का मूल उद्गम प्राचीन आर्य 'जन' संस्था तक जाता है।

धीरे धीरे मध्यदेश के जनपद अधिक शक्तिशाली र संपन्न होते गए। प्रसिद्ध शासकों के नामों पर कि नामों में भी कभी कभी परिवर्तन हुए। बौद्ध हित्य में आर्यावर्त के सोलह महा जनपदों का अनेक लों पर उल्लेख आया है। इनके अतिरिक्त अनेक धारण जनपद भी थे। ये सोलह महाजनपद प्रायः म्नलिखित आठ जोड़ियों में गिनाये जाते थे:— रु-पंचाल, वृजि-मल्ल, शूरसेन-मत्स्य, कोशल-काशी, वन्ति-अश्मक तथा गान्धार-कंबोज। अंतिम तीन को ोड़ कर शेष तेरह महा जनपदों का संक्षिप्त इतिहास ागे दिया जाता है।

मध्यदेश के महाजनपदों में प्राचीनतम कुरु-चाल थे। कुरु जनपद की राष्ट्रीय भूमि गंगा और मुना की घाटियों के ऊपरी भाग में थी। इस जनपद मूल संस्थापक कदाचित् वैदिक कालीन 'पुरु' जन थे। लोग 'भरत' जन के नाम से भी प्रसिद्ध थे। पुराणों ी अनुश्रुति के अनुसार कुरु शासकों का संबंध पुरूरवा ारा स्थापित ऐल या चन्द्रवंश से था। कुरु जनपद की जधानी वर्तमान मेरठ ज़िले में गंगा के किनारे स्तिनापुर या आसन्दीवन्त थी। बाद को पश्चिम कुरु या कुरु जांगल की पृथक् राजधानी यमुना के किनारे इन्द्रप्रस्थ ो गई थी। आधुनिक दिल्ली नगर इन्द्रप्रस्थ के स्थान र ही बसा है। ब्राह्मण ग्रंथों, महाभारत तथा पुराणों में अनेक प्रसिद्ध पौरव अर्थात् कुरु जनपद के राजाओं के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें नहुष, ययाति, दुष्यन्त, भरत, हस्ती, अजमीढ़, कुरु, शान्तनु, धृतराष्ट्र, परीक्षित् तथा जनमेजय प्रधान थे।

महाभारत में वर्णित युद्ध का मूल कारण कुरु जनपद के चचेरे भाइयों के झगड़े से ही है। दुर्योधन आदि कौरव धृतराष्ट्र के पुत्र थे। युधिष्ठिर आदि पाण्डव धृतराष्ट्र के छोटे भाई पांडु के पुत्र थे। कुरु जनपद के राज्य के लिए इन दोनों में झगड़ा हुआ और अन्त में कुरुक्षेत्र का प्रसिद्ध युद्ध हुआ। जिसमें अनुश्रुति के अनुसार आर्यावर्त के लगभग समस्त जनपदों के राजाओं ने एक या दूसरी ओर भाग लिया था। श्रीकृष्ण जी ने युद्ध बचाने के सम्बन्ध में बहुत यत्न किया था और इस प्रयत्न में असफल होने पर स्वकर्तव्य-विमुख मोह-ग्रस्त अर्जुन को श्रीमद्भगवद्गीता में सुरक्षित कर्म योग का उपदेश दिया था।

कुरु जनपद आज कल अम्बाला, दिल्ली, मेरठ तथा बिजनौर के आस पास का खड़ीबोली प्रदेश है और उसकी बोली रहन सहन तथा उपजातियों का एक विशेष व्यक्तित्व है। उदाहरण के लिए ब्राह्मणों में गौड़ ब्राह्मण कुरु जनपद से सम्बन्ध रखते हैं। गंगा की बाढ़ के कारण हस्तिनापुर के नष्ट हो जाने पर बाद में कुरु शासकों ने प्रयाग के निकट यमुना के किनारे कौशाम्बी को अपनी राजधानी बना लिया था। पंचाल, काशी तथा मगध जनपदों के शासक कदाचित् मूल कुरु जन से संबद्ध थे अतः ये जनपद कुरु जनपद की शाखाएँ माने जा सकते हैं।

कुरु के पूर्व में पंचाल जनपद था। यह आजकल के रोहिलखंड का अधिकांश भाग तथा कन्नौज के निकट का प्रदेश कहा जा सकता है। बोली की दृष्टि से इसे आजकल की परिभाषा में कन्नौजी या पूर्वी ब्रज प्रदेश के रूप में हम पाते हैं। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार पंचाल के शासक भी पुरुरवा ऐल या चन्द्रवंश की शाखा से संबद्ध थे। पंचाल के प्राचीन राजाओं में सृंजय, च्यवन, पिजवन, सुदास, सहदेव तथा सोमक के उल्लेख विजयों तथा दान आदि के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। पंचाल जनपद बाद में दो भागों में विभक्त हो गया था। गंगा के उत्तर का भाग उत्तर पंचाल कहलाता था और उसकी राजधानी अहिक्षेत्र बरेली ज़िले में थी। दक्षिण पंचाल की राजधानी कम्पिला थी जो फ़र्रुख़ाबाद ज़िले में पड़ती है। द्रौपदी उत्तर पंचाल के राजा द्रुपद की कन्या थी। द्रोणाचार्य और उनके पुत्र अश्वत्थामा ने पंचाल का कुछ भाग अपने अधिकार में कर लिया था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पंचाल जन का पुराना नाम क्रिवि था। संभव है कुछ अन्य छोटे छोटे जन जिनकी संख्या पांच रही हो मिलकर पंचाल के रूप में परिणत हो गये हों। ऐतिहासिक काल में पंचाल जनपद ही कान्यकुब्ज नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका अवशेष अब कन्नौज नगर या कान्यकुब्ज ब्राह्मणों तथा कुछ

अन्य उपजातियों के रूप में हम पाते हैं। जनपद काल में कुरु-पंचाल विशुद्ध भाषा, यज्ञ संबंधी नियम, धर्म-शील और आचार की दृष्टि से आदर्श जनपद माने जाते थे। यह इस बात की ओर संकेत करता है कि कदाचित ये प्राचीनतम आर्य जनों के प्रतिनिधि थे।

कुरु जनपद के दक्षिण में प्रसिद्ध शूरसेन जनपद था। इसकी राजधानी मथुरा थी जो आजतक प्रसिद्ध है। शूरसेन आजकल का आगरा कमिश्नरी या ब्रजप्रदेश कहा जा सकता है। शूरसेन यदु जन का जनपद था, इसी कारण यहाँ के शासकों का नाम यादव पड़ा। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार युदु वंश का सम्बन्ध कौसल के मानव या सूर्य वंश से है। चेदि वंश भी यादवों की ही एक शाखा सिद्ध होती है। महाभारत के समकालीन उग्रसेन, कंस, तथा कृष्ण, यादव वंश ही थे। वर्तमान माथुर ब्राह्मण तथा अनेक [illegible] उपजातियाँ शूरसेन जनपद की प्रतिनिधि कही जा सकती हैं।

शूरसेन जनपद के दक्षिण-पश्चिम में मत्स्य जनपद था। इसकी सीमायें आधुनिक जयपुर तथा अलवर राज्यों से मिलती-जुलती थीं। यहाँ की बोली जयपुरी-मेवाती आज भी पृथक् है। मत्स्य जनपद की राजधानी विराट नगर थी, जिसके खंडहरों पर जयपुर राज्य में आजकल वैराट नाम की छोटी सी बस्ती है।

जिस तरह मध्य देश के पश्चिम भाग में कुरु, पंचाल, शूरसेन, मत्स्य ये चार प्रसिद्ध जनपद थे, उसी प्रकार मध्य देश के पूर्व भाग में कोसल-काशी और मगध-विदेह के चार प्रसिद्ध जनपद थे, जिनमें प्रमुख और सबसे अधिक प्राचीन कौसल जनपद था।

कौसल वर्तमान अवध के रूप में आज भी बहुत कुछ स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। इसकी प्राचीन राजधानी अयोध्या आज सरयू के किनारे प्रसिद्ध तीर्थस्थान के रूप में मौजूद है। अयोध्या का एक पुराना नाम साकेत भी था। पुराणों के अनुसार अयोध्या की स्थापना स्वयं मनु ने की थी। अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं का अधिक क्रमबद्ध वर्णन पुराणों में सुरक्षित है। कौसल जनपद के राजाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध मनु के अतिरिक्त इक्ष्वाकु, मान्धाता, हरिश्चन्द्र, सगर, दिलीप, रघु, अज, दशरथ, तथा राम थे। वाल्मीकि रचित रामायण की कथा का सम्बन्ध कोसलेश राम के यशोगान से ही है। बौद्ध काल में कोसल की राजधानी श्रावस्ती हो गई थी, जो गोंडा ज़िले में राप्ती के किनारे थी। वर्तमान अवध का प्रधान नगर लखनऊ है। कोसल जनपद से सम्बन्ध रखनेवाली जातियों में सरयूपारी ब्राह्मण तथा श्रीवास्तव्य कायस्थों का उल्लेख किया जा सकता है। यहाँ की बोली अवधी आज भी पृथक् है।

कोसल के पूर्व में गंडक के आगे बिहार का वर्तमान मिथिला प्रदेश प्राचीन काल में विदेघ या विदेह जनपद के नाम से प्रसिद्ध था। पुराणों के अनुसार यह कोसल जनपद की ही एक शाखा था। यहाँ आर्य जन बाद में जाकर बसे थे। शतपथ ब्राह्मण में इस सम्बन्ध में एक उल्लेख भी मिलता है। [illegible] राम की [illegible] सीता विदेहाधिपति जनक की कन्या थी। प्रसिद्ध ऋषि याज्ञवल्क्य भी विदेह जनपद के थे। विदेह जनपद के शासकों ने उपनिषद् की विचारावली के विकास में विशेष भाग लिया था। बौद्ध काल में विदेह जनपद वृजि (वज्जि) गण के रूप में परिवर्तित हो गया। इसके अन्तर्गत आठ जन थे जिनमें विदेह और लिच्छवि प्रधान थे। वृजिगण की राजधानी वैशाली हो गई थी। बौद्धकाल में वृजिगण के उत्तर-पश्चिम में हिमालय की तलहटी में एक दूसरा प्रसिद्ध गण मल्ल था। इसकी दो शाखाएँ थीं जिनकी राजधानियाँ कुशीनर और पावा थीं। यह गण वर्त्तमान गोरखपुर जिले का प्रदेश था। इस समय मैथिल भाषा, मैथिल ब्राह्मण तथा दरभंगा के रूप में मिथिला का पृथक् अस्तित्व आज भी स्मरण हो आता है।

पूर्व मध्य देश का तीसरा प्रसिद्ध जनपद काशी था। यह वर्त्तमान भोजपुरी प्रदेश कहा जा सकता है। काशी जन के ही नाम से काशी जनपद का तथा बाद को काशी नगर का भी नाम पड़ा था जो आजतक चल रहा है। काशी नगर का अधिक प्रसिद्ध नाम वाराणसी हो गया था। जिसका अपभ्रंश रूप आजकल बनारस है। पुराणों के अनुसार काशी का वंश पुरूरवा द्वारा स्थापित चन्द्रवंश से संबंध रखता है। काशी के प्राचीन राजाओं में दिवोदास का नाम और बाद के शासकों में अजातशत्रु का नाम बहुत प्रसिद्ध है।

काशी जनपद के पूर्व में वर्त्तमान दक्षिण बिहार में प्रसिद्ध मगध जनपद था। मगध में भी आर्यजन बाद को जाकर बसे थे इसी कारण बहुत समय तक यह प्रदेश आर्यों के आदर्श आचरण की दृष्टि से बहुत अच्छा नहीं समझा जाता था।* महाभारत में उल्लिखित [illegible] के पुत्र महत्त्वाकांक्षी जरासन्ध मगध के ही शासक थे। मगध की प्राचीन राजधानी [illegible] थी। [illegible] गंगा के किनारे पाटलिपुत्र राजधानी बनाई गई। वर्त्तमान मगही बोली प्राचीन मगध जनपद की सीमाओं की ओर संकेत करती है। [illegible] रूप में चल रहा है।

पूर्वी मध्यदेश के सीमान्त पर [illegible] जनपद था। यह वर्त्तमान बिहार प्रान्त का पूर्वी भाग था। [illegible] संबंध कदाचित् अनुजन या आनवों से था [illegible] के केकय जनपद के भी संस्थापक थे। मध्य देश के सीमा प्रान्त पर होने के कारण यह आर्य संस्कृति के केन्द्र से दूर माना जाता था। राजनीतिक दृष्टि से मगध जनपद ने बाद को इसे दबा लिया था। इसकी प्राचीन राजधानी चम्पा या मालिनी यहाँ ही थी जहाँ आज भागलपुर बसा है।

मध्यदेश के दक्षिण भाग में चेदि वत्स तथा अवन्ति के तीन प्रसिद्ध जनपद थे। वत्स या वंश जन-पद वर्त्तमान बघेल खंड प्रदेश समझा जा सकता है। इसकी राजधानी कौशाम्बी के खंडहर यमुना के किनारे इलाहाबाद से तीस मील पर आज भी मौजूद हैं। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है यहाँ के शासकों का संबंध कुरु की ही एक शाखा से था। उदयन यहाँ के अंतिम प्रसिद्ध राजा थे जो भगवान बुद्ध के समकालीन थे।

चेदि जनपद वर्त्तमान बुंदेलखंड के प्रदेश से मिलता जुलता था। यह भी यदु जन की शाखा थी, यद्यपि बाद को इसके कुछ शासक कुरु से संबंध रखने वाले हुए। महाभारत काल में शिशुपाल यहाँ का शासक था। चेदि की राजधानी शुक्तिमती थी।

अवन्ति जनपद वर्त्तमान पश्चिमी मालवा था। इसकी राजधानी प्रसिद्ध उज्जयनी नगरी थी जो आज भी वर्त्तमान है। दक्षिण अवन्ति के हैहय वंश की राजधानी माहिष्मती थी। कार्त्तवीर्य अर्जुन हैहयवंश के अंतिम प्रसिद्ध राजा थे। अवन्ति के संस्थापक भी कदाचित् यदु जन थे। माल्वा प्रदेश तथा माल्वी बोली का अस्तित्व आज भी पृथक् है।

यह स्पष्ट है कि जनपद काल के अन्त में पाए जाने वाले मध्य देश के महान जनपदों का विकास धीरे धीरे हुआ। प्रारंभिक जनपद काल में इनकी संख्या भी कम थी और इनकी सीमा तथा शक्ति भी सीमित रही होगी। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि वैदिक साहित्य के उल्लेखों के अनुसार मध्य देश के अधिकांश जनपद पंचजन से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें बहुत से पंचजनों के दो प्रधान जनों—पुरु, यदु—की शाखायें मात्र हैं। कुरु, पंचाल, वत्स, काशी, तथा मगध अर्थात् गंगा के किनारे बसे हुए जनपदों का संबन्ध पुरु से और शूरसेन, चेदि, अवन्ति तथा कदाचित् मत्स्य अर्थात् यमुना या उसकी शाखाओं के किनारे बसे हुए जनपदों का संबन्ध यदु जन से था। अंग का संबन्ध वैदिक कालीन अनु जन से माना जाता है। वैदिक पंचजनों में से शेष द्रुह्यु जन की परम्परा मध्य देश से बाहर पश्चिमोत्तर आर्यावर्त के गांधार जनपद के रूप में चली है। पाँचवाँ तुर्वश जन का उल्लेख आगे चल कर विशेष नहीं मिलता है। वैदिक कालीन तुर्वश जन यदु या पुरु जन में कदाचित् सम्मिलित हो गया। सरयू के किनारे बसे हुए कोसल तथा उसके पूर्व के विदेह जनपद के मूल वैदिक जनपद कौन थे यह स्पष्ट नहीं है। कदाचित् इनका संबन्ध यदु जन से था। इनका महत्त्व उत्तर वैदिक साहित्य तथा पौराणिक अनुश्रुति में विशेष है।

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार मध्य देश के जनपदों के शासक दो वर्गों में विभक्त होते हैं—पहले मनु द्वारा स्थापित कोसल के सूर्यवंश से संबन्ध तथा दूसरे पुरूरवा द्वारा स्थापित चन्द्र या ऐल वंश से संबन्ध रखने वाले।

* राजनीतिक तथा सामाजिक कारण भी थे। —सम्पादक

पहले वर्ग में कोसल और विदेह के शासक प्रधान माने गये हैं तथा दूसरे वर्ग से मध्य देश के कुरु आदि शेष समस्त जनपदों के शासकों का संबन्ध है।

जो हो मध्य देश के प्रधान मूल जनपद कुरु-पंचाल तथा कोसल-काशी कहे जा सकते हैं। अधिकांश शेष जनपद इनकी शाखा प्रशाखाएँ मात्र हैं। समस्त प्राचीन पौराणिक उल्लेख यही सिद्ध करते हैं कि पौरव या कुरु और मानव या कोसल ये दो कदाचित् प्राचीनतम प्रधान आर्य शाखायें थीं। इन्हीं का इतिवृत्त रामायण और महाभारत के काव्यमय इतिहासों के रूप में सुरक्षित है। आज भी मध्य देश की जनता महाभारत और रामायण के रूप में कोसल और कुरु जनपदों की गाथाओं की स्मृति बनाये हुए है। ऐतिहासिक काल के वीरों की अपेक्षा अब भी मध्य देश की जनता जनपद काल के इन महापुरुषों का अधिक आदर से स्मरण करती है। मध्य देश के प्राचीन जनपदों के प्रतिनिधि महापुरुष राम और कृष्ण हैं।

लगभग ३००० पू० वि० से ५०० पू० वि० तक मध्य देश के जनपद अनेक परिवर्त्तनों के होते हुए भी सम्पन्न तथा स्वतन्त्र रूप में वर्त्तमान रहे। गत ढाई हज़ार वर्षों के साम्राज्यों, राजवंशों और विदेशी आक्रमणकारियों की उथल-पुथल में यद्यपि इन जनपदों का स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व आज नहीं रह गया है, किन्तु इनका व्यक्तित्व प्रादेशिक बोली, संस्कृति तथा सामाजिक संगठन के रूप में आज भी वर्त्तमान है इसका कुछ संकेत ऊपर किया जा चुका है। विदेशी दृष्टिकोण के फलस्वरूप हमारे इतिहासज्ञ जनपदों के अस्तित्व की उपेक्षा कर देते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि इनका अस्तित्व आज भी पृथक् पृथक् विद्यमान है। प्रत्येक जनपद के प्राचीन क्रमबद्ध इतिहास तथा वर्त्तमान अवस्था के संबन्ध में पूर्ण खोज होने पर बहुत कुछ नवीन ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हो सकती है।

यहाँ यह स्मरण दिला देना अनुचित न होगा कि मध्य देश के प्राचीन जनपद एक बृहत् आर्य कुटुम्ब की अनेक शाखा प्रशाखओं के समान थे। समस्त जनपदों की जनता तथा शासक आर्य थे। जनपदों आपस में शिक्षा वाणिज्य तथा विवाह आदि संबंध स्वतन्त्रता पूर्वक होता था। इसके प्रचुर उदाहरण संस्कृत तथा पाली साहित्य में सुरक्षित हैं।

जनपदों के स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व को ... करने का उद्योग जनपद काल में नहीं हुआ। ... प्रवृत्ति अनेक साम्राज्य युग में हम पाते हैं। जनपद काल के चक्रवर्ती या सम्राट् का तात्पर्य केवल इतना होता था कि पड़ोस के जनपदों के राजा उस विशेष राजा को अपना अग्रणी मान लेते थे। इसके लिए अश्वमेध यज्ञ की प्रणाली प्रचलित हो गई थी। इसे हम मध्यदेश के आर्य राजन्यवर्ग की महत्वाकांक्षा का प्रदर्शन मात्र कह सकते हैं। जनपद की जनता पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था।

मध्यदेश की इस जनपादिक संस्कृति का विकास आर्यजन के मध्यदेश तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि इसी काल में मध्यदेश से आर्य जन भारतवर्ष के उत्तर, पश्चिम, पूर्व और दक्षिण भागों में सब ओर फैल गये। इसी कारण आगे चल कर धीरे धीरे मध्यदेश के स्थान पर आर्यावर्त्त तथा अन्त में भारतवर्ष के सांस्कृतिक एकता की भावना प्रमुख हो गई। आर्यावर्त्त के उत्तर पश्चिम के जनपदों में मद्र, कैकेय, गान्धार और कम्बोज मुख्य थे। भारतवर्ष के बाहर पश्चिमोत्तर में ईरान मध्यदेश का उपनिवेश मालूम होता है। वहाँ की संस्कृति मध्यदेशीय संस्कृति के बहुत निकट है। ईरान के पश्चिम में प्राचीन एशिया-माइनर, ग्रीस और रोम साधारणतया समस्त यूरोप तक गंगा की घाटी की संस्कृति का प्रभाव, भाषा, धर्म, तथा समाज आदि पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। पूर्व में पुंड्र, सुह्म, वंग, कलिंग प्राग्ज्योतिष के प्रसिद्ध जनपद विकसित हुए। दक्षिण पश्चिम में सौराष्ट्र, विदर्भ अश्मक तथा अपरान्त तक मध्यदेशीय संस्कृति का विस्तार हो गया। धीरे धीरे धुर-दक्षिण में मध्यदेश की आर्य-संस्कृति का प्रवेश हुआ और आन्ध्र, चोल, चेरा तथा पांड्य तक इसका विस्तार हो गया।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त *

श्री भगवतशरण उपाध्याय

१

जिस समय मकदूनिया का विजेता भूलुण्ठित पंजाब के राजतंत्रों और गणतंत्रों की शक्ति को तोड़ता जा रहा था, एक वीरात्मा घटनाओं के चक्र को चुपचाप देख रहा था। उत्थान और विषाद की प्रत्यन्तरित लहर रह रह कर उसके शरीर-दण्ड को आन्दोलित कर देती। वितस्ता के तट पर ग्रीक सेना के विद्रोह और फलतः सिकन्दर की आशाओं की भंगता ने उस भारतीय युवक के हृदय में जिन भावनाओं का प्रजनन किया, निस्सन्देह वे सर्वथा अविरोधी न थीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विजेता के लौट जाने से वह तरुण पंजाब की राजनीति में दुर्धर्ष सिद्ध हो जाता, परन्तु इसी कारण मगध में धननन्द की शक्ति अछूती बच रहती। उसके लक्ष्य की अभिप्राप्ति—नन्दों का संहार—में विलम्ब हो जाता।

ग्रीक कायरता से उद्विग्न उस तरुण ने विजेता से मिलने का संकल्प किया। विजेता को उसने पूर्वाभिमुख बढ़ने के लिए ललकारा। उसने कहा, नन्द निम्नकुलीय है, प्रजा में अप्रिय है, उसका विध्वंस सुकर है, बढ़ चलो, मगध तुम्हारी मुट्ठी में है। परन्तु इस मंत्र का फल उलटा हुआ। हत लाचार विजेता का जैसे मर्म छू गया। ग्रीक-सेना के विद्रोह का कारण उसे ज्ञात था। अनेक बार उसने उसके त्रास का दमन करने का प्रयास किया था। उसने कहा था—"जलप्लावित नदों के स्रोत में मुझे डाल दो, विशाल गजों के अदम्य क्रोध के सम्मुख मुझे छोड़ दो, उन वीरकर्मा शत्रुओं के प्रहार का केन्द्र चाहे तुम मुझे बना दो जिनका भय तुम्हारी रग-रग में भर रहा है परन्तु मैं ढूँढ़ लूँगा उन सूरमा लड़ाकों को जो मेरा अनुगमन करेंगे।" समस्त सेना टस से मस न हुई थी। युवक के आमंत्रण में निश्चय मकदूनिया के सम्राट का मर्म बिध गया उसके मान को गहरी ठेस लगी। शीघ्र दोनों में कुछ गर्मागर्मी हुई, कुछ चोटें चलीं। तरुण ने घोड़े को एड़ लगाई और विजेता के ग्रहण के सारे प्रयत्नों को विफल करता वह उसकी आँखों से ओझल हो गया। ग्रीकवाहिनी हाथ मलती रह गई। तरुण शाक्य जाति के मोरिय कुल में उत्पन्न चन्द्रगुप्त मौर्य था।

बुद्ध का समानकुलजन्मा यह मनस्वी युवक साधारण दशा से उन्नति कर मगध की असंख्य सेना का सेनानी हो गया। उसका समुदय असामान्य था। उसकी उच्चाकांक्षाओं की संप्राप्ति और वीरकर्मों की अभिसृष्टि के लिए शाक्य जाति की सीमाएँ नितान्त संकुचित सिद्ध हुईं। सेनापति का पद निस्सन्देह ऊँचा था परन्तु उसकी अभिलाषाएँ कहीं अधिक ऊँची थीं और उनकी अभिसिद्धि के लिए वह पद निश्चय क्षुद्र था। उसके सेनापति होने से उसकी इत सक्रिय आत्मा क्रूरकर्मा निरंकुश धननन्द के इतने निकट पहुँच गई कि दोनों में संघर्ष अनिवार्य हो गया। इस संघर्ष का फल दोनों में से किसी एक का विध्वंस था। दोनों अदम्य थे, दोनों विशाल। उनकी पारस्परिक सन्निकटता एक दूसरे के लिए विपज्जनक थी।

पहली कशमकश चन्द्रगुप्त को महँगी पड़ी। उसे मगध छोड़ पंजाब का आश्रय लेना पड़ा। अनेक मास उसने छिप कर अज्ञातवास में काटे। प्रवास में उसने शक्ति अर्जित की और मगध के निरंकुश शासक के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया। उसका निर्वासन उसके लिए वरदान सिद्ध हुआ। उस काल एकाकी पर्यटन करता हुआ वह एक असाधारण मेधावी के संपर्क में आया। वह विचक्षण मेधावी ब्राह्मण विष्णुगुप्त

* लेखक के अप्रकाशित भारतीय इतिहास के आलोकस्तम्भ का एक अध्याय।

'चाणक्य', 'कौटिल्य', आदि अनेक नामों से विख्यात है। चाणक्य का नाम आज कूटनीति, प्रवंचना और षड्यन्त्र का पर्याय हो गया है। भारतीय अनुवृत्त इस प्राच्य 'मेकियावेली' की कूटकथाओं से भरा पड़ा है। चाणक्य स्वयं एक साधारण अनादर के कारण नन्द सम्राट से रुष्ट हो गया था और अब उसके विरुद्ध भयानक षड्यन्त्र रच रहा था। क्रूर प्रतिशोध की मूर्ति था वह चाणक्य, रुद्र का मूर्तिमान् अभिशाप। चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों की अभिसन्धि समान थी। उनका लक्ष्य एक था—नन्दवंश का संहार। इस समानता के अतिरिक्त दोनों एक दूसरे के प्रबल पूरक थे। चाणक्य की मेधा षड्यन्त्र-चिन्तन में समर्थ थी, चन्द्रगुप्त की भुजाएँ उसे कार्य रूप में परिणत करने में सशक्त थीं। अमानव प्रतिशोध और असाधारण महत्त्वाकांक्षा ने मन और क्रिया एकत्र कर दी। मेधा और शरीर एक हो गए।

जब दोनों अपने लक्ष्य को करतलगत करने के साधन जुटा रहे थे ठीक तभी पश्चिम में सिकन्दर की शक्ति की आँधी राष्ट्रों के मेरुदण्ड, एक के बाद एक तोड़ती चली आ रही थी। उस तूफ़ान के बादल मिस्र को बहा चुके थे और अब उनका घटाटोप दारयवहु के सुविस्तृत हख़ामनी (अकेमेनियन) साम्राज्य पर झुक पड़ा था। निर्भीक साहसी सिकन्दर यकायक दुर्बल विलासी दारयवहु पर अवेला में टूट पड़ा और उसके असीम साम्राज्य की रीढ़ उसने अपनी ठोकरों से तोड़ दी। चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने उस दुर्जेय विशाल साम्राज्य को काँप कर गिरते और अपनी ही समाधि में विलीन होते स्वयं देखा। तूफ़ान बढ़ा, उसकी आवाज़ पास सुन पड़ने लगी और शीघ्र वह हिन्दूकुश लाँघ गई। चाणक्य और चन्द्रगुप्त दम साधे देखते रहे। तूफ़ान अब पंजाब के आकाश पर था। कुछ काल तक भारतीय राष्ट्र उसके समक्ष हाथ-पैर मारते रहे परन्तु शीघ्र तूफ़ान ने अपने इस्पाती शिकंजे से उनका गला घोंट दिया। तूफ़ान का वेग कुछ कम हुआ। वह थमा और लौट गया। चाणक्य और चन्द्रगुप्त नन्द के साथ अन्तिम घर्षण के लिये प्रस्तुत हुए।

परन्तु इस घर्षण के निमित्त उन्हें एक आधार चाहिए था। उन्हों ने विचारा, मगध पर आक्रमण से पूर्व पंजाब की विजय आवश्यक है। पंजाब के राष्ट्र निस्सन्देह दुर्बल हो गए थे, परन्तु वे टूटे निर्जीव न थे। जैसे ही विजेता लौटा पंजाब में उथल-पुथल मची। पंजाब ने वास्तव में कभी ग्रीकाधिपत्य स्वीकार न किया था, और अवसर पाते ही उसने अपने कन्धों से जुआ उतार फेंका। उत्तर पश्चिमी सीमा का अग्रज शिविर उनकी क्रोध-ज्वाला में शलभ की भाँति राख हो गया। युद्ध-दुर्मद पंजाबी सेनाओं ने विदेशी ग्रीक टुकड़ियों को धूल चटा दी। जून ३२३ ई० पू० में बाबुल में सिकन्दर की मृत्यु की जो ख़बर आई उससे ग्रीकों की दशा और दयनीय हो गई। पंजाब की अनुकूल परिस्थिति ने राजनीतिक साहसिकों के सामने क्षेत्र अनावृत कर दिया। चन्द्रगुप्त सहसा अपना मार्ग ले निकल पड़ा और उस बवंडर पर आरूढ़ हुआ। उत्तर-पश्चिमी सीमा के दुर्दम्य अधिवासियों को अपने सामरिक संघ में सङ्गठित कर उसने विदेशियों को भारत से निकाल बाहर किया। सिन्धुनद के इस पार फिर एक बार भारतीय सत्ता स्थापित हुई। यह निष्कासन इतनी पूर्णता से सम्पादित हुआ कि पञ्जाब से ग्रीक अधिकार के चिह्न सर्वथा विनष्ट हो गए। चाणक्य और चन्द्रगुप्त की यह सफलता इतनी पूर्ण हुई कि सारे भारतीय साहित्य में कहीं सिकन्दर की इस विजय का सङ्केत तक अवशिष्ट न रह सका।

पश्चिमोत्तर सीमा को ग्रीकों के पञ्जे से छुड़ा चन्द्रगुप्त मगध की ओर मुड़ा। मगध को नन्द के ग्रहण से मुक्त करना कठिनतर कार्य था। परन्तु चन्द्र के सङ्कल्प उससे दृढ़तर थे और चाणक्य के कूट-प्रयत्न साध्य की सम्प्राप्ति में उससे कहीं समर्थ। चाणक्य की अद्भुत मेधा से प्रसूत प्रयत्नों को चन्द्रगुप्त ने अद्भुत योग्यता से कार्यान्वित किया। उनके प्रयत्नों में एक और परिस्थिति ने बड़ी सहायता की। प्रजा में नन्द का नीच-कुलीय होना विख्यात था। जनता में ख्यात प्रचलित थी कि उसके पिता महापद्मनन्द को उसके नापित पिता ने मगध की रानी से उत्पन्न किया था। फिर उस नापित जार ने दुश्चरित्रा राजमहिषी की सहायता से राजा को मार कर मगध का सिंहासन स्वायत्त कर लिया था। फिर उसके पुत्र ने क्षत्रिय कुलों का नाश कर 'सर्वक्षत्रान्तक' विरुद धारण किया था। ऐसे अनौरस पिता का वह धननन्द घृणित पुत्र था। इसके अतिरिक्त उसका शासन निरंकुश था; उसका लोभ अदम्य। उसकी निस्सीम निरंकुशता से प्रजा उसका रक्तपिपासु शत्रु हो गई थी और उसके असंवरणीय लोभ ने उसे नितान्त घृणास्पद बना दिया था।

चन्द्रगुप्त ने पञ्जाब में सेना सङ्गठित की। फिर 'पर्वतक'[1] की सहायता से चाणक्य द्वारा प्रदर्शित मार्ग से चल कर उसने नन्द पर आक्रमण किया। मगध उसके चरणों में लोट पड़ा। नन्दकुल के विध्वंस से चाणक्य की प्रतिज्ञा और चन्द्रगुप्त की महत्त्वाकांक्षा पूरी हुई। परन्तु इससे संघर्ष का अवसान न हो सका। नन्दवंश का नाश अवश्य हो गया, परन्तु विध्वस्त राजकुल का स्वामिभक्त विचक्षण मन्त्री राक्षस फिर भी प्रतिक्रांति सङ्गठित करता और उसे चलाता रहा। पाँचवीं शती में रचित राजनीति के अद्भुत नाटक 'मुद्राराक्षस' में विशाखदत्त ने इस असाधारण द्वन्द्व का सुविस्तर उद्घाटन किया है। उसमें राक्षस द्वारा वितन्वित चन्द्रगुप्त के विरुद्ध अनेक षड्यन्त्रों का सङ्केत मिलता है जिनका भण्डाफोड़ कर सहज ही चाणक्य चन्द्रगुप्त को निरापद कर देता था। राक्षस के षड्यन्त्रों से चन्द्रगुप्त का जीवन सन्दिग्ध हो गया था। उनके कारण उसका दिन में सोना अथवा एक ही शयनकक्ष में दो रातें बिताना असम्भव हो गया था। परन्तु चाणक्य छाया की भाँति उसके पीछे-पीछे डोलता था। उसके लिए कोई साधन अनुचित न था, कोई मार्ग कुमार्ग न था, कोई आचरण निन्द्य न था यदि उससे शत्रु के प्रयत्न खण्डित हो सकते। चाणक्य ने अपनी अनोखी सूझ से राक्षस का प्रत्येक प्रयत्न भाँप लिया और अपने नायक को उसकी आँच तक न लगने दी। अन्त में यह दुर्ग भी चाणक्य ने उखाड़ फेंका। नहीं कहा जा सकता कि उसने राक्षस का भी नाश कर दिया अथवा उसे चन्द्रगुप्त का मन्त्री बना दिया।

[1]—सम्भवतः पुरु। देखिये, 'मुद्राराक्षस'।

३२१ ई० पू० के लगभग चन्द्रगुप्त मगध के सिंहासन पर बैठा और चाणक्य उसका प्रधान मन्त्री बना। चन्द्रगुप्त का शासन चाणक्य के राजनैतिक दृष्टिकोण का वह विस्तार था जिसे उसने अपने 'अर्थशास्त्र' में प्रस्तुत किया।

२

दूरी और ख्यातों से अन्तरित चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व अत्यन्त रुचिकर और रोमांचक है। अत्यन्त सशक्त और उन्नत होता हुआ भी वह व्यक्तित्व एकाकी नहीं। वह वास्तव में एक अन्य शक्ततर व्यक्तित्व से अनुप्राणित है, उससे सर्वथा व्याप्त, ओत-प्रोत। यह दूसरा व्यक्तित्व चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य का है जिसके रूप की रेखाएँ अत्यन्त अस्पष्ट और अनालेख्य हैं। चाणक्य का प्रभाव चन्द्रगुप्त पर इतना गहरा है कि उसका व्यक्तित्व ही स्वयं उसके अध्ययन के अभाव में नहीं समझा जा सकता। इस कारण चन्द्रगुप्त के अध्ययन के पूर्व चाणक्य को समझ लेना अनिवार्य है।

परन्तु इस दूसरे के व्यक्तित्व का अध्ययन सामान्य नहीं। चाणक्य के आकार के ऊपर एक सूक्ष्म आवरण पड़ा हुआ है। काल ने उसके आकार को रहस्यपरक कर दिया है जिसके रङ्ग को साहित्य ने और भी गहरा कर दिया है। काल और साहित्य के सम्मिलित अध्यवसाय ने हमारे सामने जो तिरस्करिणी खड़ी की है उसको भेदना सहज नहीं। इतिहास की पश्चात्वर्ती सन्तति को चाणक्य की कोई रूप-रेखा उपलब्ध नहीं। फिर भी उसे उसका एक प्रकार का सम्भावित मायावी अङ्कन प्राप्त है। यद्यपि यह रेखा-चित्र, रक्त-मांस का प्रतिनिधि, केवल भावनाओं का होने के कारण अमूर्त है। उसकी वही अमूर्त-मूर्ति विशाल प्रेत की भाँति लम्बे डग भरती है और प्राचीन राजनीतिक वातावरण को अपनी अनुश्रुत्तिक विराटता से भरे हुए।

प्राचीन ख्यातों ने चाणक्य के रूप को रहस्यमय आकार प्रदान किया है तथापि उसके पञ्जर को जहाँ तहाँ प्रकाशित करने का हम प्रयत्न करेंगे। भारतीय रङ्गमञ्च पर उसका प्रादुर्भाव उस घोरकर्मा दयाहीन व्यक्ति के रूप में होता है जिसके समक्ष क्षमा और प्रायश्चित्त अग्राह्य हैं, जो अपराध और अपराधी दोनों

को जड़ से उखाड़ फेंकता है। नन्द का पूर्व-मन्त्री शकटार सहायक की खोज में निकलता है। नियति का षटाटोप जैसे उसकी सहायता के लिए स्वयं उपस्थित होता है। उसकी काया काली है, उसकी जिह्वा मूक, उसके नेत्र रक्तिम-पाण्डु। उसके हाथ में दधिपात्र है जिसकी दधि वह उन्मूलित कुश की मिट्टी में डालता जा रहा है। कुशों ने धृष्टता की थी, वे उसके पाँव में चुभ गए थे। उस उपत्यका में अब वे सिर न उठा सकेंगे। उनका शत्रु अब स्वयं अन्तक है। उसके नथने फूल रहे हैं, तेवर चढ़े हुए हैं। चमकते घुटे मस्तक पर शिखा शिला सी पड़ी है, कृष्ण कलेवर पर पीत यज्ञोपवीत उसकी श्यामता को गहरी कर रहा है, कोपीन और यज्ञोपवीत का पीलापन जैसे रक्तिम नेत्रों की पाण्डुता में अपनी छाया प्रतिबिम्बित कर रहा है। निस्सन्देह रूप विकट है, भीष्म, भयावह। शकटार का अन्तर त्रास से भर जाता है।

'अर्थशास्त्र' और 'मुद्राराक्षस', दोनों प्रकृति के इस निर्दय साकार आश्चर्य को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। साँचा सम्भवतः उस अमांसल व्यक्ति का है जिसकी मज्जाहीन हड्डियाँ अमिश्रित शक्ति और असीम दृढ़ता की परिचायक हैं। धर्म और सहृदयता दोनों से समानतः उदासीन, राजनीतिक षड्यन्त्रों से आवृत, दृप्त, मनस्वी, सक्षम आकार हमारे सामने है। निर्मम चिरसिद्धि उसका ध्येय है, कठोर अथक अध्यवसाय उसकी शैली, तर्कसंयुत मेधा उसका निर्दोष पथप्रदर्शक। वह शक्ति का उपासक है, अनियंत्रित साम्राज्यवादी। उसके औषधि-कोष में बस एक टानिक है—शक्ति, उसके वैद्यक में बस एक चिकित्सा है—रक्तस्राव।

अवसर पाकर वह चोट करता है। चोटों की आवाज़ सुन पड़ती है। दिशाएँ धूल से अन्धी हो जाती हैं। गिरती दीवारों की आवाज़ से वातावरण भर जाता है। प्रतिध्वनियों की प्रतिध्वनियाँ उठने लगती हैं। फिर वातावरण कुछ हल्का होता है और साम्राज्य के खंडहरों पर एक हाथ में हथौड़ा दूसरे में करनी लिए, विध्वंसक और शिल्पी दोनों के रूप में महामानव चाणक्य दिखाई पड़ता है। एक साम्राज्य उसने धूल में मिला दिया है। अब उसकी नींव पर वह भी बड़े साम्राज्य के पाए रखता है।

उसने आसमुद्र साम्राज्य स्थापित किया है। राज्यों के खंडहरों पर अविभाजित शासन विद्यमान एक शासन की निरंकुशता को उखाड़ कर दूसरी स्थानापन्न हुई। चाणक्य इस अविभक्त राजसत्ता विधाता था, चन्द्रगुप्त उसका भोक्ता। रूप में भय कर्म में क्रूर चाणक्य सामन्त-राज्यों का भी विध था। उसका ध्येय एकछत्र साम्राज्य स्थापित क था। राजनीतिक सत्ता में एकाधिकार ही उसे प्रिय फ़ारसी साम्राज्य इस विषय में उसका आदर्श उसने राजसत्ता के विरोधियों को उखाड़ फेंका। मान, कुटिल, भीमकर्मा चाणक्य ने उन्मूलित रा के पार्षदों के हृदयों को आतंक से भर दिया। कूटनीति और सशक्त दण्डनीति का सहारा ले असंतुष्ट सामन्तों को कुचल दिया। विनय उसको रि सकी न धमकी ही उसे डरा सकी। विध्वस्तकु राजपुत्रों को वह 'केकड़े' कहता था। उनको और उ संबंधी अभिजातों को उसने एक साथ पीस डा एकता और आज्ञाकारिता को उसने शासन के मंत्र बनाए।

नन्दवंश का नाश हो चुका था परन्तु उसके वेदकों का प्रयास अभी थका न था। गत घराने मंत्री राक्षस ने चाणक्य की चुनौती स्वीकार कर ली और दोनों में मरणान्तक संघर्ष छिड़ गया था। राजनीतिक मल्ल द्वन्द्व-युद्ध में भिड़ गए थे। एक विनाश के बाद ही उस संघर्ष का अन्त संभव दया की भीख किसी ने न माँगी और न किसी ने दी। विनाश के राजमार्ग पर दोनों मल्ल द्रुतगति बढ़ चले। कुटिल राक्षस चन्द्रगुप्त के विरुद्ध डालता, कौटिल्य उसे टूक टूक कर देता, उसके में प्रतिपाश फेंकता। विरोध से अविकृत, असफल अनुद्वेलित चाणक्य ने शत्रु पर अन्तिम चोट उसके हृदय में चिन्गारियाँ भीतर ही भीतर रही थीं। दबी आग यकायक भड़क उठी। शत्रु भी प्रतिक्रिया की भावना विशेष रूप से जगी।

शरीरपात हो चुका था परन्तु सिंह अपने मारे पते हुए शिकार के मांस से अभितृप्त न हुआ था। दर से कोई भावना रह रह कर जैसे उठती और उकी भूरी आँखें लाल रक्त सी हो जातीं। उसकी श संहारक हो उठती और सिंह गुर्रा उठता। सहसा का खूनी प्रहस्त उठा और सारा विरोध, सारा प्लव उसकी गरज में डूब गया। खेत कौटिल्य के य रहा। चन्द्रगुप्त सिंहासन पर बैठा, चाणक्य ने खा बाँधी।

भारतीय इतिहास के विपत्काल में राजनीतिक मंच अपनी सर्वतोमुखी विराटता से भरने वाले कठोर- मा इस मंत्री के कार्य सर्वथा असाधारण थे। विद्रोह के न्मूलन और राजसत्ता की प्रतिष्ठा के अर्थ उसने अपने धनों के औचित्य पर कभी आक्षेप न किया। प्रयत्नों की सार्थकता उनकी सफलता पर निर्भर थी। आचरण अनौचित्य प्रयास की असिद्धि तक ही सीमित था। न्द्रगुप्त में भी उसने अनियंत्रित प्रसर के प्रति वैश्वानर क्षुधा प्रदीप्त की और स्वयं भी वह उसी अर्थ अथक म करता रहा।

३

निर्वासन-काल में चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर की विजयों दो बातें सीखी थीं। पारसीक साम्राज्य के पतन ने माणित कर दिया था कि यदि साम्राज्य समुचित रूप संगठित न हो तो उसका विस्तार उसकी दुर्बलता का एक कारण हो जाता है। इसके विपरीत पंजाब की छोटी दुर्बल रियासतों ने विदेशी आक्रमण के समक्ष अपनी नितान्त अशक्तता घोषित की थी। उसने जाना पृथक्-पृथक् वे निर्बल होंगी, संयुक्त सबल। साम्राज्य, सुसंगठित और सुशासित उसके विचार में, एकमात्र उपाय था। एकछत्र शासन में एकाधिराट द्वारा संगठित देशव्यापी साम्राज्य चन्द्रगुप्त के जागरण का चिन्तन और सुषुप्ति का स्वप्न बन गया। संभवतः उस साम्राज्य की रूप रेखा और उसके संगठन की विस्तृत योजना चाणक्य द्वारा प्रस्तुत हुई। साम्राज्य का प्रसार और अधिकार का केन्द्रीकरण चन्द्रगुप्त के भावी जीवन के मूलमंत्र बन गए। उस लक्ष्य को हस्तगत करने का दृढ़ संकल्प कर चन्द्रगुप्त अविजित की विजय के हेतु बद्धपरिकर हुआ।

इस लक्ष्य के अर्थ एक अजेय सैन्य का होना आवश्यक था। नन्द की सेना जिसका स्वयं चन्द्रगुप्त ने कभी संचालन किया था काफ़ी बड़ी थी। उसमें ८०,००० घोड़े थे, ८,००० रथ, ६,००० हाथी और २००,००० पदाति। चन्द्रगुप्त को यह बहुसंख्यक सेना भी अपर्याप्त जान पड़ी और उसने गजों की संख्या बढ़ाकर ९,००० और पैदलों की ६००,००० कर दी। लगभग ७००,००० लड़ाकों की सेना इस विजयकार्य के लिए प्रस्तुत की गई। प्लूतार्च और जस्तिन लिखते हैं कि इस महान सेना की सहायता से चन्द्रगुप्त ने भारत का अधिकतर भाग जीत लिया।

ग्रीकों के निष्कासन और नन्दों के विध्वंस से पंजाब और मगध चन्द्रगुप्त के हाथ आ ही गए थे। अब सुदूर पश्चिम का सुराष्ट्र (काठियावाड़) भी जीत लिया गया। सुराष्ट्र की भौगोलिक स्थिति राजनीतिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण थी इस कारण वह साम्राज्य का एक प्रान्त बना दिया गया। उसका शासक पुष्यमित्र वैश्य हुआ। चन्द्रगुप्त ने संभवतः दक्षिण की विजय भी स्वयं की। तामिल साहित्य में तिन्नेवेल्ली तक के मौर्यों की दक्षिण विजय का उल्लेख मिलता है। जैनानुवृत्त की कथा विख्यात है कि मगध में जब भयानक अकाल पड़ा तब चन्द्रगुप्त जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण (श्रावण वेलगोला—महिषमंडल—मैसूर) चला गया। इस मत की पुष्टि कुछ मध्यकालीन अभिलेखों से भी होती है।

चन्द्रगुप्त की दक्षिण-विजय में एक प्रमाण और मिलता है। अशोक ने सुदूर दक्षिण को छोड़कर हिन्दू कुश से लेकर मैसूर के उत्तरी भाग तक के सारे भारत पर राज किया था। और यह प्रमाणित ऐतिहासिक सत्य है कि अशोक ने केवल कलिंग की विजय की थी, परन्तु उस युद्ध में इतना लहूलुहान हुआ था कि वह द्रवित होकर बौद्ध हो गया था। उत्तर-पश्चिम का भाग चन्द्रगुप्त ने ही जीता था यह भी इतिहास सिद्ध है।

फिर यह दक्षिण-विजय किसने की ? चन्द्रगुप्त का पुत्र बिन्दुसार 'अमित्रघात' होता हुआ भी निष्क्रिय ही था। कम से कम उसकी कोई विजय इतिहास को ज्ञात नहीं है। इससे जैन ख्यातों, प्लूतार्च और जस्तिन के लेखों और मध्यकालीन अभिलेखों के आधार पर यह स्वीकार कर लेना युक्तिसंगत है कि कलिंग को छोड़ सारे भारत की विजय चन्द्रगुप्त ने ही की। ऐसे सक्षम साम्राज्यवादी का इस ओर प्रयास स्वाभाविक ही था।

फिर भी चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस दिशा में सब से उज्ज्वल कीर्ति सीरिया तथा पश्चिमी और मध्य एशिया के सम्राट सिल्यूकस को हरा कर अर्जित की। सिल्यूकस सिकन्दर के सम्मानित सेनापतियों में से था और भारतीय लड़ाइयों में वह उसके साथ रह चुका था। सिकन्दर ने कोई उत्तराधिकारी न छोड़ा था इस कारण उसके मरते ही साम्राज्य के लिए उसके सेनापतियों में अन्तर्युद्ध छिड़ गया। एशिया में यह संघर्ष अन्तिगोनस और सिल्यूकस के बीच चला। कुछ काल तक एक पर दूसरा विजय पाता रहा परन्तु अन्त में ३१२ ई० पू० में सिल्यूकस ने अपने प्रतिद्वन्द्वी से छुट्टी पा ली। अब सुदूर हिन्दूकुश की उपत्यका उसकी आँखों पर चढ़ी और पंजाब के हरे भरे लहराते खेत उसे बरबस अपनी ओर खींचने लगे। उसकी बाख्त्री की प्राचीरें भारत से लगी हुई थीं। पूर्व में सिकन्दर का उत्तराधिकारी होने के नाते उसने उसके जीते हुए पूर्वी प्रांत स्वायत्त करने की सोची। उसने तत्काल एक बड़ी सेना लेकर भारत पर आक्रमण किया। परन्तु अब का भारत ३२६ ई० पू० का न था। दुर्बल छोटे राज्यों की शृङ्खला अब टूट चुकी थी और उसके स्थान पर अब सारे भारत का एक सुसंगठित साम्राज्य-शासन खड़ा था। उसके समर्थ प्रहरी चन्द्रगुप्त और चाणक्य थे। चन्द्रगुप्त की सशक्त भुजाएँ और चाणक्य की विचक्षण मेधा उसकी रक्षा में सतत जागरूक रहतीं। ग्रीक महत्त्वाकांक्षा का समुद्र भारतीय संकल्प की शिला-शृङ्खला से जा टकराया। समुद्रवेलाएँ उठीं; आकाश चूम कर चट्टानों से बार बार टकराईं, बार बार टूट कर उनके चरणों में बिखर गईं, मै… पानी-पानी। कहीं पश्चिम में, संभवतः हिन्दूकु… छाया में, सेनाएँ टकराईं और चन्द्रगुप्त ने शीघ्र … णित कर दिया कि ग्रीक युद्ध-शैली से तो वह अ… है ही, साथ ही सामरिक पटुता में भी वह सिल्यूक… कहीं दक्ष है। सिल्यूकस को हार कर चन्द्रगुप्त के… अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी। उसने भार… सम्राट को अपने साम्राज्य के चार प्रान्त—(१) ए… (हेरात), (२) एराकोसिया (कन्दहार), (३) पे… निसदे (काबुल की घाटी), और (४) गेद्रोसि… (बलूचिस्तान) दिए। चन्द्रगुप्त ने भी इस मित्र… के उपलक्ष में अपने शत्रु को ५०० गज भेंट… जिनकी सहायता से सिल्यूकस ने अन्तिगोनस को ३… ई० पू० में फ्रीगिया में परास्त कर मार डाला। सि… कस ने एक ग्रीक राजकुमारी चन्द्रगुप्त को विवा… प्रदान की और इसी सन्धि की शर्तों के अनु… मेगस्थनीज़ नाम का ग्रीक राजदूत भी मगध की रा… धानी पाटलिपुत्र में रहने लगा। इस प्रकार चन्द्र… ने एरियाना का एक बड़ा भाग जीत कर उत्तर-प… में एक 'वैज्ञानिक' भारतीय सीमा निर्धारित की जिस… बाहरी रेखा हिन्दूकुश की दीवार थी। भारत… साम्राज्य की सीमाओं का यह विस्तार अभूतपूर्व था।

४

दिग्विजय कर चुकने के बाद चन्द्रगुप्त ने अ… साम्राज्य को शासन से सुव्यवस्थित करने पर क… बाँधी। इस साम्राज्य-संगठन के कार्य में उसका म… चाणक्य परम सहायक सिद्ध हुआ। चाणक्य असाधार… मेधावी था और जिस प्रकार वह षड्यंत्रों के वितन… में विचक्षण था, साम्राज्यों के संहार में व्युत्पन्न… उसी प्रकार साम्राज्य-संगठन और सुशासन में भी… अप्रतिम था। उसका 'अर्थशास्त्र' राज्य-शासन-तंत्र… एक अद्वितीय ग्रंथ है। चन्द्रगुप्त का यह समुद्रा… साम्राज्य किस प्रकार शासित होता था यह मेगस्थनी… और कौटिल्य दोनों के प्रमाणों से स्पष्ट है। मौ… शासन-प्रणाली का हवाला दोनों के ग्रन्थ, क्रमशः 'इन्दि… और 'अर्थशास्त्र', में सविस्तर उपलब्ध है। दोनों…

सम्मिलित सामग्री तत्कालीन भारत की राजनीतिक दशा पर प्रचुर प्रकाश डालती है। परन्तु दोनों की विविध सामग्रियों पर पृथक् पृथक् विचार करना अधिक उपादेय और समीचीन होगा। इसका एक विशेष कारण है। 'इन्दिका' यद्यपि पूर्णतः उपलब्ध नहीं और यत्र-तंत्र इसकी सामग्री भी सन्दिग्ध है, फिर भी यह समकालीन है और इसकी समकालीनता महत्व की है। 'अर्थशास्त्र' यद्यपि प्रायः कौटिल्य की ही कृति है फिर भी शासन के विषय में अधिकतर सिद्धान्तपरक होने के कारण यह सर्वथा समकालीन नहीं माना जाता। 'अर्थशास्त्र' कौटिल्य-पूर्व के आचार्यों के मतों का भी निर्देश करता है जिससे एक आदर्श प्रणाली की प्रतिष्ठा होती है और आदर्श में सर्वथा तत्कालीनता नहीं प्रस्तुत होती, ग्रंथकार का व्यक्तित्व और विवेकाविवेक भी उसमें जहाँ तहाँ उतर आते हैं। फिर भी यह ग्रंथ चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था की पृष्ठभूमि के रूप में सरलता से स्वीकार किया जा सकता है। जहाँ मेगस्थनीज़ और कौटिल्य की सामग्रियों में साम्य है उन स्थलों को मौर्य-शासन-पद्धति का अंतरंग मानने में किसी प्रकार की अड़चन नहीं हो सकती।

चन्द्रगुप्त की राजसभा में सिल्यूकस का दौत्य स्वीकार करने से पूर्व मेगस्थनीज़ एराकोसिया (कन्दहार) का क्षत्रप (शासक) रह चुका था। भारत का समीपवर्ती शासक होने के कारण इस देश के संबंध में उसका ज्ञान होना कुछ स्वाभाविक था। यह ग्रीक राजदूत दीर्घ काल तक मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में निवास करता रहा। उसने वहाँ जो कुछ देखासुना अपने ग्रंथ 'इन्दिका' में अंकित किया। स्वयं यह ग्रंथ नष्ट हो गया है परन्तु उसके लंबे अवतरण अनेक ग्रीक और रोमन इतिहासकारों ने अपने ग्रंथों में सुरक्षित रखे हैं। अपने ग्रंथ में आप देखी बातों का मेगस्थनीज़ ने जो वर्णन किया है वह निस्सन्देह सर्वथा असंदिग्ध है। साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र; और उसकी म्यूनिसिपैलिटी का जो वर्णन उसने दिया है वह नगर-शासन के प्रतीकरूप में ग्राह्य होना चाहिये।

मेगस्थनीज़ लिखता है कि पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना और कुम्हार का गाँव) शोण और गंगा नदियों के संगम-कोण में बसा हुआ है। साढ़े नौ मील लंबा और पौने दो मील चौड़ा, भारत में यह सबसे बड़ा नगर है। निस्सन्देह इस नगर की रक्षा मनुष्य और प्रकृति दोनों के अध्यवसाय से संपन्न हुई थी। प्रकृति ने नदियों के कोण में उसे बसने के लिए स्थान दिया था, मनुष्य ने उसके चतुर्दिक काष्ठ की प्राचीरें खड़ी की थी। इन विशाल परकोटों में ५७० बुर्जियाँ थीं, ६४ ऊँचे द्वार थे। प्राचीर के चतुर्दिक एक ४५ फ़ीट गहरी और ६०० फ़ीट चौड़ी खाई थी जो सदा शोण के जल से भरी रहती थी।

इन समुन्नत प्राचीरों के पीछे मनुष्य ने प्रकृति को सजाया था, कला के प्रसाधनों से मण्डित किया था। सुविस्तृत हरितशस्य-श्यामल भूमि में अनेक मत्स्यपूरित सरोवर और दीर्घिकाएँ थीं, असंख्य विविध तरु थे, शीतल लतागृह थे। इन नैसर्गिक विभूतियों के मध्य मानव वास्तुकला का आश्चर्य चन्द्रगुप्त का राजप्रासाद खड़ा था जिसका निर्माण काष्ठ-सामग्री से हुआ था। प्रासाद के सुनहरे स्तंभों पर सुनहरी बेलें उत्कीर्ण थीं और इन द्राक्षा लताओं पर चाँदी के पक्षी बैठाए थे। चन्द्रगुप्त का यह प्रमदवन वास्तव में असाधारण था। चन्द्रगुप्त का ऐश्वर्य निस्सन्देह समकालीनों की दृष्टि में चकाचौंध उत्पन्न कर देता था। मेगस्थनीज़ लिखता है कि वह ऐश्वर्य न तो उसने कहीं अन्यत्र देखा, न सुना। उस प्रासाद के सामने शूषा और एक्बताना के फ़ारसी राजप्रासाद भी नगण्य हो गए।

मेगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र के देदीप्यमान राजसभागृह का भी वर्णन किया है। छः छः फीट ऊँची-चौड़ी सोने की सुराहियाँ और भाण्ड, रत्नखचित कुर्सियाँ और मेज़, रत्नजटित ताम्र-भाण्ड और कारचोबी के बहुमूल्य वसन सभा में जहाँ-तहाँ सुशोभित थे। इनसे राजकीय उत्सवों की छटा अद्भुत हो जाती थी। ग्रीक-दूत ने चन्द्रगुप्त के आचार-व्यवहार, क्रीड़ा-विहार का भी वर्णन किया है। सम्राट उज्ज्वल दीप्तिमान वस्त्र धारण करता था। उसके वसन महीन मलमल के बने थे, नील-लोहित और सुनहरे उनके रंग थे। प्रासाद के

भीतर वह शरीर रक्षिकाओं के संरक्षण में चलता था। मोतियों की झालरों से सजी सोने की पालकी पर आरूढ़ हो जब वह सार्वजनिक अवसरों पर राज्यमार्ग पर निकलता वह उन्हीं नारी-शस्त्रधारिणियों से घिरा होता। दूत का यह वर्णन सर्वथा सत्य है। संस्कृत नाटकों में राजा की शस्त्रवाहिनियाँ यवनियाँ दर्शाई गई हैं। कौटिल्य ने भी लिखा है कि प्रातःकाल यवनियों से घिरे हुए शयनकक्ष छोड़ना राजा के लिए शुभ है। चन्द्रगुप्त समीप की यात्राएँ घोड़े पर और दूर की सुनहरे हौदे और मोतियों की झालरों से सुसज्जित गजों पर करता था। विजय और आखेट के लिए वह दूर दूर की यात्राएँ करता था. न्याय, यज्ञानुष्ठान और अन्य सार्वजनिक कार्य वह नगर के भीतर ही सम्पादित करता था। कम से कम दिन में एक बार राजा प्रजा को अपना दर्शन देता था। सभा में बहुधा चार अनुचर आबनूस के रोलर से उसके शरीर की मालिश करते रहते थे। चन्द्रगुप्त का यह कार्य निस्सन्देह राजकीय प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचाता सा जान पड़ता है। परन्तु संभवतः तत्कालीन दरबारों में यह प्रथा सामान्य थी। सामन्त और दरबारी सम्राट की जन्मतिथि पर केशसेचन के अवसर पर रत्नों के उपहार देते। दरबार में जन्मतिथि के उपलक्ष में केश धोने की यह प्रथा हखमनी राजाओं के प्रासाद में सामान्य थी और चन्द्रगुप्त संभवतः इस विषय में दारयवहु की प्रथा से प्रभावित हुआ था।

चन्द्रगुप्त के विहार भी विविध थे। आखेट, द्वन्द्व-युद्ध, पशु-युद्ध, और रथ-धावन उनमें मुख्य थे। खुले मैदान में राजा हाथी पर चढ़ कर आखेट करता। आखेट का एक और तरीका था। वन्य पशु को घेर कर एक बनाई हुई ऊँची भूमि पर चढ़ा ले जाते थे जहाँ राजा उसे बाणों से मार डालता था। आखेट का राजमार्ग रस्सियों से घिरा होता था। इन रस्सियों को लाँघने वाला व्यक्ति प्राणदण्ड पाता था। द्वन्द्व-युद्ध से भी राजा अपना मनोरंजन करता था। यह युद्ध मनुष्य-मनुष्य में होता था और मरणात्मक था। विहार-भूमि में पशुओं के युद्ध भी प्रायः होते थे। वहाँ साँड़ों, मेढ़ों, गजों और गैंडों के जोड़े एक-दूसरे के विरुद्ध छोड़ दिए जाते और उनका मरणान्तक युद्ध राजा, उसके पार्षदों और प्रजा का मनोरंजन करता था। बैलों और रथों का धावन भी साधारण था। बैलों की दौड़ विशेष रुचिकर होती थी और उस पर लोग बाज़ियाँ लगाते थे। कभी कभी घोड़ों और बैलों की मिश्रित दौड़ भी होती थी।

मेगस्थनीज़ ने नगर-शासन और सैन्य-व्यवस्था का भी वर्णन किया है। नगर का शासन तीस सदस्यों के एक परिषद् के हाथ में था। यह परिषद् पाँच पाँच सदस्यों की छः समितियों में विभक्त थी। इनमें से पहली कलावन्तों और मिस्त्रियों की रक्षा और उनकी मजूरी नियत करती थी। मिस्त्री को पंगु करने वाला प्राणदण्ड का भागी होता था। व्यौपारिक वस्तुओं की सामग्री की देखभाल भी यही समिति करती थी। दूसरी समिति वैदेशिक विभाग का निरीक्षण करती थी। विदेशियों की देख रेख, उनकी दवादारू, उनका मृत्यु-संस्कार आदि इस समिति के कर्तव्य थे। तीसरी समिति जन्म-मरण के आँकड़े प्रस्तुत करती थी। चौथी व्यापार, बटखरों आदि का प्रबन्ध करती थी। पाँचवीं समिति का कार्य विक्रय की वस्तुओं का निरीक्षण करना था और छठीं समिति उन पर कर लगाती थी। मेगस्थनीज़ के इस वर्णन से नगर-शासन की व्यवस्था प्रगट होती है। यद्यपि यह वर्णन केवल पाटलीपुत्र के संबंध में आया है तथापि तक्षशिला, उज्जयिनी आदि अन्य नगरों के संबंध में भी सार्थक है।

चन्द्रगुप्त की सेना में लगभग ७००,००० सैनिक थे जो वैतनिक थे। उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक स्वतंत्र विभाग था। इस सैन्य-व्यवस्था की शक्ति इसकी सफलताओं से प्रमाणित है। ग्रीक-सेनाओं का भारत से निष्कासन, नंन्द-वंश का ध्वंस, दिग्विजय, सिल्यूकस की पराजय, आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य चन्द्रगुप्त की सेना ने सम्पादित किए थे। नगर की ही भाँति सेना के प्रबन्ध के लिए भी पाँच पाँच सदस्यों की छः समितियाँ थीं जिनके प्रबन्ध-विषय क्रमशः नौ-सेना, कमसरियट, पदाति, अश्व, रथ और गज सेनाएँ थीं। कौटिल्य ने इनको विभागशः बाँटकर प्रत्येक को

अपने अपने अध्यक्ष के अधिकार में रखा है। उसके उल्लेखानुसार सेना का अध्यक्ष सेनापति था जो संभवतः युद्ध-सचिव की हैसियत से सम्राट की मंत्रि-परिषद् का सदस्य भी था। सेनापति युद्ध-काल में सैन्य-संचालन करता था परन्तु उसके रहते भी राजा मुख्य युद्धों में स्वयं भाग लेता था और तब सेनापतित्व का उत्तरदायित्व उस पर होता था।

प्रान्तीय शासन भी इसी प्रकार सुव्यवस्थित था। साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक का शासन एक एक 'राष्ट्रीय' के ज़िम्मे था। शक क्षत्रप रुद्रदामन् ने अपने जूनागढ़ के अभिलेख में चन्द्रगुप्त के सुराष्ट्र-शासक पुष्यगुप्त वैश्य का उल्लेख किया है। सारे साम्राज्य के तीन चार शासनकेन्द्र थे जहाँ राजकुल के व्यक्ति शासन करते थे। स्वयं अशोक उज्जयिनी और तक्षशिला का शासक रह चुका था। अशोक के समय में इन प्रान्तीय शासकों की भी एक मंत्रिपरिषद् होती थी जो प्रमाणतः चन्द्रगुप्तकालीन व्यवस्था के ही अनुकूल थी। ये प्रान्त कहीं विद्रोह का झंडा न उठा लें और राजकर्मचारी रिश्वत, प्रमाद आदि के वशीभूत न हो जाँय इसलिये चंद्रगुप्त के शासन में एक चर विभाग भी था जिसका हवाला मेगस्थनीज़ और कौटिल्य दोनों ने दिया है। कौटिल्य लिखता है कि जिस प्रकार जल के भीतर चलने वाली मछली कितना जल पीती है यह जानना असंभव है उसी प्रकार राजकर एकत्र करने वाले व्यक्ति की ईमानदारी का पता लगाना असंभव है। इस कारण चर विभाग का होना अनिवार्य है।

मेगस्थनीज़ और कौटिल्य दोनों मौर्य-शासन की नीति की कटुता का उल्लेख करते हैं। अनेक छोटे-बड़े अपराधों के लिए प्राणदण्ड नियत था। बेची वस्तुओं पर कर न चुकाना, मिस्त्री को पंगु करना, आखेट-मार्ग की रस्सी लाँघना सब प्राणदण्ड के अपराध थे। कौटिल्य राजकर्मचारी द्वारा साधारण चोरी या किसी व्यक्ति के स्वर्णकार के दूकान में प्रवेश मात्र के लिए भी प्राणदण्ड नियत करता है। प्राणदण्ड के अतिरिक्त मौर्य विधान में अंगछेदन, जुर्माने आदि साधारण दण्ड थे। अपराध स्वीकरण के लिए संदिग्ध अपराधियों को विविध यातनाएँ देना भी इस विधान का एक अंग था। इसमें सन्देह नहीं कि इन कठोर दण्डों का प्रभाव देश पर यथेष्ट पड़ा। यह कुछ कम महत्व की बात नहीं है कि चार लाख की जनसंख्या वाले पाटलिपुत्र के से विशाल नगर में एक दिन की चोरी का औसत सौ रुपये से अधिक नहीं पड़ता हो। अपराधों की न्यून संख्या का कारण प्रजा की ईमान्दारी और दण्डनीति की कठोरता थी।

राज्य की आय विशेषतया भूमिकर थी जो प्रान्त-प्रान्त में विभिन्न औसत से ली जाती थी। साधारणतया वह उपज का छठीं भाग थी जो अन्न अथवा सिक्कों में दी जाती थी। इसके अतिरिक्त आय के अन्य साधन भी थे जैसे वन, आकर (खान), व्यापारिक वस्तुओं पर कर, घाटों की आय, जुरमाने आदि। कर का मुख्य साधन भूमि होने के कारण राज्य की ओर से एक विशिष्ट सिंचाई का भी विभाग था। इसके अनेक कर्मचारी थे जो नहरों की देख भाल करते थे। चंद्रगुप्त के सुराष्ट्र शासक पुष्यगुप्त वैश्य ने वहाँ पहाड़ी नदियों का जल रोककर जिस जलाशय का निर्माण कराया था वह इसी कार्य के लिए था और वह गुप्तकाल तक आस पास की भूमि सींचता रहा था। शराब भी आय का साधन थी। देहात और नगर में शराब की दूकानें थीं जिनसे कर लिया जाता था।

यह आय राज्य के विविध विभागों पर व्यय होती थी। राजा और उसके दरबार का खर्च, साम्राज्य की सेक्रेटेरियट, कर्मचारियों और सेना के वेतन, धार्मिक दान, सिंचाई की नहरें, आदि इस आय में अपना भाग पाते थे। सड़कों की सम्हाल रक्षा, और व्यापार दोनों के लिए आवश्यक थी। मगध से सीमा प्रान्त तक दौड़ने वाली लम्बी-चौड़ी सड़कों पर दूरी के अन्दाज के लिए प्रत्येक आध कोस पर स्तम्भ गड़े रहते थे।

कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' मौर्य-शासन-पद्धति की अद्भुत पृष्ठभूमि है और 'यह सिकन्दर महान के समय

की गङ्गावर्ती भूमि की राजनीतिक परिस्थिति' उपस्थित करता है। मेगस्थनिज के वर्णन का वह समुचित पूरक है। ग्रीक राजदूत के नगर और सैन्य शासन की भाँति ही साम्राज्य के विस्तृत शासन के सम्बन्ध में इसकी सामग्री भी प्रामाणिक है।

राजा शक्ति और सत्ता का केन्द्र था। न्याय, सेना, विधानादि सम्बन्धी सारी शक्ति उसी में केन्द्रित थी। युद्ध में वह सेना का सञ्चालन करता, शान्ति में न्याय वितरित करता। मन्त्रियों और उच्चपदस्थ राज-कर्मचारियों की नियुक्ति और 'शासनों' की घोषणा वही करता था। कौटिल्य कट्टर साम्राज्यवादी है। गौतम, आपस्तम्ब, और बोधायन केसे सूत्रकारों की भाँति वह भी उसको व्यवहार (कानून) का उद्गम मानता है। इस प्रकार का मन्त्री, जिसकी नियुक्ति और अधिकार-काल राजा के प्रसाद के विषय थे, कदाचित ही उसकी स्वेच्छाचारिता पर अंकुश का काम कर सकता था। चाणक्य का चन्द्रगुप्त के शासन में हस्तक्षेप, जैसा हम 'मुद्राराक्षस' में चित्रित पाते हैं, निस्सन्देह इस नियम का अद्भुत अपवाद है।

सम्राट के शासन-कार्य में एक मंत्रि-परिषद् उसकी सहायता करती थी। शासन का प्रमुख वर्ग मंत्रियों का ही था जिनकी 'सचिव', 'अमात्य', 'मंत्री', और 'महामात्र' विविध संज्ञाएँ थी। कौटिल्य ने अठारह 'तीर्थों' का उल्लेख किया है जिनमें अनेक मंत्री थे और जो अपने अपने विभाग के अध्यक्ष थे। इनके नाम इस प्रकार दिए हुए हैं—(१) मंत्री, (२) पुरोहित, (३) सेनापति, (४) युवराज, (५) दौवारिक, (६) अन्तर्वेशिक, (७) प्रशास्त्र, (८) समाहर्ता, (९) सन्निधाता, (१०) प्रदेष्ट्र, (११) नायक, (१२) पौर, (१३) व्यवहारिक, (१४) कर्मान्तिक (१५) मंत्रिपरिषदाध्यक्ष, (१६) दण्डपाल, (१७) दुर्गपाल, और (१८) अन्तपाल। इनके अतिरिक्त कौटिल्य ने विविध शासन-विभागों की शाखाओं के अनेक 'अध्यक्षों' और अधिकारियों का परिगड़न किया है।

कौटिल्य के अनुसार शासन का निम्नतम आधार 'ग्राम' था। 'ग्रामिक' उसका शासक था। पाँच या दस 'ग्रामिकों' के ऊपर एक 'गोप' होता था। इन सब के ऊपर 'स्थानिक' नामक कर्मचारी होता था जिसका क्षेत्र जनपद का चतुर्थांश था और जो स्थानीय शा… का प्रमुख पदाधिकारी था।

मेगस्थनीज़ और कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत यह शास… चित्र मौर्यकालीन भारतीय जगत का है। अपने वैतनि… नौकरशाही-शासन, समर्थ चर-विभाग और कठो… दण्डनीति के साथ यह मौर्य राजनीतिक व्यवस्था निश्च… निरंकुश और स्वेच्छाचारी थी। अतिशासन का भी… अभूतपूर्व प्रतीक थी, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं… शासन सुव्यवस्थित था और अपराधों की संख्या स्व… थी। इसमें भी सन्देह नहीं कि जहाँ तक शासन… निरंकुशता का प्रश्न है, चन्द्रगुप्त उससे मुक्त नहीं… सकता। जिस प्रजा को उसने विदेशी अधीनता और स्वदेशी अत्याचार से मुक्त किया था उसको उसने अपनी निरंकुशता तथा अतिशासन से पीस डाला। इसी कारण वह त्राता के श्रेय का अधिकारी भी न रहा। परन्तु निस्सन्देह क्रियाशील मानवों की उँचाई में चन्द्रगुप्त महान था।

५

चन्द्रगुप्त चौबीस वर्ष तक श्रमबहुल शासन के बाद २९७ ई० के लगभग मरा। जैन ख्यातों के अनुसार वह अन्त्य काल में महावीर का अनुयायी हो गया था। उनका कथन है कि मगध में जब भीषण अकाल पड़ा तब चन्द्रगुप्त अपने पुत्र बिन्दुसार को अपना सिंहासन देकर जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ मैसूर चला गया। वहाँ श्रावण-बेलगोला में, जहाँ की किंवदन्तियों में उसने गहरे पदांक छोड़े हैं, उसने जैन भिक्षु की भाँति कुछ काल तक निवास किया अन्त में जैन रीति से प्रायोपवेश विधि से अनशन करके अपने प्राण छोड़े। 'रासमाला' में कुछ ऐसा संकेत मिलता है जिससे प्रमाणित है कि राजा अब राजधानी को लौट नहीं सकता, उसकी गणना अब मृतकों में है, उसकी ख्याति धर्म के अर्हतों सी हो चली है। इस पर कहाँ तक विश्वास किया जाय यह कहना कठिन है। परन्तु इसका केन्द्रीय विषय—चन्द्रगुप्त का दक्षिण-गमन—कुछ मध्यकालीन अभिलेखों से भी प्रमाणित है… उसका संपर्क महिषमण्डल से स्थापित कर देते हैं। …बीस वर्षों का अल्पकालिक शासन और अल्पायु में मृत्यु, …स्वय चन्द्रगुप्त के सिंहासन-त्याग की पुष्टि करते हैं। भीषण …हारों महत्वपूर्ण विजयों और चिरस्मरणीय कृत्यों से भरे …जनका जीवन व्यतीत करनेवाले चन्द्रगुप्त के लिए कुछ आश्चर्य नहीं कि उसने अपने अन्त्य काल में शान्तिप्रद …न-सिद्धान्तों का आश्रय किया हो और महावीर के कैवल्य' में शान्ति पाई हो। इस प्रकार के परिवर्तन इतिहास को अज्ञात नहीं। उसीके पौत्र अशोक ने कलिंग के भीषण युद्ध के उपरान्त बुद्ध की शरण ली थी, यह जगत् प्रसिद्ध है। कुछ आश्चर्य नहीं कि चन्द्रगुप्त, जिसके जीवन का प्रत्येक तार रक्त से रंगा था, आयु की सन्ध्या में सहसा हिंसा के राग से विरक्त हो गया हो और निर्ग्रन्थ के निवृत्ति-मार्ग पर चल पड़ा हो।

× × × ×

चन्द्रगुप्त का जीवन अनवरुद्ध झंझावात है। मौर्यों में प्रथम इस नायक का चरित भारतीय इतिहास में अपना असामान्य स्थान रखता है। भारतीय आकाश में इस नक्षत्र की आभा अम्लान रहेगी। सामान्य कुल से उठकर विरला ही सैनिक चन्द्रगुप्त की ऊँचाई तक पहुँच सका है। मखमली म्यान में कितनी ही क्वाँरी तलवारें रक्तपिपासु जान पड़ती हैं, परन्तु इस साधारण कुलीन क्षत्रिय की तलवार ने निस्सन्देह आकाश के वक्ष पर अपने यश के गहरे अक्षर खोदे। शाक्य गणतंत्र के स्वतंत्र वातावरण में जन्म लेकर विपत्ति के प्रांगण को उसने अपनी साधना का क्षेत्र बनाया और शासन की व्यवस्था में उसने उन सिद्धान्तों को प्रश्रय दिया जो अपने राजनीतिक वातावरण से अत्यन्त पूर्वकालिक थे।

चन्द्रगुप्त ने साधारण सैनिक की दशा से उठकर एक विशाल साम्राज्य की नींव डाली, दिशाओं की छोर तक उसे खड़ा किया उसके विस्तार को उसके पौत्र अशोक ने और फैलाया। संगठन और व्यवस्था ने उसकी विजयों का सपद अनुसरण किया। शक्तिपूर्ण निरंकुश सत्ता ने विद्रोह का गला घोट डाला। निर्वासन की दशा में उसने कठिन जीवन का अभ्यास किया था। उस अभ्यास को उसने अपने सुदिन में न भुलाया। जब सुविस्तृत साम्राज्य के साधन उसके करतल गत हो गए तब भी विलास में उसने विवेक न डुबोया। उसके ऐश्वर्य की प्रदीप्ति से जगत् के नेत्र चौंधिया गए परन्तु उसकी आँखें सर्वदा उसके खड्ग की मूठ पर लगी रहीं। विलास और ऐश्वर्य उसके पुरुषत्व को अशक्त न कर सके। ग्रीकों की वाहिनी ने जब हिन्दू कुश लाँघा तब उनके भालों की चोट उसने अपनी ढाल पर ली। सिल्यूकस वज्र की भाँति टूटा था, बिजली की तेज़ी से लौट पड़ा। चाणक्य का वरदहस्त चन्द्रगुप्त के मस्तक पर था। परन्तु जब कैवल्य की विरक्ति जगी तब न तो ग्रीकमहिषी का लावण्य उसे लौटा सका, न ऐश्वर्य का विलास ही। उस निवृत्ति की शान्ति को तब अजेय चाणक्य भी भंग न कर सका।

मेरी जन्मभूमि और साहित्य

(एक पत्र)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रिय 'विनोद' जी !

जिस गांव में बैठ कर साहित्य चर्चा करने के लिए बैठा हूँ उसका नाम ओझवलिया है। यह मेरी जन्मभूमि है। इस गाँव के एक हिस्से को 'आरतदुबे का छपरा' कहते हैं यही वस्तुतः मेरी जन्मभूमि है परन्तु वह हमेशा से इस गाँव का हिस्सा ही रहा है। 'आरतदुबे' मेरे ही पूर्व पुरुष थे। उन्होंने ही इस छोटे हिस्से को बसाया था। पर बसाने के लिए थोड़ी सी भूमि ओझवलिया गाँव के मालिक ओझा लोगों ने उन्हें माफी में दी थी। अब दोनों ही हिस्से एक हो गए हैं। इस तरफ गाँवों के नाम के साथ दो शब्द बहुत जुड़े दिखते हैं— 'अवली' और 'छपरा'। 'छपरों' की परंपरा पूरब में छपरा शहर तक जाकर समाप्त हो जाती है और 'अवली' ग्रामों की परंपरा पश्चिम में 'बलिया' तक आती है। मेरा गाँव संयोग से छपरा और अवली का योग है। मुझे इन दोनों शब्दों में इस भूभाग का चिरन्तन इतिहास स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है। वस्तुतः बलिया और छपरा नाम के नगरों के मध्यवर्ती भूभाग को गंगा और सरयू जैसी दो महानदियों का कोप बराबर सहते रहना पड़ा है। अधिकांश गाँव सचमुच ही छप्परों के बने हैं, क्योंकि हर साल गंगा की बाढ़ में उनके बहजाने की आशंका रहती है। इस बाढ़ के कारण ही कई कई गाँव प्रायः एक जगह झुंड बाँधकर बसने को बाध्य होते हैं। इन ग्रामों की 'अवली' को कोई भी पर्यवेक्षक आसानी से लक्ष्य कर सकता है। तो, इस भूभाग का इतिहास ही निरन्तर बनते और मिटते रहने का है। इसीलिये यहाँ के निवासियों में एक प्रकार 'कुछ-परवा-नहीं'—भाव विकसित हो गया है। एक अजीब प्रकार की मस्ती और निर्भीकता इन लोगों के चेहरे पर दिखती है। विपत्ति के थपेड़ों से चेहरे सहज ही नहीं मुरझाते। कठिनाइयों में से रास्ता नि लेना इनका स्वभाव हो गया है। इतिहास की विरासत इन्हें मिली भी है। नहीं तो गंगाजी के दो किनारों के कई मील की दूरी में न तो यहाँ कोई तत्त्व का अवशेष बच पाया है न साहित्य का इति लिखने वालों को प्रलुब्ध करने लायक कोई महत्त्व सामग्री। जब मैं अपनी विद्यार्थी-अवस्था में हिंदी संस्कृत का इतिहास पढ़ता था तो मैं आश्चर्य और क्षो से देखता था कि हमारे इस भूभाग की कोई च उसमें नहीं है। लेकिन मज़ेदार बात यह है कि भूमि ने संस्कृत के इतने विद्वान् पैदा किए हैं कि गाँव 'लहुरी काशी' (छोटी काशी) होने का दावा क हैं और ठीक करते हैं। मेरे गाँव से थोड़ी ही दूर छाता नाम का एक गाँव है जिसे यहाँ 'लहुरी काशी' कहते हैं। बहुत दिनों से मेरे मन में यह क्षोभ संचि था। मैं सोचता था कि क्या साहित्य में इस विद्व भूमि की कोई देन नहीं है? अचानक आज साहि चर्चा करने का अवसर पाकर मेरे चित्त में वही क्षो सावन के मेघ की भाँति उमड़ पड़ा है। क्या यह स का उपेक्षित भूभाग है? बुद्ध देव जहाँ जहाँ गए थे उ स्थानों का यदि मानचित्र बनाया जाय तो निस्सन्दे उनका पदार्पण इधर हुआ होगा, पर प्रमाण कहाँ है स्कन्दगुप्त की विराट वाहिनी भीतरी गांव होते हुए ग थी, निस्सन्देह उन्होंने इस भूमि पर कोई न को महत्त्वपूर्ण घोषणा की होगी, पर सबूत कहाँ है? कुमार जीव के पिता निस्सन्देह इसी भूभाग के नर रत्न थे, में कैसे बताऊँ कि वे किस गाँव के रहने वाले थे। गंग और सरयू के जल सन्निपात से धौत भूमि की शोभ देखने के लिए जब कालीदास निकले होंगे तो इ

इधर चले गए होंगे? निस्सन्देह इन गांवों में कहीं न कहीं ठहरे होंगे। बहुत संभव है कि रघुवंश के महत्त्वपूर्ण सर्गों का कोई हिस्सा इधर ही लिखा गया हो परन्तु मेरी बात का विश्वास कौन करेगा? मैं साहित्य की चर्चा करने का अवसर पाकर असल में उतना प्रसन्न नहीं हूँ जितना होना चाहिए। भारतवर्ष के धारावाहिक साहित्य में हमारे इस भूभाग का क्या महत्त्व होगा भला!

अच्छा समझिए या बुरा, मेरे अंदर एक गुण है जिसे आप बालू में से तेल निकालना समझ सकते हैं। मैं बालू में से भी तेल निकालने का सचमुच ही प्रयत्न करता हूँ बशर्ते कि वह बालू मुझे अच्छा लग जाय। और यह बात अगर छिपाऊँ भी तो कैसे छिप सकेगी कि मैं अपनी जन्मभूमि को प्यार करता हूँ—"नेह कि गोइ रहै सखि लाज सों? कैसे बंधै जलजाल के बाँधे?" मेरा विचार यह है कि साहित्य का इतिहास कुछ बड़े बड़े व्यक्तियों के उद्भव और विलय के लेखे जोखे का नाम नहीं है। वह जीवन्त मनुष्य के धारावाहिक जीवन के सारभूत रस का प्रवाह है। मेरे गांव में जो जातियाँ बसी हैं वह किसी उजड़े महल या गड़ी हुई ईंटों से कम महत्त्वपूर्ण तो हैं ही नहीं अधिक महत्त्व पूर्ण हैं। मेरे इस छोटे से गांव में भारतवर्ष का बहुत बड़ा सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा जा सकता है। ब्राह्मणों की बात तो बहुत कुछ लोग जानते भी हैं, (यद्यपि कम लोग ही यह जानते हैं कि वे कितना कम जानते हैं!) मेरे गांव में भड़भूजे का पेशा करने वाले 'कान्दू' जाति है जो संस्कृत 'कान्दविक' शब्द से संबद्ध है। गुप्त सम्राटों ने इन्हें वैश्य की मर्यादा दी थी, ऐसा मैंने किसी प्राचीन लेख में पढ़ा है। आपको एक विनोद की बात बताऊँ। एक बड़े अच्छे बंगाली पंडित ने कलाओं के संबन्ध में एक पुस्तक लिखी है। उक्त पुस्तक में दस बारह पन्नों में 'कंदु-पक्व' अन्न की कला की विवेचना है। धर्मशास्त्रों के अनुसार कंदु-पक्व अन्न स्पर्श दोष से दूषित नहीं होता। उक्त बंगाली पंडित ने अनेक कोशों और स्मृतियों के वचन उद्धृत करके यह साबित करना चाहा है कि 'कंदु-पक्व' अन्न पावरोटी जैसी कोई चीज़ होती थी! अगर वे हमारे गांव में आ गए होते तो उन्हें इतने परिश्रम के बाद इतनी ग़लत-सी चीज़ सिद्ध करने की कोई ज़रूरत ही नहीं होती। 'कंदु' इन्हीं कान्दुओं की भाड़ का नाम है! कौन नहीं जानता कि भड़भूजे की भुनी हुई सामग्री स्पर्श दोष से रहित होती है! जिन पंडित जी की बात लिख रहा हूँ उनकी विद्वत्ता और बहुश्रुतता का मैं कायल हूँ और इसीलिये मुझे थोड़ा थोड़ा गर्व होता है कि मेरा गांव इतने बड़े पंडित के ज्ञान में थोड़ा सा अंश और जोड़ सकता था! फिर हमारे गांव में कलवार या प्राचीन 'कल्यपाल' लोगों की बस्ती है जो एकदम भूल गए हैं कि उनके पूर्वज कभी राजपूत सैनिक थे और सेना के पिछले हिस्से में रह कर 'कल्यवर्त' या 'कलेऊ' की रक्षा करते थे। न जाने किस ज़माने में इन लोगों ने तराजू पकड़ी थी और अब पूरे 'बनिया' हो गए हैं। ये क्या पुरातत्व विभाग के किसी ईंट पत्थर से कम मूल्यवान् हैं? मेरे गांव में और भी बनिया जाति के लोग हैं। उनकी परंपरा सुनता हूँ तो मुझे रसेल साहब की वह बात याद आए बिना नहीं रहती कि मध्यप्रान्त में एक भी बनिया जाति उन्हें ऐसी नहीं मिली जिसकी प्राचीन परंपरा किसी न किसी राजपूत कुल से संबद्ध नहीं हो। मेरे गांव की परंपरा भी उनका समर्थन करती है। एक जाति यहाँ बसती है—तुरहा। जातियों की तालिका में इनका नाम तो मिल जाता है पर किसी नृतत्त्व शास्त्रीय विवेचना में मैंने इनकी चर्चा नहीं पढ़ी। मेरा अनुमान है कि यह जाति आर्यों और गोंड़ों के मिश्रण की एक कड़ी है। नृतत्त्वशास्त्र के अध्येता इनको अपनी अधीति का उपयोगी विषय बना सकते हैं। अपने गांव के धोबियों के नृत्यगीत में मुझे कोई बड़ी भूली हुई परंपरा का स्मरण हो आता है। मेरे गांव की सब से मनोरंजक जाति जुलाहों की है। इनके पुरोहित भी मेरे गांव में हैं। मैंने 'कबीर' नामक अपनी पुस्तक में जुलाहों के साथ नाथ परंपरा के योग का उल्लेख किया है। अपने गांव की ही एक मज़ेदार बात मैं उस पुस्तक में लिखना भूल गया था। जुलाहों के पुरोहित यहां 'साईं' कहे जाते हैं। साईं अर्थात् स्वामी। नाथ परंपरा में गुरु को 'नाथ' या 'स्वामी' कहते थे। गोरखबानी में

गोरखनाथ मछन्दरनाथ को बराबर 'साई' कह कर संबोधन करते हैं। अब वे लोग पक्के मुसलमान हो गए हैं। केवल नाम में अपनी पुरानी स्मृति ढोते आ रहे हैं। हमारे गांव के शाकद्वीपीय मग ब्राह्मण भी बहुत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक जाति के हैं। शकद्वीप संभवतः आधुनिक सगडियाना हैं जहां के 'मगी' लोग सारे संसार में तंत्र-मंत्र के लिए प्रख्यात थे। सुना है 'ओल्ड टेस्टामेंट' में भी इनकी चर्चा है। अंग्रेज़ी में 'मैजिक' शब्द में भी इन मगों की स्मृति रह गई है। भारतवर्ष में यह जाति ब्राह्मण की ऊंची मर्यादा पा सकी है। और सच पूछिये तो ये लोग जहां जहां गये थे वहीं आदर और सम्मान पा सके थे। अब भी ये सुसंस्कृत और चतुर हैं। फिर मेरे गांव में दुसाध नाम की अंत्यज जाति है। इनके रंगरूप को देख कर कोई नहीं कह सकता कि ये लोग अंत्यज़ जाति के हैं। अंग्रेज़ लोग जब इस देश में राज्यस्थापन में समर्थ हुए तो उन्हें कुछ अत्यन्त दुर्दान्त जातियों का सामना करना पड़ा था। उत्तर भारत के अहीर और दुसाध तथा बंगाल के डोम बड़े लड़ाके थे और कानून मानने से सदा इनकार करते थे। चतुर अंग्रेज़ों ने इन जातियों से चौकीदारी का काम लेकर इन्हें वश में किया। लोहा से लोहा काटने की नीति में अंग्रेज़ अपना प्रतिद्वंदी नहीं जानता। अहीरों का बहुत कुछ अध्ययन हो चुका है। जाना गया है कि किसी ज़माने में इस दुर्दान्त जाति का राज्य अनेक प्रदेशों में था। बंगाल के डोम सहजिया बौद्ध थे और किसी ज़माने में प्रबल पराक्रान्त राज्यों के अधीश्वर थे। अधिकार वंचित होने पर ही ये लोग दुर्दान्त हो गये थे। दुसाधों के पुरातन इतिहास का कोई पता मुझे नहीं है, पर निस्संदेह ये भी किसी अधिकारच्युत बड़ी जाति के भग्नावशेष होंगे। मेरे गांव के दुसाध बड़े वीर, विनयी और भद्र हैं। ये अपनो को अब दुःशासन का वंशज बताने लगे हैं। इनके देवता राह बाबा हैं। कभी कभी मैं सोचता हूँ कि हिन्दुओं की ग्रहमंडली में जो राहु देवता हैं वे इन्हीं की देन तो नहीं हैं। इतना तो निश्चित है कि राहु वैदिक देवता नहीं है। आज कल राहु के नाम पर चलने वाले वैदिक मंत्र (काण्डात् काण्डं प्ररोहन्ती०) में 'र' और 'ह' अक्षरों के अतिरिक्त ऐसा कुछ भी नहीं है जि से संबद्ध माना जा सके। जो हो, यह जाति भी इतिहास की निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण देन है। कैसे मेरी जन्मभूमि के इस छोटे गांव में महाकाल दे रथचक्र की लीक एकदम नहीं पड़ी है।

यदि मुझे अपने गांव की सांस्कृतिक पैमाइश की सुविधा प्राप्त हो तो मेरा विश्वास है कि कुछ कुछ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री अवश्य मिले यहां गांव में कई कालीजी के स्थान हैं जो एक पर नीम के पेड़ के नीचे सात मिट्टी के गोल गोल आकृति की पिण्डियां हैं। कहते हैं यह प्रथा पुरानी नहीं है। भगवती का शिखाहीन मंदिर मेरे में यहां एक ही है जो मेरे गांव से सटा ही हुआ सबसे आश्चर्यजनक है महावीरका (अर्थात् हनुमान का स्थान। इस प्रदेश में ऊपर ऊपर सजाए हुए ह्रस्व तीन चौकोर चबूतरों को ही महावीरजी कहते इन्हें देख कर बौद्ध स्तूपों की याद बरबस आ जाती मनोरंजक बात तो यह है कि इन स्थानों पर महावी की जब जैजैकार की जाती है तो 'महावीर स्वामी जै बोली जाती है। मुझे यह 'स्वामी' और स्तूप स्थान और 'महावीर' शब्द बहुत तरह के अनुमान को प्रेरित करते हैं। क्या किसी प्राचीन बौद्ध या या मिश्र परंपरा से इनका कोई संबंध है? अपने की ठाकुरबारी में जो हनुमानजी हैं वे मूर्ति-रूप में स्तूपरूप में नहीं।' मेरे गांव की देवतामंडली में हाल ही में एक नई देवी का पदार्पण हुआ है। नाम है 'पिलेक मैया' अर्थात् प्लेग-माता। इनका भी बन गया है, पूजा भी होने लगी है और एक भक्त उनका आवेश भी होता है। सौ वर्ष बाद यदि कोई कि प्लेग अंग्रेज़ी शब्द है और यह देवी अंग्रेजी सा की देन हैं तो निष्ठावान हिंदू शायद कहने वाले को तोड़ देगा! लेकिन मेरे गांव की 'पिलेक-मैया', हि के अनेक देवताओं पर ज़बर्दस्त प्रश्न-चिन्ह के तो रही जाँयगी। जब मैंने अपने एक मित्र से था कि कुरुकुल्ला और उनकी श्रेणी को देवियां ति परंपरा की देन हैं, यहां तक कि दश महाविद्याओं तारा' और 'छिन्नमस्ता' का भी संबंध तिब्बत के प्राचीन बोन-धर्म से साबित किया जा सका है तो उन्होंने मुझे 'अनास्तिक' कह कर तिरस्कार किया था। हाय, काश मेरे मित्र जानते कि 'वज्र' भी आर्येतर जातियों के संभव का फल हो सकता है!

ऐसे ऐतिहासिक अवशेषों के भीतर से यहां 'मनुष्य' की दुर्जय विजय-यात्रा चली है। निस्संदेह साहित्य के इतिहास में इन संस्कृति-चिन्हों की कोई चर्चा न आना क्षोभ का ही विषय है। हमारी भाषा में इनकी स्मृति है, हमारे जीवन में इनका पद-चिह्न है। हमारी चिन्ताधारा में इनका कोई स्थान होना ही नहीं यह कैसे मानलूँ? परन्तु साहित्य का जो इतिहास हमें पढ़ाया जाता है वह क्या मनुष्य के अप्रतिहत विजय-यात्रा का कोई आभास देता है? हम क्यों नहीं अपने को ही पढ़ने का प्रयास करते! आप जब मुझसे अनेक साहित्यिक प्रश्न पूछते हैं तो मेरा चित्त बहुत उत्फुल्ल नहीं होता। लेकिन आपका एक प्रश्न मुझे थोड़ा उत्फुल्ल कर सका है आप पूछते हैं कि इस संक्रान्तिकाल में साहित्यिकों का क्या कर्तव्य है? यहां बैठ कर मैं उस कर्तव्य को जितना स्पष्ट और अनाविल रूप में देख रहा हूं उतना अन्यत्र से शायद ही देख सकता।

मैं स्पष्ट ही देख रहा हूं कि नाना जातियों और समूहों में विभाजित मनुष्य सिमटता आ रहा है; उसका कोई भी विश्वास और कोई भी नीति रीति चिरंतन होकर नहीं रह सकी है; उसके न तो मंदिर ही अविमिश्र हैं न देवता ही चिरकालिक हैं। मनुष्य किसी दुस्तर-तरण के लिए कृतसंकल्प है। जातियों और समूहों के भीतर से उसकी विजय-यात्रा अनाहत गति से बढ़ रही है। वह अपनी इष्ट सिद्धि के लिए बहुत भटका है; अब भी भटक रहा है पर खोजने में वह कभी विचलित नहीं हुआ। ये अधभूले नृत्य गीतों की परंपराएं उसकी नवग्राहिणी प्रतिभा के चिह्न हैं, ये नवीन देवताओं की कल्पना उसके राह खोजने की निशानी है और ये भूली हुई परंपराएं इस बात का संकेत करती हैं कि वह अपरंपरा और संस्कृति के नाम पर जमे हुए पुराने कित्रिम संस्कारों को फेंक देने की योग्यता रखता है। हमारे गांव की विविध जातियां यह सिद्ध करने को पर्याप्त हैं कि तथाकथित जाति प्रथा कोई फौलादी ढांचा नहीं है. उसमें अनेक उतार-चढ़ाव होते रहे हैं और होते रहेंगे। संक्रान्ति काल से आप क्या समझते हैं यह तो मुझे नहीं मालूम पर मुझे जो कुछ समझ में आ रहा है वह आप को अगले पत्र में लिखूंगा पर साहित्यिकों का कर्तव्य तो स्पष्ट है। वे कभी किसी प्रथा को चिरंतन न समझें, किसी रूढ़ि को दुर्विजेय न मानें, और आज की बनने वाली रूढ़ियों को भी त्रिकालसिद्ध सत्य न मान लें। इतिहास विधाता का स्पष्ट इंगित इसी ओर है कि मनुष्य में जो 'मनुष्यता' है, जो उसे पशु से अलग कर देती है, वही आराध्य है। क्या साहित्य और क्या राजनीति सब का एक मात्र लक्ष्य इसी मनुष्यता की सर्वांगीण उन्नति है।

आप स्पष्ट ही देख लेंगे कि मैं चिट्ठी जल्दी समाप्त कर रहा हूं पर इतना आप को निश्चय दिला दूँ कि ऊपर के दो चार वाक्यों में मैं आप के प्रश्न का उत्तर नहीं दे रहा हूं, सिर्फ यह संकेत कर रहा हूं कि आगे वाले पत्र में क्या उत्तर दूंगा।

ओझवलिया, १६. ५. ४७]

विषपान

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र

मिश्रजी ने इस एकांकी नाटक में कांग्रेस द्वारा ब्रिटेन से समझौता कर लेने से उत्पन्न राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का चित्र खींचा है। इस नाटक में आज के समाज का सब कुछ है। —सम्पादक

[दोपहर का समय ! सिटी मैजिस्ट्रेट रामदयाल का बँगला ! बँगले का रुख सड़क की ओर है। बँगले के घेरे के दो फाटक जो सड़क की ओर हैं, खुले हैं और दोनों फाटकों से आधी गोल सड़कें बँगले के आगे मिल जाती हैं। इन सड़कों से घिरी बँगले के आगे की भूमि से किनारों की ओर फूलों के छोटे पौदे और झाड़ हैं। बीच की भूमि पर हरी दूब—जिसे आज कल लॉन कहने लगे हैं। फूलों और पौदों के रंग बिरंगे गमले, बंगले के गोल बरामदे के अगले किनारे धरे हैं। बरामदे के बीच में जो आगे की ओर अधिक बढ़ा है, बड़ी मेज़ के आगे पाँच कुर्सियाँ हैं और पीछे दो जो और कुर्सियों से ऊँची और अधिक अधिकार वालों की हैं बाईं ओर कोई तीन हाथ की दूरी पर छोटी मेज़ के पास दो कुर्सियाँ हैं। इस मेज़ पर काग़ज़ों की कई फाइलें पड़ी हैं और यहीं एक कुर्सीपर कोई अधेड़ पुरुष—साँवला रँग, अधपके तेल से तर बाल, आँखों पर चश्मा चढ़ाये किसी फाइल के पन्ने अरुचि से उलट रहा है। इस कार्य में उसके दायें हाथ की बिचली उँगली बार बार उसकी जीभ पर जा लगती है और फिर काग़ज़ पर। यह क्रम बिना किसी बाधा के मनमाना चल रहा है। बँगले के बायें किनारे के छोटे द्वार से महरी निकलती है जो युवती है और रंग अधिक निखरा न होने पर भी स्वस्थ तरुण रक्त से मोहक हो रही है। बड़े घर की महरी सम्भवतः मालकिन के उतारे कपड़ों में रुचि और अभ्यास की पुतली बन रही है। कुर्सीवाला पुरुष एक टक उसकी ओर देखता है।]

महरी—उँह....ई कइसे देखत हवन...पेस्कार जी ई ठीक नाहीं हवे।

पेस्कार—(मुस्कराकर) क्या है...आँख का काम है...अब कोई देखे भी न...।

महरी—अइसे देखे...तोहरे दुलहिन हइनें... बेटी हवन।

पेस्कार—तब...आँख मूँद लूँ (हँसी रोकता है।)

महरी—(आँख तरेर कर, उसकी देह काँपने लगती है) अइसे नाहिन बनी आजु हम रानी जी से... देइब...।

पेस्कार—(जेब से नोट निकाल कर) अरे क्या क्या...ले लेले मन करे तब...(नोट दिखलाता और इधर उधर इस मुद्रा में देखता है जैसे कोई देख न ले।)

महरी—(उसकी ओर देखती हुई) थू...थू...थू ले जा जहाँ रुपया से बिकत हो ले लीह...।

पेस्कार—नहीं जानती हो राधारानी तुम। अब यह नहीं लगता, अब तो उड़ा लिया जाता है। नोआखाली में, पंजाब में...देख लेना ऐसी एक यहीं रही है उसका यहीं बयान होगा।

महरी—हो..हो..हम हूँ रानी बनि गइलीं तोहरे से राधारानी अइसे निकलल जइसे बियाह के ... के कड़ी निकले। नींक त बाय तुहऊँ कहीं उड़ा लें, फेर ई उड़ावत के हवे? मीयाँ लो उड़ावत हवें सरकार के जोर से। आ ऊहो उड़ाय ली हैं..जेके जिउ के मोह होई... धरम करम नाहीं सूझी..जेके जिउ देवे के नाहीं मिली। कुँअर जी कहत रहलें पंजाब एके कुअना में छियालिस जन बूढ़ि मरलीं मूवलि देहि मीयाँ खाह चाहे गीध..सियार मूवलि माटी क चिन्ता के करे..।

पेस्कार—हूँ तो कुँअर साहब ने कहा था...।

राधा—का...।

पेस्कार—यही जो एक कूएं में रावलपिण्डी में छियालीस स्त्रियाँ डूब मरीं।

राधा—तब का हम गढ़ि के कहत हइन? राति हो गइल रहे। बिजे कइला के पाछे कुँअर जी जब पलँग पर गइलन..।

पेस्कार—किससे कहा था उन्होंने? तुमसे कभी कभी रात को बात करते हैं? (मुस्करा कर जिज्ञासा की मुद्रा में।)

राधा—तोहार जिभिए जारे लायक बाय..तूँ का कहत हव, कुँअर जी के का कमी बाय..सरग क देवी अहैं घरे में उनके..अइसन काम तोहार होई..।

पेस्कार—समझती नहीं उल्टी बात कहती है..

राधा—हैं..हैं..तब काहे न ईहो मोका... न ह..झूट क साच, साच क झूट..तोहरे धइली में जे दुइ रुपया डालि देई ओकर काम हो जाई। तूँ का कहत हव हमरी बूझ में थोरे आइ..तोहार ई मुसका मुसका बोलल, आँखिन ताकल, जइसे तोहरी मन में किछु गड़ गईल हो ओइसे छपटाइल हम बूझब थोरें...।

पेस्कार—अरे भाई किससे कुँअर साहब ने कहा? यह तो कहती नहीं झूट मूठ नखरा कर रही है।

राधा—नखरा करे तोहार जे होय...हम नखरा तोहरे आगे का करब...कुँअर जी मलकिन से कहलन रानी जी से कहलन...ऊ सुनि के सुसुकि सुसुकि के रोवे लगलीन।

पेस्कार—रोने लगीं...?

राधा—तोहार करेजा रुपया क बनल हवे ओतने कड़ेर। बोलता होई ओइसने झाँय झाँय। तूँ..का जाने! धरम बचावे में एके कुअना में छियालीस जन गिरि पड़लीं तरे ऊपर, ओकर पानी सूखि गईल। सब कहेला कल्जुग में सती नाहीं होलीं। ई का हवे कल्जुग ह की नाहीं?

पेस्कार—पुरोहित महाराज से पूछना—अँग्रेज़ी राज में कोई जुग नहीं चलता। सब अँग्रेज़ी जुग है। सतजुग कल्जुग पोथी पत्रा में बन्द हैं धरती पर नहीं उतरते।

राधा—ऊहे त, अइसन नाहीं रहित त तोहरी आलें क पानी अइसे का गिरत...रानी जी त कालिज में पढ़लि हुईं...कहति रहलिन जब से ई धरती बनल अइसन कबौं ना भइल। थाना, पुलिस फौज सब का कहेला कि ई मियाँ हिन्दुन के मारि काटि के उनकी बेटी, पतोह के उठा ले जालें। (रोने लगती है। दोनों आखों से टप टप आसूँ गिरने लगता है। बार बार आँचल से आसूँ पोंछती है।)

पेस्कार—हैं...हैं क्या कर रही है? रोती क्या है। यहाँ कोई मियाँ यह नहीं कर सकेगा। यहाँ कोई डर नहीं है।

राधा—(उसी प्रकार रोती हुई टूटे स्वर में) के जाने। रानी जी के संग सिविल लाइन में जहें जाई जो आवे...सब ठहर ईहे बात की मीयन के सरकार क बल बा। थाना, पुलिस सब ऊसे मिललि बाय। हिन्दू जाति अब नाहीं रही। सब मीयाँ होई, नाहीं त सब केहू मारि काटि जाई। जवान बेटी पतोह जे जीयत रही मियाँ उठा ले जइहें सब। मुसुरमान बना के बियाह करीहें सब। सिनहा बाबू क दुलहिन ईहे कहति रहलिन, कपूर बाबू क दुलहिन इहे कहलिन...के नाहीं कहत होई...तोहरो दुलहिन ईहे कहति होई हैं।

पेस्कार—(जैसे कुछ सोचते हुए) वह डरी डरी रहती हैं इधर देवी दुर्गा का दर्शन अब वैसे नहीं करतीं। लड़कियों को तो पास पड़ोस में भी नहीं जाने देतीं।

राधा—सुराज न चलित न ई कुल होइत।

पेस्कार—अच्छा तो अब राजनीति बघारने लगी, राधा!

राधा—कहन...।

पेस्कार—किसी दिन मेरे घर चलो...।

राधा—आ राह में मियाँ रहें...।

पेस्कार—तुझे तो इन मुसलमानों का भूत सता रहा है।

राधा—उहँ जब जइसन आई भगवान रहिहन न! तोहरे घरे काहे के जाई हम...।

पेश्कार—देख आओ... हमारी स्त्री को, दो लड़कियाँ हैं तीन लड़के हैं। नई साड़ी से तुम्हारी बिदाई करूँगा, तुम्हारी ...

राधा—रहेदा ऊ साड़ी... तोहार दुलहिन नैहर जइहें दे दीह, लड़किन के बियाह में दे दीह।

पेश्कार—तुम बुरा मान गई...।

राधा—रुपया जे देखवल... जेकर लड़की सयान भइल... बिअहल रहत त लरकोरि रहत ऊ आन के रुपया देखावे आ तिलक नाहीं जुटला से बेटी घर में पड़ल रहे।

पेश्कार—(विस्मय और क्रोध की मुद्रा में) क्या कहती हैं?

राधा—बिगड़ मत लाला। तोहार घर हमार देखल बाय? तोहार बेटा बेटी सब के देख लिहलीं। तोहार दुलहिन हमके जाने लीं, माने लीं।

पेश्कार—(भौचक्के से) क्या कह रही है? कब गई तुम...।

राधा—(जैसे कोई भूली बात सोच रही हो) दो चार... एही साल जाड़े में। कुँअर जी के संग दौरा में जब आप रहल। तोहार जेठ बेटी का नावें हवें... चम्पा ऊहे जवन सकूलमें पढ़े ले... कवन दरजा हव अठवाँ की नवाँ... अँगरेजी पढ़ेले लाला... रानी जी से भेंट करे आइल रहे लाला।

पेश्कार—अरे कैसे आई वह यहाँ? अकेले चली आई? कोई साथ था या...।

राधा—देख तोहार साँस न बन्द होजा अइसे घबड़ा का उठल। तोहार दुलहिन भेजल्नि रानी जी से भेंट करे के। बिटिया इहें भर दिन रहलिन। टाँगा पर अइल्नि लाला। तोहरे मझले लल्ला संगे रहलन।

पेश्कार—(सकपका कर) यहीं दिन भर रही? साजिद भी था! किस समय आई थी दो पहर के बाद...

राधा—काव कहीं। तोहरे नीचे जइसे धरती डोल गई ली। अइसे डरत काहें हव। एमें का बुराई रहल?

पेश्कार—(सम्हल कर) तुम जानती हो मैं कुँअर साहब का पेश्कार हूँ। उनके तरह का राजा हाकिम कोई क्या होगा। रानी बहू भी राजरानी हैं।...पास आ गई। पता नहीं क्या पहने थी।...बातचीत किया भी या नहीं। उन पर क्या...पड़ा होगा कि पेश्कार की लड़की कैसी अनगढ़...

(बड़ी मेज़ के पीछे के द्वार पर खटका होता है। राधा चौंक कर पिछे हटती है पेश्कार कभी द्वार की ओर कभी राधा की ओर मुड़ कर देखता है। इसी बीच किवाड़ खुल जाते हैं और कुँअर रामदयाल की तरुणी सुन्दरी पत्नी शीला अपने व्यक्तित्व का प्रभाव फैलाती बीच द्वार में खड़ी हो जाती है। बाहर का दृश्य वह कुछ ऐसे देखती है जैसे किसी लड़कियों के कालेज की अध्यापिका हो। लम्बा सामान्यतः मांसल शरीर, दूध सी उजली हल्के किनारे की साड़ी। सिर खुला हुआ। वेणी पीठ पर साड़ी के घेरे में पड़ गई है। लम्बी आखें गुलाबी डोरी और ललाट में चिन्ता की छाया। पेश्कार हड़बड़ा कर खड़ा होता है।)

शीला—रधिया...

राधा—(डरी सी...) जी

शीला—(कलाई की घड़ी देख कर) तुझे आये या पन्द्रह मिनट हो गये। दो मिनट की बात थी।

पेश्कार—अभी ही तो आई है। (शीला की ओर देख कर धरती की ओर देखता है।)

शीला—घड़ी आप के हाथ में नहीं मेरे हाथ में है। अरे यह आपको क्या हो गया! आप इस तरह पीपल के पत्ते की तरह काँप क्यों रहे हैं। मैं यह तो कहती नहीं कि आपने इसे बलात् रोक लिया... आपने इस पर कोई जादू की छड़ी घुमा दी... इसकी आदत ऐसी है ही कि बिना किसी भी ला... के यह सब जगह बात बढ़ाती चलती है। बोल क्यों नहीं रे।

राधा—रानी जी आजु यहाँ ओकर बयान हवे।

शीला—(मुस्कराकर) तो क्या तू ही हाकिम बनेगी... तुझसे उस बयान से क्या मतलब। अभागिनी... भेजा कि पूँछ आ कुँवरजी कब तक लौटेंगे। सि... चक्कर कर रहा है। एक बजने जा रहा है अब तक उनकी भी निर्जल एकादशी रही मेरी भी। चल हट यहाँ से! देखना आग न बुझ जाय। (राधा का प्रस्थान)

पेश्कार—आज सवेरे से कुँअर साहब ऐसे ही रह गये। जलपान भी नहीं किया?

शीला—एक बूँद जल नहीं। स्नान भी आज उन्होंने तड़के किया कपड़े पहन कर यहाँ साढ़े छः तक बैठे रहे। मैं आई इसी डर से कि कहीं भूल कर बिना जलपान किये निकल न पड़ें (चुप हो जाती है)

पेश्कार—किसी बातपर आप से...

शीला—(हँसी रोकती हुई) आप का नाम क्या है पेश्कार साहब..

पेश्कार—मेरा...जी...जी...

शीला—अरे नाम भी अपना भूल गये क्या....

पेश्कार—सब ओर....हर कोई पेश्कार ही तो कहता है। पूरे बीस वर्षों में दस बार भी मेरे कान में अपना वह नाम नहीं पड़ा जिसे माँ बाप ने धरा था, वह लोग भी अब शायद वह नाम भूल जाते और मुझे यही नाम देते।

शीला—उपस्थिति रजिस्टर में तो आपका नाम होगा और सर्विस बुक में भी....या सब जगह यही पेश्कार चढ़ गया है। (रोकते रोकते भी हँस पड़ती है।)

पेश्कार—जी नहीं पर नाम जानकर क्या....

शीला—(संयत स्वर में) आपकी लड़की चम्पा जो नवें दर्जा में पढ़ती है ..यहाँ आई थी...भली लड़की है। आपका नाम मैं उसके लिए जानना चाहती हूँ। आपको लिख कर उसके कुशल-प्रसंग पूछ लिया करूँगी।

पेश्कार—(संकेत के स्वर में) तो क्या कुंवर साहब का तबादला होगया है...या आपसे कुछ....

शीला—(मुंह पर रूमाल लगाकर हंसी रोकती है) फिर वही बात..जिस बात को रोकने के लिए मैंने आपका नाम पूछा। आप दोनों दल से पेशी के रुपये कैसे निकाल लेते हैं जब आप इतने सीधे हैं कि..(रुक जाती है)

पेश्कार—क्या..क्या...

शीला—आप यह क्यों जानना चाहते हैं कि उनसे मेरा कुछ होगया है। इस तरह का सवाल आप इतनी सादगी से कर गये। उनसे मेरा कुछ हुआ भी हो तो मैं आपसे कैसे कह पाऊँगी।

पेश्कार—तब आप अब तक बिना कुछ खाये-पिये कैसे रह गईं। आपको तो....

शीला—चम्पा की अम्मा बिना आपके भोजन किये अपने खा भी लेती हैं?

पेश्कार—पुराने विचारकी गाँव की लड़की हैं वह.... पढ़ी लिखी होती....

शीला—अच्छा तो पढ़ी लड़कियाँ पति को उपवास करा कर अपने खा-पी लेती हैं। तब तो यह पढ़ी लड़कियों का अच्छा गुण और स्वभाव रहा।

पेश्कार—शायद ... उनके साथ बोर्ड के चेयरमैन ठाकुर साहब भी तो हैं...उनके साथ कहीं कुछ...

शीला—यह नहीं होगा। सारा दिन वे उपवास करें और मुझे भी उपवास करायें, किन्तु जब तक मुझसे वह कह न लें पहले कहीं मुंह जूठा न करेंगे।

पेश्कार—तब तो ऐसे बीमार पड़ सकते हैं।

शीला—कोई बात नहीं। बीमार पड़ना भी शरीर का धर्म है आप अपना पता एक चिट पर दे दीजिये। उसमें नाम लिखियेगा।

पेश्कार—(मेज़ पर झुककर एक चिट पर पता लिखता है। शीला द्वार से टेक देकर खड़ी होती है। भीतर की ओर से राधा का प्रवेश। वह एक बन्द लिफाफा शीला के हाथ में देती है। लिफाफा फाड़ कर शीला पत्र निकालती है और उसे देखकर फिर लिफाफे में डाल देती है।

शीला—तू जा अब... देख लिया। अपने मरेंगे मेरे जीने की चिन्ता करेंगे। (लिफाफे से अपनी नाक दबाने लगती है। राधा का प्रस्थान।)

पेश्कार—(चिट आगे बढ़ाकर) तो क्या कहीं जाना है इधर... तबादले की कोई खबर तो नहीं है।

शीला—(चिट देखती हुई) अच्छा नाम भी तो आपका बड़ा विचित्र है रँगई प्रसाद। इससे तो सचमुच

पेश्कार अच्छा है। हाँ आज रात को या कल सवेरे चम्पा को आप यहाँ पहुँचा देंगे। या कोई अड़चन हो तो मैं ही आप के घर चलूँ।

पेश्कार—आप…आप चलेंगी कितनी गली कितने मोड़ घूम कर मील भर पैदल जाना पड़ेगा और वहाँ आप बैठेंगी कहाँ…वही आजायेगी आप जिस समय कहें।

शीला—तब तो मैं अब चलूंगी। आपने कुछ ऐसा वर्णन किया कि मेरा कौतूहल बढ़ गया। हाँ तो चम्पा अठारह साल की हुई। पढ़ाई उसकी दिन बिताकर चली नहीं तो इन्टर में तो होती ही। लड़कियों का अधिक पढ़ना विवाह में और भी अड़चन पैदा कर देता है। आप अब उसका ब्याह कर दीजिये। लड़का भर आप देख लीजिये खर्च मेरे ज़िम्मे…।

पेश्कार—(विस्मय में) एं आप नहीं जानती सरकार !… हमारी जाति में तिलक की रकम गंगा की बाढ़ की तरह बढ़ रही है। पाँच साल पहले जो एक हज़ार लेते थे अब पाँच हज़ार से नीचे बात नहीं करते।

शीला—(हँसती हुई) सब ओर महंगी है रूपये की कीमत गिर भी तो गई है, अर्थ शास्त्र का सिद्धान्त सब जगह है, तो उस तिलक में क्यों न रहे। फिर भी कोई बात नहीं…कोई लड़का कहीं देखा है।

पेश्कार—यहीं। दीवानी के वकील लाला रघुवंशी का बड़ा लड़का कानपूर के आग्रीकल्चर कालेज से बी. एस्सी. ए. जी. इस साल हो गया है। लड़का सुन्दर, स्वस्थ और सुशील भी है। आँख में बस गया है वह मेरे, लेकिन…।

शीला—कह दिया वे जितना कहें दिया जायेगा।

पेश्कार—मैं अपनी आदत कुछ सम्भाल लूंगा। चालीस रुपया रोज़ से कम मुझे ऊपरी आमदनी नहीं है। बहुत लेंगे आठ हज़ार लेंगे। छ महीने की रोक थाम की तो बात है। लेकिन वह कहते हैं अभी नहीं करेंगे।

शीला—क्यों…लड़ला सयाना है।

पेश्कार—कहते हैं इस साल जो मर जी कर बचेगा वह शादी ब्याह करेगा। इस साल आवे लोग मर जायेंगे। यह देश का बाँट बखरा नहीं हो रहा है सर्वनाश की आग लगाई जा रही है। बोलते-बोलते रोने लगते हैं। लड़के की पढ़ाई उन्होंने एक साल के लिए रोका भी है। उसे घरके बाहर भी निकलने नहीं देते। लड़का मुझे जंचा था।…

शीला—ऊं हूं, जो लड़का इतने वेठन में लपेटा जाय… विवाह लड़की का उससे करे जो पुरुष हो…मृत्यु को निमन्त्रित करता चले। वीर पुरुष की छाया में ही रमणी सुखी रहती है नहीं तो यह क्या कि लड़कियों की तरह हर दम डरता रहे जहाँ पुरुषत्व नहीं। और पुरुष होने की पहली परख निर्भय रहना है….मृत्यु से भी। मृत्यु से जो पुरुष विनोद न करे धन सम्पत्ति वह बटोर ले स्त्री की ओर उसे नहीं देखना चाहिए! उनके पास वे आँखें भी तो हों जो स्त्री पर सम्मोहन पैदा करें।

पेश्कार—(ऊंची साँस खींचकर) क्या…क्या कह गई। मैं तो जैसे जादू में पड़ गया था। आपके शब्दों में चित्र बनते रहे। ऐसे पुरुष अब हमारे घर में कहाँ आयेंगे…हाँ महाभारत की लड़ाई में मिलेंगे।

शीला—हमारे घर ही नहीं रहेंगे अब…जब लोग लड़के लड़की का ब्याह करने में डरते हैं कि कहीं फिर उपद्रव न हो और उनका लड़का या लड़की उसकी चपेट में न आ जाय। तब तो रह चुके हमारे घर। कहते भी नहीं..गृह सदस्य पटेल से वकील साहब लिखकर पूछ लें कि वे अपने लड़के का विवाह करें या साल-दो साल रुक जायें।

पेश्कार—आप कहें तो मैं ही लिख दूँ…लेकिन क्या नेता लोग जानते हैं कि यहाँ कब क्या होगा?

शीला—ठीक है हमारे नेता लोग नहीं जानते लेकिन लीग वाले जानते हैं। उनका साँठ-गाँठ हर अंग्रेज़ से है। गवर्नर दंगे कराते हैं लीग के लिए…वायसराय, गांधी जी, पटेल, नेहरू से कुछ कहता है और जिना या लियाक़त से कुछ।

पेश्कार—गवर्नर दंगे कराते हैं—

शीला—इसमें क्या सन्देह..जिले के कलक्टर, कप्तान सभी ऊंचे अफ़सर अभी भी गवर्नर के संकेत पर चल रहे हैं। अपने सूबे का कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बिना दाँत का साँप है। इसकी मिट्टी पलीद हो रही है। गवर्नर और सूबे के बड़े नौकरों को फुसलाने में..जहाँ शक्ति नहीं है हाथ जोड़कर भीख माँगने से कुछ होनेका नहीं।

पेश्कार—समझ नहीं पाता मैं—

शीला—देखिये पेश्कार साहब आजाइये और निकट। (पेश्कार दो डग आगे बढ़ता है) हम लोग अब नौकरी नहीं करेंगे।

पेश्कार—हे भगवान्! तो क्या कुंवर साहब इस्तीफ़ा देंगे।

शीला—हाँ हम लोगोंने तय कर लिया है। मुसलमान हाकिम इस कांग्रेसी सूबे में भी लीग का काम कर रहे हैं और हम लोग निष्पक्ष न्याय भी नहीं कर सकते। बड़े घरकी कुलीन बहू की कन्या का अपहरण मुसलमान गुण्डों ने किया यहाँसे सात सौ मीलकी दूरी पर…तेईस व्यक्तियों का वह सम्भ्रान्त परिवार बात की बात में मिट गया। छ बच्चे, आठ पुरुष, आठ मिनट भी नहीं लगा तलवार के घाट उतार दिये गये। तीन युवतियाँ उस घर की जिनमें दो बधुएं थीं और एक अबोध कन्या पल मारते गुण्डों के हाथों में उठा ली गईं। (क्रोध से दहक उठती है और दूसरे ही क्षण उसकी आँखों से आँसू चल पड़ते हैं अपना मुँह घुमाकर पीछे दीवाल की ओर देखने लगती है। यह कमरा कुंवर रामदयाल की बैठक है। दीवालों के किनारे आल्मारियाँ लगी हैं—कुछ में पुस्तकें और कुछ में कपड़े और इस स्थिति के व्यक्ति की अन्य आवश्यकताओं की वस्तुयें हैं। दीवाल पर बड़े माप के थोड़े चित्र हैं। ठीक सामने वाले चित्र में कैलाशशृङ्ग की पृष्ठभूमि में भूतभावन शंकर की विराट कल्पना है, जिसमें नगेशनन्दिनी पार्वती बाईं ओर हैं।

पेश्कार—यह सब कैसे इतनी जल्दी…

शीला—क्या…(मुस्कराकर उसकी ओर देखती है। वह धरती की ओर देख रहा है।)

पेश्कार—आप कहती हैं कि स्तीफ़ा देंगे…

शीला—हम लोगों ने सोच लिया है। इस कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल में किसी भी हिन्दू का सरकारी नौकर रहना पाप है। मुसलमानों से ये सीधे रहते हैं। हिन्दू और मुसलमान की बात जब आती है हिन्दू को अपमानित होना पड़ता है। झूठा से झूठा, मक्कार से मक्कार मुसलमान अफ़सर किसी भी भले हिन्दू से भला है।

पेश्कार—इसी में और लोग तो हैं।

शीला—उनकी आत्मा की पुकार बन्द हो चुकी है। उन्हें नौकरी केवल वेतन के लिए करनी है… वेतन के लिए वे कुछ भी कर लेंगे। तत्पूत ये कांग्रेसवाले मण्डल कमेटी…के सदस्य से लेकर मन्त्री तक जब सभी रास्तों से अपना घर भर रहे हैं, तब बेचारे सरकारी नौकरों की क्या बात?

पेश्कार—सरकार! जैसे संसार चलता है चला जाता है।

शीला—फूँक दो उस संसार को जिसमें देश प्रेम और अहिंसा के ढोंग में देश को ही डुबा दिया, इन अभागों ने। इन्हें धन ही कमाना था तो चोरी करते। कन्ट्रोल के परमिट देना इन्हें ही है… उन्हीं को देते हैं जो इन तक पहुंच जाते हैं। लूट खसोट इन्होंने अभी कर दिया। देश को नैतिकता की ज़रूरत अब नहीं है क्या? (हंसती हुई) पहले के तपस्वी तपस्या का फल नहीं लेते थे, आज के इन तपस्वियों ने सारी सिद्धियाँ बटोर लीं।

पेश्कार—घूस और अनीति के पैसे जब कांग्रेस के नेता लोग खा रहे हैं फिर ईमानदारी की नौकरी में क्या है कि…

शीला—(हंसी रोकती सी) कि उसे छोड़ा जाय…

पेश्कार—हाँ…तो…और…नहीं…

शीला—हं…हं…आपकी साँस न बन्द हो जाय। आप इतने घबड़ा गये? बात कुछ नहीं…

पेश्कार—(रुआंसी आकृति में) चक्की का बैल चलता रहेगा रानी साहब हाँकनेवाला कोई हो। कुँअर साहब के समय जो आराम किया, जितने सम्मान से रहा, न पहले बीस वर्ष मिला था और न अब, मिलेगा। कुत्ता भी प्रेम और विश्वास जानता है। पर मैं तो उनसे पूछूँगा। यहाँ के बड़े लोगों को बटोर लूंगा।

शीला—(दोनों हाथों की ताली बजा कर हँसने लगती है) चिड़िया उड़ गई। अब पिंजरा क्या करेगा। आज ही का दिन उनकी नौकरी का अन्तिम दिन है। यों ही सारा दिन उपवास में नहीं कटा। प्रायश्चित भी यहीं कर लिया।

पेश्कार—कुछ नहीं समझ में आ रहा है। आप अब दया करें और साफ कहें क्या बात है?

शीला—(संयत स्वर में) कल आपके सामने उस पंजाबी स्त्री का बयान हुआ था।

पेश्कार—अरे··हाँ···हाँ··· यहीं फ़ाइल में है। वही जो पंजाबी लड़की यहाँ भगा कर लाई गई है।- अस्पताल में है। चौदह साल की उम्र में ही जिसकी सारी देह गर्मी से सड़ गई है। तो कल डिप्टी कप्तान को और अस्पताल के बड़े डाक्टर को भी कुँअर साहब का डी० ओ० भी मिल गया।

शीला—उसका बयान कल हो जाना चाहिए था। मुसलमान कल्क्टर यहाँ भी लीग का काम कर रहा है। कप्तान भी मुसलमान है। डाक्टर संयोग से हिन्दू न होता और अदालत तक उस लड़की के साथ आने का आदेश सिटी मजिस्ट्रेट का न होता, तो लड़की अस्पताल से भी गायब कर दी गई होती।

पेश्कार—कैसे···यह···

शीला—क़ानून से नहीं चालाकी और बल से···

पेश्कार—तो कल्क्टर भी···

शीला—दोनों···कल्क्टर और कप्तान दोनों साथ गये कल अस्पताल में उस लड़की को धमकाते रहे कि उसने उस औरत से झूठा कहा। वह मुसलमान है। उस औरत ने उसे फुसला कर बहका दिया और अब वह हिन्दू लड़की बन रही है।

पेश्कार—ग़ैरक़ानूनी है यह···ऐसा नहीं हो सकता लड़की को सिटी मजिस्ट्रेट के यहाँ भेज देना होगा।

शीला—क़ानून अंग्रेज़ तभी तक चलाते रहे जब तक उन्हें यहाँ रहना था। अब जाने के पहले क़ानून की सारी गाँठें वे खोल रहे हैं। मुसलमान कल्क्टर गवर्नर के भरोसे गृह सचिव को अंगूठा दिखा रहा है।

पेश्कार—अब समझा; तो यहाँ के हाकिम उस लड़की के फंसाने का फिर जाल बिछा रहे हैं। चार महीने से जो मुसलमान गुण्डों के कब्ज़े में है। पता नहीं कितनों ने···उसकी···सभी देह फूट गई है। चौदह साल की लड़की अभी ठीक से उस लायक भी...नहीं···

शीला—चुप रहो। सब कुछ कहने लगते हो। ऐसी बातें भी जिनसे सिर में चक्कर आजाय।

पेश्कार—इसकी शिकायत ऊपर की जा सकती है।

शीला—पर उसे सुनेगा कौन? कांग्रेसी मन्त्री मुसलमान कल्क्टर को आँख में लिए फिरेगा। एक लड़की नहीं इस सारे शहर की लड़कियाँ भगा ली जायें, फिर भी हमारा मन्त्रिमंडल उसीकी बात मानेगा। दूसरा कोई कुछ कहेगा तो उसे साम्प्रदायिक होने का दोष दिया जायगा।

पेश्कार—तब यह धरती रसातल क्यों नहीं चली जाती? जहाँ ऐसे बेईमान अफसर हैं। कौम के नामें पर गुण्डों की मदद करते हैं।

शीला—डाक्टर ने कह दिया कि उसे भी अदालत तक उस लड़की के साथ जाना पड़ेगा। पुलिस के साथ उसकी देखरेख में वह वहां जायेगी। सिटी मजिस्ट्रेट का यही आदेश है।

पेश्कार—पंजाबी औरत ने यही कहा था कि कहीं भी ढिलाई होगी तो लड़की फिर गुम हो जायगी।

शीला—डाक्टर ने साहस से काम लिया नहीं तो इस कल्क्टर और कप्तान के कुचक्र में वह फिर फँस गई होती और इस शहर से किसी दूसरी जगह भेज दी गई होती।

पेश्कार—इस देश का यही स्वराज है। पन्द्रह अगस्त को सारे देश में होली और दीवाली मनाई जायेगी।

शीला—वाह वाह ठीक कहा आपने, कातिक और फागुन मिल जायेंगे। पन्द्रह अगस्त भारतीय स्वतन्त्रता का दिन होगा; जिस स्वतन्त्रता के सिर पर चढ़कर बैठा रहेगा मौंटबेटन। जिस स्वतन्त्रता में देश का सारा साधन चूस कर पाकिस्तान की गहरी नींव पड़ेगी। सीमेन्ट, कोयला, लोहा, सोना चाँदी सब खिंच कर पाकिस्तान पहुँच जायेगा। अभागे भारतीयों के धन और श्रम का फल पाकिस्तान लेगा। अन्न, कपड़ा, और···और···जीवन निर्वाह के सभी सामान पहले पाकिस्तान का 'पेट' भर लेंगे। तब तक तार और फ़ोन के सामान दिल्ली और जबलपुर के सब कहीं से खिंच कर कराँची पहुँच जायँगे।

पेश्कार—आप इतनी परेशान क्यों हैं? सारा देश रहेगा। भगवान को तो कहीं कोई नहीं ले जायगा।

शीला—(विस्मय में) भगवान··अब···इस युग में··· वही पुराण वाली बातें? वह दुबली डोर भी टूट चुकी है महाशय! कांग्रेस विधान में पहले भगवान को खींच कर धरती पर पटक दिया गया! देश की मान्यताएं रूढ़ि कह कर फेंक दी गई। जीने के लिए हमारे पास अब परम्परा का बल भी नहीं है।

पेश्कार—गांधी जी सब कुछ भगवान की आज्ञा से करते हैं।

शीला—देश की बुद्धि को भ्रम में डालने के लिए। मनु ने, शुक्राचार्य, यांज्ञवल्क्य ने, विष्णुगुप्त चाणक्य ने राजनीति में भगवान को नहीं आने दिया। गोकि वे गांधी से बड़े आस्तिक थे। सब कहीं भगवान का नाम लेने वाले भक्त नहीं ढोंगी भी होते हैं। लेकिन यहाँ बात गांधी की नहीं पटेल और नेहरू की है।* इनमें बड़ा नास्तिक कौन है देखना यह होगा। जिना को दोष देना व्यर्थ है।

* यहाँ सिद्धान्तहीन अस्थिर मति के अर्थ में नास्तिक का प्रयोग है। ईश्वर को मानने न मानने के अर्थ में नहीं।—सम्पादक

५

पेश्कार—हैं···हैं··उसी ने तो देश का बँटवारा कराया उसी के बहकाने से तो मुसलमान पंजाब बंगाल में प्रलय कर रहे हैं।

शीला—जी नहीं···उसके कहने से नहीं। पटेल और नेहरू इस सारे रक्तपात, सारे उपद्रव के कारण हैं। इस पंजाबी लड़की की दुर्दशा का सारा पाप··· लाखों की संख्या में जो स्त्रियों का धर्म लुटा गया, उसका सारा पाप जिना के नहीं नेहरू और पटेल के सिर है।

पेश्कार—क्या कह रही हैं आप···कोई सुनेगा तो···।

शीला—ठीक तो, अंग्रेज़ों से अधिक भय हमें इन मन चले, मोहग्रस्त, धन और यश के लोलुप अपने कांग्रेसी नेताओं का है। ये हमें सीधे खड़े न होने देंगे। हमारी रीढ़ तोड़ देंगे। प्रकृति की प्रतिहिंसा भीषण होती है··देश में जहाँ लाखों अबलाओं का धर्म लूटा जा रहा हो, नगर के नगर भस्म किये जा रहे हों कोई वज्र हृदय पटेल ही होगा, जो अपने दिल्ली वाले राज भवन के उपवन में अपनी लड़की के साथ फूलों का संसार देखता फिरेगा। यह भी मनुष्य है···मनुष्यता की परिभाषा दूसरी करनी पड़ेगी। (खड़ी खड़ी काँपती है।)

पेश्कार—बस बस अब न बोलिये आप कुछ···आप तो बेंत की तरह काँपने लगती हैं।

शीला—मैं ही नहीं जी···सारा देश काँप रहा है। नर, नारी, बालक सभी काँप रहे हैं। अडोल हमारे अवसर वादी और क्रान्ति विरोधी नेता हैं। जन्म के भूखे अपने पितरों का तर्पण देशवासियों के रक्त से कर रहे हैं। इतिहास इनका नाम किस रंग में लिखेगा···काला···नहीं लाल। इन्होंने देश को रक्त में डुबो दिया। बड़े पदों के मोह में ये वावेल के चक्र में पड़े। इनके राज प्रासाद बने रहें, विलास और सुख का जीवन इनका चलता रहे। इनकी कारें, इनके रेडियो और इनकी जीभ चलती रहे। देश के साथ इनका विश्वासघात भी चलता रहे···सिर

दोनों हाथों में पकड़ कर वहीं धरती पर बैठ जाती है। उद्वेग में उसकी देह हिलती रहती है। पेश्कार भय और विस्मय की मुद्रा में कभी कमरे के भीतर और कभी बाहर सड़क की ओर देखता है। भीतर की ओर से राधा का प्रवेश !

राधा—हे माई हो···का होय गईल—(घबड़ाईसी बढ़ कर शीला के समीप फ़र्श पर बैठती है।)

शीला—(प्रयत्न से खड़ी होकर) चल···हट यहाँ से कें कें करने लगती है ! क्या हुआ रे तुझे, रो क्यों रही है ?

राधा—(आँचल से आँखें पोंछकर) नाहीं..तो..

शीला—नहीं तो....हर घड़ी आँख में बाढ़ लिए चलती है। जब कहीं जहाँ कहीं...हैरान कर दिया इस अभागिनी ने (आँख तरेरती है)

राधा—हूँ हम समझिन जड़ाय आगइल हौ...तब हियाँ काँपत काहे रहलिन ..खीस क बात का हौ एमें। हमरो ठिकान दूसर हौ का...

शीला—मर नहीं जाती अभागिनी...मुझे मार कर मरेगी। इसके डर से मेरे मन में न कभी रंज हो न खीझ, नहीं तो यह रोने लगेगी। यह विपत्ति कहाँ से आ धमकी मेरे सिर...

राधा—पेसकार जी। काठ बनल का खड़ा हव ? भितरें देख कि बहरे...(अरुचि से पेश्कार की ओर देखती है।)

शीला—(जैसे कुछ याद कर) अरे आप अभी तक खड़े हैं ! आप बड़े सीधे हैं...आपको अब तक यहाँ अडोल खड़ा नहीं रहना चाहिये था। यह सब तो साधारण समझ की बात। (पेश्कार सामने से हट कर अपने मेज़ के पास जाता है।) सड़क की ओर मोटर की ध्वनि सुनाई पड़ती है। पेश्कार नीचे सिर कर फाइल के पन्ने उलटने लगता है। शीला द्वार की ओर बढ़ती है।

पेश्कार—सरकार ! कुँवर साहब आगये। उनके साथ .. हाँ चेयरमैन और नगर कांग्रेस के प्रधान लीलाधार शर्मा हैं। वहीं सड़क पर ही उतर गये और खड़े खड़े......

शीला—चुप रहिये ..देख रही हूँ मैं भी...फिर भी तो वहीं सब गये। सड़क पर बातें करें या यहीं कुर्सियों पर बैठकर...बातें तो यहाँ भी होंगी।

पेश्कार—जी··तब···क्या—?

शीला—कौन है वह जो इस तरह हाथ फेंक कर बोल रहे हैं।

पेश्कार—नगर कांग्रेस के प्रधान...

शीला—वाह क्या हाथ चल रहे हैं नेता से अच्छे तो ये अभिनेता होते ··

पेश्कार—(धीमे स्वर में) क्या होते...

शीला—(मुस्कराकर) अभिनेता······

पेश्कार—क्या माने·····

शीला—ओह आप उर्दू वाले हैं। सिनेमा देखते हैं···

पेश्कार—दिन भर काम कर थकने में सिनेमा कौन जाय।

शीला—ऐसी बात नहीं है सभी इक्केवान, रिक्शेवाले, कारखाने के कुली सिनेमा देखते हैं। रामलीला में राम और रावण हर साल बनते हैं।

पेश्कार—हाँ और मैं बराबर प्रसाद लेकर लीला में आधी रात तक डटा रहता हूँ।

शीला—अच्छा तब आप नहीं थके होते ? उसमें जो राम या रावण बनता है वह असल राम या रावण तो होता नहीं राम का काम जो उस समय करता है वह अभिनेता है।

पेश्कार—और रावण का···

शीला—यह तो एक ही बात हुई। नाटक में जो लोग दूसरों के नाम पर खेल करते हैं सभी अभिनेता हैं।

पेश्कार—तो शर्माजी भी तो गांधीजी, नेहरूजी, पन्तजी, टण्डनजी का खेल दिखाते हैं। हाँ तो जो दूसरे का खेल दिखाता है क्या होता है ?

शीला—जो दूसरे का व्यापार करता है वह अभिनेता है।

पेश्कार—मतलब कि जो सर्राफ़ी करता है कपड़े का व्यापार करे वह क्या हो जायेगा ?

शीला—आप को समझाना कठिन है। व्यापार को आप केवल रोज़गार समझते हैं। चम्पा से पूछियेगा अभिनेता किसे कहते हैं बतादेगी वह ?

पेश्कार—नहीं वह क्या जानेगी अभी तीन साल में तबतक कितना पढ़ गई।

शीला—वह जितना पढ़ गई है उतने ही में आप के समय में लोग मजिस्ट्रेट होते थे। इन नौकरियों के जाल में ही अंग्रेज़ों ने पहले इस देश को फाँसा था और ऐसा कड़ा···कस कर बाँधा कि वे अब जा रहे हैं फिर भी उनका जाल उतना ही कड़ा है। नेहरू और पटेल जब उसमें फँसे गये तो फिर काटजू आदि की बात कौन कहे।

पेश्कार—तो यह लोग···नेता लोग भी सरकारी नौकर बन गये।

शीला—बिल्कुल···उस जाल की एक गाँठ भी यह लोग नहीं खोल सके। जैसी व्यवस्था तब चलती थी आज भी वैसी ही चल रही है। शासन का जो ढंग विदेशी शासकों ने चलाया था वैसा ही अब भी चल रहा है। हमारी स्वतन्त्रता का एक ही अर्थ है।

पेश्कार—क्या······

शीला—अंग्रेज़ों के नकल करते जाना···उनके बनाये रास्ते से ही स्वतन्त्र भारत भी चलेगा···उस रास्ते में कुछ भी उलट फेर करने की सूझ हमारे नेता नहीं दिखाते।

पेश्कार—तो आप समझती हैं कि बात की बात में सब कुछ नया हो जाय··सारे ढंग बदल जायँ···

शीला—होता तो ठीक यही। इस देश में पहले भी साम्राज्य चलाने की शक्ति रही। उस शासन से सीखना अधिक अच्छा होता, किन्तु यहाँ तो शोर अधिक है। काम करना कोई चाहता ही नहीं। कोई भी पेड़ अपनी ही जड़ों से जीता रहता है, यह सीधी सी बात ये नहीं समझ पाते। देखना है विलायत के साँचे पर हमारा यह स्वराज्य कब तक जी सकेगा। (ओठ पर उँगली रखकर एक टक बाहर की ओर देखती है।)

राधा—कुँअर जी अबो तो उहें खड़ा हयन। तब हम जाइके कहीं···दिन त कुल बीत गयल···(उठकर आगे बढ़ती है)

शीला—(हाथ से मनाकर) मार देंगे एक झापड़ बस धरती पकड़ लेगी। चली है उनको छेड़ने। जब लोगों से बात कर रहे हैं यह जायेगी हुक्म सुनाने। भूख लगी है···चल तुझे देदूँ।

राधा—तब काहे न···ई जीभ हम काटि फेंकब··· मालिक लोग भूखल रहें मों खाइ लेईं। ईहै हमार करन हो। रानी बहू। आजु का बाय तोहरें मन में···जनम तोहरे संगें बीतल···कवनी उपाय करबउ रधिया दूसर ठेकान नाहीं धरी····

शीला—अरे ठिकाना मनुष्य का नहीं है दैव का होता है। और फिर ऐसे सन्देह से क्या देखती है ?

राधा—रानी जी···

शीला—हाँ··वह··(एक टक उसकी ओर देखती है)

राधा—मोहूं साथे··चलब··

शीला—कहाँ···कहाँ चलेगी तू···

राधा—जहाँ आप लोगन जाब··

शीला—हम अपने घर जायेंगे···

राधा—उन्हूं···हम हूँ···

शीला—तेरे घर वाले जाने देंगे ? (उसकी ओर देखती हुई) नहीं नहीं···ऐसी अधीर न हो··· अच्छी बात देखी जायगी।

पेश्कार—(बाहर से) आ रहे हैं अब··कुंवर साहब···

शीला—भला··· (राधा से). चली जा यहाँ से अब भीतर...जा भी...जहाँ रहूंगी तुझे न छोड़ूंगी। (राधा का प्रस्थान) शीला कमरे की दूसरी ओर की दीवाल के पास जाकर खड़ी होती है और शंकर के चित्र की ओर देखती रहती है) पार्वती ! यह तुम्हारा स्थान अभी तक सुरक्षित है···भूतभावन भगवान के बाँये से अभी तक खिसकी नहीं ! इस देश में नारी का यह स्थान छीना जा रहा है···।
(बाहर बोली सुनाई पड़ती है।)

पेश्कार—जी, हाँ···सब काग़ज ठीक है। तब तक आप कुछ···

कुँअर रामदयाल—(हँसते हुए) तो देवीजी ने प्रचार कर दिया···ठीक है प्रकृति अपने स्वभाव में सदैव विवश है। कमरे में प्रवेश कर शीला के निकट

पहुँचते हैं। शीला तन्मय सी चित्र देख रही है। शीला के कन्धे पर धीरे से हाथ रखते हैं। शीला भावपूर्ण आंखों से उन्हें देखकर सिर झुका लेती है। ऐसे ही रह गई ? (प्रायः ३५ वर्ष की अवस्था—लंबा स्वास्थ्य गोरा शरीर। प्रभावपूर्णआंखें और ललाट।)

शीला—क्या करती‥अब तो चलो…

रामदयाल—मैंने लिख भेजा था…

शीला—मुझे मिल भी गया…पर…

रामदयाल—इसमें तुम हिल नहीं सकती केवल इसी जगह…

शीला—क्या है यह ऐसा…

रामदयाल—यही कि यहाँ तुम्हारा जन्म जैसे सौ वर्ष पहले हो गया !

शीला—रहने दो…नये कपड़ों में शरीर नया नहीं बन-जाता, तुम दिन भर ऐसे रह गये कैसे मैं भला और तो और उस [illegible] ने भी कुछ नहीं लिए।

रामदयाल—मैं तो फिर भी अभीकुछ भोजन न करूंगा। बड़े काम के लिए तैयारी भी बड़ी करनी होती है।

शीला—(उसका हाथ पकड़ कर खींचती हुई) अब नहीं…देखूं कैसे नहीं चलते…इस नौकरी से मैं पहले ही…छोड़ दिया कोई फ़टी…

रामदयाल—अभी छोड़ कहाँ दिया उस पंजाबी लड़की का बयान लेकर छोड़ूंगा। कांग्रेसी सरकार से न्याय में भी मुझे मदद न मिलेगी। फिर भी मेरे भीतर जो शक्ति है महाकाल की उस विभूति का धर्म तो मुझे बचाना ही है। लीलाधर शर्मा अगर कांग्रेस के सभापति भी कहते हैं—'भाई इस समय हमें विष पीना है नहीं तो 'इन अंग्रेज़ों की नीति काम कर जायेगी। कांग्रेस जानती है कि हर मुसलमान हाकिम पहले लीगी है और बाद में हाकिम…फिर भी कांग्रेस इस समय उन्हें छूट दे रही है।

शीला—यह तो तुम नित्य ही कहते हो, कोई नई बात नहीं।

रामदयाल—और इसीलिये मैं आज त्यागपत्र दूँगा। मैं ही नहीं…यही गति रही तो बहुतेरे [illegible] नौकरियों से निकल जायेंगे। नेताओं ने [illegible] त्याग किया अब वे उसका फल बटोर रहे हम अब त्याग करें और इसका फल हमारी [illegible] पीढ़ी बटोरे। ऐसे न देखो…तुम्हारी आँखों यह कातरता मुझे डिगा देगी।

शीला—किसी नौकरी के लिए नहीं इस शरीर [illegible] लिए…

रामदयाल—इसके लिए भी नहीं। कलकत्ते और लाहौर में इस शरीर से अधिक मूल्यवान शरीर नष्ट हुए

शीला—इस शरीर से मूल्यवान…होगा…उसकी कल्पना भी मैं…और फिर यदि करनी ही हो तो फिर इस उपद्रव में जब कोई बड़ा नेता मर जाय गणेशशंकर ऐसे शहीद जब हों…लेकिन पटेल या वह बेचारा हँसोड़ [illegible]…जब इनमें कोई इस हत्याकाण्ड में खेत [illegible] तब अवश्य उसका शरीर इस शरीर से मूल्यवान होगा।

रामदयाल—हूँ‥ हूँ इन लोगों पर बिगड़ने से क्या होगा। मनुष्य परिस्थिति का दास है, उनका क्या दोष…

शीला—लेकिन यह बात ये कब मानते हैं। यहाँ तक भी कुशल थी। ये अदम्य अहंकारी और व्यक्तिवादी हैं। शब्दों के वेग में वे परिस्थिति और प्रकृति को उड़ा देते हैं। अंग्रेज़ों से पूंजी उधार लेकर…जिन आँखों से ये देखते हैं, वे अंग्रेज़ों की आँखें हैं—जिन कानों से ये सुनते हैं वे अंग्रेज़ों के कान हैं। जिन शब्दों में ये बोलते हैं वे अंग्रेज़ों के शब्द हैं…इनके विचार इनके विश्वास इनकी मान्यतायें सब अंग्रेज़ों की हैं। यह ऋण की पूंजी कितने दिन चलेगी। देश का दीवाला होकर रहेगा।

रामदयाल—राभी। छोटे मुंह बड़ी बातें…धूल उड़ाकर सूर्य नहीं छिपाओगी।

शीला—वाह रे वाह ! बाँस में बाँधे मिट्टी के तेल के दीप को तुम सूर्य समझ लो। लेकिन उससे वह पोषण, वह बल न मिलेगा जो सूर्य से मिलता है।

[illegible] वर्ष से एक साथ ये इतने सूर्य टिमटिमा रहे [illegible] देश को इनसे क्या पोषण, क्या बल मिला ?

रामदयाल—(मुस्कराकर) विजयालक्ष्मी होतीं यहाँ तब तुम्हारी बुद्धि ठिकाने आती ?

शीला—(कानों पर हाथ रखकर) जी नहीं…उसमें कोई मोह मुझे नहीं है‥यश और जीवन साथ नहीं चलते (मुस्कराकर दाँत से ओठ काटती है)

रामदयाल—(कलाई की घड़ी देखकर) अरे‥तुम जाओ भीतर…यह कमरा बन्द कर लो समय हो गया अब सब आते ही होंगे। (सड़क पर मोटर की ध्वनि) आगई पुलिस की लारी… (दोनों हाथों से उसके कन्धे पकड़कर सीधे उसकी आँखों में देखते हुए) तो ठीक है…बयान के बाद ही मैं त्यागपत्र लिखूंगा और यहीं कचहरी में उस मुसलमान कलक्टर के पास भेज दूंगा।

शीला—निश्चय यह काम तुम अधिकार और रुचि के कारण करते रहे: धन की चिन्ता तुम्हें नहीं है।

रामदयाल—(उसे खींचकर छाती से लगाता है और बाहर निकल जाता है। कमरे का द्वार अपने पीछे लगा देता है।

शीला—खुला रहेगा। मैं उसे देखूंगी।

रामदयाल—अच्छी बात लेकिन रो न पड़ना। (द्वार एक ही धक्के में खुल जाता है। बड़ी मेज के पीछे सड़क की ओर मुंह कर कुर्सी पर बैठता है।)

फ़ाइल—

पेशकार—(उठ कर फ़ाइल मेज पर रख कर वहीं खड़ा होता है। बँगले के सामने पुलिस लारी रुकती है। उसमें से एक सब इन्सपेक्टर, तीन सशस्त्र सिपाही, डिप्टी कप्तान और डाक्टर उतरते हैं जो साधारणतः अपने वेश से ही पहचान पड़ते हैं। इनके बाद कोई अधेड़ गोरी स्वस्थ स्त्री जो सलवार, कमीज़, पाजामें से पंजाबिन लगती है किसी लड़की को सहारे से उतारती है जिसकी आँखें भीतर धस गई है। उस लड़की का रूप घोर विकृत हो गया है। आँखों से बराबर पानी निकल रहा है। दाँत से ओंठ चबाती है और रह रह कर आँखें ऐसे खींच कर मूंदती है कि भौंहें भी भीतर आँखों के गढ़े में छिप जाती हैं।

रामदयाल—आइये जनाब रहमत अली साहब दौरान बयान में आप मौजूद रहेंगे या थानेदार त्रिलोकी राम से काम चल जायगा। (सामने की कुर्सी की ओर संकेत करते हैं।)

रहमत अली—आप जानते हैं यह मामला कैसा संगीन है। शहर में हिन्दू मुस्लिम दंगा न हो जाय मजिस्ट्रेट को इसका सदमा है।

रामदयाल—बैठिये तब खुशी से‥हमें कलक्टर के हुक्म पर चलना है।

रहमत अली—(सामने की कुर्सी पर बैठते हुए) जी हाँ हम सरकारी नौकरों को इस वक्त बहुत संभल कर चलना है। (मुस्कराता है)

रामदयाल—ज़रूर और शायद इसीलिये‥डाक्टर साहब आइये (अपने दायें कुर्सी पर हाथ रख कर) बैठिये यहाँ‥

डाक्टर—(आगे बढ़ कर कुर्सी पर बैठते हुए) जी धन्यवाद…

रहमतअली—(मुस्करा कर) क्या कह रहे थे आप अभी…(सशस्त्र सिपाही एक ओर सामने से हट कर कतार में कन्धे पर बन्दूक भरे खड़े होते हैं। लड़की को हाथों के सहारे वह अधेड़ स्त्री सीढ़ियों से ऊपर चढ़ाती है)।

रामदयाल—श्रीमती जी उसे वहीं खम्भे से टेक देकर बैठा दीजिए।

डाक्टर—जी नहीं बैठ नहीं सकती वह (कुर्सी से खड़े होकर अपने पेट से लेकर घुटने तक दोनों हाथ फेरता है) यह सब सड़ गया है आगे-पीछे दोनों ओर। इधर कुछ आराम है दो दिन तक तो इंजेक्शन और दवा लगाने पर भी अधिकतर बेहोश रही।

रामदयाल—खड़ी कब तक रहेगी ? (रहमत अली की ओर देख कर) आपके लीगी दोस्त बुरा न मानें तो इसे लेट रहने को कुछ मंगा लिया जाय इसकी शिकायत तो न होगी।

रहमतअली—जनाब आप मुझे तरफदारी का इल्जाम लगाते हैं। (क्रोध में यह लड़की आपके कौम की है शायद आप इसे फूलों पर लिटाइये किसी दूसरे का क्या··· होम मिनिस्टर तक आपकी यह बात जायेगी इसे आप समझे रहें।)

रामदयाल—(मुस्कराकर) और खुदा किस कौम का है जनाब···

रहमतअली—(घमंड में) जो उसके बन्दे हैं···

रामदयाल—मेरी बात उस तक तो तब नहीं जायेगी··· इस लड़की की दर्द भी नहीं गई होगी!

रहमतअली—जनाब आप दंगा कराने पर तुले हैं या इस बदज़ात लड़की का बयान लेंगे?

अधेड़ स्त्री—(जो उस लड़की को पकड़े एक ओर बरामदे के खम्भे के सहारे खड़ी है) डाक्टर साहब यह कप्तान इस लड़की को गाली दे रहा है···आप इसके गवाह हैं।

रामदयाल—विद्यावती देवी! विपत्ति धैर्य से कटती है और फिर इस अभागिनी का सम्मान अब कहाँ है आप शान्त रहें।

रहमतअली—आप इसका बयान लेते हैं या मैं जाऊँ, कलक्टर से कह दूँ—

रामदयाल—मैं पहले आपका बयान लूँगा (पेशकार से लिखो जी इनका बयान। एक फ़र्द मुझे भी दो मैं भी लिखता चलूँ। पेशकार कागज़ उसके सामने रखता है।)

रहमतअली—मैं कोई बयान नहीं दूँगा (उसकी आँखें दहक उठती हैं और साँस तेज़ पड़ जाती है।)

रामदयाल—आपने इस लड़की को कल मेरे सामने क्यों नहीं हाज़िर किया? आप कल अस्पताल दिन में तीन चार बार और एक बार रात को भी किस मतलब से···

रहमतअली (क्रोध में भभक कर) जनाब मैं गया था— मैं ही नहीं मेरे साथ डी० एम० भी थे इसलिये कि यह हिन्दू औरत आपकी साज़िश में मुसलमान लड़की को हिन्दू बना रही है।

रामदयाल—तो मैं आपका यह बयान लिख लूँ···

रहमतअली—कितने पानी में हैं जनाब आप··· कायदे आज़म जब तक बरकरार हैं कोई हमारा रोयाँ भी नहीं छू सकता। आप यही न साबित करना चाहते हैं कि हम सभी मुसलमान अफ़सर लीग का काम करते हैं तो लीजिये सुन लीजिये करते हैं और करेंगे। आपके कांग्रेसी मिनिस्टर क्या यह नहीं जानते हैं यह ताब उनमें कि हमसे जवाब तलब करें।

रामदयाल—बेमतलब बातें नहीं सीधे बयान देकर दस्तखत कीजिये।

रहमतअली—अरे दोस्त पाकिस्तान में कोई हिन्दू हम रहने न देंगे। तुम्हारी इण्डिया में मुसलमान तुम्हारी छाती पर रहेंगे। तुम्हारे सीनों में छुरा मारेंगे और तुम्हारी लड़कियों को उड़ाते रहेंगे। कुछ और सुनोगे। मुबारक हो तुम्हारी यह कांग्रेस की वज़ारत, पटेल और नेहरू मुबारक रहें। अभी तुमने क्या देखा आगे और देखोगे। तुम्हें यही सुनाने के लिये डी० एम० वर्मा साहबने कोर्ट में तुम्हें बयान नहीं लेने दिया। मुख्तारों और वकीलों को न आने दिया यहाँ भी नहीं तो हिन्दू तमाशाइयों से यह जगह भर गई होती। उस लड़की का एक एक घाव तुम्हारे हिन्दू आखों में जमा लेते।

डाक्टर—(घृणा से) आदमी की बोली बोलिये हज़रत··· आप अदालत का अपमान भी कर रहे हैं।

रहमत—(सिर हिला कर) और आप इसके गवाह हैं क्यों? पाकिस्तान में बेगमी तनख्वाहें मिल रही हैं, कायदे आज़म ज़िन्दाबाद। नेहरू ताकते रह गये जनाब···हमारे जिना शहंशाह पाकिस्तान बन गये। नसीहत··· हर हिन्दू को नसीहत लेनी चाहिए। इस्लाम का सितारा बुलन्द है।

डाक्टर—और मुसलमान खाने बिना मर रहे हैं। इसी बुलन्द सितारे ने बंगाल में बीस लाख मुसलमानों को भूखे मार डाला।

रामदयाल—रुकिये···हाँ हाँ···वर्मा जी···

डाक्टर वर्मा—क्रोध मारा नहीं जाता कुँअर साहब··· नहीं तो···

रामदयाल—डाक्टरी की बातें नहीं···राजनीति की बोली इस समय बोली जा सकती है। जनाब रहमत साहब के गले से जिना बोल रहे हैं··· अंग्रेज़ों की शह बोल रही है···इस देश का दुर्भाग्य बोल रहा है। पता लगाया जाय तो कुछ सौ वर्ष पहले इनके पूर्वज हिन्दू रहे होंगे! अब तो ये मज़े में उनको भी इनकार कर देंगे।

रहमत—देखिये जनाब अब खैरियत नहीं है।

रामदयाल—सो तो मैं देख रहा हूँ··· लेकिन मैं उसके लिए तैयार बैठा हूँ छिप कर कोने से मारने वाले बहादुर नहीं होते। मुसलमान अधिक गरीब हैं उनके पेट की चिन्ता लीग को होनी चाहिए।

रहमत—क्या नहीं हो रही है। सिन्ध, पंजाब, बंगाल के हिन्दुओं के मकान, कोठियाँ, रोज़गार खेती उनकी औरतें भी मुसलमानों को मिल गईं। कमाया हिन्दुओं ने खा रहे हैं मुसलमान। चींटी की तरह हिन्दू कमाते हैं शेर की तरह मुसलमान खाते हैं। (शीला दोनों हाथों में कोच का गद्दा उठाये बाहर निकलती है और पंजाबी महिला के निकट पहुंचती है। रहमत मुस्कराता रहता है।)

शीला—इसे इस पर लिटा दो बहन (गद्दा वहीं डाल कर लौट पड़ती है।)

रहमत—यह है कौमपरस्ती और, हमें तरफ़दारी के इल्ज़ाम लगाते हैं। मजिस्ट्रेट की बीबी अपने ही हाथ गद्दा डाल गई।

डाक्टर वर्मा—खबरदार उनकी शान के विरुद्ध एक शब्द भी निकाला तो···

रहमत—(कुर्सी से उठ कर 'कमर' की पेटी में लगी पिस्तौल निकाल कर) यह···यह कम से कम आठ को भून देगी।

थानेदार—(जो एक ओर सिपाहियों के साथ खड़ा है) इधर चार हैं और भुनना एक को होगा। (अपनी पिस्तौल निकाल लेता है) तीनों सिपाही भी बन्दूकें सीधी करते हैं।

रामदयाल—(झटके से खड़े होकर दोनों हाथ फैलाकर) बस···बस।

त्रिलोकीराम—यही तो आफ़त है। यह मुसलमान कप्तान जो चाहे करले जब से आया गालियाँ दे रहा है···धमकियाँ दे रहा है। सारी जाति के विरुद्ध विष उगल रहा है। हम चींटी हैं यह शेर है। धिक्कार है इस नौकरी को···

रहमत—(बँगले से नीचे उतरते हुए) जा रहा हूँ डी० एम० से कहूँगा कि मैजिस्ट्रेट ने मुझे मारने की कोशिश की। मेरे मातहत थानेदार और कानस्टेबुल मुझ पर बन्दूकें तान बैठे···।

त्रिलोकीराम—जाओ···मुँह बन्द कर जाओ···ताकत भर उठा न रखना, बस इस समय मुहं बन्द करो। (रहमत अली पुलिस वाली लारी पर बैठता है) यह नहीं होगा। तुम एक हो हम चार हैं और, इस लड़की को भी कहीं रखना होगा। रामधन लारी नहीं जासकती! (लारी के इंजन की ध्वनि होकर बन्द हो जाती है।)

रामदयाल—रायसाहब, यह आपने क्या झंझट मोल ले लिया!

त्रिलोकीराम—यह बातें बाद में होंगी। हुज़ूर लड़की का बयान लेकर रवाना करें! नौकरी छोड़नी होगी तो साथ छोड़ेंगे। (सिपाहियों की ओर देखकर) क्यों भरोसे, महावीर, जग्गू···क्या राय है।

सब सिपाही—यही तो···हम सब साथ ही नौकरी छोड़ेंगे।

भरोसे—बदमाशी और चोरी से पैसे न कमायें तो जो मिलता है खेत के कोने में उपज जायगा और फिर सब कुछ सहा जा सकता है···यह हरामी सब को एकही साथ गाली देता रहा। हाकिम के सामने इनको भी··

रामदयाल—ठहरो··वर्मा जी··

डा० वर्मा—जी···हाँ अभी चुप रहिये··देह का एक एक बूंद रक्त जल रहा है। मैं भी सरकारी नौकर हूँ···त्याग-पत्र की बात मैं भी सोच रहा हूँ। कल दिन भर आज भी इसने मुझे अपमानित किया। मेरे सामने ही इस लड़की को दोनों कल-

धमकाते रहे बेचारी इन देवी जी को भी गालियाँ सुनाया दोनों नें।

विद्यावती—इनका शिकार जो इनके हाथ से निकल रहा था। जितनी स्त्रियाँ यहाँ के मुसल्मान भगा लाए हैं ये दोनों जानते हैं। कलक्टर भी जानता है।

रामदयाल—हमारे और उनके दृष्टिकोण में ही भेद है। अधिक सही यह होगा कि उनकी संस्कृति और हमारी संस्कृति का यही भेद है। हम निर्दय नहीं हो सकते। अनाचार से हमारी आत्मा काँप जाती है। रक्त देखकर हम सिहर उठते हैं।

डा० वर्मा—तो यह भी निश्चित है कि हमारी संस्कृति टिक नहीं सकती। मुसल्मानी राज्य में जो नहीं मिटी अब मिट जायेगी!

रामदयाल—संस्कृति का सच कभी नहीं इतिहास है। जिनकी संस्कृति बहुत बढ़ जाती है उन्हें प्रकृति रख नहीं पाती। ये मिट जाते हैं। समुन्नत संस्कृतियों का नाश बराबर असभ्यों ने किया है। यूनानी संस्कृति के मिटाने वाले बर्बर असभ्य थे। रोमानी संस्कृति भी असभ्यों ने ही समाप्त किया था। प्राचीन मिश्र और असीरियन सभ्यता के मिटाने वाले भी मानव पशु थे। अपने देश में भी हूणों और दूसरे असभ्यों ने कम उत्पात नहीं किया। वही असभ्यता रहमत के भीतर जाग उठी है। हम से उसकी शक्ति अधिक है यह तो साफ़ है। शायद इस लड़की की हड्डियों को भी वह खा जाना चाहता है।

डा० वर्मा—कांग्रेस वालों ने देश का समझौता मान कर यह संकट पैदा किया। पिछले सालों में लीग के हाथ समझौता के लिए लोग जितने दबते गए, उनकी कमज़ोरी खुलती गई। कैबिनेट मिशन, वावेल, पार्लमेंट के मंत्री हर किसी ने देखा कि स्वतन्त्रता के मोह में कांग्रेस की राजनैतिक बुद्धि मन्द पड़ी है। यही समय है चारा बिछा कर जाल लगाने का। पंछी फंस गए अब फड़फड़ाते हैं।

त्रिलोकीराम—हमारे शत्रु मुसलमान नहीं हमारे ही नेता हैं। सब ओर से हाथ पैर बाँध कर इन्होंने हमें आग में झोंक दिया है। अब बयान हो जाय पता नहीं मुसलमान कलक्टर कोई हुक्म भेजदे।

रामदयाल—नहीं मुझे सिटी मजिस्ट्रेट से हटाने में प्रांतीय सरकार से राय लेनी पड़ेगी। इतनी जल्दी आकाश से वह न टपक पड़ेगा। (पेश्कार से) आप यहीं धरती पर ही बैठ जाइये और बयान लिखिये देवी जी··· (पेश्कार आगे बढ़ कर बैठ जाता है)

विद्यावती—जी···

रामलाल—कह दीजिये उस बेचारी से डर की कोई बात नहीं है। अब यह अस्पताल में नहीं भेजी जायगी, अब कोई बदमाश नहीं पहुंच सकेगा। निडर होकर जो पूछा जाय उसका जवाब वह दे।

विद्यावती—(लेटी हुई लड़की के मुँह के पास झुककर) सुन रही हो बेटी डरना मत। अब कोई डर नहीं है। ज्योति···

ज्योति—(टूटे शब्दों में) कल···यह जो अभी यहाँ से गया और वह जिले का कलक्टर···क्या कह रहे थे। यहीं कहीं मुझे फिर उसी घर में जाना पड़ेगा जहाँ से अस्पताल में आई··· हाय! (फूट कर रोने लगती है। रामदयाल हथेली से आँखें मूदते हैं। डाक्टर वर्मा ऊपर देखने लगते हैं। त्रिलोकी राम दाँत से ओठ काटता है।

शीला—(बाहर निकल कर) नहीं···नहीं रो मत बेटी (उसके निकट जाकर खड़ी होती है) अब तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा।

ज्योति—(उसकी ओर देखती है! विश्वास की चमक इसकी आकृति पर फैल जाती है। बायें हाथ के सहारे वह आधा उठ बैठती है।)

डाक्टर वर्मा—लेटी रहो वैसे कष्ट होगा।

ज्योति—कैसे कहूं मैं···इतनी लज्जा घृणा और···

शीला—हाकिम के यहाँ बयान है बेटी···मन को कड़ा करना होगा। मन को कड़ा करो तभी तुम्हारा अब निर्वाह है।

ज्योति—(कुछ सोचती हुई) मन को कड़ा रखें···तो फिर पूछिये अब···मन को कड़ा···हाँ, हाँ.

रामदयाल—अच्छा अब आप भीतर चलिये। बयान के बाद इसे सन्तोष दीजियेगा। नहीं तो बयान का गवाह आपको भी बनना पड़ेगा। क्यों वर्मा जी पति की अदालत में पत्नी गवाह बने···।

डा० वर्मा—यही नहीं लीग वाले इस पर बड़ा ही हल्ला मचायेंगे।

पेश्कार—कहो गंगा गोसइयाँ जान सच कहूँगी।

ज्योति—मेरे मुंह में बलात् मांस डाला गया (काँप कर) पता नहीं किस जाव का और रात को किसी ने आठ···आठ गुण्डे···हाय···अब मन को कड़ा (देह हिला कर) तो मैं···मेरा धर्म तो बिगड़ चुका है गंगा और भगवान की शपथ फिर कैसे···।

रामदयाल—यह अदालत है। जैसी चाल है चली जायेगी। और फिर बलात् बिगाड़ने से धर्म नहीं बिगड़ता। धर्म जब तक अपने मन से न बिगड़े···।

ज्योति—(सकार में) तो क्या कहूँ?

पेश्कार—गंगा जान गोसइयाँ जान सच कहूगी।

ज्योति—गंगा गोसइयाँ जान सच कहूंगी।

रामदयाल—तुम्हारा नाम क्या है?

ज्योति—ज्योति सरीन।

रामदयाल—तुम्हारी अवस्था कितने वर्षों की है?

ज्योति—अभी चौदह में पाँच महीने कम हैं।

रामदयाल—तुम यहाँ कैसे आई···?

ज्योति—(थोड़ी देर चुप रह कर जीभ से ओठ चाटती रहती है) आरम्भ से ही कहूं न··।

रामदयाल—हाँ तुम जितना ठीक जितना सच कह सको।

ज्योति—(कई बार गनगना कर) रावलपिण्डी ज़िले में उस शहर के बाहर हमारा घर था। एक पहर दिन चढ़े मुसलमानों का हमला वहाँ सब हिन्दू और सिक्ख घरों पर हुआ। घरवालों ने डर से बाहरी दरवाज़ा बन्द किया लेकिन दरवाज़ा तोड़ कर वह सब भीतर चले आये। सारे घर में बच्चे औरतें रोने लगे। मर्दों ने आगे बढ़ कर रोकना चाहा (फफक फफक कर रोने लगती है और वहीं धरती पर सिर पटक देती है। विद्यावती उसका सिर पकड़ कर ऊपर उठाती है और हाथ से उसका ललाट सहलाने लगती है।)

विद्यावती—(रुँधे कण्ठ से) अभागिनी अब सिर तोड़ कर क्या मिलेगा। वहीं क्यों नहीं मर गई सिर फोड़कर, छुरी मार कर या आग लगा कर··।

ज्योति—इसीसे तो यह सब भोगना पड़ा···देह सड़ गई···मुँह में मांस ठूसा गया···गला पकड़ कर दारू पिलाई गई। क्या कहूं कितना कहूं···मन कड़ा कैसे करू···।

(रामदयाल और वर्मा एक दूसरे की ओर देखते हैं। दोनों की आँखे भर आई हैं।)

त्रिलोकीराम—देर करने से तुम्हारा कष्ट और बढ़ेगा। साँस रोक कर कहो।

ज्योति—साँस रोक कर मन कड़ा कर···मैं सब न कह सकूंगी। आप जितना जितना पूछे बिना काम न चल सके पूछिए।

रामदयाल—तुम्हारे घर के कितने मर्द मारे गये?

ज्योति—आठ मर्द और छ बच्चे।

रामदयाल—कितनी स्त्रियों को पकड़कर ले गए सब···

ज्योति—दोनों भाभी को और मुझको···

रामदयाल—एक साथ ही तुम तीनो को····?

ज्योति—हाँ घर में तो तीनों को चार, चार, पाँच, पाँच, ने मिल कर उठालिया। दरवाज़े के बाहर सब को साथ ही निकाला लेकिन फिर दोनों को मैंने नहीं देखा कहाँ ले गए।

रामदयाल—तुम को सड़क पर कैसे ले गये?

ज्योति—घर से सड़क तक उठाकर ले गये। सड़क पर दोनों ओर से बांह पकड़ कर घसीटना शुरु किया। मैं बैठ जाना चाहती थी तो लात से मार देते थे। उसके बाद कुछ देर में मैं बेहोश होगई।

रामदयाल—फिर तुम्हें चेत कब आया?

ज्योति—एक बड़े से मकान में शायद वह इस्लामियाँ स्कूल था। दीवारों पर उर्दू में शेर लिखे थे। उसी के बड़े हाल में मेरी जैसी सैकड़ों लड़कियाँ, कुछ मुझसे बड़ी भी थीं।

रामदयाल--वहाँ तुम्हारे साथ क्या किया सबों ने··· ?

ज्योति—वहाँ सब को बरजोरी मुहँ में बोतल की टोंटी डाल कर दारू पिलाया गया।

रामदयाल—(लम्बी साँस लेकर) और उसके बाद...

ज्योति--वहीं सब को बुरका पहना दिया गया। मुझे उसी दम हाथ पकड़ कर बाहर ले आये और पर्दे से घिरे टांगे पर चढ़ा कर रवाना हो गए। रास्ते भर उस टांगे वाले के साथ हँसते हँसते स्टेशन पहुचे। मेरे साथ एक मर्द भी बुरके में उस टांगें में बैठ गया और मुझे चिकोटी काटकर कहता रहा अगर मैंने गाड़ी में हल्ला किया तो मुझे छुरा मार देगा।

रामदयाल--तुम रेल पर कब सवार कराई गई ?

ज्योति—दिन में ही दोपहर के बाद दो दिन दो रात गाड़ी में बिता कर यहाँ भी दिन में ही उतारी गई और यहाँ भी बन्द टांगे में बैठाकर लाई गई। टाँगा वाला जैसे पहले से ही सब जानता था

रामदयाल—हूँ....संगठन और तैयारी भी तो कुछ है। थोड़े से जर्मन नात्सी यूरप भर को नचाते रहे, जर्मन जनता उनके डर से विवश थी।

डा० वर्मा—वही दशा यहाँ भी है.. मुसलमान जनता भी हिन्दू जनता की तरह संकट में है। यहाँ भी बस दस, बारह, बिगड़े दिमाग मुसलमान लोगी सर्वेसर्वा हैं। अंग्रेज़ी सरकार ने मुसलमान नौकरों के दम पर लीग को खड़ा कर रक्खा है। ये सारे अत्याचार मुसलमानों के भीतर जोश भरने के लिए किये जा रहे हैं।

रामदयाल—अच्छा तो तुम यहाँ कहाँ रखी गई ?

ज्योति—ऐसे अंधेरे मकान में कि दोपहर के पहले उसमें रोशनी की छाहें तक नहीं मिलती थीं।

रामदयाल—कितने दिन तुम यहां ऐसे पड़ी रही ?

ज्योति—तीन महीनें से कुछ अधिक यहीं कई दिन तक बलात् मांस मुझे खिलाया गया। आठ हत्यारों में जो जब चाहता था क्या दिन क्या रात..कभी कभी तो मूर्छित हो जाने पर भी··हाय! भगवान! जब मेरी सारी देह सड़ गई उस दिन अस्पताल में मुझे डाल गए। और अब कुछ नहीं मुझसे अब कु न पूछिये। मुझे कहीं ऐसी जगह भेजिये जहां तो मनुष्य का मुंह देखने को मिले और न सूर्य दर्शन हों। देह सड़ गई मेरी आंख अभी न फूटी। अब इस आंख से क्या करना है।

रामदयाल—बस एक बात और तुम किसी को पह चानती हो उनमें किसी का नाम जानती हो ?

ज्योति—पंजाब में मेरे साथ जो रहे वे दिल्ली से लौ गए, दूसरे उनकी जगह आ गये। कानपुर फि बदल गए। यहाँ वाले कानपुर से मुझे यहाँ ले आए। वहाँ से दो साथ आए यहाँ वे आठ होगए देखने पर मैं सब को पहचान लूँगी। बोली भी सब की पहचानती हूँ। नाम तो दो ही आ (सोचती सी) रहमान और शेरअली···

रामदयाल—बस अब कुछ नहीं···अब तुम जा सकती हो

ज्योति—कहाँ (कातर और भयभीत सी हो रही है)

रामदयाल—हाँ यह भी तो है। विद्यावती देवी···

विद्यावती—समझ रही हूँ मैं···नारी कल्याण ही मेरे जीवन का व्रत इधर पन्द्रह वर्षों से है। मैं नित्य नियम से यहाँ के अस्पतालों में जाकर बीमार बहनों की सेवा करती हूँ। ऐसे ही ज्योति को देखा और इसकी कहानी सुनी···किन्तु मेरे पास सामान कुछ नहीं है। फिर भी क्या ठीक है कि मेरे यहाँ यह सुरक्षित रह सकेगी या मुझपर कोई संकट नहीं आयेगा। यों मैं अपने संकट से डरती भी नहीं।

रामदयाल—तब··· ?

विद्यावती—मैं ठीक कर आई हूँ। स्थानीय गुरुद्वारे में इसका प्रबन्ध हो जायेगा। कौन जाने कप्तान और कलक्टर की शह पर गुण्डे फिर कोई काम न कर बैठें। गुरुद्वारे में लोहे से भेंट हो जायगी।

रामदयाल—पेशकार बयान पर ज्योति और विद्यावती के हस्ताक्षर ले लो। वर्मा जी···

डा० वर्मा—मैं भी हस्ताक्षर करदूँगा।

(पेशकार सब से हस्ताक्षर लेता है।) और उस कप्तान का··· ?

रामदयाल—क्या··· ?

डा० वर्मा—उस पर अदालत के अपमान का मामला चलना चाहिये।

रामदयाल—हमारा मन्त्रिमण्डल संकट में पड़ेगा। हिन्दू मुसलमान का प्रश्न पैदा हो जायगा।

डा० वर्मा—ओह! तो आप भी समझौता की भावना में पड़े हैं। जिसमें पड़कर नेहरू और पटेल ने देश को ही डुबा दिया।

रामदयाल—लेकिन मैंने आज ही त्याग पत्र देने का निश्चय किया है: इस नौकरी से प्राण बचे।

डा० वर्मा—अर्थात् लीगी बदमाशों के सामने हम बराबर सिर झुका दें। यह भी बुरा न होता यदि इसका कहीं अन्त देख पड़ता। कांग्रेस ज्यों ज्यों दबती गई इनके हौसले बढ़ते गये। कहीं तो हमें डट कर इनका सत्य और नीति के नाम पर सामना करना ही है।

रामदयाल—इस समय हमारे नेता भी कुछ ऐसा सोचने लगे हैं।

डा० वर्मा—नेताओं की जड़ता हमें छुड़ानी होगी। हमारे ही बल से वे बली रहे। हमने उन्हें देव-भाव से पूजा। हम फिर पूजेंगे उन्हें। देवता भी कभी कभी संस्कार चाहता है। आपको अभी त्याग पत्र तो देना ही नहीं है।

रामदयाल—मेरा निश्चय अब नहीं टूटेगा। आज सबेरे से मैंने एक बूंद जल भी नहीं पिया केवल इसके योग्य आत्मबल पाने के लिए। मेरी स्त्री भी आज निर्जल है यहाँ तक कि नौकरानी भी जिसे देवीजी सगी बहिन की तरह मानती हैं।

त्रिलोकीराम—सरकार तब तो हम लोग कहीं के न रहेंगे। अपने लिए नहीं कुछ दिन हमलोगों के लिए आप और रह जाँय। प्रान्तीय सरकार यदि अदालत का अपमान चलाने का अवसर न दे तब फिर हम पाँच स्तीफ़ा देंगे।

डा० वर्मा—पाँच क्यों महोदय मुझे आप क्यों छोड़ रहे हैं। मैं भी आपकी राय का हूँ। मैं भी त्यागपत्र दूंगा यदि मन्त्रिमण्डल फिर भी नीति और व्यवस्था लीग के डर से छोड़ता है।

रामदयाल—यह मुझसे सुन लीजिए। लीलाधर शर्मा यही राय देते हैं कि इस समय हम तरह दे जाँय। कांग्रेस भी बदनाम होगी।

डा० वर्मा—(हंसते हुए) हमारे विभीषण हमारे भीतर हैं। सत्य और अहिंसा की चिन्ता भी ये छोड़ चुके हैं। फिर भी आप अभी नहीं त्याग पत्र देंगे। आप अपने निकल भागना चाहते हैं, इससे समाज का कल्याण नहीं है। जनता के लिए और शासन के लिए आपको कुछ दिन अभी रहना है।

रामदयाल—अभी एक व्यक्ति की राय मुझे और लेनी है।

शीला—(भीतर से) ठीक है जब तक समाज मुक्त नहीं होता व्यक्ति की मुक्ति न होगी। समाज के हित में व्यक्ति के सारे बन्धन, सारे संकट, मान अपमान सब कुछ शंकर के विष की तरह पूजित है।

रामदयाल—(घूम कर कमरे में देखते हुए) तो तुम यह इतनी देर...आँखें लाल हो गई हैं तुम्हारी... शंकर की भांति विष पीने में जिसे विश्वास है उसकी आंखों में आंसू नहीं रहते। (सब विस्मय में परस्पर देखते हैं) पर्दा गिरता है।

हिन्दी काव्य में विधवा

डा० कमल कुलश्रेष्ठ एन० ए०, डी० फिल्०

इन्द्रधनुषी शत-शत रंगों के फूलों वाले उपवन में जब कोकिल अपने मदिर स्वर से अणु परमाणु को रस सिक्त कर रहा हो, तरु-लताओं का उल्लास पल्लवों में साकार हो रहा हो और मृदु मधु पवन कोने कोने को मादकता से परिपूर्ण कर रहा हो, उस समय एक ही रात में मधुमास का सारा ऐश्वर्य यदि पतझड़ के चरणों पर बिखेर दिया जाय तो उपवन जैसे स्तंभित रह जायगा। उसकी समझ में नहीं आया कि यह सब क्या हो गया और कैसे हो गया। जीवन के सरस मधुमय यौवन में वैधव्य भी कुछ वैसी ही वस्तु है। जब माधुर्य, मधु, मादकता, विलास, केलि, क्रीड़ा की पूर्ति ही जब मिट जायगी, तब इनकी सत्ता नहीं रह सकती और जब इनकी सत्ता नहीं बचेगी तो उनका स्थान दुःख, वीतरागिता, अवसाद, शांति और वैराग्य ले लेते हैं। बीते हुए सुखद अतीत को ललचाई हुई दृष्टि से हृदय बार बार देखता है और मुखसे एक दारुण एवं गहरी आह के अतिरिक्त कुछ नहीं निकलता। भारतीय समाज में नारी का एक ही लक्ष्य रहा है—[illegible]। जब पति नहीं तो संतान नहीं हो सकती और जब संतान नहीं हो सकती तो नारी का जीवन व्यर्थ हो जाता है। वह अपने पति की मृत्यु की कारण भी प्रायः समझी जाती है।

उसके सुख-सौभाग्य का नष्ट होना हिंदी कविता में विशेष चित्रित किया गया है। वैसे हिन्दी साहित्य में विधवा नारी के थोड़े से ही चित्र हैं। हिंदी काव्य के उज्ज्वल प्रभात में कबीर ने कहा था कि पति की मृत्यु पर स्त्री बहुत दिनों तक दुखी नहीं रहती—

> तेरह दिन तक तिरिया रोवै
> फेर करै घर वासा।

कबीर शायद बहुत अधिक यथार्थवादी और नारी विरोधी थे। यही कारण है कि मां को तो आजन्म दुखी और बहिन को दस मास दुखी मानते थे और पत्नी को उसके प्रणय में अविश्वास करनेके कारण केवल तेरह दिन दुखी मानते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने कोई दूसरा उल्लेख नहीं किया। वे साधना-पथ में अपने को नारी मानते थे और अजन्मा तथा अमर राम उनके पति थे। ऐसा अखंड सौभाग्य प्राप्तकर उनकी आत्मा को भला विधवाओं से क्या सरोकार होता।

कृष्णभक्त कवि सूर की भी परिस्थिति कुछ ऐसी ही है। कृष्ण अनादि अनंत हैं—

> नित्य धाम वृन्दावन श्याम

फिर भला उनकी राधा या अन्य गोपियां विधवा कैसे हो सकती थीं। और जब राधा और अन्य गोपियां वैधव्य की तन-मन को झुलसा देने वाली कड़ी धूप से बहुत दूर हैं, तो फिर सूर को उससे कौन सा लगाव हो सकता था? अपने लौकिक जीवन में भी सूरदास वैधव्य से प्रभावित नहीं थे।

कृष्ण के अखंड सुहाग भरी मीरा अपने लौकिक जीवन में विधवा थी। परंतु उनका मन कृष्ण में इतना उलझा था कि अमर साँवलिया के रहते उन्हें अपना वैधव्य शायद कभी याद ही नहीं आया। कृष्ण की प्रणयिनी के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक ही था।

मलिक मुहम्मद जायसी एक कथा कह रहे थे। नायक रत्नसेन की मृत्यु पर उनका कथानक एक ऐसे मोड़ पर आ गया है जहां पर वैधव्य का चित्र आवश्यक था; परंतु मध्य युग का ज़माना और राजपूत जाति। उसकी दोनों पत्नियाँ ही जौहर रचती हैं और जौहर की चिता में तन-मन और जीवन सदा सर्वदा के लिए समाप्त कर देती हैं। पद्मावती के वैधव्य तुषारावृत जीवन का चित्र जायसी अपनी कुशल लेखनी से खींचते हैं—

> पदमावति पुनि पहिरि पटोरी।
> चली साथ पिउ के होइ जोरी॥

> सूरुज छपा, रैन होइ गई।
> पूनो ससि, सो अमावस भई।
> छोरे केस, मोति लर छूटीं।
> जानहुं रैनि नखत सब टूटीं॥
> सेंदुर परा जो सीस उघारा।
> आगि लागि चह जग अँधियारा॥

पद्मावती के केश बिखरे हुए थे, मांग के मोतियों की लड़ियां छूटी हुई थीं और ऐसा प्रतीत होता था मानो रात में सारे नक्षत्र टूट कर बिखर रहे हों। सिर की मांग का काले बालों के बीच का लाल सिंदूर मानो यह सूचित करता था कि अंधेरे संसार में अब आग लगना चाहती है।

और पद्मावती अत्यंत दृढ़ स्वर में सती बनने का निश्चय व्यक्त करती है—

> सारस पंखि न जियहिं निनारे।
> हौं तुम्ह बिनु का जियौं, पियारे!॥
> नेवछावरि कै तन छहरावौं।
> छार होउँ सँग, बहुरि न आवौं॥
> दीपक प्रीति पतंग जेउ
> जनम निबाह करेउँ।
> नेवछावरि चहुं पास होइ
> कंठ लागि जिउ देउँ॥

और सती बनने में पद्मावती को किसी प्रकार का क्लेश नहीं है। सती बन कर प्रिय की चिता की ज्वाला में भस्म हो जाना शायद जायसी की दृष्टि में प्रणय की पूर्णता थी। इसी कारण पद्मावती शांत स्वर में कहती है—

> यही दिवस हौं चाहति, नाहा।
> चलौं साथ, पिउ! देइ गलबाँहा॥

अपने ऊपर प्रणय का प्रमाण देने की जैसे पद्मावती प्रतीक्षा कर रही थी और जब वह प्रतीक्षित दिन आया तो वह दुख का अनुभव कर ही कैसे सकती थी। उसको तो हर्ष सा ही हो रहा था! इसी कारण वह कह रही था—

> आजु सूर दिन अथवा,
> आजु रैनि ससि बूड़।
> आजु नाचि जिउ दीजिय,
> आजु आगि हम्ह जूड़॥

किन्तु नागमती और पद्मावती वैधव्य की दारुण ज्वाला में नहीं जलती। वे अपने कर्त्तव्य से परिचित हैं और इसी कारण प्रणयका उत्तर प्रणय से ही देना चाहती हैं—

> जियत, कंत! तुम हम्ह गर लाई।
> मुएँ कंठ नहिं छाँड़हिं साईं॥
> औ जो गाँठि, कंत! तुम्ह जोरी।
> आदि अंत लहि जाइ न छोरी॥
> यह जग कह जो अछहि न आथी।
> हम तुम, नाह, दुहूँ जग साथी॥

भारतवर्ष न तो एक जन्म में विश्वास करता है और न एक जगत में। वह पुनर्जन्म और परलोक में विश्वास करता है। इस कारण पद्मावती और नागमती सती हो जाती हैं। कवि हमें बतलाता है—

> लेइ सर ऊपर खाट बिछाई।
> पौढ़ीं दुवौ कंत गर लाई॥
> लागीं कंठ आगि देइ होरी।
> छार भईं जरि, अंग न मोरीं॥

वे जलकर राख हो गईं लेकिन उन्होंने जलन का अनुभव नहीं किया। और इसी कारण—

> रातीं पिउ के नेह गइँ,
> सरग भयउ रतनार।
> जो रे उवा सो अथवा;
> रहा न कोइ संसार॥

उनके जाने से स्वर्ग आभापूर्ण हो गया और जायसी की नागमती और पद्मावती को विरह की वह दारुण व्यथा नहीं झेलनी पड़ी जो कि वैधव्य की खरी कसौटी है। सती बनने की धुन और दूसरे लोक में मिलन कामना एवं विश्वास से भरे हुए पद्मावती एवं नागमती के हृदय अंत तक विरह व्यथा का अनुभव नहीं करते। वास्तविक वैधव्य उन्हें भोगना ही नहीं पड़ा, परंतु सती होने का यह चित्र जायसी का हिंदी साहित्य में अपना अकेला है।

तुलसीदास की कहानी ही दूसरी है। उनकी कहानी उन्हें परंपरा से मिली है। कहानी के मोड़ों को वे बदल नहीं सकते, हाँ अन्य छोटे-मोटे परिवर्तन वे पूरी तरह कर सकते थे। इस परंपरागत कहानी में दो प्रमुख

प्राणी की मृत्यु हुई है—दशरथ और रावण। परंतु तुलसी की लेखनी रामचरित लिख रही थी। इस कारण उन्होंने इन घटनाओं को कोई खास महत्व नहीं दिया। इनका वर्णन उन्होंने विस्तार में बहुत ही अल्प दिया है। वे उनकी करुण दशामात्र का चित्रण करते हैं। दशरथ की विधवा पत्नियों के विषय में वे इतना ही बतलाते हैं कि वे हिम से पीड़ित लताओं के समान थीं।

देखी राम दुखित महतारी।
जनु सुबेलि अवली हिम मारी॥

रावण की पत्नी मंदोदरी रावण की मृत्यु पर विलाप करती है। वह उसके ऐश्वर्य, बल एवं प्रताप का स्मरण करती है—

तव बल नाथ डोल नित धरनी।
तेज हीन पावक ससि तरनी॥
सेष कमठ सहि सकहि न भारा।
सोइ तनु भूमि परेउ होइ छारा॥

और फिर रामभक्त कवि तुलसीदास उसके मुख से यह भी कहलाते हैं—

राम विमुख अस हाल तुम्हारा।
रहा न कोइ कुल रोवन हारा॥

और रामभक्ति में डूबकर तुलसी इतने बेसुध से हो जाते हैं कि मंदोदरी से वे इतना तक कहलाते हैं—

अहह नाथ रघुनाथ सम
कृपासिंधु को आन।
मुनि दुर्लभ जो परम गति
तोहि दीन्ह भगवान॥

मंदोदरी की इस उक्ति से तो कुछ ऐसा आभास-सा भी मिलता है कि उसको रावण की मृत्यु पर यदि हर्ष नहीं है तो कोई क्लेश भी नहीं है।

तुलसी के काव्य में अपेक्षाकृत मानवीय संतुलित हृदय की कमी है। वे रामभक्त थे, अतएव मानस में प्रत्येक बात रामभक्ति के दृष्टिकोण से लिखी गई है। उन्होंने रावण की मृत्यु पर दुख नहीं दिखलाया। कोई भी पत्नी पति की मृत्यु पर सत् असत् की विवेचना नहीं करती। मृत्यु मात्र से उसको जो दारुण व्यथा होती है, वह शोक ही इतना अधिक होता है कि विधवा उसी की अभिव्यक्ति आंसुओं, शब्दों तथा अन्य क्रि[illegible] द्वारा करके जी हल्का करने की कोशिश करती है। [illegible] के बाद तुरत वह ऐसी बातें नहीं कहती, जिसमें पति[illegible] निन्दा सी हो या मृत्यु के कारणों की विवेचना [illegible] कारणों की विवेचना करने की शक्ति तो उसमें [illegible] बाद में आती है। रामभक्ति की झोंक में तुलसी [illegible] बिल्कुल ही भूल गए हैं। किसी के वैधव्य से भी [illegible] राम कथा में विशेष मोड़ आता है और न रामभ[illegible] का विशेष संबंध दिखलाई देता है, इस कारण तुल[illegible] द्वारा अंकित वैधव्य के चित्र असफल से हैं। न[illegible] उनमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की विशेषता है और [illegible] काव्य की कलात्मकता।

केशव की रामचंद्रिका में राम विधवा स्त्री[illegible] कर्तव्य बतला रहे हैं

गान बिन मान बिन हास बिन जीवहीं।
तप्त नहिं खाय जल सीत नहिं पीवहीं॥
तेल तजि खेलि तजि खाट तजि सोवहीं।
सीत जल न्हाय नहिं उष्ण जल जोवहीं॥
खाय मधुरान्न नहिं पांय पनहीं धरैं।
काय मन वाच सब धर्म करिबो करैं॥
कृच्छ्र उपवास सब इंद्रियन जीतहीं।
पुत्र सिख लीन तन जौं लगि अतीतहीं॥

इस प्रकार राम बतलाते हैं कि विधवा को संगीत[illegible] सम्मान, हास-परिहास से दूर रहना चाहिए। न तो उन्हें गरम भोजन करना चाहिए और न शीतल जल पीना चाहिए। उन्हें क्रीड़ाओं से अपने को विलग रखना चाहिए और चाहिए कि शरीर में तेल न लगवाएँ। चारपाई पर सोना उन्हें अपेक्षित नहीं है। ठंडे पानी से नहाना उनके लिए उचित है और गरम पानी से उन्हें नहीं नहाना चाहिए। वे न तो मधुर भोजन करें और न पैर में जूते पहिनें। मन वचन काय से धर्म में निरत रहना उनका कर्तव्य है। उपवास आदि के द्वारा उन्हें इंद्रियाँ जीत लेनी चाहिए और जीवन पर्यन्त पुत्र के सहारे रहना चाहिए।

केशवदास की मंदोदरी रावण की मृत्यु पर वैधव्य से व्यथित होकर विलाप करती है—

जीति लिए दिगपाल अची की उसासन,
[illegible] देव नदी सब सूकी।
बासर हू निसि देवन की
[illegible] नर देवन की रहै संपति हूकी।
तीनहु लोचन की तरुनीन की
बारी बँधी हुती दंडहु दूकी।
सेवित स्वान सियार सो रावन
सोवत सेज परे अब भूकी॥

इसमें भी विधवा अपनी गहरी रेखाएँ लेकर नहीं आती। उसके जीवन की शून्यता, अवसाद, विषाद, प्रारंभिक अशांति, विवाह की स्मृति, स्मृति के बवंडर, तूफ़ान के बाद की स्तब्धता और पति के प्रतीक पुत्र में अधिक स्नेह कुछ भी चित्रित नहीं किया गया। परंतु फिर भी पति के विगत वैभव की याद करना कम से कम तुलसी से तो कुछ न कुछ अधिक स्वाभाविक ही है।

रीतिकाल में विधवा कवि की भावुक सहानुभूति आकर्षित नहीं कर सकी। उस समय लिखे गए प्रबंध काव्यों में विधवा विलाप अवश्य दिखलाया गया, परंतु उसमें किसी भी मौलिक या नूतन विशेषता के दर्शन दुर्लभ हैं। सामाजिक रूप से वैधव्य एक ऐसा शाप समझा जाता था कि शायद उससे शापग्रस्त नारी से परकीया रति भी वर्जित थी।

आधुनिक युग में वैधव्य के उस शाप के विरोध में आवाज उठाई गई। आज की कविता की मनोवैज्ञानिक सहानुभूति की परिधि में वह शाप भी आया और मैथिलीशरण गुप्त ने "साकेत" में वशिष्ट मुनि के मुख से कहलाया—

देखियो, ऐसा नहीं वैधव्य।
भाव भव में कौन वैसा भव्य॥

वे उस अनुपम भव्य भाव की प्रशंसा करते हुए उसकी विशेषताएं भी बतलाते हैं—

धन्य वह अनुराग निर्गत राग।
और शुचिता का अपूर्व सुहाग॥
अग्निमय है अब तुम्हारा नाम।
दग्ध हों जिसमें स्वयं सब काम॥

वे पति की चिता पर जलकर सती बनने से अधिक महत्व वैधव्य का मानते हैं—

सह मरण के धर्म से भी ज्येष्ठ।
आयु भर स्वामि-स्मरण है श्रेष्ठ॥

वे अपने इस विचार का बड़ा सीधा लेकिन बड़ा सही कारण भी बतलाते हैं—

सहन कर जीना कठिन है देवि।
सहज मरना एक दिन है देवि॥

उनका यह तर्क स्पष्ट ही बड़ा शक्तिशाली है। भावुकता तथा बुद्धि को यह शांति सा देता है। वे कौशल्या आदि को स्पष्ट आदेश देते हैं—

तुम जियो अपना वही व्रत पाल।
धर्म की बल वृद्धि हो चिर काल॥

और कौशल्या आदि उनके उस तर्क से अभिभूत होकर इस आदेश को स्वीकार कर लेती है।

वैसे कवि ने विधवा रानी कैकेयी का चित्र भी खींचा है। चित्रकूट में—

सबने रानी की ओर अचानक देखा।
वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु-लेखा॥

इसमें चित्र की भव्यता दर्शनीय है। कौशल्या का भी चित्र वह आँकता है। चित्रकूट में—

जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया।
हत जिसकी पंकज पंक्ति, अचल-सी काया॥
उस सरसी सी, आभरणरहित, सित वसना।
सिहरे प्रभु मां को देख, हुई जड़ रसना॥

इसमें कौशल्या की निराभरणता एवं शुचिता पर ज़ोर दिया गया है। राम पहली बार मां का यह रूप देख रहे हैं और उन्हें दशरथ की मृत्यु का समाचार ज्ञात नहीं है, इस कारण वे सिहरते हैं, परन्तु कथा का साधारण पाठक जानता है कि इसमें सिहरने की कोई भी बात नहीं है।

इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने विधवा के चित्रण में दो मौलिक विशेषताएँ अंकित की हैं—

१. वैधव्य की विवेचना।

२. विधवा स्त्री का श्लाघ्य एवं आदर्शवादी चित्र।

वैधव्य की इतनी सुंदर विवेचना उन्होंने की है कि सती के जल मरने से उसे ऊँचे आसन पर लाकर बैठा दिया है। सती के प्रति पाठक के हृदय की सहानुभूति किसी प्रकार कम नहीं होती। विधवा का जो चित्र उन्होंने दिया है यद्यपि विशेष विशद या मार्मिक नहीं है, लेकिन फिर भी हिंदी के लिए मौलिक है। उस चित्र के उपमान अवश्य अत्यन्त सजीव एवं मार्मिक हैं।

परंतु यही सब कुछ नहीं है। श्री गोपालशरण सिंह ने विधवा के जीवन पर एक कविता लिखकर उसके दुखों का चित्रण किया है। वे वैधव्य में नारी के वास्तविक अभाव की ओर संकेत करते हैं। प्रिय नहीं रहा तो—

पूजा की सारी सामग्री
रह गई जहाँ की तहाँ वहीं।
पर प्रिय पूजा का अधिकारी
अवनी में कोई रहा नहीं॥

वे इस अमूर्त के मूर्त चित्रण के पश्चात उसकी दशा भी संवेदनापूर्वक बतलाते हैं—

भींगा ही रहता है हरदम
तुझ अभागिनी का अंचल।

गोपालशरण सिंह विधवा के सामाजिक चित्रण की ओर ध्यान न देकर उसकी वास्तविक व्यथा की ओर ध्यान देते हैं। वे व्यक्ति की व्यथा में घुलमिल जाते हैं।

विधवा स्त्री के दर्पण की व्यथा रामनरेश त्रिपाठी ने चित्रित की है। दर्पण अपने सुख के दिनों की बात बतला रहा है कि उसे किसी दिन कितना आदर तथा स्नेह प्राप्त था—

प्रियतमा ने पाकर एकांत
चूमकर हर्ष मनाया था,
जानकर प्रियतम की प्रिय वस्तु
हृदय से मुझे लगाया था।
और आज वह दिन आ गया है कि—
धूल की चादर से मुँह ढाँक,
पड़ा था भार लिए मन का।
मूक भाषा में हाहाकार
मचा था उसके क्रंदन का।

छायावादी शैली में निराला जी ने विधवा पर कविता लिखी है जो अपने मूर्त अमूर्त विधानों के होते हुए भी विशेष सफल एवं महत्वपूर्ण नहीं है। वे कहते हैं—

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीप शिखा-सी शांत भाव में लीन,
वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।

और व्यावहारिक स्वर से पूछते हैं—

कौन उसको धीरज दे सके?
दुःख का भार कौन ले सके?

इस प्रकार हिंदी काव्य में विधवा नारी के जो विविध चित्र अंकित किए गए हैं, उनमें विशेष मार्मिक कोई नहीं है। सभी चित्र साधारण हैं। 'निराला' की कविता भी साधारण है। मैथिलीशरण गुप्त ने वैधव्य को जो महत्ता बतलाई है वह अवश्य महत्वपूर्ण है। परन्तु विधवा के स्वभाव का कुछ सजीव चित्र गोपालशरण सिंह खींच सके हैं।

इन समस्त चित्रों में कुछ बड़ी कमियाँ भी हैं। विधवा की सामाजिक विषमताओं की ओर कवियों का ध्यान नहीं गया है। वह एक ओर तो आर्थिक अभावों की मूर्ति बन जाती है और दूसरी ओर प्रणय का अभाव एवं खाने का अवसाद भी उसे बेकल बना देता है। इन अभावों से व्यथित होकर वह जो मानवी पथ ग्रहण कर बैठती है, उसका भी कवि चित्र नहीं खींच सके। विधवा नारी में जो सामाजिकता एवं समाज सेवा के संभाव्य गुण हो सकते हैं, वे भी हमारे कवियों को आकर्षित नहीं कर सके हैं।

आदर्शवाद की शृङ्खलाओं में बँधे हुए विधवा के चित्र जो हिंदी साहित्य में खींचे गए हैं वे समाज के यथार्थ से काफी दूर हैं।

मार्क्स की विशेष देन

श्री फूलनप्रसाद वर्मा एम० ए०, बी० एल०

मार्क्सवाद के लिए यह दावा किया जाता है कि यह एक पूर्ण दर्शन है और ऐसा दर्शन जिसमें एक ही विचार अखंड रूप से ओतप्रोत है। मार्क्सवाद के सबसे बड़े टीकाकार प्लेखनॉव इसको ठीक नहीं समझते कि मार्क्सवाद के ऐतिहासिक और आर्थिक भाग उसके दार्शनिक आधार से अलग किए जायँ। यह दार्शनिक आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा जाता है जो मार्क्स की सबसे बड़ी कृति समझी जाती है।

हमें ऐसा ज्ञात होता है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन में मार्क्स की मौलिकता उतनी अधिक निहित नहीं है, क्योंकि वहाँ उसने हेगेल के द्वन्द्वात्मक पद्धति को और फ्यरबाख के भौतिकवाद को स्वीकार कर लिया (जिसको यद्यपि उसने शुद्ध किया है और विस्तृत किया है) जितना कि उत्पादन के विकासशील कौशल द्वारा किए गये महत्त्वपूर्ण कार्य के आधार पर इन बातों की व्याख्या करने में है कि वर्त्तमान समाज किस प्रकार अस्तित्व में आया, क्यों आज बिखर रहा है, किस प्रकार का समाज इस स्थान पर आ सकता है और आधुनिक युग में अथवा सामाजिक और कौशल के विकास के उच्चतर युग में सामाजिक न्याय की उपलब्धि के लिए किस प्रकार का सामाजिक परिवर्त्तन आना चाहिए था।

इतिहास में ऐसे अन्य नेता भी हुए हैं जो सामाजिक न्याय, समानता और सारी मानवता की स्वतंत्रता के सपनों द्वारा प्रेरित हुए हैं। मार्क्सवाद की विशेष देन यह है कि वह बताता है कि अन्याय और असमानता राज्य और समाज की वर्गवादी प्रकृति में स्वभावतः विद्यमान रहते हैं और जब तक एक अल्प संख्यक वर्ग-विशेष उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों को अपने नियंत्रण में रखता है तब तक सामाजिक न्याय उपलब्ध नहीं हो सकता है; और अल्प संख्यकों द्वारा एक बड़े जनसमूह पर यह शोषण तब तक नष्ट नहीं हो सकता है जब तक सम्पूर्ण आर्थिक आधार ही परिवर्त्तित न हो जाय। मार्क्स ने बताया कि संपत्ति का उत्पादन अधिक से अधिक सहयोग का फल होता गया और इसका स्वामित्त्व कतिपय हाथों में ही अधिक से अधिक केन्द्रित होता गया; स्वतंत्रता की उपलब्धि के लिए तो स्वामित्त्व भी सहयोगिक होना चाहिए था। मार्क्स के अनुसार यह परिवर्त्तन उन्हीं लोगों द्वारा लाया जा सकता था, जो वर्त्तमान अवस्था से दुःखी थे तथा जिसका नाम सर्वहारा है। मार्क्स ने एक विस्तृत व्याख्या द्वारा यह दिखाया है कि आधुनिक आर्थिक व्यवस्था ने एक ओर तो कल कारखानों के शक्तिशाली सेनापतियों (पूंजीपतियों) को उत्पन्न कर दिया है और दूसरी ओर सर्वहारा की सेना को जो उत्पादन की क्रिया के ही कारण संगठित और एक हो गई है। मार्क्स के अनुसार यह सर्वहारा सेना ही जो वर्त्तमान सभ्यता के सांस्कृतिक और आर्थिक लाभ तथा सुविधाओं से वंचित रहती है—परिवर्त्तन लाने में क्रान्तिकारी कार्य संपादित करेगी। यह अपनी प्रमुख स्थिति और क्रान्तिकारी शक्ति के कारण (जो इसके दिन ब दिन बढ़नेवाली आपत्तियों के कारण उत्पन्न हुई हैं) पूंजीवाद का विध्वंस करेगी और एक अन्तरिम तानाशाही स्थापित करेगी तथा पश्चात् एक वर्गविहीन समाज के युग में प्रवेश करेगी। 'मारेल मैन और इम्मोरल सोसाइटी' में नैबुर कहता है कि इतिहास अकेला यह दिखावेगा कि सर्वहारा जो वर्तमान सभ्यता का शिकार है अन्त में संपूर्ण समाज को वह सभी सुविधाएँ एक बड़े पैमाने पर देकर जो वर्त्तमान सभ्यता में आज कतिपय लोगों को ही उपलब्ध है—इसका रक्षक बनेगा। इसके लिए हम प्रतीक्षा करेंगे और देखेंगे।

लेकिन यह कहा जा सकता है कि ऐसे देशों में जो कि औद्योगिक रूप से उन्नतिशील हो चुके हैं, सर्वहारा इस ऐतिहासिक कार्य को भी अभी तक पूरा करने में समर्थ नहीं हो सका है और जब मार्क्स ने अपनी यह भविष्य वाणी की तब उसकी दृष्टि में भली प्रकार संगठित एक औद्योगिक समाज था, जिसमें मज़दूरों का बहुमत था। मध्यम वर्ग और कुछ अधिक उन्नतिशील मज़दूरों की (जिनकी सहानुभूति का प्रदर्शन अनिश्चित रहता है) सहसा वृद्धि के कारण और विशेषतया विध्वंस के साधनों में (जिनमें एटम बम्ब तक आते हैं और जो अल्प व्यक्तियों के हाथों में केंद्रीभूत होगये हैं) यांत्रिक उन्नति हो जाने के कारण मार्क्स के समय की अपेक्षा आज सर्वहारा क्रान्ति की सफलता की समस्या और भी कठिन होगई है। रूस का उदाहरण इस बात में सहायक नहीं होता है जहाँ तक मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की पुष्टि का सम्बन्ध है, क्योंकि रूस आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ देश था और लेनिन यह नहीं चाहता था कि क्रान्ति के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी पड़े जब तक कि पूंजीवाद अपनी चरम सीमा तक न पहुँच जाय और अपने आप का स्वयम् ही विरोधी न बन जाय। लेनिन शक्ति को अधिकृत करने में सफल हुआ।

मार्क्स के सिद्धान्त का दूसरा स्पष्ट लक्षण यह है कि उसने चीज़ों को परिवर्तन के प्रवाह में देखा स्थिरता में नहीं, बल्कि क्रियात्मक शक्ति में। दूसरे अर्थ शास्त्रियों की भाँति नहीं, जिनके पूँजीवाद की व्याख्याएं ऐसे विचारों पर अवलम्बित थी जो कि निश्चित और स्थिर थे। मार्क्स पूंजीवाद को सामाजिक विकास में ए[illegible] गुजरता हुआ आवश्यकीय स्वरूप मानता था और उ[illegible] ज्ञात हुआ "कि (सिगनी हुक के उदाहरण में) मान[illegible] समाज का विकास एक दिशा दिखाता है यदि ए[illegible] सीधी दिशा नहीं तो ऐसा भी नहीं कि वह लक्ष्य में [illegible] आ सके।" "यह एक दिशा है जो प्रारम्भिक आ[illegible] प्राचीन कम्यूनिज़्म से लेकर बहुत से व्यक्तिगत सम्प[illegible] के स्वरूपों से होकर (उत्पादन के साधन, दासता[illegible] सामन्तवाद और पूंजीवाद) पूर्ण औद्योगिक कम्यूनिज़्म तक सबका स्वतंत्र रूप से विकास बतलाती है।" इ[illegible] प्रकार उसने देखा कि किस प्रकार मानवता का इतिहास अपने आप में स्पष्ट है।

वह आगे यह दिखाता है कि पूंजीवाद [illegible] आन्तरिक विरोध ही स्वयंमेव इस व्यवस्था को विन[illegible] करने में और समाजवादी क्रान्ति के प्रारम्भ करने [illegible] अग्रसर होंगे। वह परिवर्तन के अर्थ में इतिहास के चलते फिरते दृश्यों की व्याख्या करता है। इस समय हम यह कहना चाहते हैं कि मार्क्स के अध्ययन में हमारे कथनानुसार उसके विचार के [illegible] कुछ स्पष्ट लक्षण हैं और इनमें ही उसकी मौलिकता छि[illegible] हुई है, दर्शन की किसी विशेष व्यवस्था में नहीं जि[illegible] उसने स्थापित किया। दर्शन शास्त्र की दृष्टि से [illegible] "फेयरबाख + हैगल" और कुछ और है। उसने हैग[illegible] की द्वन्द्वात्मक पद्धति को मान लिया था यद्यपि उस[illegible] उलट दिया था—जो सिर के बल खड़ा था, उसे पैर[illegible] खड़ा कर दिया। फेयरबाख को विस्तृत कर दिया [illegible] और फिर दोनों को मिला दिया लेकिन ऐसा कर[illegible] उसने एक विशेष वस्तु उत्पन्न कर दी।

सोवियत रूस का महिला समाज

श्रीमती कृष्णा दीक्षित बी० ए०, बी० टी०

चाहे कोई भी देश हो अथवा कोई भी समाज और मानवीय विकास की दृष्टि से चाहे वह किसी भी अवस्था में हो प्रत्येक प्राणी के जीवन में किसी भी पद्धति के अनुसार सम्पादित विवाह एक प्रधान घटना होती है। यह घटना भी ऐसी घटना नहीं जो व्यक्ति की समझ में आसानी से न आ सके अथवा यह कोई ऐसी रहस्य भी नहीं जिसे जानना आज तक सम्भव न हो सका हो। वरन् यदि स्पष्ट कहा जाय तो विवाह जीवन का एक प्रधान उत्सव है जिसे जगत का प्रत्येक प्राणी सदैव से उत्सव के रूप में ही मनाता आया है। इस उत्सव में न केवल उत्पत्ति का मूल ही अन्तर्निहित है वरन् जीवन की अन्य समस्याओं और मानव व्यवहार के सरल संचालन के लिए विवाह एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है जिसमें पारस्परिक सहयोग की सत्ता प्रस्तुत रहती है। यह एक ऐसा क्षेत्र उत्पन्न करता है जहाँ प्राणी उसी सहयोग की सम्पत्ति के कारण अपना विकास करता है इसी कारण किसी भी देश का शासन विधान जिसका लक्ष्य जीवन का पूर्ण विकास करना होता है इस प्रश्न को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता है। उसे किसी न किसी प्रकार से वैवाहिक समस्यायें सुलझाने के लिए विधान बनाना ही पड़ता है। ऐसे विधान भिन्न भिन्न विचारकों की भिन्न भिन्न विचारधाराओं पर अवलम्बित होते आए हैं।

वर्तमान रूसी शासन ने जहाँ जीवन के अन्य क्षेत्रों में महान परिवर्तन किए हैं वहाँ स्त्री-पुरुष के वैवाहिक सम्बन्ध में भी उसने अपनी समानता की नीति अपनाई है। रूस की शासन प्रणाली जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह सामाजिक हो या राजनैतिक, आर्थिक हो या सांस्कृतिक, स्त्री और पुरुष के समान अधिकार की पोषक रही है। रूस की यह प्रवृत्ति वहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखने को मिलेगी। जैसे अन्य सामाजिक कृत्य चलाने के लिए राज्य की ओर से कानून निहित होते हैं उसी प्रकार वहाँ प्रत्येक विवाह का रूप कानूनी होता है अर्थात् उसकी रजिस्ट्री होती है। विवाह का यह बन्धन स्त्री और पुरुष को किसी दासता में नहीं बाँधता वरन् एक सुव्यवस्थित जीवन संचालन के लिए प्रोत्साहन देता है। वहाँ विवाह का आधार पारस्परिक स्वतंत्र इच्छा है जिसके भीतर सहयोग की भावना रहती है। स्त्री पुरुष पर न तो कोई धार्मिक बन्धन है न जातीय, न उप जातीय, और न कोई रूढ़िवादी सामाजिक बन्धन है। बालिग युवक और युवतियों पर किसी का अमानुषिक ज़ोर नहीं। न वहाँ हमारे यहाँ की तरह बालक बालिकाओं को पैसों से क्रय विक्रय किया जाता है, न (वैवाहिक कृत्य) माता पिता के आमोद प्रमोद के साधन समझे जाते हैं और न स्वयम् बालक बालिकाओं को न उनके सम्बन्धियों को ही पदलोलुपता का भूत सवार रहता है। विवाह जीवन में सहयोग का प्रतीक है और वह समान वय में, समान स्वास्थ्य में तथा समान प्राकृतिक सौन्दर्य और गुण में हो जाना चाहिए। सारी प्राकृतिक परिस्थितियाँ जब विवाह का सहर्ष अनुमोदन करें तो उस प्रकार का कृत्य हो जाना स्वाभाविक ही है। यह आवश्यकीय नहीं कि पास के ही रिश्ते में विवाह सम्पन्न हो और उनके प्रेम व्यवहारों की परिधि सीमित होकर विभिन्न उपजातियों की अप्राकृतिक सृष्टि करें। उन्हें पारस्परिक चुनाव में पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। वे दोनों मिल कर इस बात पर सहमत होते हुए हस्ताक्षर करते हैं कि वे एक दूसरे के स्वभाव; स्थिति तथा स्वास्थ्य से पूर्ण परिचित हैं। प्रकृति के कार्य सरल और सत्य होते हैं इसीलिये इनका परिणाम कल्याणकारी हुआ करता है। विवाह भी जब सरल सत्य की परिधि में आ जाता है तो उसका भी परिणाम सुखद और शिव होता है। उसके लिए वाह्य आडम्बर की

आवश्यकता कहाँ ? इस प्रकार सच्चाई और सहयोग की पारस्परिक सहमति का आदान प्रदान ही विवाह का कृत्य हो जाता है और वे विवाह नामक प्रेम सूत्र में जुड़ जाते हैं।

इस विवाह क्रिया के पश्चात् वर-वधू चाहे अपना अपना नाम विभिन्न रक्खें अथवा किसी एक ही उपनाम से संबोधित हों यह दोनों की इच्छा ही पर निर्भर है। वर-वधू अपने विभिन्न-विभिन्न उद्योग तथा पेशे भी रख सकते हैं अथवा एक ही उद्यम में भी लग सकते हैं यह सब उनकी इच्छानुकूल ही होता है। एक ही साथ भोजनादि का प्रबन्ध रक्खें अथवा अलग-अलग यह उनकी अपनी अपनी रुचि और सुविधा पर अवलंबित रहता है। विवाह के पूर्व की संपत्ति कानून की दृष्टि से दोनों के पास अलग अलग रहती है किन्तु विवाहोपरान्त की अर्जित वस्तु दोनों की सम्मिलित समझी जाती है। पारस्परिक सहमति और सुविधा के अनुसार गृह प्रबन्ध, शिशु पालन तथा अन्य घरेलू कार्यों का संचालन अधिकतर स्त्रियों द्वारा होता है तथा अन्य वाह्य उद्योगों और अर्जन सम्बन्धी कार्यों के वहन का भार पुरुष के दृढ़ कन्धों पर रहता है। दोनों का महत्व एक दूसरे से कम नहीं समझा जाता है। एक के ऊपर किसी भी प्रकार की दैवीय आपत्ति आने पर दूसरा उनका जीवनान्त सहायक होता है। (जिन भागों में राज्य ही व्यक्तियों के पूरे जीवन का उत्तरदायित्व लिए हुए है वहां व्यक्तिगत सम्पत्ति और आपत्ति का व्यक्तियों से सम्बन्ध ही नहीं) बच्चों के लिए पति पत्नी दोनों ही अभिभावक के रूप में रहते हैं तथा वे उनकी देख-भाल और शिक्षा आदि का प्रबन्ध समुचित रूप से करते हैं। बच्चों के नाम उनके अभिभावकों के नाम के ही अनुसार होते हैं। यदि माता पिता के नाम विभिन्न होते हैं तो दोनों की सम्मति से बच्चों के नाम रख लिए जाते हैं। यदि कभी परस्पर इसमें असहमति हुई (यद्यपि ऐसा होता देखा नहीं गया है) तो अदालत द्वारा नामकरण किया जाता है। जब तक बच्चे बालिग नहीं हो जाते तब तक या तो वे अभिभावक की देख रेख में रहते हैं या राज्य की ओर से संरक्षण पाते हैं।

सन् १९४४ के कानून द्वारा वहाँ तलाक [illegible] स्वीकृति हो गई है। तलाक दिलाने के पूर्व अ[illegible] इस बात का पूर्ण प्रयत्न करती है कि दोनों पति [illegible] में पुनः समझौता हो जाय। यदि तलाक अत्यावश्[यक] होता है तो अदालत यह भी निश्चय करती है कि [illegible] के पालन पोषण के लिए किसको कितना भाग [illegible] कमाई में से देना होगा तथा सम्मिलित सम्पत्ति [का] बटवारा भी अदालत द्वारा किया जाता है। सोवि[यत] सरकार उन लोगों की पूरी सहायता करती है जिन[का] परिवार बड़ा होता है। सरकार की ओर से अ[illegible] स्कूल, खेल कूद के केन्द्र तथा इसी प्रकार की अ[illegible] संस्थाएं खुली हुई हैं, जहाँ बच्चे बड़े आनन्द से अ[पना] दिन व्यतीत करते हैं। यह संस्थाएं बड़ी ही उन्न[ति]शील हैं। यहां का दृश्य बड़ा ही मनोरंजक [और] हर्षोत्पादक होता है। इस प्रकार की सहस्रों संस्था[एं] देश में फैली हुई मिलेंगी जहाँ बच्चों का स्वाभावि[क] लालन पालन होता है और जीवन की प्रत्येक सुविधा [illegible] राज्य की ओर से उन्हें प्राप्त रहती हैं। राज्य का [illegible] उद्देश्य रहता है कि प्रत्येक बच्चे को अपना जीव[न] स्वतंत्ररूप से विकसित करने का पूर्ण अवसर मिले [illegible] किसी के ऊपर परिवार का ऐसा उत्तरदायित्व नहीं [illegible] कि जिसके बोझ के कारण, वह समाज में पिस मरे और [illegible] जीवित रहना ही मनुष्य के लिए अभिशाप बन जाय [illegible] यहाँ का वैवाहिक तथा पारिवारिक जीवन अन्य दे[शों] की अपेक्षा कहीं अधिक कल्याणकारी प्रतीत होता [illegible] समान व्यवहार में सरलता और सत्यता के प्रत्यक्ष दर्श[न] होते हैं तथा जीवन सरस बनता है। अप्राकृतिक [illegible] भावों का अभाव यहां के जीवन को विशेष रूप [से] आकर्षक बना देता है।

राजनैतिक, आर्थिक तथा शिक्षा के क्षेत्रों में [illegible] स्त्रियों को पुरुषों जैसे समान अधिकार प्राप्त हैं। [illegible] कारखाने, व्यवस्थापक सभाओं तथा अन्य राजकी[य] विभागों में स्त्रियां स्वतंत्ररूप से प्रवेश करती हैं और [illegible] अपने अपने उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक संचाल[न] करती हैं। सोवियत संघ के राजनैतिक पदों पर [illegible] आसीन होकर उसी प्रकार शासन कार्य में योग [illegible]

[illegible] देती हैं जिस प्रकार पुरुष। प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री को जो [illegible] बालिग है स्वतंत्र मताधिकार प्राप्त है। चुनाव में स्त्रियां सक्रिय भाग लेती हैं। शासन के निम्न से निम्न संस्था [illegible] के तथा सोवियत संघ के बड़े से बड़े पद को प्राप्त करने में वे स्वतंत्र हैं। प्रत्येक चुनाव में सरकार द्वारा यह प्रयत्न किया जाता है कि अधिक से अधिक मतदाता मत प्रदान करें। गुप्त बेलेट पद्धति द्वारा मत प्रकाशन होता है अतः प्रत्येक अपने स्वतंत्र भाव प्रकाशन का अधिकारी है। जीवन के क्षेत्र की ऐसी कोई भी दिशा नहीं जहाँ पर रूसी महिलायें सफलता पूर्वक अपना कार्य संचालन न कर रही हों। चाहे शान्ति का समय हो अथवा युद्ध का, उन्होंने अपनी सक्रियता और समान कौशल का परिचय दिया है और विश्व के सारे महिला समाज को सत्कृत्यों द्वारा विशेष रूप से आकृष्ट किया है।

दार्जिलिंग की दरारें

श्री मोहनसिंह सेंगर

इस लेख के लेखक एक प्रसिद्ध पत्रकार हैं। उनका भारतवर्ष के किसी भी दलविशेष से सम्बन्ध नहीं है। वह जिसे देश और समाज के लिए सही तथा आवश्यक समझते हैं, उसी ओर जनता का ध्यान खींचते हैं। इस लेख में उन्होंने दार्जिलिंग की सामाजिक समस्या पर हमारा ध्यान खींचा है। इस लेख की ओर हम अपने पाठकों का ध्यान खींचते हैं। सम्पादक—

[illegible] सिलीगुड़ी से दार्जिलिंग जाते हुए सघन हरियाली से सजी पर्वत घाटियों के बीच सर्पाकार ऊपर उठती गई पतली सड़क पर शीतल कुहासे को चीर कर रेंगती हुई मोटर कभी कभी ऐसा आभास देती है मानों बादलों को चीर कर कोई वायुयान आगे बढ़ा जारहा हो। सघन हरियाली और अजस्र बहते झरनों को देख कर ज्ञात होता है मानों यहाँ बारहों महीने सावन और बसन्त अठखेलियाँ करते रहते हैं। हरीतिमा को पाकर आंखें जैसे अघाती ही नहीं। उसका आंचल थोड़े पर्वत मालाएं जब तब कुहासे से आंखमिचौनी खेलती हैं, तो एक अजीबसी सिहरन और मुस्कान आंखों को चमका जाती है। यहां की वायु में एक जीवन एवं स्वास्थ्यप्रद शीतलता और ताज़गी है। भागना-दौड़ना भूल कर जैसे उसने अपनी गति को स्थिर कर लिया हो। बिजली का चमकना और बादलों का गरजना भी यहाँ विशेष दिखलाई नहीं देता—मानो धीर-गम्भीर तपस्वी की भांति वे भी अपना कार्य एक उदात्त एवं अविज्ञापित भाव से करने के आदी हो गए हों। और इन सब का निष्कर्ष लेकर पर्वत-घाटियों के पादमूल में बहने वाली तिस्ता का कोलाहल मानो ऊपर जाने वाले राहगीरों के कर्ण-कुहर को आघात न पहुंचा कर भी अपना उद्घोष बढ़ाता हुआ टेढ़े-मेढ़े मार्ग से आगे बढ़ जाता है।

पर जब तब सामने किसी पहाड़ी स्त्री, पुरुष या बच्चे को आता जाता देख कर अचानक आंखें मानो एक दूसरे ही लोक में पहुंच जाती हैं। मोटर को रास्ता देने के लिए वे सड़क के किनारे हट कर खड़े हो जाते हैं और एक ऐसी दृष्टि से मोटर और राहगीरों की ओर देखते हैं जिसमें न याचना है, न खुशी, न रंज, न दया, कृपा या सहानुभूति और न किसी तरह की उत्सुकता ही। दिन में न जाने कितनी मोटरें वे इसी तरह गुजारती देखते हैं। जो राहगीर प्रायः इधर आते-जाते हैं, वे भी इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि इन पदातिकों की ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती या अगर जाती भी है, तो

वे कोई नयेपन या विशेष उत्सुकता से इन्हें नहीं देखतों। पर जो इधर कभी कदाश आते हैं, उनके लिए इनकी आंखों और चेहरों में काफी अर्थ देख पड़ता है। तेजी से आगे बढ़ने वाली मोटर में बैठे राहगीर की आंखें मानों इन्हें देख कर देखती ही पीछे रह जाती हैं। इतने में वे दूसरे पदातिक से उलझ जाती हैं और फिर तीसरे, चौथे और पांचवें से। ज़रा मोटर रोक कर या किसी बस्ती के पास उसके रुकने पर हृदयवान राहगीर जब ज़रा स्थिर दृष्टि से इन पहाड़ियों के चेहरों और आंखों को पढ़ने की चेष्टा करता है, तो उसे जहाँ इनका स्वास्थ्य, स्वच्छन्दता और सन्तोष वृत्ति देख कर प्रसन्नता होती है, वहां इनके मैले-फटे वस्त्र देख कर एक आघात-सा भी लगता है। हरीतिमा की सम्पद से घिरे इन नर-पुंगवों का दारिद्रय मानो स्वतः मुंह बोलने लगता है और चिर-वसन्त एवं चिर-सावन की सुखद कल्पना से अभिभूत दर्शक को उनके पीछे दबी चिर पतझड़ की कटु अनुभूति व्याकुल कर जाती है। केवल एक ही सत्य उसके सामने प्रश्न बन कर खड़ा हो जाता है–आखिर यहाँ के निवासी इतने ग़रीब क्यों हैं?

ज्यों-ज्यों मोटर दार्जिलिंग की ओर बढ़ती है, पर्वतों के ढलाव पर बने सीढ़ीनुमा चाय के खेत और आस पास लगी मक्की या शाक-सब्ज़ी की छोटी छोटी क्यारियां प्रकृति पर मनुष्य की विजय को परिलक्षित करते हैं। पर किस मनुष्य की? इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन खेतों और क्यारियों को बोने, सींचने और सजाने-सँवारने का कार्य पहाड़ी लोग ही करते हैं; पर इसका लाभ या फल उन्हें न मिलकर मिलता है उन बाहरी लोगों को, जिन्होंने चाँदी के चन्द टुकड़ों से यहाँ की भूमि पर अपना अनैतिक आधिपत्य स्थापित कर यहां के निवासियों को अपना क्रीतदास बना रखा है। इन स्थानों के पहाड़ियों का श्रम आज कौड़ियों में बिकता है। परिणामस्वरूप वे स्वयं सदा सस्ते नौकर या गुलाम होकर दरिद्र बने रहते हैं और उनके गाढ़े श्रम की कमाई से चन्द पैसेवाले मोटरों एवं कोठियों के स्वामी बन विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं। अधिकांश चाय बगानों पर गोरों अथवा भारत के विभिन्न भागों के पूंजीपतियों का अधिकार है। अनेक एजेंसियों अथवा सिंडीकेटों के माध्यम यहाँ की चाय भारत के विभिन्न भागों एवं विदेशों को भेजी जाती है और बहुत बड़ा मुनाफ़ा कमाया जाता है। इसी प्रकार इफ़रात से होनेवाली शाक-सब्जी भी भेजी जाती है और ख़ासे अच्छे मुनाफ़े के साथ बिकती है। पर इस मुनाफ़े का कोई अंश इनके पैदा करनेवालों को नहीं मिलता। उन्हें तो बस उसी मज़दूरी पर सन्तोष और गुज़र करनी पड़ती है, जो मालिक लोग दया कर तय कर दें। अपने पिछड़ेपन, अशिक्षा और दारिद्रय के कारण इन लोगों को कभी मालिकों के इस अधिकार के औचित्य एवं नैतिकता में संदेह करने की शायद जुर्रत ही नहीं हुई, या शायद ऐसा करने की उनमें क्षमता ही पैदा नहीं हुई।

दार्जिलिंग पहुँचने पर पता चला कि देश की आज़ादी की आसन्न संभावना ने सक्रिय राजनीति के अंचलों से दूर रहने वाले इन पार्वतीय लोगों में भी एक अन्तःस्पन्दन पैदा किया है। इनकी सोई हुई चेतना जागी है और इन्हें अपनी शक्ति एवं अधिकारों का एहसास हुआ है। अभी कुछ दिन पूर्व इन्होंने अपने संगठन की ओर ध्यान दिया है और उसके परिणामस्वरूप कई संस्थाएं भी बनी हैं। निःसंदेह ये इनकी जागृति और उज्ज्वल एवं आशाप्रद भविष्य के लक्षण हैं। यदि कोई शंका की बात है, तो यही कि कहीं भारतीय राजनीतिक दलों की भांति इनके संगठन भी विविध, परस्पर विरोधी एवं प्रतिद्वन्द्वी न हो जायं, जिसके कि दुर्भाग्यवश लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। उसका परिणाम यह होगा कि चन्द स्वार्थी एवं अवसरसेवी महत्वाकांक्षी अपना उल्लू सीधा करने के लिए इन ग़रीब और पिछड़े हुए लोगों को अपनी कुल्हाड़ी की बेंट भले ही बना लें, पर इनकी समस्याओं का समीचीन समाधान कदापि नहीं होगा। इस समय प्राथमिक आवश्यकता है इनके समुचित संगठन और समान स्वार्थों एवं अधिकारों की प्राप्ति और सुरक्षा के लिए सबल चेष्टा करने की। इसके लिए काफी संयत, स्वस्थ और दूरदर्शी नेतृत्व की ज़रूरत है।

जहाँ पहाड़ियों में जागृति के शुभ लक्षण नज़र आ रहे हैं, वहाँ इन स्थानों में रहनेवाले ग़ैर पहाड़ियों अथवा मैदान वालों में काफ़ी आतंक एवं आशंका भी फैल गई है। आज वे अपनी सुरक्षा के लिए बुरी तरह चिन्तित हैं। मैंने इनका वास्तविक कारण जानने की चेष्टा की। दार्जिलिंग के कुछ ग़ैर पहाड़ियों ने बतलाया कि जब से कुछ साम्यवादियों (कम्युनिस्टों) ने आकर पहाड़ी लोगों में कांग्रेस के फासिस्ट और पूंजीवादियों की संस्था होने तथा मुस्लिम लीग ही के समान आत्म-निर्णय के आधार पर 'गोरखालिस्तान' की स्थापना करने के नारे का प्रचार किया है, पहाड़ी लोगों में ग़ैर पहाड़-वालों के प्रति गहरा विद्वेष पैदा हो गया है। अभी कुछ दिन पहले कुछ पहाड़ियों ने 'गोरखालिस्तान' का नारा बुलन्द करते हुए एक जलूस निकाला था, जिसमें भाग लेने वालों ने खुलेआम मैदानवालों पर आक्रमण किए और उन्हें यहाँ से चले जाने को कहा। इसी का परिणाम है कि जहां एक बच्चा या युवती भी अकेले निर्द्वन्द्व विचरण करते थे, वहां आज अनेक मैदानवाले अपने-आपको, अपने जान-माल और कुटुम्ब-परिजनों को अरक्षित एवं त्रस्त अनुभव कर रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैदानवालों ने इन स्थानों में आकर जिन सुविधा-साधनों का अबाध उपभोग किया है, वह एकांगी स्वार्थपूर्ण तथा एक हद तक पहाड़ियों को ग़रीब बनाए रखने का परोक्ष कारण हुआ है। पर इसमें एकबारगी सारा दोष उन्हीं का न होकर उस शासन एवं अर्थनीतिक व्यवस्था का है, जिसने इस विषम स्थिति को पैदा होने एवं पनपने दिया। यह केवल पहाड़ी स्थानों में ही हो, सो बात नहीं है। समस्त भारत में ही यह समस्या व्याप्त है! इसे जातीयता, साम्प्रदायिकता या प्रान्तीयता का रूप देना न सिर्फ़ एक जोखिम भरी शरारत ही है, बल्कि वास्तविक समस्या के हल को दूर ठेलना भी।

आत्मनिर्णय और रूस के स्वशासित राष्ट्रों के सिद्धान्तों की मनमानी और ग़लत व्याख्या द्वारा भारतीय कम्यूनिस्टों ने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की प्रतिगामी एवं घातक माँग का समर्थन कर भारतीय राजनीति में क्रान्ति उत्पन्न करने और उसे साम्प्रदायिक रूप देने का जो दुर्नीतिपूर्ण कार्य किया है, उसका परिणाम आज सर्वविदित है। अब वही ज़हर वे इन पहाड़ी स्थानों में भी फैला रहे हैं। इसे यदि शीघ्र रोका नहीं गया, तो जहाँ पहाड़ियों और मैदानवालों में बढ़ता हुआ विद्वेष भारत के सांप्रदायिक उपद्रवों का सा रूप ले सकता है; वहाँ असली समस्याओं को भी अंधेरे या खटाई में ठेल सकता है। यह कहना कि पहाड़ियों के पिछड़ेपन और दारिद्रय का एकमात्र कारण मैदानवाले हैं, उतना ही ग़लत एवं अतिरंजनापूर्ण है जितना यह कहना कि भारत की समस्त बुराइयों एवं कमज़ोरियों का एकमात्र कारण अंगरेज़ ही हैं—उनकी शोषक शासन व्यवस्था नहीं, व्यवस्था के बजाय जातियों एवं व्यक्तियों के विरुद्ध विषैले प्रचार कर कम्युनिस्ट देश की एकता एवं भविष्य की जड़ पर कुठाराघात कर रहे हैं। इन स्थानों के लोगों और शेष भारत में ज़बरदस्त सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकसूत्रता है। उसे केवल राजनीति के नाम पर छिन्न भिन्न कर देना देश और इन स्थानों के निवासियों के लिए घातक होगा। जिस रूप में कम्यूनिस्टों ने अपने कार्य का श्रीगणेश किया है, उससे न केवल पहाड़ी स्थानों के रहने वालों और मैदान वालों में ही दुर्भावना की सृष्टि हुई है, बल्कि पहाड़ियों में भी फूट पड़ी है और उनके अनेक परस्पर विरोधी दल बन गए हैं। यह उनके लिए भी कोई लाभ की बात नहीं है।

यह देश हम सबका है। कोई पहाड़ पर रहे, कोई मैदान में और कोई समुद्र-तटपर; इससे हम लोग पृथक पृथक 'राष्ट्र' नहीं हो जाते। जो असली रोग है, वह है राजशासन और अर्थनीतिक व्यवस्था का सड़ा-गलापन। इसके फलस्वरूप आज चन्द पैसे वाले उत्पादन के समूचे साधनों के मालिक बने बैठे हैं और शेष जनता उनकी दया एवं टुकड़ों पर जीवित रहने को बाध्य की जा रही है। इसका एकमात्र इलाज है समाजवादी व्यवस्था की स्थापना, जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति दूसरे का शोषण नहीं कर सकेगा। यह न सिर्फ़ पहाड़ी स्थानों के लिए बल्कि समूचे देश के लिए आवश्यक है। पूंजीवाद न तो मैदान का है और न बंगाली, बिहारी

या मारवाड़ी जाति का ही। वह तो एक लूट और शोषण की अनीतिपूर्ण व्यवस्था है, जिसका न कोई देश है, न जाति। इसका मूलोच्छेद ही सब समझदार व्यक्तियों का ध्येय होना चाहिए। यह काम न तो अकेले पहाड़ियों का ही है और न वे अकेले इसे कर ही सकते हैं। देश के अनेक भागों में पिछली दो दशाब्दियों से उसकी आज़ादी के साथ ही समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का आन्दोलन भी हो रहा है। आज जब हम आज़ादी के सिंह द्वार पर खड़े हैं, वह आन्दोलन अधिक व्यापक एवं शक्तिशाली होता नज़र आ रहा हैं। हमारे पहाड़ी भाइयों को भी उसमें पूरे मनोबल से योग देना चाहिए, ताकि विदेशी पूंजीवादियों के चंगुल से मुक्त हुआ देश पूंजीवादियों की नागफाँस में न जकड़ जाय। राजनीतिक एवं अर्थनीतिक दृष्टि से समाज स्वतन्त्र हो सकें।

पहाड़ी जातियों की सांस्कृतिक सम्पद पर भारत को गर्व है। उनके गुणों को हम कदापि भूल नहीं सकते। पर इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि वे सामन्ती शासन एवं पूंजीवादी व्यवस्था की बुराइयों से बुरी तरह जकड़े हैं। शिक्षा और सामाजिक सुधारों की दृष्टि से वे अभी बहुत आगे नहीं बढ़ पाए हैं। राजनीतिक चेतना से तो जैसे वे दूर ही रहे हैं। भारत स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में उनके नाम ढूंढने भी शायद अपवादस्वरूप ही मिलें। जब भारत सहस्रों व्यक्ति देश की आज़ादी के लिए आगे बढ़ लाठियाँ, गोलियाँ सीने पर झेल रहे थे, अनेक पहा भाइयों को उन्हें चलाने वाले कैम्प में देखा गया। आज हम उन सब बीती बातों को भूल जाने के लि तैयार हैं, क्योंकि देश की आज़ादी प्रत्येक देशवासी आज़ादी है। पर अगर हमने एक दूसरे को बुरा-भल कहने या सिर फोड़ने में ही इस आज़ादी का उपयो किया, तो एक दिन हम सबको न सिर्फ पछताना पड़ेगा बल्कि एक नए ढंग की गुलामी अथवा फासि का शिकार होना पड़ेगा। वह हमारे पहाड़ी भाइयों लिए ही नहीं, समूचे देश के लिए बहुत बड़े दुर्भाग और दुर्दिन का कारण होगा। अतएव हम अपने पहाड़ी भाइयों से सानुरोध निवेदन करेंगे कि आइए, आज जो आज़ादी हमें मिल रही है, उससे सब एक होकर देश को वास्तव में राजनीतिक और अर्थनीतिक दृष्टि आज़ाद करें और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना प्रत्येक देशवासी को रोटी की चिन्ता से मुक्त करें बिना इसके स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं।

विधवा

डॉ० दिल्लीरमण रेग्मी, एम० डी०

पाटलिपुत्र का एक ध्वंसावशेष क्रीडाक्षेत्र का अवलोकन करती मनोरमा एक अखण्ड शून्यता में विलीन हो रही थी। चारो ओर बिखरे पड़े सङ्गमरमर के आसन जहां जमीन में से घास उग आकर पुरानी चहकती सफेदी पर अमानुषिक आवरण डाल रही थी। मैले गन्दे जल-युक्त सरोवर जहां शतदल की शोभा, अनेकानेक झाड़-पत्तियों के कारण मलिन पड़ गई थी, दूर का अस्तव्यस्त पड़ा फुहारा और उसका [illegible] सीकर, शताब्दी से सुप्त पड़ी निकुञ्ज जहाँ अभी अष्टापद और छिपकलियों का राज है, देख-कर उसे अचरज भी होता, दुःख भी होता। यहां कुछ ही दशाब्दी पहले, कुछ ही पीढ़ी पहले पाटलिपुत्र के युवक युवती खेला करते थे। उस वक्त न मिलन पर प्रतिबंध था न सामाजिक रीतिरिवाज ही ऐसे थे कि कोई रोक दैनिक स्वच्छन्दता पर खड़ा हो सकता हो। आज वे सब नहीं हैं। पाटलिपुत्र के इस उद्यान की आत्मा में एक विषाद उत्पन्न हुआ, उसके फूल-पत्ते टूट गए, खंडहर सा इस क्रीडा-गृह में से मानवी स्थिति हट गई। और हम ...! मनोरमा की आँखें डबडबा आईं। वह भी तो एक ध्वस्तप्राय खंडहर है। परिवर्तित समाज की टूटी शृङ्खला की तरह स्वच्छन्द हृदय को लिए वह भी एक अतुलनीय अस्तव्यसनी अकुलाहट अनुभव कर रही है। इस क्रीड़ास्थल को देख कर न जाने क्यों वह तड़प उठी है। उसकी समझ में यह बात नहीं आ रही है। वह जानती थी कि इस उद्यान के साथ उसका पिछला जीवन जुड़ा हुआ है, जब कि वह सुबाहु के साथ खेला करती थी। तब दोनों बच्चे थे, बचपन के सरल निष्कपट वातावरण को उन्होंने शाश्वत समझा था! किन्तु उसका जमाना तो वह नहीं था, जो इस क्षेत्र का सत्ययुग था। चार ही साल पूर्व की तो बात है। क्या उसे वह बिलकुल नूतन युग समझेगी? परन्तु, हां उसके रोते दिल ने कहा, क्योंकि स्वच्छन्दता और सजीवता में उस वक्त उसे किसी रुकावट का सामना नहीं करना पड़ा था। और अगर वही अवस्था रहती तो शायद उसे वर्तमान विषमता छू न पाती। मनोरमा की आँखों से आँसू की दो बड़ी बड़ी बूंदें निकल कर गिर पड़ीं। उसने सोचा, वह आज कहाँ से कहाँ आ गई है! इन चार साल के अन्दर वह क्या से क्या हो गई है। ओह! विधवा का जीवन! उसका जी मचल उठा। वह विधवा है, समाज का कलंक, अशोभा, कालिमा, विषाद, सब उसे तिरस्कार करते हैं, दुत्कार करते हैं। किन्तु क्या यह संभव था! उसे अपने मन की इच्छा के अनुकूल चलने दिया जाता तो क्या यह होता? उसे याद आया, किस तरह नालन्दा विश्वविद्यालय को चलने के पूर्व सुबाहु ने उसे अपने पावन प्रेम का वचन दिया था और अल्पवयस्का होती हुई भी उसे प्रेम की गम्भीरता दिल के अन्दर महसूस हो रही थी, कभी न छूटने की प्रतिज्ञा लेकर वे अलग हो गये थे। अब तो वह पुरानी मनोरमा नहीं है। उसका व्याह हुआ था चम्पा के एक विशिष्ट शास्त्राचार्य के साथ। उन्हें वह न जानती थी। फिर भी माता पिता की आज्ञा हुई, परम्परा परिपाटी का ख्याल हुआ वह व्याह दी गई। वेदिका पर उसके पति ने पाणिग्रहण किए। सुबाहु को हृदय का देवता समझ कर शरीर उसने आचार्य को सौंप दिए। किन्तु दो महीने के बाद नैहर में ही उनकी मृत्यु का समाचार सुन कर उसे लगा था स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। उसे छुटकारा मिला। किन्तु ऐसा नहीं था। वह विधवा हो गई थी! सभों ने कहा, उसकी माँग फूट गई है। तब से उसका जीवन मृतप्राय है। यौवनोचित प्रणय का आस्वादन उसे कभी न मिला। एक बार उसने सोचा, सुबाहु को अपनी स्थिति से परिचित करवाऊं। किन्तु यह

संभव नहीं था, विधवा होकर वह कैसे परपुरुष के साथ पत्र-व्यवहार करती। उसे कहा गया, यह मनु भगवान का आदेश है। मनु ने कहा था, स्त्री स्वातन्त्र्य का उपभोग नहीं कर सकती। आज उसके हाथ पाँव बंध गए हैं। मन की उमंग होते हुए भी वह निर्जीव है, अभिलाषा रहते हुए भी वह निस्पन्द है, किशोरी होती हुई भी वह वार्धक्य का पाठ पढ़ रही है—सरसता लालित मधुरिमा उससे दूर है। उसे कहा जाता, उसका आधा जीवन मर गया और इस जीवन में सिवाय रोने के उसके लिए कोई सुख बदा नहीं है।

फिर उसके दुःखित नयन इधर-उधर देखने लगते। शाम का वक्त था। पच्छिमाकाश की लालिमा फीकी पड़ती जा रही थी और पूर्वाकाश में दूसरी शीतल सफेदी दीप्त हो रही थी। सोया हुआ खंडहर भी एकबार जगने की कोशिश करने लगा। वसन्त की चाँदनी पेड़, पौधे, घासों में दूध छिटकने लगी। प्रकृति का नाच हो रहा था। गंगा और शोणभद्र के संगम में विशाल जल विस्तार समुद्र की नाईं टलमल प्रतिबिम्बित हो उठा। दिनभर की गर्द चाँद की शीतल किरणों ने पिघला दिया। सर्वत्र स्वच्छन्द निर्मल आभास था। मनोरमा की व्यथा भी कुछ देर के लिए लुक गई। उसके वैधव्य के ऊपर एक प्रकाश छा गया। वह सोचने लगी; आज सदा की भाँति सुबाहु यहाँ आ जायगा और उसे कितना आनन्द होगा! किन्तु—, मनोरमा को वह मदमाती चाँदनी लू से भी बढ़कर कठोर मालूम होने लगी। सुबाहु को विधवा का मुख देखना क्या अच्छा होगा? नहीं, नहीं, वह तो कलंक है। नालन्दा के शास्त्री के लिए वह अपशकुन होगी! मैं रास्ते में उससे नहीं मिल सकती, उसके जीवन को बर्बाद नहीं कर सकती। मनोरमा का दिल काँपने लगा। वह डर गई। चाहती थी कि दौड़ी-दौड़ी वहाँ से भाग निकले।

सुबाहु को उसके वैधव्य का कोई ज्ञान नहीं था। न उसे यही ख्याल था कि मनोरमा के माता-पिता उसे इतना शीघ्र ब्याह देंगे। चार साल के अन्दर नालन्दा में रहकर भी वह मनोरमा के प्रेम को न भूल सका था। हाँ, वह जरूर ताज्जुब मान रहा था कि इन दो साल के अन्दर उसे मनोरमा को कोई चिट्ठी न मिली थी। उसके ब्याह की उसे स्वप्निक कल्पना भी न थी। भर उसके दिल को कौन कौन सुखद स्मृतियाँ समा कर आनन्द में पुलकित कर रहीं थीं! चार साल लम्बे वियोग के बाद पुनः उन्हें सजग करके प्रियतमा साथ मिलकर नई शृङ्खलाओं में उन्हें जकड़ने की महद् स्पृहा थी उसकी। सुबाहु ने एक सुनहरे पर्दे घेरा डाल पाया था, जिसके अन्तराल में से मनोरमा झांक कर उसे देख रही थी। किन्तु मनोरमा के क्या बीत रहा था, उसे नहीं मालूम होता था। और कारण था कि आज द्रुतगति सुबाहु उस प्राची क्रीडोद्यान की ओर बढ़ रहा है।

भागने के प्रयत्न के बावजूद भी अपने को वहाँ र बाध्य पाकर मनोरमा धरती तले धँसी जा रही थी। और यह अशुभ दृष्टि दूसरी ओर चिरवियोग के का मिलन। मनोरमा क्या करे? उसे पहले ही भाग था। न जाने किन तत्वों ने, किन गुप्त शक्तियों ने अभी सुबाहु की ओर खिंची जैसी बनाया था। फिर वह नामुमकिन था कि वह अपने वैधव्य को उसके सामने जाहिर होने दे। मनोरमा ने अपनी प्रवृत्तियों को ख कोसा—क्योंकर वह यहां आई रह गई और सुबा उसका कौन था? उसके जो थे वह तो चल बसे। आ वह हतभागिनी है। सोचते सोचते मनोरमा का मस्तिष्क संघर्षमय हो गया; वहाँ आँधी उठने लगी और उ लगा- जीवन समाप्तप्राय है। अपने को वश करने वह अवश पाती थी। अन्त में मूर्छित हो गिर पड़ी।

× × ×

सुबाहु ने अपनी गोद में उसे बिठाकर अञ्जलि पानी मुँह पर छींटते उसके पीले रक्तरहित मलि मुखमण्डल को देखा। आज वहाँ पूर्व का उजियाल न था। उसे लगा—मनोरमा किसी शारीरिक कष्ट का शिकार है। आँखें धंस गई थीं। गाल दब गए थे होठों में से लाली निकल चुकी थी, ललाट और कपोल झुर्रियों से भर गए थे, सुबाहु का दिल भर आया। उसके नेत्र के आँसू की धार से उसकी मूर्छा टूट गई।

"कौन?" आँखें खोलकर उसने पूछा।

"मैं, प्यारी! घबराओ नहीं, मैं पहुँचा। अब और कष्ट तुम्हें न होने दूँगा" कहने को तो सुबाहु एक सांस में यह कह गया, किन्तु जब मनोरमा कराहकर छटपटाने लगी, उसे आश्चर्य भी हुआ और बहुत खेद भी। मनोरमा कहने लगी "सुबाहु, छोड़ दो, मैं पर स्त्री हूँ। मुझे मत छुओ। मेरे पति नहीं हैं तो क्या। मैं तुम्हारी तो नहीं हूँ" कहती अपने को उस बाहुपाश से छूटकर बिजली की तरह दूर निकल गई।

× × ×

अभी अभी रात्रि ने पदार्पण किया था। चांदनी रात होते हुए भी रजनी की प्रदीप्त शोभाओं को लेकर प्रकृति जहां तहां अपनी षोडश कला के साथ थी। और वहां गति किसकी। चांदनी का आसव पीकर वह स्वयम् खेल रही थी। किन्तु सुबाहु के दिल में एक घोर शून्यता है वह धीरे धीरे आगे बढ़ा।

माता पिता उसे पाकर बेहद खुश हुए। माता तो रोने लगी। किन्तु सुबाहु निस्पन्द था, न हँसता था, न बोलता था, न रोता ही था। भोजन के समय उसकी मां ने कारण पूछा तो उसने बतलाया "मां, मनोरमा आजकल क्यों आकुल है? क्या हुआ उसे?"

"बेटा, वह बड़ी अभागिन है, क्यों तुझसे तो नहीं मिली थी?" डबडबाए नेत्रों से माता ने उत्तर दिया।

"सो, कैसे, मां?" पिछले प्रश्न का उत्तर न देकर सुबाहु ने फिर पूछा।

"क्या बताऊँ बेटा। कर्म की गति है। टालने से तो नहीं टलती, वह विधवा हो गई है।"

"कैसे? क्यों? कब उसका ब्याह हुआ था" माता ने समूची कहानी आद्योपान्त कह डाली। हाथ के कौर को हाथ में ही लेकर सुबाहु ने कहा:—

"मुझे इसकी खबर तक भी न दी–" फिर खिन्न हो कौर को थाली में रख कर कहने लगा, "क्या माताजी, आपको हमारे बीच के स्नेह-बंधन का पता नहीं था?"

"था, बेटा। मगर क्या करती! लड़की सयानी होती जा रही थी। हमारे शास्त्रकार उसे रजस्वला होने के पहले ही ब्याह देने को कहते हैं। आखिर बारह साल से ज्यादा मनोरमा कैसे अविवाहित रह सकती थी। उसके पिता ने उसे ब्याह दिया। इसमें उनका क्या दोष? मैं ही क्या करती? उनकी उपजाति भी तो दूसरी है, हमारी से भिन्न। शादी कैसे होती? बेटा, कर्म का खेल है। तुम्हारे युग-कवि विष्णुशर्मा ने तो लिखा ही है, जो होना है होकर ही रहेगा।"

"जाने दो विष्णु शर्मा को" कुछ झिझक कर सुबाहु ने कहा "उम्र से पहले ही ब्याह देकर भाग्य का शरण लेना क्या कोरी अकर्मण्यता नहीं है। रजस्वला हो कर वह अशुद्ध न होती, वह तो प्रकृति का धर्म है। क्या हमारे पूर्वजों ने ऐसी शादी पसन्द की थी? माताजी, आज भारत कितना पतित हुआ है, इसका आप ख्याल कीजिए। हमारे पूर्वज स्वेच्छा और प्रेम विवाह को पसन्द करते थे। आज हम उनकी ही सन्तानों को दासत्व में बाँध रहे हैं। उन्हें अपनी चाह पूरी करने नहीं देते। यह अधःपतन नहीं तो क्या?"

माता ने समझाया कि वह नई परम्परा को ही ख्याल करे और उन्हें निभाना सीखे। सुबाहु के नये विचार को ठेस-सी लगी। उसने फिर कहा, "शुंग राजा के खुशामदी मनु ने लिख दिया है, इसलिये वह ब्रह्म वाक्य हो गया। किन्तु क्या आप इस तरह अपनी सन्तानों की अरमानों का संहार कर धर्म की रक्षा कर रही हैं? लानत है ऐसे धर्म पर।"

उस रोज, न सुबाहु खा ही सका, न रात भर उसे नींद ही आई।

दूसरे रोज सबेरे वह मनोरमा के घर पहुँचा। उसके पिता सबेरे गंगा स्नान करके लौट रहे थे, उसे देखकर उन्हें बहुत खुशी हुई। वे बहुत दिन के पड़ोसी थे। सुबाहु के प्रति उनका पुत्रतुल्य प्रेम था। सुबाहु ने दूर से प्रणाम किया तो, उन्होंने उसे गले से लगाया।

"कब आए, बेटा?"

"कल ही तो, पिताजी"

"बहुत अच्छा। चलो घर चलें। माता जी याद करती होंगी"

यहाँ मनोरमा न दिखाई दी। केवल उसकी माता आई और मामूली कुशल प्रश्न पूछकर चल दी। सुबाहु को लगा, यह घर श्मशान हो गया है।

फिर भी साहस कर सुबाहु ने पूछा, "पिता जी, मनो कहाँ हैं ?"

वृद्ध उद्विग्न हो उठे और कहने लगे, बेटा, वह तो विधवा हो गई है। तुम्हारे सामने कैसे आयेगी ?

"तो क्या आप उसे सूरज को देखने भी नहीं देंगे ? उसके पति मर गए तो क्या वह खुद निष्प्राण हो गई है क्या उसमें अब इच्छा नहीं है, लालसा नहीं है ?"

"है, क्यों नहीं, बेटा। किन्तु पति के मरने पर पत्नी आधा मर जाती है।"

सुबाहु ने हज़ार बार इन सिद्धान्तों की निरर्थकता समझाने की कोशिश की। मगर न समझा सका, मनुस्मृति और कतिपय शास्त्र के वेत्ता वृद्ध ब्राह्मण जिरह करते गए। आखिर सुबाहु को घर उलटे पाँव लौटना पड़ा।

मनोरमा यह सब दूर से देख रही थी। सभों की आँखें बचा कर पत्तों की झुरमुटों में छिप रही थी। रास्ते में उसे अकेला पाकर खड़ी हो गई।

"सुबाहु, मुझे क्षमा करना। कल मैं दुःख के आवेग से तिलमिला उठी थी।"

सुबाहु ने उसके क्षिप्र-वचनों को सुन कर कहा "मनो, मैं तुम्हारा उद्धार करना चाहता हूँ।"

"कैसे ?" उसका हाथ पकड़ कर मनोरमा ने कहा। उसके नेत्र से प्रियतम को पाने की अभिलाषापूर्ति समूचे ही अश्रुकणों से प्रकट हो रही थी।

उसके बाल को सहलाते सुबाहु ने कहा, "तुम्हारा फिर व्याह कर।"

"यह क्या ?" चौंककर मनोरमा ने कहा "यह कैसे होगा ? हमारे धर्म में दुबारा व्याह नहीं लिखा है। मैं जो एक बार दूसरे की हो चुकी थी, फिर तुम्हारी कैसे होऊँगी ? प्रियतम, छोड़ो इन बातों को। मेरी आत्मा तो तुम्हारी है। मेरा शरीर सत्वहीन है। उसमें अब प्राण कैसे फूँके जायँगे।

सुबाहु को लगा, यह नारी अब नारी सुलभ स्पन्दन को भी खो चुकी है। कहाँ गई, उसकी आत्मा को क्या ? क्या श्मशान के लिए अपने को तय्यार करना ही उसका काम है ? संसार को झूठा बना कर-निर्लिप्ति का पाठ पढ़ाने वाले स्वार्थी स्मृतिकार ! तुमने बालिका को विधवा बनाया और अगर कोई उसका उद्धार चाहता है तो कहते हो दुबारा व्याह करना पाप है।

इस उधेड़बुन में ही सुबाहु घर पहुँचा था।

× × ×

मिलने के लिए अनमनसी रहने पर भी उसका दिल नहीं मानता था। मनोरमा इसलिये ही फिर कुछ महीने के बाद सुबाहु के निकट पहुँच गई। निकट तो थी ही, बाल्यकाल का प्यार उसके हृदय में था ही। किन्तु कतिपय सामाजिक प्रतिबंधों की भी उपेक्षा करने वाला राग उसके किशोर मानस में लहरें ले रहा था। सुबाहु को अपने सुधारवादी विचार कहने में कोई कठिनाई न थी, साथ ही मनोरमा के प्रणयोनुमोदित दिल में उसका असर बुरा नहीं पड़ता था। प्रणय भावना दृढ़ हो गई, पुराने रस्म रिवाज मनोरमा को अच्छे नहीं लगने लगे थे। नालन्दा के परिपक्व ज्ञानकी धारा सुबाहु को जिस तरह सींच रही थी, मनोरमा भी उससे बची न रह सकी। जीवन एक नए ढांचे में ढल रहा था।

मनोरमा में अब इधर निर्भीकता भी कुछ मात्रा में आ गई थी। विधवा होकर अपने को समाज से अलग रखने की कुण्ठित प्रवृत्ति उसमें न थी, या थी भी तो उसे वह हटा चुकी थी। शुरू में सुबाहु के साथ मिलने में वह काफी हिचकिचाहट महसूस करती थी, किसी के दिखे जाने का उसे बड़ा डर था। अब उस दहशत के भाव में बहुत परिवर्तन आ गया था। मनोरमा इन बातों में मौर्यकाल, शुंगकाल, वाकाटककाल की दुहाई देती, जिस समय भारत भर में प्रेम-विवाह का रस्म था और विधवा-विवाह भी।

रात को वे दोनों अक्सर गंगा के तट पर मिला करते थे। ग्रीष्म बीत चुका था। आकाश में चारों ओर से काले बादल घिर आए थे। गंगा का जल ऊपर को उठा आ रहा था। कहीं कहीं खुले नभ में से सितारे झांका करते थे। और ये प्रेमी किन किन मानसिक तरंगों से दोलायित हो गंगा की उर्मिल लहरीयों की गर्जन सुना करते थे।

इधर कई दिनों से नगर में कानाफूँसी होने लगी थी। मनोरमा की माँ को इसका पता लगा तो उसने एकबार इसकी चर्चा छेड़ दी थी और उसको उचित तपस्या की याद दिला दी। मनोरमा को यह प्रसंग जैसा भी लगा हो, किन्तु उसके आचरण पर एक ठेस सी लगी। क्या वह इतनी बेकाबू हो जा रही थी ! निर्भीकता के साथ उसमें आत्म नियन्त्रण भी जोर पकड़ रहा था। सुबाहु के ऊपर उसका अगाध प्रेम था, परन्तु फिर भी वह उसके भविष्य को, उसके सामाजिक जीवन को नुकसान नहीं पहुँचा सकती। उसे लोगों की प्रशंसा या निन्दा की पर्वाह न थी. किन्तु सुबाहु की भलाई की तो थी। अतएव वह यह चाहती थी कि सुबाहु के जीवन से वह अलग हो जाय। मनोरमा के स्वतन्त्र विचार बहुत स्वच्छन्दता के साथ ठीक उल्टे रास्ते पर बह रहे थे, वह पुराने रस्म रिवाजों का उन्मूलन, उच्छेद करना चाहती थी, किन्तु अपने बारे में उसका ख्याल नहीं बदला था और उसका मुख्य कारण था सुबाहु का भावी जीवन। सुबाहु के माता पिता ने यह नहीं सोच पाया था कि उनका लड़का सिद्धान्त का पक्का है। उसके मनोकूलता का ध्यान न देकर ही उन्होंने उसकी सगाई ठीक कर दी थी। मनोरमा के लिए सुबाहु को कर्तव्य प्रेरित करने का नया साधन उपस्थित हुआ। आज कितने दिन के बाद वह सुबाहु को अपने से हट जाने को कह रही है। और भीतर जो व्यथा हो, उसका स्वतन्त्र विचार आज एक सहारा बनगया, जो आजीवन के पूजित देवता को भी आँखों से ओझल करने को नहीं हिचकता।

"प्रियतम, ग्रीष्म बीता न। अब तो पावस है, पृथ्वी ने नया जीवन पाया है। देखो न, हरियाली उस पार की" मनोरमा ने सुदूर के काले घने जंगलों को लक्ष्य कर कहा।

"ग्रीष्म के बाद वर्षा की तरह क्या मेरे जीवन की उष्णता में भी शीतलता आ जायगी ?" सुबाहु ने ठण्ठी साँस लेकर कहा, और साथ ही लम्बे मौन को भी तोड़ दिया।

"क्यों, नहीं ! प्रियतम" जीवन को हमने खोया तो नहीं है।

"फिर तुम विवाह के लिए सम्मति क्यों नहीं देती ?"

"क्या मेरी सम्मति से तुम समाज के प्रहार को; निन्दा को, सह सकोगे ?"

"सहूँगा, किसी भी परिस्थिति का मुकाबिला करूंगा।"

"मैं सोचती हूँ कि तुम नाहक बड़ी उलझन पैदा कर रहे हो। तुम्हारे माता पिता की क्या हालत होगी उस वक्त जब वह जान जायँगे कि तुमने एक विधवा का पाणिग्रहण किया है। नालन्दा के शास्त्री के लिए यह कितना बड़ा अपवाद होगा ! यह भी तो सोचना चाहिए। मैं स्वतः इन रिवाजों से ऊब गई हूँ। किन्तु क्या सारे समाज को ठुकरा कर मैं तुम्हारे साथ चलने की हिम्मत कर सकती हूँ" नहीं नहीं, प्रियतम, आज से तुम मेरे साथ मिलना छोड़ दो। उस लड़की का भी ख्याल करो जो तुम्हारी होनेवाली है। प्यारे, मैं तो तुम्हारी हूँ ही। शरीर से इस जन्म में न हो सकी, अगले जन्म में हूंगी। मगर तुझे एक भयङ्कर सामाजिक लाञ्छना का शिकार मैं देख न सकूंगी और वह भी मेरे कारण !" मनोरमा का कोमल हृदय टूट गया। वह सिसकने लगी।

"ऐसा, न कहो। प्राणेश्वरी, क्या तुम्हारे बिना मेरा जीवन है ! मैं तुम्हें ही चाहता हूँ। समाज की मुझे पर्वाह नहीं है।"

इस तरह लम्बी बहस और अकुलाहट के साथ वार्तालाप के बाद दोनों फिर अँधेरे को देखने लगे-वहाँ खोए जैसे।

सुबाहु मनोरमा को किसी हालत में भी छोड़ने की इच्छा उसकी न थी। ज्यों ज्यों दिन बीतते गए और उसे मालूम होने लगा कि मनोरमा का प्रेम दार्शनिकता की ओर मुड़ रहा है, उसे सन्तोष भी होता और असफलता की वेदना भी। और वह सोचने लगता— इस तरह सब विधवा भौतिक जीवन से तादात्म्य स्थापित न करें तो उनका कल्याण कहां ! मनोरमा की मनोवृत्ति में उसे कुण्ठित अभिलाषा और निराशा की छाप दीखती। वह समाज की संकुचित प्रवृत्ति को तोड़ना चाहता था, किन्तु उसे राह न सूझती। हाँ, एक बात उसने निश्चय कर रक्खी थी—मनोरमा के सिवाय वह

ज न वा णी

सम्पादक-मण्डल

आचार्य नरेन्द्र देव, बी० पी० सिन्हा
राजाराम शास्त्री वैजनाथसिंह 'विनोद'

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य ८) 'जनवाणी' सम्पादकीय विभाग एक प्रति का ।।।)

काशी विद्यापीठ, बनारस

भाग २] अगस्त १९४७ [अङ्क ३; पूर्णाङ्क ९

आज देश की मिट्टी बोल उठी है

श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन'

(१)

लौह पदाघातों से मर्दित
हय-गज-तोप टैंक से खौंदी,
रक्तधार से सिंचित पंकिल
युगों युगों से कुचली रौंदी।

व्याकुल वसुंधरा की काया
नव-निर्माण नयन में छाया।

कण कण सिहर उठे
अणु अणु ने सहस्राक्ष अंबर को ताका,
शेषनाग फूत्कार उठे
साँसों से निसृत अग्निशलाका।

धुआँधार नभ का वक्षस्थल
उठे बवंडर आँधी आई,
पदमर्दिता रेणु अकुलाकर
छाती पर, मस्तक पर छाई।

हिले चरण, मतिहरण
आततायी का अंतर थर थर काँपा,
भूसुत जगे तीन डग में
बावन ने तीन लोक फिर नापा।

धरा गर्विता हुई सिंधु की छाती डोल उठी है।
आज देश की मिट्टी बोल उठी है।

(२)

आज विदेशी बहेलिए को
उपवन ने ललकारा,
कातर-कंठ-क्रौंचिनी चीखी
कहाँ गया हत्यारा?

कण कण में विद्रोह जग पड़ा
शांति क्रांति बन बैठी,
अंकुर अंकुर शीश उठाए
डाल डाल तन बैठी।

कोकिल कुहुक उठा
चातक की चाह आग सुलगाए,
शांति-स्नेह-सुख-हंता
दंभी पामर भाग न जाए।

संध्या-स्नेह-सँयोग-सुनहला
चिर-वियोग सा छूटा,
युग-तमसा तट खड़े
मूक कवि का पहला स्वर फूटा।

ठहर, आततायी, हिंसक पशु
रक्त - पिपासु प्रवंचक,
हरे भरे वन के दावानल
क्रूर कुटिल विध्वंसक।

देख न सका सृष्टि शोभावर
सुख समतामय जीवन,
ठट्ठा मार हँस रहा बर्बर
सुन जगती का क्रंदन!

घृणित, लुटेरे, शोषक
समझा पर-धन-हरण बपौती,
तिनका तिनका खड़ा दे रहा
तुझको खुली चुनौती।

जर्जर कंकालों पर वैभव
का प्रासाद बनाया,
भूखे मुख से कौर छीनते
तू न तनिक शरमाया।

तेरे कारण मिटी मनुजता
माँग माँग कर रोटी,
नोची श्वान-शृँगालों ने
जीवित मानव की बोटी।

तेरे कारण मरघट सा
जल उठा हमारा नंदन,
लाखों लाल अनाथ, लुटा
अबलाओं का सुहाग धन।

झूठों का साम्राज्य बस गया
रहे न न्यायी सच्चे,
तेरे कारण बूँद बूँद को
तरस मर गए बच्चे।

लुटा पितृ वात्सल्य
मिट गया माता का मातापन,
मृत्यु सुखद बन गई, विष बना
जीवनका भी जीवन।

तुझे देखना तक हराम है
छाया तलक अखरती,
तेरे कारण रही न
रहने लायक सुन्दर धरती।

रक्तपान करता तू
धिक धिक अमृत पीने वालों,
फिर भी तू जीता है
धिक धिक जगके जीने वालों।

देखें कल दुनिया में
तेरी होगी कहाँ निशानी?
जा तुझको न डूब मरने
को भी चुल्लू भर पानी।

शाप न देंगे हम
बदला लेने की आन हमारी,
बहुत सुनाई तूने अपनी
आज हमारी बारी।

आज खून के लिए खून
गोली का उत्तर गोली,
हस्ती चाहे मिटे, न
बदलेगी बेबस की बोली।

तोप - टैंक - ऐटमबम
सब कुछ हमने सुना गुना था,
यह न भूल मानव की
हड्डी से ही वज्र बना था।

कौन कह रहा हमको हिंसक
आपत धर्म हमारा,
भूखों नंगों को न सिखाओ
शांति शांति का नारा।

कायर की सी मौत जगत में
सबसे गर्हित हिंसा
जीने का अधिकार जगत में
सबसे बड़ी अहिंसा।

प्राण प्राण में आज रक्त की सरिता खौल उठी है।
आज देश की मिट्टी बोल उठी है।

(३)

इस मिट्टी के गीत सुनाना
कवि का धन सर्वोत्तम,
अब जनता, जनार्दन ही है
मर्यादा पुरुषोत्तम।

यह वह मिट्टी जिससे
उपजे ब्रह्मा, विष्णु, भवानी,
यह वह मिट्टी जिसे
रमाए फिरते शिव वरदानी।

खाते रहे कन्हैया
घर घर गीत सुनाते नारद,
इस मिट्टी को
चूम चुके हैं ईसा और मुहम्मद।

व्यास, अरस्तू, शंकर
अफलातूँ के बँधी न बाँधी,
बार बार ललचाए
इसके लिए बुद्ध औ गांधी।

यह वह मिट्टी जिसके
रस से जीवन पलता आया,
जिसके बल पर आदिम युग से
मानव चलता आया।

यह तेरी सभ्यता संस्कृति
इस पर ही अवलंबित,

युगों युगों के चरण चिह्न
इसकी छाती पर अंकित।

रूपगर्विता यौवन-निधियाँ
इन्हीं कणों से निखरीं,
पिता पितामह की पदरज भी
इन्हीं कणों में बिखरीं।

लोहा, ताँबा, चाँदी सोना
प्लैटिनम पूरित अंतर,
छिपे गर्भ में जाने कितने
माणिक, लाल, जवाहर।

मुक्ति इसी की मधुर कल्पना
दर्शन नव-मूल्यांकन,
इसके कण कण में उलझे हैं
जन्म-मरण के बंधन!

रोई तो पल्लव पल्लव पर
बिखरे हिम के दाने,
विहँस उठी तो फूल खिले
अलि गाने लगे तराने।

लहर उमंग हृदय की, आया
अंकुर, मधुस्मित कलियाँ,
नयन ज्योति की प्रतिछवि
बन कर बिखरीं तारावलियाँ।

रोम पुलक वनराजि, भाव-व्यंजन
कल कल ध्वनि निर्भर,
घन उच्छ्वास, श्वास झंझा
नव-अंग-उभार गिरि-शिखर।

सिंधु चरण धोकर कृतार्थ
अंचल थामे क्षिति-अंबर,
चंद्र सूर्य्य उपकृत निशि दिन
कर-किरणों से छू छू कर।

अंतस्ताप तरल लावा
करवँट भूचाल भयंकर,

अँगड़ाई कल्पान्त
प्रणय-प्रतिद्वंद प्रथम मन्वंतर।

किस उपवन में उगे न अंकुर
-कली नहीं मुसकाई,
अंतिम शांति इसी की
गोदी में मिलती है भाई।

सृष्टि धारिणी माँ वसुन्धरे
योग समाधि अखण्डित,
काया हुई पवित्र न किसकी
चरण - धूलि से मण्डित।

चिर-सहिष्णु, कितने कुलिशों को
व्यर्थ नहीं कर डाला,
जेठ दुपहरी की लू झेली
माघ पूस का पाला।

भूखी-सूखी स्वयं, शस्य श्यामला
बनी प्रतिपाला,
तन का स्नेह निचोड़
अँधेरे घर में किया उजाला।

सब पर स्नेह समान
दुलार भरे अंचल की छाया
इसीलिए जिससे बच्चों की
व्यर्थ न कलपे काया।

किन्तु कुपूतों ने सब सपने
नष्ट भ्रष्ट कर डाले,
स्वर्ग नर्क बन गया
पड़गए जीने के भी लाले

भिगो भिगो नखदंत रक्त में
लोहित - रेख रचा दी,
चाँदी के टुकड़ों की खातिर
लूट खसोट मचा दी

कुत्सित स्वार्थ, जघन्य वितृष्णा.
फैली घर घर बरबस,
उत्तम-कुल पुलस्त्य का था
पर स्वयं बन गए राक्षस।

प्रभुता के मद में मदमाते
पशुता के अभिमानी,
बलात्कार धरती की बेटी
से करने की ठानी।

धरती का अभिमान जग पड़ा
जगा मानवी गौरव,
जिस ज्वाला में भस्म हो गया
घृणित दानवी रौरव।

आज छिड़ा फिर मानव दानव में
संघर्ष पुरातन,
उधर खड़े शोषण के दंभी
इधर सर्वहारागण।

पथ मंजिल की ओर बढ़ रहा
मिट मिट नूतन बनता,
त्रेता वानर भालु
जगी अब देश देश की जनता।

पार हो चुकीं थीं सीमाएँ
शेष न था कुछ सहना,
साथ जगी मिट्टी की महिमा
मिट्टी का क्या कहना?

धूलि उड़ेगी उभरेगी ही
जितना दाबो पाटो,
यह धरती की फसल
उगेगी जितना काटो छाँटो।

नव जीवन के लिए व्यग्र
तनमन-यौवन जलता है,
हृदय हृदय में, श्वास श्वास में
बल है, व्याकुलता है।

वैदिक अग्नि प्रज्वलित पल में,
रक्त-मांस की बलि अंजुलि में।
पूर्णाहुति हित उत्सुक होता,
अब कैसा किससे समझौता?

बलिवेदी पर विह्वल जनता जीवन तौल उठी है।
आज देश की मिट्टी बोल उठी है।

इतिहास-दर्शन और इतिहास की अराष्ट्रीयता

श्री भगवतशरण उपाध्याय

इतिहास अतीत के सभ्य युग में किए मानव-प्रयास की आनुक्रमिक कथा है। इतिहास-शरीर के आवश्यक अंग हैं—१ अतीत, २ सभ्य युग, ३ मानव-प्रयास, और ४ घटनाओं का आनुक्रमिक प्रसार। 'वर्तमान' जो अभी जीवित है, इतिहास का विषय नहीं, यद्यपि वह शीघ्र अतीत होकर उसका अंग हो जायगा। घटना जो संपन्न हो चुकी, चाहे अभी चाहे सहस्राब्दियों पूर्व, इतिहास का अंग हो जाती है। इतिहास विगत घटनाओं का चिन्तन करता है।

'अतीत' अनादि है, उसका अधिकतर सुदूर भाग अज्ञात है। उस सुदूर मानव काल को हम दो बड़े भागों में बाँट सकते हैं—१ बर्बर और २ सभ्य युग। इन दोनों के भी अपने अपने अनेक काल-भाग हैं, परन्तु अपने अध्ययन के लिए हम इन दो विशिष्ट कालों की ही यहाँ चर्चा करेंगे। बर्बर-युग का इतिहास मनुष्य के उस काल-स्तर की घटनाओं का उल्लेख करता है जब वह हिंस बर्बर था और प्रकृति से संघर्ष में व्यस्त था, जब वह उष्ण-कटिबन्ध के वनों-वृक्षों पर, गुफाओं में, रहता था, आखेट किया हुआ माँस, कन्द-मूल, फल-फूल खाता था, पत्थर के अस्त्र-शस्त्रों से आक्रमण और रक्षा करता था, जब उसने बर्तन भाण्ड बनाने सीखे, अग्निका प्रयोग जाना, पशु-पालन और कृषि के सूत्रपात किए तथा उस अद्भुत चक्र-यन्त्र का अनुसन्धान कर यह व्यक्त किया कि गोल पहिया ही चिपटी पृथ्वी पर दौड़ सकता है। ग़रज़ कि बर्बर युग पूर्व और उत्तर—पाषाणकालीन मनुष्य का काल है, यद्यपि विराट रूप में इतिहास बीती हुई सारी घटनाओं का अध्ययन करता है चाहे ये घटनाएँ अनन्त पूर्व की ही क्यों न हों और इसी कारण सभ्य युग के इतिहास का अध्ययन करते समय इस बर्बर पाषाण युग का भी हवाला दिया जाता है। परन्तु यह हवाला वास्तव में सभ्य काल के इतिहास के आधार और पृष्ठभूमि के रूप में ही होता है। उस काल की घटनाएँ प्रायः अनुपलब्ध होने के कारण इतिहास शृंखला की अटूट कड़ियाँ बन कर सामने नहीं आतीं, इससे इतिहास के चेतन कलेवर का निर्माण वैज्ञानिक रूप से नहीं हो पाता। उस काल की घटनाओं और मानव-प्रयासों का अध्ययन वास्तव में किसी न किसी अंश में समाज-शास्त्र का अध्ययन हो जाता है। उसके दो रूप मानव जाति के इतिहास और उस जाति के विभिन्न दलों के स्वकीय और सामूहिक आचरण के अध्ययन हैं। इन्हें क्रमशः 'ऐन्थ्रापालोजी' और 'एथ्नालोजी' कहते हैं। इनके अतिरिक्त इतिहास का निकटतम आधार और पूर्ववर्ती विज्ञान 'पुरातत्त्व' (आर्क्यालोजी) है, जो स्वयं तो इतिहास नहीं परन्तु उसके लिए वह आधारतत्त्व और सामग्री प्रस्तुत करता है। कभी कभी इतिहासकार को भूगर्भ विद्या अथवा भू-निर्माण के इतिहास की भी आवश्यकता पड़ती है, इसी प्रकार भूगोल की भी (और इस भूगोल का तो इतिहास से अत्यन्त निकट का संबंध है)। परन्तु इतिहास न तो प्रकृति का इतिहास है, न मानव जाति का अथवा मानव समूहों के सामाजिक आचरण का, न भूगर्भ का, न पृथ्वी का, न पुरातत्त्व का। वह सभ्यता काल में किए मानव-प्रयासों का इतिहास है, यद्यपि इतिहास-कार के लिए ऊपर गिनाए इतिहासाभासों का ज्ञान उसके कार्य के लिए अत्यन्त समर्थ और आवश्यक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। उस पृष्ठभूमि के दो अवयव और हैं—तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और तुलनात्मक धर्म-शास्त्र। इस प्रकार चूँकि प्रकृति और मानव-प्रयासों के विविध अंगों के अनुशीलन के लिए तत्तद्विषयक विज्ञान बन गए हैं, इतिहास का क्षेत्र सभ्य-काल में किए मानव-प्रयासों--का ही रह जाता है।

इतिहास मानव-प्रयास से संघटित घटनाओं का होता है। मानव-संघटित घटनाएँ ही इतिहास के अंग हैं, इतर नहीं। घटनाएँ क्यों घटती हैं? मनुष्य प्रयास

क्यों करता है? आदम के प्रति भगवान के दिए अभिशाप की पूर्ति के अर्थ—पेट के लिए। प्रकृति अन्य प्राणियों की भाँति ही मनुष्य पर भी कुछ अनिवार्य आवश्यकताओं का अनुबन्ध डालती है। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त मनुष्य प्रयास करता है। परन्तु न मनुष्य स्वतंत्र है, न उसकी परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ और न उसके प्रयास ही। वह माता-पिता के कुटुम्ब में उत्पन्न होता है और प्रायः उनकी कृपा से नष्ट होने से बचता है। इस कारण स्वभाव से ही वह यूथाचारी होता है और समुदाय-प्रवृत्ति से आचरण करता है। उसकी यह प्रवृत्ति एक समाज (चाहे इसका रूप कितना भी प्रारंभिक क्यों न हो) का सृजन करता है। यही समाज कालान्तर में प्रबल, अपनी इकाई व्यक्ति-मनुष्य—से कहीं प्रबल हो उठता है और उसका सारभूत कृत्रिम रूप मनुष्य के प्रयास की प्रगति तथा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों तक में नैसर्गिक परिवर्तन करने में सक्षम होता है। मानव आवश्यकताएँ इस प्रकार कालान्तर में अपनी कृत्रिम सामाजिक परिस्थितियों के वशीभूत हो उनके द्वारा मात्रा और फलतः गुण में प्रभावित होती हैं। उनके रूप तक में अधिकाधिक परिवर्तन होता जाता है। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में मनुष्य इतिहास का सृजन करता जाता है। 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के ऐतिहासिक दृष्टिकोण का यह मूल तर्क है यद्यपि सामाजिक जीवन की यह समष्टि केवल उसी सिद्धान्त की मीमांसा नहीं है। उससे पहले स्वयं हीगेल ने संपूर्ण इतिहासकल्प समाज की निःशेष प्रगति की वैज्ञानिक व्याख्या ढूंढ़ी थी, उन सारे मानव प्रयासों की व्याख्या जो परस्पर स्वतंत्र और पृथक् समझे गए थे। यहां तक तो हीगेलकी मीमांसा सर्वथा साधु और वैज्ञानिक थी परन्तु अमूर्त के उपासक उस अपूर्व दार्शनिक ने अपनी प्रखर मेधा का श्रम अन्ततः निरर्थक कर दिया। 'सर्वदेशीय ब्रह्म' को जगत का आदि कारण और सृष्टि का हेतुक (teleogical) मानने वाले उस विदग्ध दार्शनिक की 'समष्टि'-विषयक दृष्टि 'हेतुक' होकर अन्धी हो गई। आधुनिक द्वन्द्वात्म भौतिकवाद ने हीगेल के मूल से उठकर उसकी तर्कसम्मत पद्धति को अपनाते हुए उस बीच में ही छोड़ी दूषित की हुई मीमांसा को उसके न्याय्य परिणाम तक पहुंचाया। समाज-शास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन-क्षेत्र से हेतुकता का निष्कासन इस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सफल परिणाम है। और हीगेल के द्वन्द्वात्मक तर्क की वस्तुतः यही 'व्याप्ति' यहां शुद्ध 'निगमन' है।

इतिहास में एक वर्ग ने 'पूर्वनिश्चित प्रगति' की भी उपासना की है। उसके विचार से मानव-प्रयास 'हेतुक' रूप से एक पूर्वनिश्चित पद्धति से पूर्वनिश्चित मार्ग पर चलकर पूर्वनिश्चित परिणाम पर पहुँचता है। वास्तव में जैसा कि इटालियन इतिहास-दर्शनकार लाब्रियोला ने सुझाया है मानव-प्रयास का उद्देश्य सहेतुक नहीं और फलतः उससे संभूत इतिहास किसी सहेतुक अमूर्त विकास के विधान का आसरा नहीं करता, उसके कारण प्रादुर्भूत नहीं होता। मनुष्य इतिहास का निर्माण, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अपनी अनिवार्य और पश्चात् कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में करता है। फिर वह विज्ञान का विषय हो जाता है कि वह इस कारण की व्याख्या करे कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति के विविध तरीके किस प्रकार मनुष्य के पारस्परिक सामाजिक आचारों को प्रभावित करते हैं। मानवीय आवश्यकताओं में भूख की अभिवृत्ति प्रमुख है और आहार की खोज उसका प्रमुख प्रयास है। आहार को खोजता-खोजता वह उसको उत्पन्न भी करने लगता है। आहारोत्पादन के साधन कुछ तो वह स्वयं ढूंढ़ निकालता है, कुछ प्रकृति उसे प्रदान करती है। परन्तु प्रकृति इसके साथ साथ ही उन आवश्यकताओं का उन्हीं साधनों से नियन्त्रण भी करती है, जिनसे एकांश में मनुष्य उस पर अपनी विजय स्थापित करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आवश्यकताएं उत्पादक शक्तियों द्वारा निश्चित और नियंत्रित होती हैं। जब जब इन शक्तियों में गुरु परिवर्तन होते हैं तब तब मनुष्य की सामाजिक स्थिति, रूप और संगठन में भी तत्परिणाम में परिवर्तन होते हैं। प्रायः सारे आदर्शवादी (आत्मवादी, हेतुक, 'आइडियलिस्ट') आर्थिक विकारों (संबंध-रूप-विशेषताओं) को मानव स्वभाव-जन्य मानते हैं, द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी उन्हें सामाजिक उत्पादक शक्तियों की देन मानते हैं। प्राकृतिक परिस्थितियां एक असंस्कृत समाज अथवा सामाजिक संबंध उपस्थित करती हैं और

यह सामाजिक पारस्पर्य उन कृत्रिम परिस्थितियों को जन्म देती है, जिनसे समाज में उत्तरोत्तर परिवर्त्तन होते हैं और जो प्राकृतिक परिस्थितियों से किसी प्रकार गौण नहीं होतीं।

यह आवश्यकताओं के पूर्त्यर्थ मानव-प्रयासों से प्रादुर्भूत समाज 'प्रागितिहास'-कालीन मानव समाज है। ऐतिहासिक (सभ्य) जीवन का आरंभ वस्तुतः उस सामाजिक परंपरा का आरंभ है, जिसमें कृत्रिम परिस्थितियों की सत्ता उत्तरोत्तर विकसित होती और ज़ोर पकड़ती जाती है, प्रायः उसी अनुपात में जिसमें मनुष्य प्रकृति की वश्यता से स्वतन्त्र होता और उसपर अपनी प्रभुता स्थापित करता जाता है। विविध समाजों के पेचीदे आन्तरिक संबंध, कम से कम अपने ऐतिहासिक विकास (सभ्यकाल) के मार्ग पर आरूढ़ होने पर, नैसर्गिक परिस्थितियों के कारण हरगिज़ नहीं बनते। वस्तुतः इस पेचीदे सामाजिक आचरण के निर्माण में आवश्यकता पूर्ति और उसके साधनों की एक लंबी परंपरा कारण है। समाज के इस प्रारंभिक ऐतिहासिक विकासस्थिति तक पहुंचने के पूर्व मजूर के कुछ हथियार बन चुके थे, पशुपालन और वार्ता का ज्ञान हो चुका था, खानों से धातु निकालने के कुछ तरीके भी अख्तियार किए जा चुके थे। उत्पादन के ये उपकरण समय समय पर स्थान स्थान में प्रचुरता और वेग से बदलते रहे। इनमें उन्नति, अगति, अथवा जब तब ह्रास तक होता रहा, परन्तु यह महत्व की बात है कि मनुष्य इन उन्नति अथवा ह्रासजनित परिवर्तनों के कारण उस बर्बर पाशविक जीवन को न लौट सका जो प्रकृति-प्राणा परिस्थितियों के प्राचुर्य का परिणाम है। लाब्रियोला इस सत्य को स्वीकार करते हुए कहता है—"अतः इतिहास-विज्ञान का पहला और मुख्य उद्देश्य इसी कृत्रिम आधार का निश्चय और समीक्षा करना है, उसकी व्यष्टि और समष्टि को समझना है, उसके परिवर्तनों की व्याख्या करनी है।"

इस प्रकार आवश्यकताओं की पूर्ति के अर्थ मनुष्य प्रयास करता है; इन प्रयासों में मुख्य आहार के निमित्त होते हैं। उत्पादन के उपकरण और उत्पाद्य शक्तियाँ समाज का रूप स्थिर करती हैं। परिणामतः आर्थिक व्यवहारों का संघटन होता है। इससे उन स्तरों का संबंध बनता है, जिसमें समाज के उत्पादक वर्ग (उत्पत्ति के स्वामी और श्रमिक) अपना स्थान ग्रहण करते हैं। आर्थिक व्यवहारों से वर्गीय स्वार्थों का प्रादुर्भाव होता है जिनकी रक्षा के अर्थ समाज के कानून बनते हैं। कानून की प्रत्येक प्रणाली किसी न किसी वर्ग के स्वार्थों का साधन और रक्षा करती है। उत्पादित शक्तियों से जिन वर्गों का निर्माण होता है, उनके स्वार्थ न केवल विभिन्न वरन् परस्पर विरोधी होते हैं। यह विरोध कलह उत्पन्न करता है जिससे वर्गों में संघर्ष-बुद्धि और वास्तविक संघर्ष का आरंभ होता है। इस संघर्ष का परिणाम होता है कबीलों का नष्ट-भ्रष्ट हो जाना और उनके स्थान पर स्टेट अथवा राज्य का आरोहण; और इस स्टेट का कर्तव्य उस वर्गविशेष के स्वार्थों की रक्षा करना हो जाता है, जिसने उसे खड़ा किया है अथवा जो कालवशात् उसका सूत्रधार है। अन्ततः समाज में उस समान आचार का जन्म होता है, जिससे उसके व्यक्ति साधारणतया संचालित होते हैं। इस प्रकार व्यवहार (कानून), स्टेट और आर्थिक और सामाजिक संबंध तथा परिस्थितियों से निर्मित होते हैं। अर्थ के अभाव में चोरी का भाव न था; अर्थ की रक्षा के लिये चोरी का आचार-विधान हुआ। विवाह-प्रथा के पूर्व व्यभिचार का विचार नहीं उठ सकता था; दासीरूपिणी कामसाधिका पत्नी की (व्यक्तिगत-विलास की) रक्षा के लिए व्यभिचार का आचार-विधान हुआ। कोई आचार-पद्धति प्राकृतिक और मानव-संबंधसे विरहित नहीं; वह समाज-संबंधसे उत्पन्न और ऐतिहासिक-आर्थिक कारणों से प्रादुर्भूत है। ये ही आर्थिक संबध किसी न किसी रूप में मन और कल्पना की सारी रचनाओं, कला, विज्ञानादि की रूप-रेखा सँवारते हैं। सामाजिक परिस्थिति ही मनुष्यमें उसकी चेतनता के रूप (कला संबंधी आदि) जानती है और इस रूप के प्रादुर्भाव के साथ ही वह चेतनता इतिहास का अंग बन जाती है। इतिहासकी कोई घटना नहीं, कोई सचाई नहीं, जो समाज के आर्थिक आधार से न उठी हो, परन्तु कोई ऐतिहासिक यथार्थता भी नहीं जिसके पूर्व, साथ, और पश्चात् चेतनता (सजग प्रयास) न रही हो।

घटनाओं का आनुक्रमिक प्रसार इतिहास का एक विशिष्ट अंग है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है इति-

हास पूर्व-पर से जुड़ी घटनाओं का एक अनादि प्रवाह है जिससे घटना-विशेष अलग नहीं किया जा सकता। इतिहास की यह श्रृङ्खला सजीव है। घटना उसे अलग होते ही जलविरहित मीन की भांति निर्जीव हो जाती है। उस श्रृङ्खला को वास्तव में सही सही एक छोर से ही देखा जा सकता है, उपरली छोर से जिससे 'जनक' और 'जनित' का संबंध बना रहे, कारण और कार्य के संबंध में किसी प्रकार का विच्छेद न होने पाए। केवल घटनाओं का एकत्रीकरण उन पुरावस्तुओं के विक्रेता के अज्ञान की भांति होगा जो स्वयं अपनी वस्तुओं का वास्तविक मूल्य नहीं जानता। घटनाओं के इस प्रकार के संघटन में पितामह का पौत्र और पौत्र का पितामह हो जाना आश्चर्य की बात नहीं। इस कारण कार्य, पिता पुत्र, के क्रम को सही सही कायम रखने के लिए इतिहास का आनुक्रमिक चितन्वन आवश्यक हो जाता है। इसी कारण तिथि-क्रम की भी आवश्यकता पड़ती है। तिथि इस क्रम को बनाए रखने के अतिरिक्त घटना को काल से बाँध कर उसकी परिस्थितियों को समझने में भी सहायक होती है। यद्यपि अत्यन्त दूर की घटना के संबंध में तिथि विशेष सहायक नहीं सिद्ध होती। अत्यन्त दूर की घटना का काल संख्या में अंकित करने पर कुछ असंभव नहीं की दुर्ज्ञेय हो जाय। उदाहरणार्थ एक काल्पनिक इतिहास-वाक्य लें—'१३ करोड़ २८ लाख ७० हजार ८९५ वर्ष हुए जब मन्दर नामक राजा शासन करता था।' वस्तुतः इसके अतिरिक्त कि यह राजा अत्यन्त प्राचीन है इस वाक्य संख्या-क्रम से कोई अर्थ नहीं सिद्ध होता। मानव मस्तिष्क उस सुदूर काल के संख्याकाल को धारण करने में सर्वथा असमर्थ है। भारतीय पुराणों में इसी कारण तिथियों का अधिकतर अभाव है। केवल घटना-क्रम को कायम रखने का उन्होंने प्रयत्न किया है। परन्तु इसी कारण वह क्रम उनमें अनेक बार विकृत भी हो गया है। सम सामयिक वंश पूर्व-पश्चात्कालीन होगए हैं और क्रमिक राजकुल समकालीन। तिथि का एक और भी कार्य है। यह घटना के लिए संकेत का काम भी करती है। जब हम किसी घटना के प्रति संक्षेप में संकेत करना चाहते हैं तो उसे नाम और तिथि प्रदान करते हैं। जैसे सिकन्दर का आक्रमण संक्षेप में केवल सांकेतिक रूप में सिकन्दर ३२६ ई. पू.' से व्यक्त किया जा सकता है, परन्तु उसी सचाई के साथ जैसे जल की बनावट प्रसिद्ध रसायन-सूत्र 'ह२ओ' से स्पष्ट हो जाती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि स्वयं तिथि की इतनी महत्ता नहीं है क्योंकि वह घटना की व्याख्या नहीं करती, उसकी ओर संकेत मात्र करती है। इसी कारण इतिहासकारों का जो वर्ग इस पर अत्यन्त आस्था रखता है वह वास्तव में इतिहास के मुख्य प्रान्त पर ज़ोर नहीं देता। घटनाओं के साथ व्यक्तियों और स्थलों के नाम भी इतिहासकार संबद्ध रखता है कारण अमुक घटना कहाँ घटी, उसका संघटयिता कौन था इसका जानना कठिन हो जायगा और फलतः इतिहास अस्पष्ट हो जायगा।

इस प्रकार इतिहास अतीत काल में सभ्य मानव के प्रयास से समुद्भूत घटनाओं का क्रमबद्ध ग्रन्थन है। इतिहास-विज्ञान में प्रयोग (experiments) नहीं हो सकते। जो घटना एक बार घट चुकी वह फिर नहीं घट सकती। उसके विधाता विनष्ट हो चुके। न तो वह समय लौटाया जा सकता है, न वह घटना और न उसके कारण-परिणाम, यद्यपि कभी कभी समान कारणों से समान घटनाओं के घटने का आभास मिल जाता है। इस प्रकार जब हम ऐतिहासिक क्रम से घटनाओं का वर्णन करते हैं तब उन्हें काल-प्रसार में वितरित करते हैं और जब भौगोलिक क्रम से इनका उल्लेख करते हैं तब हम उन्हें स्थानानुसार रखते हैं। इतिहास और भूगोल दोनों कारण और परिणाम के साथ घटनाओं की तिथि और स्थान को व्यवस्था प्रदान करते हैं।

२

अब हम इतिहास में व्यक्ति के प्रभाव पर विचार करेंगे। व्यक्ति से यहाँ पर 'हिरो' अथवा 'वीर' से मतलब है जिसके विषय में एक वर्ग के इतिहासकारों का मत है कि वह इतिहास की घटनाओं का संघटयिता है और उसकी धारा अपने सक्रिय शक्ति से बदल सकता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कुछ लोगों ने इतिहास को वीरकृत्यों का समाहार मात्र मान लिया है। व्यक्ति-विशेष का इतिहास में स्थान अवश्य है परन्तु इतिहास-निर्माता के रूप में इतना नहीं, जितना परिवर्तन (जो इतिहास-प्रवाह का कारण है) के एजेन्ट के रूप में। इतिहास का अधिकतर अंश परिवर्तन की कहानी है और महापुरुष कुछ अंश में उस परिवर्तन में सक्रिय योग देते हैं। यह परिवर्तन सभ्य समाज में ही अधिक तीव्रता से सम्पन्न होता है। प्रागितिहास काल में परिवर्तन कम होते हैं। तात्कालिक समाज में रूढ़ियाँ अत्यन्त सशक्त होती हैं, प्रथाओं में परिवर्तन कम होते हैं। नवीनताओं के साहसी प्रवर्तकों को कुचल दिया जाता है इस कारण परिवर्तनहीन दशा में वहाँ इतिहास का निर्माण नहीं हो पाता। इसी कारण कुछ जातियों के इतिहास नहीं हैं, ऐसा कहा जाता है। अर्वाचीनकाल में भी अफ्रीका की अनेक जातियाँ ऐसी हैं जिनमें परिवर्तन न हो सकने के कारण उनका इतिहास नहीं है। परन्तु जहाँ इतिहास है और परिवर्तन होते हैं वहाँ परिवर्तन को महापुरुषों के प्रयास का फल मान लेना अनुचित और अवैज्ञानिक है। महापुरुष वस्तुतः में अपने समय की परिस्थितियों का उच्चतम शिखर मात्र है जो अन्य निम्न शिखरों से गुणतः भिन्न नहीं है। इस महत्त्वपूर्ण विषय पर कुछ विस्तार के साथ विचार करना उपादेय होगा।

उन्नीसवीं सदी के चतुर्थ चरण में जर्मन इतिहासकारों में इस विषय पर बड़ा विवाद चला था। कुछ ने तो यहाँ तक कह डाला कि इन महापुरुषों की राजनीतिक क्रियाशीलता ही ऐतिहासिक विकास का प्रमुख कारण रही है। इसके उत्तर में दूसरे वर्ग ने उस मत को दोषपूर्ण कहा। महापुरुषों के कार्यों और राजनीतिक इतिहास को उचित महत्त्व प्रदान करते हुए उन्होंने इतिहास-विज्ञान के लिए निःशेष ऐतिहासिक जीवन पर विचार करना नितान्त अनिवार्य समझा। इस पिछले विचार के प्रवर्तक 'जर्मन जाति का इतिहास'-लेखक कार्ल लाम्प्रेख्त (१८५६-१९१५) था। बिस्मार्क का एक वक्तव्य उद्धृत करते हुए उसने दिखाया है कि उस महापुरुष ने स्वयं स्वीकार किया है कि समर्थ होकर भी वह घड़ी की सुइयाँ आगे करके भी इतिहास का निर्माण नहीं कर सकता। नितान्त प्रतिक्रियावादी और इस्पाती कौल का वह जर्मन चैन्सलर बिस्मार्क निस्सन्देह प्रगति के स्वाभाविक प्रवाह के सम्मुख अपनी निस्सहाय और क्षीण दशा का अनुभव करता था। अपने को वह ऐतिहासिक विकास का एजेन्ट मात्र मानता था। बिस्मार्क का विश्वास और वक्तव्य यह घोषित करते हैं कि व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह इतिहास में न तो पहले कभी सर्वशक्तिमान हुए और न आगे कभी हो सकेंगे। लाम्प्रेख्त की ही भाँति फ्रेंच इतिहासकार मोनोद और बेल्जियन पाइरेन की भी राय है कि कालविशेष की सामाजिक और आर्थिक स्थिति समुद्र की जलराशि है, महान् व्यक्ति उसमें ऊँची उठती हुई लहरें मात्र हैं। इसलिए इतिहासकार के लिए विशेष गवेषणा का विषय सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां होनी चाहियें न कि व्यक्तिविशेषके कृत्य।

रूसी इतिहास-दार्शनिक प्लेखानाव के विचार से भी इतिहास-विज्ञान का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय सामाजिक संस्थाओं और आर्थिक परिस्थितियों का अनुशीलन होना चाहिए। इस विचार-परम्परा का आरम्भ वास्तव में उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में ही हो गया था जब गुइज़ाट, मिग्नेट, आगस्टिन तायरी, तार्केविल, आदि ने इसके पक्ष में अपनी व्याख्या रखी थी। परन्तु उन्होंने इतिहास में व्यक्ति के चरित की समस्या का निःशेष विवेचन नहीं किया। इन फ्रांसीसी इतिहासकारों का मत वस्तुतः अठारहवीं सदी के विरोधी विचारों की प्रतिक्रिया मात्र था। अठारहवीं सदी के इतिहास-दर्शन में व्यक्तिवाद की पराकाष्ठा हो गई थी।

सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ किस प्रकार इतिहास का निर्माण करती हैं और उनकी अपेक्षा व्यक्ति (चाहे वह कितना भी महान क्यों न हो) के कार्य कितने नगण्य हैं इसे स्पष्ट करने के लिए प्लेखानाव ने कुछ उदाहरण दिए हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. आस्ट्रियन-उत्तराधिकार-युद्ध में फ्रांसीसी सेनाओं ने आस्ट्रिया को अपनी विजयों से इस प्रकार लाचार कर दिया कि यदि फ्रांस चाहता तो आसानी से बेल्जियम छीन सकता था परन्तु लुई पन्द्रहवें ने कहा कि वह विजेता-नरेश है क्रेता सौदागर नहीं, और आकेन की सन्धि में फ्रांस को कुछ न मिला। इस का कारण कुछ विद्वानों के विचार में एक नारी की शक्ति-लोलुपता थी। मादाम दी पाम्पादूर लुई की प्रेयसी थी जो राजकार्य में काफ़ी दखल देती थी और उसकी नकेल अपने हाथ में रखती थी। सो आस्ट्रियन रानी मारिया थेरेसा को प्रसन्न करने के लिए पाम्पादूर ने लुई को तद्वत्

आचरण करने को बाध्य किया। फिर सतवर्षीय युद्ध में फ्रांस असफल हुआ और उसके सेनापतियों को अनेक बार धूल चाटनी पड़ी। रीचलू लूट मार करने लगा था, सुबोई और ब्रोग्ली एक दूसरे की राह में रोड़े अटकाने लगे थे। एक बार तो ब्रोग्ली मुसीबत में पड़ गया था और सुबोई उसकी मदद को नहीं गया जिससे ब्रोग्ली को मैदान छोड़ भागना पड़ा। यह अकुशल सुबोई उसी पाम्पादूर का प्रसादलब्ध अनुचर था इससे लुई के उससे अप्रसन्न हो जाने पर भी पाम्पादूर ने परिस्थिति सम्हाल ली। इससे कहा जा सकता है कि लुई यदि अपेक्षाकृत कम दुर्बल होता अथवा पाम्पादूर राजकार्यों में दखल न देती तो फ्रांस को क्षति न उठानी पड़ती। फ्रांसीसी इतिहासकारों का कहना है कि फ्रांस को बजाय आस्ट्रिया आदि से युद्ध करने के समुद्रों में अंग्रेज़ों के विरुद्ध अपना आधार सबल करना था। परन्तु जो वह ऐसा न कर सका उसका कारण पाम्पादूर का विरोध था जो मारिया थेरसा को प्रसन्न करना चाहती थी और जिसने फ्रांस को युद्ध में झोंक दिया। परन्तु उसका एक लाभ अवश्य हुआ। वह यह कि फ्रांस के उपनिवेश उसके हाथ से निकल जाने पर उसके आर्थिक विकास को अत्यन्त लाभ हुआ। इस प्रकार नारी की गर्वोन्मत्तता फ्रांस के आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण कारण सिद्ध हुई। २ अगस्त १७६१ को आस्ट्रियन और रूसी सेनाओं ने फ्रेडरिक को घेर लिया पर आक्रमक शिथिलकर्मा थे और जेनरल बुतुर्लिन अपनी सेना लिए लौट गया। इससे आस्ट्रियन जेनरल की विजय व्यर्थ हो गई। इसी समय ज़ारीना एलिज़ाबेथ की मृत्यु ने पाँसा पलट दिया और फ्रेडरिक पेंच से निकल भागा। यदि बुतुर्लिन सक्रिय होता अथवा उसके स्थान पर रूसी जनरल सुवोराव होता और एलिज़ाबेथ मरी न होती तो निस्सन्देह परिणाम और होता।

इन पर विचार करते हुए प्लेखानाव ने उस सबल ऐतिहासिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की है जो व्यक्ति के प्रभाव को नगण्य कर देता है। पन्द्रहवें लुई के शासन काल में फ्रांस का सैन्य-संगठन दिन पर दिन दुर्बल होता गया। सतवर्षीय युद्ध के अवसर पर तो फ्रेंच सेना में सौदागरों, नौकरों और वेश्याओं की अगणित संख्या थी। उसमें युद्ध में काम आने वाले घोड़ों से तिगुनी उन टट्टुओं की संख्या थी जो सामान ढोते थे। यह सेना वस्तुतः तुरेन और गुस्ताव की सेनाओं से कितनी भिन्न थी, दारा और ज़रक्सीज़ की सेनाओं के कितनी अनुरूप! सन्तरी कार्य के लिए नियुक्त सैनिक पास के गाँवों में नाचते फिरते थे और अफ़सर की आज्ञा स्वेच्छा से ही मानते थे। सेना की इस अधोगति के कारण थे उन अभिजात कुलों का पतन जो सेना के लिए अफ़सर प्रदान करते थे, और 'प्राचीन-पद्धति' की अधोधः प्रगति। ये कारण सतवर्षीय युद्ध में फ्रांस को धूल चटा देने के लिए पर्याप्त थे। सुबोई और पाम्पादूर का भाग फ्रांसीसी मुसीबतों को उत्तरोत्तर बढ़ाता गया। वास्तव में पाम्पादूर की अपनी शक्ति कुछ नहीं थी। उसकी शक्ति लुई की शक्ति पर अवलंबित थी। यदि लुई की मनोवृत्ति अन्य होती तो पाम्पादूर की शक्ति कुछ न होती। फिर भी क्या उन आधार भूत सबल परिस्थितियों का निराकरण हो सकता था जो फ्रांस को क्रान्ति की ओर खींचे लिए जा रही थीं? रासबाख की लड़ाई के बाद पाम्पादूर के पास जनता की ओर से अपमान भरी अनन्त-अनन्त बेनामी चिट्ठियाँ आती रहीं जिससे वह उन्निद्र रोग से पीड़ित हो गई। फिर भी वह जनता के रुख के विरुद्ध सुबोई के स्वार्थों की रक्षा करती गई। क्यों? क्योंकि फ्रांसीसी जनता के पास उसे अथवा राजा को उचित आचरण करने पर मजबूर करने के लिए कोई शक्ति, कोई संस्था न थी। समाज का संगठन, जो तात्कालिक सामाजिक और आर्थिक शक्तियों की उपज था, कुछ इस प्रकार था कि पाम्पादूर के सारे कारनामें उसे सह्य हो सके। माना कुछ हद तक, कभी कभी काफी, व्यक्ति समाज के भाग्य को प्रभावित करता है, परन्तु यह प्रभाव और इसकी मात्रा समसामयिक समाज के संगठन और उसके अंतर्गत की शक्तियों द्वारा सीमित रहती है। व्यक्ति का प्रभाव समाज के विकास में वहीं, उसी काल और उसी सीमा तक परिमित रहता है जहाँ, जिस काल तक और जिस सीमा तक समाज उसे अंगीकार करता है।

कहा जा सकता है कि व्यक्ति का प्रभाव उसकी अपनी योग्यताओं से परिमित होता है सही। परन्तु यह भी निश्चय है कि व्यक्ति अपना प्रभाव तभी व्यक्त कर सकता है जब वह समाज में एक विशिष्ट स्थान बना लेता है। क्या कारण है कि तत्कालीन फ्रांस के भाग्य एक ऐसे राजा के हाथ में थे जो नितान्त अयोग्य और अक्रिय था। क्योंकि समाज का संगठन उसे अंगीकार करता था। इस प्रकार संगठन का रूप ही वस्तुतः काल विशेष में मेधावी अथवा मूर्ख व्यक्तियों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव के परिमाण को निश्चित करता है। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के कारण सामाजिक और आर्थिक थे; मिराबो, मारात् और राब्स्पियर नहीं। और न अठारहवीं सदी के एन्साइक्लोपीडिस्ट दान्तो, होल्बाख और हेल्वेतियस। और न ही वोल्तेयर अथवा रूसो। इन्होंने उस क्रान्ति को बढ़ाया ज़रूर, परन्तु वे वहाँ संयोग से ही थे। यदि वहाँ वे न होते तो उनके स्थान पर और होते, उन्हीं के समगुण के। संभव है उनके स्थानापन्न व्यक्ति उनसे लगन, क्रियाशीलता अथवा योग्यता में कम होते, संभव है अधिक होते, पर होते जरूर। कारण कि स्वयं राब्स्पियर आदि को उन परिस्थितियों ने ही बनाया था जो औरों को भी बना सकती थीं, औरों को भी बनाया—नेपोलियन को, दूसरी क्रांति के प्रवर्तकों को, नेपोलियन तृतीय को, १८७० के मज़दूर-स्टेट के निर्माताओं को और पहले क्रान्तिकालिक असाधारण सेनापतियों को, जो कभी अभिनेता, कम्पोज़िटर, नाई, रंगसाज़, वकील और खोंचेवाले थे। यह सोचना नितान्त भ्रमपूर्ण है कि यदि राब्स्पियर संयोग से मर गया होता अथवा नेपोलियन गोली का शिकार हो गया होता तो फ्रांस का इतिहास बदल जाता। राब्स्पियर का दल निश्चय नष्ट हो जाता, क्योंकि उसके सिद्धान्तों में क्रांति के परवर्ती जीवन को संगठित करने के लिए कोई सुझाव न था और उसके दल के कार्य नित्य प्रति असह्य होते जा रहे थे। नेपोलियन यदि इटली में गोली का शिकार हो गया होता तो दूसरे जेनरल उसका स्थान ले लेते, यद्यपि संभव है उनकी विजयों की संख्या या मात्रा इतनी न होती जितनी नेपोलियन की थी; परन्तु निःसन्देह फ्रेंच प्राजतंत्र निरंतर विजयी होता जाता। फ्रांस के पास उस समय संसार के सबसे बाँके सैनिक थे और सबसे बाँके अफ़सर। क्यों? क्यों अभी हाल की लुई पन्द्रहवें की सैनिक वस्तु-स्थिति सहसा बदल गई थी? क्योंकि अभिजातवर्गीय स्वार्थों की परंपरा अब टूट गई थी और जनता निर्बाध रूप से सेना में भरती होकर उसकी शक्ति बदल सकती थी। जनता का अजस्र स्रोत अब खुलकर बह चला था।

स्वयं नेपोलियन वहाँ इसलिए था कि सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने उसे माँगा। वह वहाँ इसलिए आ धमका कि वह वहाँ था। वह यदि वहाँ न होता तो कोई और होता। प्रजातंत्र मृत्यून्मुख हो चुका था, डिरेक्टरी नष्टप्राय थी। अबी सेये ने जैसा कहा है—ज़रूरत 'तेज़ तलवार' की थी, जिसे संयोग से नेपोलियन ने प्रस्तुत कर दी। वास्तव में उस पद के लिए नेपोलियन का नाम बहुत पीछे लिया गया। पहले जूबर्ट का ध्यान लोगों को आया, पर नोवी की लड़ाई में उसके मर जाने पर मोरो, मैक्डोनाल्ड, बर्नादोत्ती की पुकार हुई। यदि नेपोलियन भी जूबर्ट की ही भाँति मर गया होता तो उसका कोई नाम तक न लेता। और यदि उसका वह अन्त भी न होता जो हुआ तब भी उसकी स्वेच्छाचारिता से उस क्रान्ति का सृजन होता जो 'टुइलरीज़' के महलों को बैस्टिल के दुर्ग की भाँति पत्थरों की ढेर बना देती। क्या कुछ ही पहले मारात् ने नहीं कहा था कि हमारे विजयी जेनरल ही हमारी स्वतंत्रता का नाश कर हमारी बेड़ियाँ सिद्ध होंगे? तब नेपोलियन कहाँ था? शायद सेना में एक अगण्य अफ़सर। क्या मारात् का यह उद्गार जनता के एक नए स्तर के विचारों का विस्फोट न था? किसी प्रकार भी फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति का परिणाम व्यक्तियों के बीच में आ जाने के कारण अन्यथा न होता। अपने मानसिक गुणों और आचरणों से प्रभावशाली व्यक्ति घटनाओं के एकाध अवयव और उनके परिणाम के रंग कुछ गहरे कर दें यह संभव है पर वे इतिहास का स्वाभाविक प्रवाह बदल दें, यह संभव नहीं। हमें इस बात को न भूलना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति जो सामाजिक शक्ति हो जाता है वस्तुतः स्वयं सामाजिक संबंधों का परिणाम है। नेपोलियन महान् था परन्तु जनशक्तियाँ जो उसके कृत्यों का समर्थन कर रही थीं, जिनके बल पर—लुई के बल पर मादाम पम्पादूर के बल की भाँति—उसकी शक्ति निर्भर थी, वे महत्तर थीं। संभव है रफ़ील और दा विंची न होते तो इटली के नए जागरण के भीति-चित्रों अथवा मूर्तियों का सौन्दर्य इतना न निखर पाता जितना उनके द्वारा निखरा, पर उनके अभाव में इन

कलाओं का अभाव हो रहता यह मानना असंभव होगा। अनन्त छोटे बड़े कलाकार रफ़ील और दा विंसी के अतिरिक्त इटालियन चित्रों और भास्कर्य को सँवार रहे रहे थे और निश्चय मात्रा के संघट्ट (Quantity) से गुणपरक परिवर्तन होता जिससे उस नवजागरण की शक्ति असिद्ध न हो पाती। प्रभावशाली से प्रभावशाली व्यक्ति जनविचार और जनप्रयास को उसके स्वाभाविक बहाव की ओर ढकेलता मात्र है उसके विरुद्ध खड़ा हो कर उसके प्रवाह को लौटा नहीं सकता चाहे वह बिस्मार्क हो, चाहे हिटलर, चाहे गाँधी। गाँधी ने उस महास्रोत को जो १८५७ अथवा उससे भी पहले, फूट पड़ा था केवल बढ़ाया, केवल उसी ओर जिधर वह स्वयं प्रवाहित हो रहा था। यदि वे उसके विरुद्ध खड़े होते तो निश्चय विपन्न हो जाते जैसे अनेक और उनसे कहीं बढ़कर, मेधावी 'लिबरल' विपन्न हो गये। जनघोष में उन्होंने भी अपना निर्घोष मिलाया यद्यपि उनका घोष सबसे ऊंचा था। इस सिद्धान्त की सचाई गाँधी के ही जीवन से सिद्ध हो जाती है। जनता ने खादी नहीं पहनना चाहा और गाँधी के लाख प्रयत्न करने पर, चर्खा के निरन्तर स्तोत्र गानेपर भी उसने खादी न पहनी। यह उदाहरण इस बात को निश्चित कर देता है कि सामाजिक परिस्थितियाँ ही इतिहास का निर्माण करती हैं व्यक्तिविशेष नहीं। इतिहास का स्रोत बहता जाएगा और क्लियोपेट्रा की नाक चाहे उसके सौन्दर्य के अनुपात से कुछ छोटी भी हो जाय तो उस प्रवाह में विघ्न नहीं पड़ सकता, क्योंकि सीज़र और ऐन्तनी को उत्पन्न करने वाले कारण अन्यत्र हैं, क्लियोपेट्रा के मादक सौन्दर्य में नहीं।

३

यहाँ पर इतिहास के दृष्टिकोणों पर भी कुछ विचार कर लेना उचित होगा। साधारणतया इतिहास के, वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक, दो दृष्टिकोण हैं। जब इतिहासकार प्रस्तुत सामग्री को पूर्व और पर के क्रम में रख घटनाओं और उनकी शृंखला के कारण और उनके परिणाम को सामने रखते हुए उद्घाटन करता है तब वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रयोग करता है। यह इतिहास का आधुनिक दृष्टिकोण है। इस परंपरा में इतिहासकार स्वयं घटनाओं के बीच में नहीं आ जाता उनको वह अपनी सुविधा अथवा रुचि से नहीं रखता उनके प्रति पूर्वाग्रह (Prejudice) के वशीभूत हो उनके रूप बदलने की वह चेष्टा नहीं करता। घटनाओं को वह शुद्धबुद्धि से यथातथ्य रखता है। यदि वह उनके संबंध में कुछ कहना चाहता है तो वह उसकी अन्त्य आलोचना होती है जिसे प्रसंग के बाद वह करता है। घटनाओं अथवा उनके संघटयिताओं के प्रति उसे क्रोध या अप्रसन्नता नहीं होती। मनुष्य होने के नाते वह स्वयं उनके अभाव से विरहित तो नहीं रह सकता परन्तु इतिहास के प्रणयन में कम से कम वह अपनीयता का उपयोग नहीं करता, अपनी धारणाओं को पृथक रखता है। इतिहास का मार्क्सवादी दृष्टिकोण इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार करता है, परन्तु इसके आधार और परिणाम के संबन्ध में अपने सिद्धान्त रखता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, जैसा आरंभ में कहा जा चुका है, इतिहास का विकास समाज के द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों के कारण होता है। प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अर्थ मनुष्य प्रयास करता है। उस प्रयास के सिलसिले में वह उत्पादन को कार्य सरल करने के लिए अपने हथियार प्रस्तुत करता है, जिसकी सीमाएं प्रकृति निर्धारित करती है यद्यपि मनुष्य अपने इन्हीं हथियारों के बलपर प्रकृति पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। उत्पादनके बाहुल्य और वितरण से समाज के स्तर बनते हैं, जिनमें पारस्परिक संघर्ष होता है। समाज के वर्ग कबीलों को हटा कर स्टेट की स्थापना करते और अपने स्वार्थ में कानून विधान बनाते हैं। इसी संघर्ष से इतिहास का निर्माण होता है। यह तो हुआ आधार का सिद्धान्त। परिणाम के संबंध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण शुद्ध वैज्ञानिक से किंचित् भिन्न है। शुद्ध वैज्ञानिक इतिहास जहाँ केवल घटनाओं के तारतम्य को समझाकर उनकी अंतिम व्याख्या कर उनसे पृथक् हो जाता है वहाँ मार्क्सीय इतिहासकार ऐतिहासिक निगमन और निष्कर्ष को काम की वस्तु समझता है। समाज की व्यवस्था आर्थिक कारणों से बदल कर मनुष्य के स्वभाव में भी परिवर्तन करती है। अब तक का समाज मनुष्य ने अपने सचेत प्रयास से बनाया है जो अमान्य अवश्य है इससे आगे

वह उसे बदल डालने का प्रयत्न करेगा। उस प्रयत्न को सफल करने में इतिहास अपने इतिवृत्तक उदाहरणों से सहायता करता है। मार्क्सवादी 'कला कला के लिए' नहीं मानता। उसे मनुष्य के लिए मानता है। इससे वह इतिहास को भी कुछ हदतक उद्देश्यपरक मानता है परंतु किसी मंजिल पर वह इस कारण इतिहास के स्तरों को उटकारता नहीं। इतिहास का प्रणयन वह भी नितान्त वैज्ञानिक ढंगसे करता है।

उद्देश्यपरक इतिहास सर्वथा मार्क्सीय अथवा उपादेय ही नहीं होता। शुद्ध वैज्ञानिक रूप में इतिहास अन्ताराष्ट्रीय होता है। राष्ट्रीय इतिहास अवैज्ञानिक और अशुद्ध है। जिस प्रकार राष्ट्रीय ओषधि, राष्ट्रीय रसायन, राष्ट्रीय विज्ञान नहीं हो सकते, वैसेही राष्ट्रीय इतिहास भी नहीं हो सकता। जाति की अखण्डता जितनी असत्य है इतिहास की राष्ट्रीयता भी उतनी ही अयथार्थ है। इतिहास राष्ट्र की संकुचित सीमाओं को सहज ही पार कर जाता है। जहाँ पर इतिहासकार राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इतिहास का प्रणयन करता है वहाँ वह उसकी घटनाओं और व्यक्तियों से राग द्वेष करने लगता है। उसके सामने वास्तव में इतिहास नहीं राष्ट्र है और राष्ट्रीय उपादेयता को दृष्टिमें रख वह इतिहास की घटनाओं को रूप-रंग देता रहता है। उसके लिए इतिहास एक राजनीतिक उद्देश्यका पूरक हो जाता है जैसा कि वह नेपोलियन, नीलो, बिस्मार्क, हिटलर के हाथ में हो गया था। इसका अर्थ यह नहीं है कि इन व्यक्तियों ने इतिहास की रचना की वरन् यह कि राष्ट्र को दृष्टि में रख जो उन्होंने इतिहास के आँकड़ों से राष्ट्रीयता को जगाया तो वह भयावह हो गई और उसने कालांतर में अन्य राष्ट्रों को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया। इतिहास के उदाहरणों का उन्होंने दुष्प्रयोग किया। मार्क्सवाद के क्षेत्र और दृष्टिकोण अन्ताराष्ट्रीय हैं इससे उसकी ऐतिहासिक व्यवस्थामें इतिहास की वैज्ञानिकता विच्छृङ्खल अथवा दूषित नहीं होने पाती। परन्तु राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लिखे जानेवाले इतिहास में अपने-पराए की मनोवृत्ति का उठना स्वाभाविक है। इस प्रकारके इतिहास में अपनी पराजय की कथा कम अथवा नहीं मिलती प्रायः विजयों की ही होती है, या पराजय को विजय से भी स्पृहणीय बना दिया जाता है। भारतीय पुराण प्रायः इसी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं इसी कारण उनमें सिकन्दर के आक्रमण और विजय तथा कुषाण-राजवंश का कोई हवाला नहीं मिलता। बाख्त्री के ग्रीक राजकुलों ने भारत में अनेक केन्द्रों से लगभग दो सदियों तक राज किया परन्तु उसका भी कोई हवाला नहीं मिलता। देमेत्रियस ने पाटलिपुत्र तक जीत लिया था, इस नाते ग्रीक इतिहासकार उसे 'भारतका राजा' (Rex Indorum) कहते हैं, परन्तु सिवा गार्गी-संहिता (ज्योतिष-ग्रंथ) के युगपुराण के उसका अन्य पुराणों में हवाला नहीं मिलता। शक-पह्लवों के पाँच-सात कुलों ने भारत के अनेक बाह्य और आभ्यन्तर केन्द्रों से राज किया था, परन्तु उनका हवाला भी नहीं के बराबर है और यदि इनके सिक्के, अभिलेख आदि उपलब्ध न होते तो हम उन्हें जान भी न सकते। प्रथम शती ई० पूर्व के लगभग शक अम्लाट के आक्रमण के पश्चात् मगध और उसकी राजधानी की जो दयनीय दशा हो गई थी उसका वर्णन भी किसी पुराण ने नहीं किया है। केवल गार्गी-संहिता में उसका इस प्रकार उल्लेख है—"उस सुदारुण युद्धकाल के अन्त में वसुधा शून्य हो जायेगी और उसमें नारियों की संख्या अत्यन्त बढ़ जायेगी। करों में हल धारण कर स्त्रियाँ कृषि कार्य करेंगी और पुरुषों के अभाव में नारियाँ ही रणक्षेत्र में धनुर्धारण करेंगी। उस समय दस-दस बीस बीस नारियाँ एक एक नर को वरेंगी। सभी पर्वों और उत्सवोंमें चारों ओर पुरुषोंकी संख्या अत्यन्त क्षीण होगी, सर्वत्र स्त्रियों के ही झुण्ड के झुण्ड दीखेंगे, यह निश्चित है। पुरुष को जहाँ तहाँ देखकर वे आश्चर्य! आश्चर्य! कहेंगी। ग्रामों और नगरों में सारे व्यवहार नारियाँ ही करेंगी।" यह चूँकि विदेशी द्वारा पराजित राष्ट्र की दशा थी, इसका उल्लेख साधारणतया पुराणों में नहीं किया जा सका। गार्गी-संहिता के युगपुराण को छोड़ शेष सारे पुराण इस प्रसंग पर मूक हैं।

इसका अर्थ सर्वथा यह भी नहीं कि राष्ट्रीय इतिहास किसी स्थल पर वैज्ञानिक नहीं होता। अनेक स्थलों पर उसमें सत्य की स्तुति निर्भयता से हो जाती है। विष्णुपुराण गुप्तकालीन है। समुद्रगुप्त की असुरविजयी प्रणाली से संतप्त होकर पुराणकार ने राम का प्रसंग खड़ा कर रहा है—"मैंने यह इतिवृत्त प्रस्तुत किया है। भविष्य में इन

नाओं का अस्तित्व संदिग्ध होकर वैसे ही विवादास्पद जायगा जैसे आज राम और अन्य महान् व्यक्तियों हो गया है। सम्राट् काल के प्रवाह में पड़कर भूली ख्यातें बन गए—वे सम्राट् जिन्होंने सोचा था और सोचते हैं कि 'भारत मेरा है।' साम्राज्यों को धिक्कार ! सम्राट् राघव के साम्राज्य को धिक्कार है !" इस कार के वैज्ञानिक आलोचन के जहाँ तहाँ पुराणों में भी र्वन हो जाते हैं। राष्ट्रीय इतिहास हर्ष के पंचवर्षीय न को प्रश्रय देगा, उसकी प्रशंसा करेगा। उस दान जो जनता के श्रम का परिणाम था, जिसे जनता नंगे खे रह कर, राह में सुरक्षा के अभाव में लुट लुट कर तुत करती थी और जिसे वह अनुत्तरदायी हर्ष स्वार्थ र प्रदर्शन में लुटा देता था ! राष्ट्रीय इतिहास की नियाद का ही यह फल है कि अतिस्त्रीगामी विलासी ीराज युद्ध से भागता हुआ सरस्वती के तट पर मारा कर भी अमर है और नरपुंगव जयचन्द्र अपनी मुट्ठी सेना के साथ अस्सी वर्ष की बुढ़ौती में चन्दावर के दान में शहीद होकर भी कायरता और देशद्रोहिता प्रतीक बना हुआ है। इतिहास की राष्ट्रीयता पर वह कट व्यंग है, अमोघ और अमिट।

यह दोष कुछ भारतीय ही नहीं है। पूर्वाग्रह से कृत अनेक इतिहासों का निर्माण हुआ है। भारतीय तिहास विज्ञान को अपनी खोजों से परिपूर्ण करके भी स्वयं मथ अलीक न रह सके और अपने इतिहासों में उन्होंने जयी जाति के शासकों की मनोवृत्ति दर्शाई। हालवेल गप्पों की परंपरा प्राचीन है। ईरानी दरबार का ाँचवी शती ई. पू. का ग्रीक राजदूत हेरोदोतस भारत आए 'दो पूँछों वाले सिंह' का उल्लेख करता है। सके इतिहास की सत्यता अनृत के व्यंग पर पहुँच ाती है जब वह कहता है कि हिमालय में जो स्वर्ण-सिकता निकलती है और जिसे भारतीय गाड़ियों पर लाद लाद र ले जाते हैं, उसे भूमि खोद-खोदकर दीमकें निकालती हैं जो लोमड़ी की ऊँचाई की होती है ! रोम इतिहास लिखनेवाला लिवी स्वयं पक्षपात से नहीं च सका। उसकी अवैज्ञानिकता का मुख्य कारण उसकी ष्ट्रीयता है। लिवी मेधावी है, देशप्रेमी है, साहित्यिक , उसकी लेखनी में जादू है। इतिहास को भी वह ाहित्य की भाँति लिखता है और उसमें रसका सचार रता है परन्तु इतिहास-विज्ञान की दृष्टि से वह असफल । लिवी इतिहासकार पीछे है, रोमन पहले। इस कारण रोम की अनेक कुरीतियों, अनेक दुर्बलताओं, को वह क्षमा कर देता है। जो रोमन पराजय इतिहास सिद्ध हैं उनको भी वह विजयों में बदल देता है। प्रत्येक रोमन कृत्य का वह अनुमोदन करता है यदि वह रोम के अर्थसाधन में संपन्न हुआ है, चाहे वह अत्यन्त अनुचित ही क्यों न रहा हो। जब जब रोम का रोमेतर राष्ट्रों से संघर्ष हुआ है उसके वर्णन में वह रोम पक्षवर्ती हो गया है यद्यपि रोमन-रोमन के सम्बन्ध में उसका पक्ष स्तुत्य और न्याय्य है। लवी आलोचक की दृष्टि से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं परन्तु वैज्ञानिक तरीके को राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखने से कारण वह समझ ही नहीं पाता। 'अहं' (Subjective element) और रोम की भावना उसमें अधिक है जो उसके दृष्टिकोण को विकृत कर देती है। उसमें धार्मिक भावना भी है जो स्थान स्थान पर प्रकट होकर उसके विचारों को दूषित कर देती है। परन्तु जो उसे अत्यन्त अवैज्ञानिक बना देती है वह है उसके भीतर राष्ट्र-दृष्टि की पैठ।

इतिहास की भौगोलिक सीमाएँ नहीं हैं। उसके प्रति इतिहासकार का दृष्टिकोण सार्वभौमिक होना उचित है। इतिहास की सामग्री केवल पुस्तकीय अध्ययन की वस्तु नहीं। उसकी उपादेयता भी है और राष्ट्र तथा राष्ट्रीयों के चरित्र-निर्माण में उसका प्रयोग किया जा सकता है। देश और राष्ट्र-प्रेम बुरा नहीं परन्तु उसके कार्य के लिए इतिहास की श्रृङ्खला को दूषित करना बुरा है। देश के बच्चों के चरित्र गठन के लिए इतिहास के उदात्त व्यक्तियों के चरित चुने जा सकते हैं। उनका चरित गाया जा सकता है, रामायण-महाभारत की भाँति। परन्तु उस वीर गाथा को इतिहास नहीं कहा जा सकता। घटना श्रृङ्खला की कड़ी है और हटाई नहीं जा सकती। फिर उदात्त चरित के लिए जब हम इतिहास के एक प्रसंग को अलग कर चरित्र निर्माण के अर्थ फिर से संगठित करते हैं तब उसके एक स्थल पर अधिक जोर देते हैं, दूसरे को दबा देते हैं। इस प्रकार का इतिहास इतिहास नहीं, राष्ट्र की सुविधाओं के लिए प्रस्तुत राजनीतिक संकलन है। कुछ अंशों में वह स्तुत्य भी है। परन्तु उसे इतिहास की संज्ञा प्रदान करना अनुचित और दोषपूर्ण दोनों है। इतिहास इतिवृत्त है, अतीत में घटी हुई घटना, जिसका इतिहासकार ऋषिवत् दर्शन कर पुनरुद्धार करता है और जिसे वह शुद्ध वैज्ञानिक रूप से हमारे सामने प्रस्तुत करता है। ऐसा इतिहासकार स्तुत्य है, उसका इतिहास स्तुत्य है।

राजपूताने में सामन्तवादी प्रथा

डा० परमात्मा शरण पी० एच-डी०

कर्नल टॉड इस विश्वास का, जो कि अब साधारणतया इतिहास का एक निश्चित सत्य समझा जाता है, प्रसार करने के लिये उत्तरदायी है कि मध्य युग के यूरोप के समान ही राजपूताने में भी सामन्तवादी प्रथा प्रचलित थी। कुछ लेखकों द्वारा उस विशेष प्रकार की मिश्रित राजनैतिक-सामाजिक प्रथा के नाम का, जो कि मध्ययुग में यूरोप में फैली, बड़ी अस्पष्टता एवं असावधानी के साथ भारतीय संस्थाओं के लिये प्रयोग किया जाता है। कुछ पाश्चात्य विद्वान इन जागीरों के लिये जो कि मुस्लिम-शासक अपने अफ़सरों को देते थे, 'फ़ीफ़' (Fief) शब्द का बराबर प्रयोग करते चले जाते हैं। और उतनी ही स्वाधीनता से बिना किसी प्रकार का अन्तर प्रकट किये 'फ्यूड' (Feud) शब्द का भी प्रयोग किया जाता है, यद्यपि मोरलैंड आदि कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है, कि किसी भी भारतीय-संस्था के लिये चाहे वह वाह्य रूप से अथवा कुछ अंशों में यूरोप की सामन्तवादी प्रथा से मिलती भी हो, सामन्तवादी यूरोपीय शब्दावली का प्रयोग अत्यन्त अनुचित और भ्रामक है।

यह कथन, उस प्रथा के लिये भी जो राजपूताने में प्रचलित थी और जो आज भी जारी है, तत्वतः आकार-प्रकार में यूरोप की सामन्तशाही प्रथा से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। दोनों प्रथाओं में अनेक लक्षण इतने समान हैं कि ऐसा प्रतीत होता है मानों दोनों की उत्पत्ति एक ही स्थान से हुई हो। इन आश्चर्यजनक समानताओं ने ही, कर्नल टॉड को इस भ्रम में डाल दिया कि राजपूत-समाज और यूरोपीय सामन्तशाही एक ही चीज़ है। किन्तु यदि हम राजपूत-प्रथा की विशेषताओं का बारीकी से अध्ययन करें, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि वाह्य समताओं के होते हुए भी दोनों प्रथायें मूलरूप से भिन्न हैं। इसलिये मुग़लकालीन राजपूत राज्यों की सामाजिक-राजनैतिक संस्थाओं के लिये पाश्चात्य सामन्तवादी शब्दावली का प्रयोग ग़लत और ख़तरनाक है।

दोनों प्रथाओं की समानताओं और भिन्नताओं पर विचार करने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उन कारणों और परिस्थितियों की परीक्षा की जाये, जिन्होंने इन्हें जन्म दिया। यूरोप की सामन्तशाही के इतिहास का बड़े बड़े विद्वानों ने पूर्णतया विचार किया है। इस विषय पर बहुत सा साहित्य भी बन चुका है। परन्तु राजपूत प्रथा के विषय में यह बात नहीं है। हमारे इतिहासज्ञों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। यहाँ तक कि कविराज श्यामलदास के वीर-विनोद और गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझाके राजस्थान के इतिहास जैसे स्मरणीय ग्रन्थों में भी इस सामाजिक-राजनैतिक प्रथा पर एक पंक्ति भी नहीं लिखी गई है। इस नियम के अपवाद केवल कर्नल टॉड हैं जो अपनी पूर्णता, गम्भीर विद्वत्ता और राजपूताना सम्बन्धी अपने अतुलनीय ज्ञान के कारण हमें प्रशंसा करने के लिये विवश कर देते हैं। किन्तु टॉड ने भी इस प्रथा को जैसा अपने समय में पाया उसका ज्यों का त्यों वर्णन कर देने के अतिरिक्त और कुछ न किया। उसने इसकी उत्पत्ति और विकास के कारणों तथा स्थिति की खोज नहीं की। वह इतना ही कहता है कि राजपूतों की प्रथा और यूरोपियन पद्धति दोनों का आधार पैत्रिक राज्य-प्रथा है। साथ ही वह गिबन की उस परिभाषा से भी सहमत है, जिसमें हमारे पूर्वजों की प्रथा को संयोग और बर्बरता की उपज बतायी है। जैसा मैं अभी बताऊंगा, ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं टॉडने भी इस विचार के महत्त्व को नहीं समझा। जहाँ तक मैं जानता हूँ किसी अन्य विद्वान ने भी इस क्षेत्र की खोज नहीं की जो हमारे इतिहास के अन्य बहुत से भागों की भाँति अन्धकार में पड़ा है। राजपूताने के इतिहास में फ्यूडल

ढङ्ग की संस्थाओं की उत्पत्ति और विकास का प्रश्न वास्तव में एक बड़ी समस्या का भाग है, जो भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिये खोज का एक विशाल क्षेत्र उपस्थित करती है। इसलिये मैं संक्षेप में इस समस्या पर प्रकाश डालना चाहता हूँ।

राजपूत राज्यों की उन्नति का आरम्भ ईसा की छटी या सातवीं शताब्दी में माना जाता है। इनका इतिहास इस समय से अन्धकार से धीरे धीरे प्रकाश में आता है। ८वीं शताब्दि से १२ वीं शताब्दी के अन्त तक हम इस योग्य हो जाते हैं कि उनके समाज और संस्कृति तथा उनकी राजनैतिक-संस्थाओं को समझ सकते हैं, जब कि उत्तरी भारत के प्रमुख हिन्दू राजा उत्तरी-पश्चिमी सीमा से होने वाले तुर्कों के आक्रमण के प्रथम प्रवाह में तिनके की तरह बह गये। राजपूताने में, जहाँ वह किसी प्रकार अपनी स्थिति कायम रख सके, उनका कोई प्रभाव न रहा। किन्तु हम उन्हें १५ वीं शताब्दी के मध्य में फिर प्रमुख स्थान प्राप्त करते हुए पाते हैं और तब यद्यपि वह मुग़ल सम्राट के सहायक और अधीन ही थे, उन्होंने बहुत ही प्रमुख, विशेष कर मुग़ल साम्राज्य के राजनैतिक और सामाजिक इतिहास के निर्माण में भाग लिया। ३०० वर्ष से अधिक का यह समय निस्सन्देह संक्रमण काल था, जिसमें राजपूत-समाज और उसकी संस्थाओं में गम्भीर और दूर तक प्रभाव-डालने वाले परिवर्तन हुए। १२ वीं शताब्दी के अन्त तक राजपूतों की सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं का ढाँचा और प्रकार विशुद्ध स्वदेशी था जो उन्हें भारत की प्राचीन राजनैतिक प्रणाली से विरासत में मिली थी। उन्होंने शासन के प्रयोग में आने वाले शब्द संस्कृत से लिये थे और उनके उद्देश्य और आदर्श हिन्दुओं के राजनीति-सम्बन्धी ग्रंथों में प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर थे। उस समय की उनकी सामाजिक और राजनैतिक प्रणाली में हम उन सामन्तशाही संस्थाओं का कोई चिन्ह नहीं पाते, जिन्हें हम १६ वीं शताब्दी के उपरान्त पाते हैं। प्राचीन शासक वंशों में हम ऐसे किसी भी समाज का चिन्ह नहीं पाते, जो समाज में पिता को सर्वोच्च-सत्ता देने वाले सिद्धांत पर स्थित हो और जैसा हम मध्यकालीन राजपूत-राज्यों एवं उसके बाद के राज्य-परिवारों में पाते हैं। किन्तु सामन्तशाही संस्थाओं के विकास के अतिरिक्त जिसने कि राजपूत-समाज-व्यवस्था में एक बड़ा परिवर्तन कर दिया उनकी राजनैतिक प्रणाली में इतना अधिक अन्तर आ गया था कि वह पहचानी न जा सकी। मंत्री, महामात्य, महासन्धि-विग्राहिक, महासेनापति, महाबलाधिकृत आदि सब ओझल हो गये और उनका स्थान प्रधान, बख्शी, सूरतनामा, सहाय और फ़ौजदार ने ले लिया। मण्डल, विषय और भुक्ति के स्थान पर तहसील, परगना और थाना बन गये, यद्यपि पिछले दो प्राचीन प्रतिगन, स्थान या स्थानिक के क्रमशः प्रचलित रूप थे। क्यों और किन कारणों से इस प्रकार का रूपान्तर लाया गया, यह ऐतिहासिक खोज के लिये एक बहुत ही मनोरञ्जक विषय है। अब यूरोपियन एवं राजपूत प्रणाली की तुलना करने के लिये यह आवश्यक है कि यूरोप की फ्यूडल-पद्धति की उत्पत्ति और विकास तथा इसके मूल सिद्धांतों पर संक्षेप में विचार कर लिया जाय।

इतिहास में संस्थाओं के विकास का विश्लेषण करते समय उनकी पद्धति और परिणामों को भली भाँति समझने के लिये आरम्भ में ही दो वस्तुओं को स्पष्ट रूप से एक दूसरी से पृथक कर देना चाहिये। प्रथम तो सामाजिक और राजनैतिक वातावरण में परिवर्तन जिसने कि इस विकास को आवश्यक बना दिया। दूसरे इस समय की संस्थायें, जिनका नई आवश्यकताओं का सामना करने के लिये रूपान्तर आरम्भ हो गया है।

जहाँ तक यूरोप की सामन्त पद्धति का सम्बन्ध है, उस समय की संस्थाओं में परिवर्तन एवं नवीन संस्थाओं की उत्पत्ति उस अराजकता से आवश्यक हो गई, जो रोमन-साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा के ह्रास से उत्पन्न हुई थी। ऐसी दशा में साम्राज्य की सरकार ने प्रजाजनों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा जैसे प्रारंभिक कर्तव्यों की पूर्ति में भी अपने को नितांत असमर्थ अनुभव किया। परिणामस्वरूप यह अनुभव किया जाने लगा और रोमन समाज की यह एक अनिवार्य आवश्यकता हो गई कि कोई अन्य व्यवस्था की जाय, जो आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के खतरों से, दूसरे शान्ति-भङ्ग करने वालों से जो ऐसे समय में उत्पन्न हो जाते और बढ़ जाते हैं तथा बाह्य आक्रमणकारियों से रक्षा कर सके। हम अभी कर्नल

टॉड की गिबन के साथ सहमति की उन भावनाओं का उल्लेख कर चुके हैं जिनमें उसने यूरोपियन प्रथा को संयोग और बर्बरता की सन्तान बताया है। इस परिस्थिति में अपने आप को पाकर दुर्बल स्वतन्त्र मनुष्य ने, जिसके जीवन पर चारों ओर से प्रहार हो सकता था, स्वाभाविक रूप से ही जहाँ पर भी उसे रक्षा मिली, उसे प्राप्त किया और उसका मूल्य चुकाया। इसलिये महान् एवं मूल सामाजिक तथा शासन के प्रति अपने प्रारम्भिक कर्तव्य जनता की रक्षा करने में असफलता और फ्यूडल प्रथा की उत्पत्ति और विकास का अवसर था। वास्तव में राजकीय सत्ता के ह्रास ने ज़मीन के स्वामी और असामी या प्रजा में पारस्परिक रक्षा की आवश्यकता उत्पन्न कर दी। इस प्रकार सामन्तशाही प्रथा का मूल आधार वह ज़मींदार और असामी के मध्य में रक्षा और सेवा के पारस्परिक आदान-प्रदान का समझौता था, जिसमें कि वह दोनों प्रविष्ट हुए थे। इस प्रकार दो दशाओं में से प्रथम और प्रारम्भिक की सृष्टि हुई, जिसने सामाजिक-विधान में परिवर्त्तन आवश्यक कर दिया।

दूसरी दशा या दूसरा कारण जिसने बाद में होने-वाले विकास का निर्णय किया और उसे निश्चित रूप दिया आरम्भ में प्रारम्भिक रोमन-संस्थाओं से फ्रान्स तथा अन्य देशों की स्थानीय संस्थाओं से प्राप्त हुए जहाँ कि सामन्तशाही प्रथा ने उस स्थान की पूर्ति की जो वहाँ की सरकारों के प्रारम्भिक कर्त्तव्यों और कार्यों के पूर्ण करने की योग्यता खो देने से रिक्त हो गई थी।

रोम में दो वर्गों के मनुष्य रक्षा प्राप्त करने के लिये विवश हो गये थे। एक तो वह स्वतन्त्र आदमी जिनके पास ज़मीन नहीं थी और दूसरे छोटे ज़मींदार। स्वामी और असामी के सम्बन्ध की प्राचीन रोमन प्रथा ने आधार का काम किया और ज़मीनरहित स्वतन्त्र आदमियों ने उत्तरकालीन रोमन तथा प्रारम्भिक जर्मन, दोनों राज्यों में इसका उपयोग किया। ज़मीनरहित स्वतन्त्र आदमी, जो अपना पालन और रक्षा नहीं कर सकते थे, किसी शक्तिशाली पड़ोसी के पास गये, उससे अपनी आवश्यकतायें कहीं और सहायता एवं शरण देने के बदले में अपनी सेवायें—जो कि एक स्वतन्त्र व्यक्ति के उपयुक्त थीं अर्पित कर दीं। जर्मन रियासतों में यह व्यापार एक लिखित ठेका बन गया और 'कमेण्डेशन' (स्तुति) कहलाता था, जब कि इसका रोमन नाम 'पैट्रोसिनिम' था।

छोटा ज़मींदार न केवल अपनी रक्षा के लिये, किन्तु अपनी ज़मीन की रक्षा के लिये भी बड़ी कठिनाई में पड़ गया। इसलिये जब उसने रक्षा की प्रार्थना की तो धनवान आदमी ने उत्तर दिया कि मैं केवल अपनी ज़मीन की रक्षा कर सकता हूँ। ग़रीब आदमी को अपनी ज़मीन के स्वामित्व का अधिकार अपने शक्तिशाली अथवा धनवान पड़ोसी को अर्पित करना पड़ा और एक शर्त के अनुसार जो प्रिकेरियम कहलाती थी और जिसने उसे उसके जीवन काल में रक्षा प्रदान की, लेना पड़ा। किन्तु यह करके उसने अपने बच्चों को उस ज़मीन पर किसी भी प्रकार के कानूनी अधिकार से वंचित कर दिया।

फ्रैंक लोगों के गोल विजय के उपरान्त इन दोनों प्रथाओं में फ्रैंकिश-संस्थाओं के प्रभाव से कुछ परिवर्त्तन हुए, जैसे कि अधिकार पत्र जिसके (शपथ का उत्सव) 'ओथ ऑफ़ फ़ील्टी' को स्वामी और असामी के सम्बन्धों में अपना लिया गया और जिसने उनकी आत्मा और मूल भावों को ही बदल दिया। इसी प्रकार छोटे स्वतन्त्र आदमियों को अपनी ज़मीन देकर, जो पादड़ी की वृत्ति कहलाती थी, चर्च ने इस प्रथा को एक बहुत आवश्यक देन दी। बाद में इस प्रथा के साथ असामी के द्वारा अपने स्वामी, चर्च अथवा इसके प्रमुख को सैनिक सहायता देने अथवा उसके लिये घुड़सवार सेना रखने का कर्त्तव्य और जुड़ गया।

ऊपर की बातें यूरोप की सामन्तवादी-समाज की उत्पत्ति का वर्णन, राजपूताने में एक भिन्न प्रकार के समाज की उत्पत्ति का पता लगाने में सहायक होगा।

राजपूतों का राजनैतिक-सङ्गठन पिता की सर्वोच्च-सत्ता के सिद्धान्त के आधार पर आश्रित था। सरदार के असामी वास्तव में सरकार के छोटे सदस्य होते थे, जिनमें सरदार सबसे बड़ा होता था और इसलिये मुखिया था। छोटे सदस्यों की जागीरें उनका अधिकारपूर्ण हिस्सा थीं, जिन्हें वह उत्तराधिकार के आधार पर प्राप्त करते थे। किन्तु मध्य यूरोप में असामियों द्वारा अधिकृत जागीरों की दशा और प्रकृति ही भिन्न थी; क्योंकि वह लोग पैतृक सत्ता के आधार पर स्थापित समाज से

अपरिचित थे। यही कारण था कि राजपूताने में व्यक्तिगत या ज़मीनविहीन असामी या प्रजा कभी नहीं हुए जैसे यूरोप में हुए। मुखिया एवं उसके असामी के बीच में पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य तथा बहुत सी संस्थायें राजपूताने में पिता की सर्वोच्च सत्ता के सिद्धान्त के कारण बन गईं, जब कि इसके विरुद्ध यूरोप में दो पार्टियों, लार्ड और असामी-प्रजा के बीच समझौते के परिणामस्वरूप (जो कि एक परिवार अथवा झुण्ड के नहीं थे) बनीं।

किन्तु अन्तिम और सब से आवश्यक परिवर्त्तन जिसे कि चार्लेमेन के दुर्बल उत्तराधिकारियों को केवल स्वीकार ही नहीं बल्कि कानून में परिणत करना पड़ा वह असामी या प्रजा की सेना को स्वीकार करना, राज्य के बहुत से कर्त्तव्यों को व्यक्तिगत कर्त्तव्यों में परिणत कर देना और सामन्तवादी लार्डों के हाथ में सर्वोच्च-सत्ता प्रदान करना था। राज्य-सत्ता से स्वतन्त्ररूप में सामन्तवादी लार्डों के हाथ में जो शक्ति आई उसे 'हैल्म' के शब्दों में सबसे अच्छी तरह वर्णन किया जा सकता है। किस हद तक फ्रान्स के 'पीयर' और 'बैरन' सम्राट थे, फ्यूडल-युग में स्वतन्त्र हो गये थे, यह समझने के लिये हमें उनके अधिकारों पर दृष्टि डालनी चाहिये। वह इस प्रकार कहे जा सकते हैं। (१) सिक्के बनाने का अधिकार, (२) व्यक्तिगत युद्ध करने का अधिकार, (३) हर प्रकार की राज्यकीय खिराज़ों से मुक्ति; (४) कानून के प्रतिबन्धों से स्वतन्त्रता; (५) अपनी सीमा में आरम्भिक न्याय करने का पूर्ण अधिकार। सर्वोच्च-सत्ता के सिद्धान्तों के विरुद्ध इतने अधिक अधिकार नियमानुसार तो हमें यह सोचने के लिये विवश कर देते हैं कि फ्रान्स एक राज्यतन्त्र न होकर राज्यों का समूह था जो कि अङ्गिक रूप से परस्पर सम्बन्धित थे।

उस विषय के लिये ये दशायें राजपूताने अथवा भारत के अन्य किसी भाग में कभी उपस्थित नहीं हुईं। इसके विरुद्ध यूरोप में लगभग १० वीं शताब्दी के आरम्भ में लार्ड स्वतन्त्रता के अन्य अधिकारों के साथ केवल अपने चिन्ह के सिक्के बनाते थे। किसी समय में डेढ़ सौ लार्ड इस अधिकार का प्रयोग करते थे और उन्होंने राजमुद्रा का व्यवहार बन्द कर दिया था। फ़िलिप ऑगस्टस ने कर्वे के एबट से, जिसने अपनी मुद्रा बनानी बन्द कर दी थी, अनुरोध किया कि वह पेरिस की राज-मुद्रा का अपने राज्य में व्यवहार होने दे और वचन दिया कि ज्योंही वह अपनी मुद्रा बनाना आरम्भ कर देगा, राजा उसके व्यवहार का विरोध नहीं करेगा। इसके विरुद्ध राजपूताने में सहायक सर्दारों को अपने सिक्के चलाने का अधिकार कभी नहीं मिला।

सामन्त-कालीन बैरन लोगों ने जब वैयक्तिक युद्ध करने के अधिकार का प्रयोग किया, तब उनकी स्वतन्त्रता चरम सीमा पर पहुंच गई। और उसने हैलम को यह कहने के लिये विवश कर दिया कि फ्रान्स एक राज्यतन्त्र न होकर राज्यों का समूह था, जो कि आङ्गिक रूप से परस्पर सम्बन्धित थे।

राजपूताने में ऐसी दशा यहाँ के समाज के लिये स्वाभाविक रूप से ही कल्पनातीत थी। इसके अतिरिक्त कॉमन लॉ की मैशनिरी और उसका प्रयोग दूसरे शब्दों में न्याय का अन्त ही गया था, क्योंकि हर एक लार्ड की अपनी अदालत थी और अपने शासन के अन्तर्गत स्थानों के लिये वह स्वयं कानून बनाता था, जिसके परिणामस्वरूप राजा के एक सार्वजनीन कॉमन लॉ के स्थान पर कितने ही कानून-समूह उत्पन्न हो गये थे। राजपूताने में यह कभी सम्भव नहीं था।

किन्तु विभिन्न देशों में, जहाँ सामन्तवादी प्रथा को उन्नत करने के लिये उपयुक्त वातावरण मिला, व्यवहार और दशाओं में स्वाभाविकरूप से ही पर्याप्त अन्तर आ गया। किन्तु इन विभिन्नताओं के होते हुये भी कुछ ऐसे मूल सिद्धान्त और सम्बन्ध थे, जो सर्वत्र एक से थे, जिन्होंने कि प्रत्येक फ्यूड वस्तु को 'फ्यूडलिज़्म' का सार दे दिया, चाहे उसका रूप कुछ भी क्यों न हो। इनमें से मुख्य ये थेः (१) असामी और लार्ड का सम्बन्ध (२) यह सिद्धान्त कि हरएक ज़मीन का अधिपति केवल किरायेदार है, स्वामी नहीं, जब तक कि वह सबसे ऊँची श्रेणी में न पहुंच जाये। (३) कोई मूल्यवान् चीज़ जिस किराये पर जा सकती है, वह है सम्मानपूर्ण सेवा, जिसका रूप आर्थिक नहीं बल्कि नैतिक और सामाजिक है। (४) स्वामिभक्त, रक्षा और पारम्परिक सेवा के, पारस्परिक कर्त्तव्यों के सिद्धान्त बड़ी से लेकर छोटी

श्रेणियों को बांधे हुए थे। (५) लार्ड और असामी के मध्य में समझौता या ठेका ही उनके पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्यों का निर्णय करता था और यही फ्यूड क़ानून की आधारशिला थी।

सामन्तवादी-सम्बन्धों की आधार 'फ़ीफ़' थी, जो अधिकतर ज़मीन होती थी, किन्तु कोई भी आवश्यक वस्तु हो सकती थी, जैसे कोई पद, रुपया, वस्तु के रूप में मालगुज़ारी, टाल टैक्स इकट्ठा करने का अधिकार या मिल चलाने का अधिकार।

फ़ीफ़ के बदले में वह आदमी लार्ड का असामी बन जाता था और उसे बहुत से काम करने एवं कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता था जैसे सेना में नौकरी, अदालत का काम जिसमें कि अदालत बनाने में सहायता करना भी शामिल था, मालिक के कोर्ट के आगे अपने फैसले को रखना, अपने मुकदमों को अपने ही लार्ड के पास ले जाना और लार्डों की सलाह लेना। आवश्यकता पड़ने पर उन्हें स्वामी की मदद भी करनी पड़ती थी चाहे उसका रूप शासन-सम्बन्धी हो अथवा सैनिक हो। उत्तराधिकारी को अपने पिता का पद ग्रहण करने से पहले अपने अधिकार स्वीकृति के लिये भेंट देनी पड़ती थी, जो 'रिलिफ़' कहलाती थी।

आखिरकार फ्यूडल देश का शासन एक नये ढङ्ग की शासन व्यवस्था थी, जिसने कि उस पुराने सङ्गठन का स्थान ले लिया था, जिसमें जाति के सैनिक और सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति का उत्तरदायित्व सामन्त का था। नई व्यवस्था में राजकीय कर्त्तव्य अथवा राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य का स्थान 'वैसल' के व्यक्तिगत कर्त्तव्य ने लिया था, जो उसे फ़ीफ़ के बदले में मिला था। इस प्रकार फ्यूडल राज्य वह था जिसमें वैय्यक्तिक कानून ने राजकीय कानून का स्थान हड़प लिया था और राजकीय कर्त्तव्य वैय्यक्तिक कर्त्तव्य में परिणत हो गया था। इन कार्यों तथा अधिकारों का इन सामन्तों द्वारा किस प्रकार अपहरण हुआ यह हल्लम के शब्दों में बयान किया जा चुका है। साधारणतया जितने भी मनुष्यों के सार्वजनिक तथा एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्य होते हैं वे सभी उसी प्रकार भाड़े के हो गये जैसे कि एक वैय्यक्तिक इकरारनामे के अनुसार किसी भूमि के इस्तेमाल के बदले दिया गया लगान। राज्य का संचालन सामन्तों द्वारा दी गई मामूली सी रकम से, न्याय से, और राज्य के ताल्लुकों से प्राप्त धन से होता था।

ये ही यूरोपीय सामन्तशाही प्रथा के विशेष लक्षण थे। इसके उपरांत खास खास उत्सवों के अवसर के लिये कितने ही रीति और रिवाज चल पड़े थे जिनपर दासों को चलना होता था। फिर भी ये रीति रिवाज जगह जगह विचित्र रूप में थे और इस प्रथा के वाह्यरूप थे, वास्तविक रूप नहीं। इस प्रकार सामन्तशाही का उदय एक बड़े सामाजिक तथा राजनैतिक आवश्यकता के रूप में हुआ—आवश्यकता थी जनता के प्रति दायित्व पूरा करने तथा राजा अथवा शासकों के कार्यों के करने की जब कि वे इन कार्यों के करने में सर्वथा अयोग्य हो गये थे। इस प्रथा ने एक सर्वशक्तिमान सत्ता के और राज्य के कार्य तथा कर्तव्यों को पूरा करनेवाली शक्ति के अदृष्ट हो जाने के कारण पैदा हुए शून्य को भर लिया। इस प्रथा की सबसे मुख्य विशेषता यह थी कि इसमें राजे और उनकी सरकारें छाया में चली गई थीं और बिल्कुल निकम्मी हो गईं थीं। दूसरी बात यह कि इस प्रथा में सत्ता और राज्य के सारे कार्य सभी व्यावहारिक कार्यों के लिए, शक्तिशाली सामन्तों द्वारा हड़प लिये गये थे जिनका कि वे इस्तैमाल अपने व्यक्तिगत हैसियत में करते थे। दूसरे शब्दों में यह एक अराजकता का काल था किन्तु (चाहे जो भी हो उस समय उनके यहाँ के स्थानीय वातावरण ने जिसने इसे एक विचित्र रूप दिया) यह बात नहीं थी कि इसमें कोई संगठन अथवा पद्धति न हो। इसलिये इस प्रथा की अवनति तथा लोप उसी समय से शुरू हुआ ज्यों ही कि उनके रक्षा, न्याय तथा स्थानीय निरीक्षण के कार्य को राजे तथा उनकी सरकारें पुनः आरम्भ करने योग्य हो गईं।

ऊपर बयान किये हुए लक्षण जो कि यूरोपीय सामन्तशाही प्रथा के सार हैं उनके उपरान्त भी इन सामन्तों के कुछ और भी साधारण कर्तव्य थे जैसे कि आपतकाल में सहायता का कार्य, लावारिस धन की ज़ब्ती, मदद, संरक्षण, विवाह और अधिकार त्याग करने के सम्बन्ध के जुर्माने।

अनुरूपताएँ

इन दोनों प्रथाओं में अनुरूपता केवल उनके गठन और ढाँचे में है। इसलिए ये अनुरूपता केवल बाह्य और ऊपरी है। दोनों के बीच केवल घटनाओं में सादृश्य है विशेष लक्षणों में नहीं।

नज़राना

नज़राने की प्रथा पूरब और पश्चिम में समान रूप से थी। मेवाड़ में जब किसी सरदार के मरने के बाद उसके उत्तराधिकारी को राज्य सौंपा जाता था उस समय एक बड़ा आयोजित उत्सव होता था और राज्य को नज़राना दिया जाता था। जब कि एक राजपूत शस्त्र धारण करने योग्य हो जाता है तो 'खड्ग बँधाई' नाम का उत्सव मनाया जाता है। यह प्रथा जर्मन कबीलोंके पुराने रिवाज से मिलती है। जिसमें ख्याति तथा कीर्ति के इच्छुक मनुष्यों के हाथ में भाला दिया जाता था। यह रस्म रोमनों के पुराने रस्म 'Toga vinlis' (चौदह वर्ष की अवस्था में वीरता के वस्त्र पहनना) से मिलता-जुलता है।

नज़राने के रिवाज से मालूम होता है कि राजाओं को इसे बार बार लेने का अधिकार था किन्तु जैसा कि टॉड (vol. 1,186) स्वयं स्वीकार करते हैं, यह एक ज़ाहिरा विशेषाधिकार था। जिसका प्रयोग कभी कभी होता था और अव्यवहृत होने के कारण एक अप्रचलित नियम हो गया था। (1 bid. p. 19)

सरकारी ज़ब्ती

इस प्रथा का इस्तैमाल किसी घराने के लावारिस हो जाने तथा किसी जुर्म के अभियोग में चाहे अंशतः चाहे पूर्णतः ज़ब्ती आदि के सम्बन्ध में प्रचलित था। किन्तु पहली दशा में ज़ब्ती की बुराई गोद लेने के रिवाज के कारण कम थी। राजपूताने में भूमि के स्वामी दो प्रकार के थे। गिरासिया और भूमिया। गिरासिया सरदार वह था जिसको जीविका (गिरास) के लिये राजा कुछ भूमि पट्टा के रूप में मंजूर कर देता था और जिसके एवज़ में उन्हें कुछ निश्चित फौज (घर और बाहर) की सहायता से राज की सेवा करनी पड़ती थी। इस प्रकार का पट्टा फिर से नया किया जा सकता था और इसकी तुलना यूरोप के अधिकारी प्रथा से की जा सकती है।

किन्तु भूमिया की भूमि उसका पैतृक सम्पत्ति होती है जिस पर से उसका अधिकार छीना नहीं जा सकता। भूमिया ज़मीन्दार को केवल थोड़ा सा वार्षिक लगान देना पड़ता है। उस पर फौजी सहायता देने का दायित्व (समय और स्थान के लिहाज से) भी बिल्कुल सीमित होता है। उससे, जिले के अन्दर जहाँ कि वह रहता था, एक निश्चित समय तक के लिए ही, स्थानीय सेवा ली जा सकती थी। भूमिया की तुलना जैसा कि टॉड का मत है, यूरप के माफ़ीदार ज़मींदार से की जा सकती है। इंगलैण्ड की भू-सम्पत्ति पद्धति इस मामले में बुनियादी तौर से यहाँ से भिन्न है। वहाँ की पद्धति इस धारणा पर निर्धारित है कि कानूनन सारी भू-सम्पत्ति राजा की है।

भू-सम्पत्ति बेचने पर जुर्माना

राजपूताना में जागीरदारों द्वारा जागीर बेचने अथवा पट्टा हस्तांतरित करने की प्रथा प्रचलित नहीं थी। इस सम्बन्ध में केवल एक उदाहरण इस प्रथा के विरुद्ध मिला वह था—धार्मिक तथा दान आदि के लिए सम्पत्ति का दान जिसके लिए भी राजा की अनुमति की आवश्यकता थी। इस प्रकार कोई भी हस्तांतरीकरण न होने से यूरोप की तरह यहाँ भी भूमि बेचने पर जुर्माना नहीं लगा। लेकिन राजा के काश्तकार, जिनका यूरोप में कोई प्रतिरूप नहीं था, भूमि के असली स्वामी होनेकी हैसियत से अपनी ज़मीन बेच सकते थे यद्यपि ऐसा करने पर उन्हें भी थोड़ा जुर्माना देना पड़ता था ताकि लेन देन प्रमाण रूपमें रहे।

सहायता

विपत्ति काल में सहायता या भेंट या दान आदि के शब्द जो कि यूरोप के नियम संग्रह में लिखे हैं दोनों स्थानों पर समान रूप से प्रचलित थे। सहायता के मद में ये विषय थे—सरदार की लड़की की शादी के अवसर पर ; पानी कर, जब कि सरदार विपत्ति काल में होता ; बन्दी-मोचन के बदले में ; किसी किसी राज में बड़े लड़के के विवाह के अवसर पर। किन्तु यूरोप की तरह ये सहायतार्थ धन स्थानीय रिवाजों द्वारा बदलते रहते और बहुधा अन्यायपूर्वक वसूल किये जाते थे।

दोनों जगहों में रैयत का सरदार के प्रति कर्तव्य और सरदार और रैयत के पारस्परिक सम्बन्ध में एकरूपता थी। यूरोपीय सामन्तशाही में रैयत अपने सामन्त के प्रति भक्ति, सहायता तथा मंत्रणा से सम्बद्ध था। इन असपष्ट शब्दों का अर्थ है—युद्ध में चालीस दिन की सेवा ; आवश्यकता पड़ने पर अस्थाई आत्म-समर्पण पर, किले को खाली कर देना। सामन्त के सहायतार्थ धन देना ; अधिपति के न्यायालय में हाज़िरी और न्याय के सम्बन्ध में परामर्श देना। राजपूताना में भी लगभग इसी प्रकारके कर्तव्य रैयत को पालन करने पड़ते थे। यहाँ उसे अपनी मुक्ति के लिये शरीर बन्धक रखना पड़ता था। दोनों जगहों पर जागीरदारी प्रथा में एक पारस्परिक निष्कपटता तथा सहायता का सिद्धांत था।

इस प्रकार राजपूत राजपद्धति का संगठन सैनिक आधार पर था और उसका ढाँचा यूरोपियन ढाँचे के करीब करीब सादृश्य है। किन्तु दोनों में कुछ बुनियादी भेद हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि उद्गम और कुछ हद तक कार्यपद्धति दोनों में राजपूत पद्धति और यूरोपीय सामंतशाही इतनी भिन्न है कि इसे यूरोपीय सामंतशाही के विरुद्ध बताना गलत ही नहीं अत्यंत भ्रामक होगा।

विषमताएँ

दोनों प्रथाओं में प्रथम भेद यह है कि राजपूत सामंतशाही राजाओं की कमज़ोरी और असमर्थता के कारण नहीं उत्पन्न हुई जैसा कि इस के विपरीत यूरोपीय सामंतशाही का उदय जनता की बाहरी तथा भीतरी रक्षा के लिए हुआ। राजपूत राज्यों के इतिहास में हमें कोई ऐसा काल नहीं मिलता कि जिसमें राजपूत राजे इतने कमज़ोर हो गए हों कि अपनी प्रजा के प्रति अपना कर्तव्य पालन न कर सकें। राजपूत समाज में यूरोपीय समाज के विपरीत सेवा तथा रक्षा के लिए सामंतों तथा रैयत में कोई पारस्परिक समझौता नहीं था। राजपूत-समाज में सामंत तथा प्रजा के बीच और भाईचारे के खून का रिश्ता था और इसी आधार पर अपने पैतृक सम्पत्ति में से जागीर पाने का दावा करते थे। वे सामन्त को अपना भाई मानते थे और सामाजिक समानता का दावा करते थे। वे केवल उसे अपना अगुआ मानते थे। किन्तु यूरोप में कुलीनवर्ग का आधार था पट्टेदारी। उपसरदारों में जो एक घराने के एक शाखा का प्रधान व्यक्ति होता था और करीब करीब स्वतंत्र ही होता था और जिससे संख्या बढ़कर बाद में एक वंश होजाता था उसके जागीरदारों से लेकर एक अकेले स्वतंत्र भू-सम्पत्ति वाले राजपूत तक जो कि युद्ध में अपने खानदान वालों की मदद करने के लिये बाध्य रहता है वे सभी अपना अपना पद सरदार के खून ही होने के कारण पाते थे। यूरोप में राजा के शासन के अभाव में सामंतशाही का स्वागत हुआ। जैसा हमने ऊपर देखा है जार्लमैमेन के बाद से यूरोप की सरकारें इतनी जराग्रस्त हो गई थीं कि शनैः शनैः उनके सारे अधिकार और कार्य बेरन सामन्तों द्वारा अपहृत कर लिए गए। सार्वजनिक कानून के बदले निजी कानून व्यक्तिगत कृतज्ञता में परिवर्तित हो गया। राजा के शान्ति तथा न्याय के कार्य सामंती न्यायालय द्वारा अपना लिए गए जो अपनी अमलदारी में असीम अधिकारों का प्रयोग करते थे और जिसमें रैयत को राज्य न्यायालय में पुनर्विचार के लिए दरख्वास्त देने का कोई अधिकार नहीं था। जैसा ऊपर देखा गया है उन्होंने अपने सिक्के भी बनाए और चलाए जिस कार्य ने उनके ताल्लुकों से राजकीय सिक्के को बाहर निकाल दिया। इस प्रकार सामंतों अपने कार्यों का उत्तरदायित्व किसी केन्द्रीय सत्ता पर न फेंक उनके सभी अधिकारों का स्वयं, अपने व्यक्तिगत हैसियत, में उपयोग करने लगे। इसके पश्चात् राजों ने, इस बात को अनिवार्य जान कर, इन सामन्तों की नियुक्ति काउन्ट्स की हैसियत में की और उन्हें जागीरें भी दीं शासन करने के लिए। इस प्रकार सामन्तशाही प्रथा की डची तथा काउँटी का नया अस्तित्व पैदा हुआ। सारा राज्य टुकड़ों में ठेके पर उठ गया। इस तरह सामंतशाही ने राज्य के अधिकार तथा सीमाएं हथिया लीं। अपने पूर्ण विकास की अवस्था में यह प्रथा एक सुन्दर सुव्यवस्थित अराजकता का उदाहरण थी। किन्तु राजपूत या भारत के इतिहास में हम कोई भी ऐसा समय नहीं जानते जिसमें कोई भी राजा इतना कमज़ोर तथा राजनैतिक दृष्टि से इतना असमर्थ रहा हो कि इस प्रकार के किसी सामन्तशाही प्रथा का जन्म और विकास हुआ हो जिसने राजा के सभी कार्यों तथा अधिकारों का अपहरण

कर लिया हो। राजपूत प्रथा ने कभी संगठित अराजकता का रूप नहीं धारण किया था। राजपूत शासक सदैव अपने अधिकार और विशेषाधिकार प्रयोग करते रहें और साथ ही अपने कानून बनाते, न्याय तथा रक्षा का प्राथमिक कर्तव्य भी पूरा करते रहे और अपना सिक्का भी चलाते रहे। वे कभी भी ऐसी दुरवस्था में नहीं पहुँचे कि अपने जागीरदारों से कमज़ोर रहे हों और यूरोप की तरह वे अपनी रक्षा के लिये ज़मीदारों की सहायता पर निर्भर रहे हों। इस प्रकार जिन कारणों से यूरोपीय सामंतशाही की उत्पत्ति हुई उन्हीं कारणों का भारतीय प्रथा में अभाव था।

दूसरी बात यह कि यूरोप में नियमानुसार राजा ही समस्त भूमि का मालिक होता था, किन्तु इसके विपरीत राजपूताना में, जैसा कि समस्त देश में प्रथा थी, भूमि का स्वामी किसान होता था, जागीरदार अथवा राजा उस भूमि की उत्पत्ति में से केवल थोड़ा सा हिस्सा ही ले सकते थे। राजा को केवल भूमि के उपज का उपभोग करने का अधिकार था उसे हक मालिकाना नहीं प्राप्त था इसलिये केवल उन्हीं अधिकारों को ही हस्तांतर कर सकता था जिस पर उसका अधिकार था।

तीसरी बात यह कि अधिकांश न्याय तथा शासन सम्बन्धी अधिकार पंचायतों के हाथ था जिसकी अमलदारी में कोई भी अधिकारी हस्तक्षेप नहीं करता था। यूरोप में इस प्रकार की कोई प्रथा नहीं थी बल्कि इसके विपरीत यूरोप में बैरन लोग अकेले ही सब कुछ के मालिक थे और अपने जागीरदारों पर पूरा पूरा अधिकार रखते थे। बहुत बाद की बात है कि (उन्नीसवीं शती में) राजपूताने में कुछ जागीरदारों ने केवल दीवानी के मामलों में फैसला करने का दावा किया। लेकिन फिर भी फ़ौजदारी तथा सम्पत्ति के झगड़ों का अधिकार न्याय पंचायतों द्वारा ही होता था, किन्तु यह भी ज़ागीरदार पूरी तरह से अपना नहीं पाए। इसके उपरांत स्थानीय पंचायतों को स्वीकृति प्राप्त होने के कारण दूसरे स्थानीय रिवाज [illegible] नियमों का मान था। सच तो यह है कि [illegible] प्रकार की कोई स्थानीय शासन की एजेन्सी [illegible] की ग्राम पंचायतें हैं वास्तविक सामंतशाही समाज [illegible] कल्पना तक नहीं हो सकती, जोकि जनतंत्र [illegible] प्रतिवाद है। जब कि इसके विपरीत ग्राम पंचायतें [illegible] में प्रजातंत्रात्मक थीं। यह दोनों सामाजिक संगठनों [illegible] दूसरा आधारिक भेद है। राजपूताना में उपसरदारों की प्रथा एक ही घराने के लोगों तक सीमित थी। किन्तु यूरोप में यह कार्य किसान तक चला गया था [illegible] कि स्वयं भू-स्वामी का दास था। इसके विपरीत राजपूताना का किसान किसी का दास नहीं था बल्कि एक स्वतंत्र आदमी था। इस प्रकार की दासता राजपूताना में कभी नहीं थी।

छोटा किन्तु गंभीर भेद हिन्दू [illegible] लोगों के गोद लेने के सम्बन्ध में कभी भी हस्तक्षेप नहीं हुआ। सामंतशाही के पूजे जाने के कुप्रथा से बचने में इससे सहायता मिली। आधीनों में से किसी के यहाँ अपने मनमुताबिक विवाह कर लेने का अधिकार यूरोप में सर्वाधिपति को था। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में इस प्रकार की प्रथा की कल्पना तक नहीं की जा सकती।

भारत में जागीरदार का युद्ध सम्बन्धी कर्तव्य का रूप मूल रूप से भिन्न था जिनमें सर्वाधिपति की सहायता किसी भी बलिदान के साथ करना अनिवार्य था, इसके प्रतिकूल यूरोप में सैनिक सहायता का अर्थ था सर्वाधिपति के साथ ग्रूप (समूह) में रहना।

राजपूत समाज के आधार की नैतिक धारणा की उत्तरोत्तर बढ़ती के कारण तथा परिस्थिति के अभी तक अज्ञात रहने से उनका सुलझाना कठिन कार्य है। किन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि भारतीय व्यवस्था का प्रादुर्भाव सामाजिक तथा नैतिक कारणों से हुआ था न कि किसी राजनैतिक आवश्यकता के कारण। यही कारण है कि यह आज तक जीवित है।

तीन प्रयोग

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'

सिमला से लन्दन तक दौड़े छाना विश्व समस्त।
क्या खोये तुम जिसे खोजने में हो इतना व्यस्त ?
सदियाँ बीतीं, बीते कितने वर्षा, शीत, वसंत,
देखे कितने तख्त, ताज के उद्भव, स्थिति फिर अन्त।
देखे कितने योद्धाओं को कफन ओढ़ कर सोते,
देख रहा हूँ आह, बन्दिनी मां को कब से रोते !
कब प्रभात होगा बीतेगी दुख की रजनी काली,
खोज रहा हूँ मैं माता की हथकड़ियों की ताली !

दाँत पीस कर, रोषपूर्ण करके भैरव हुंकार,
किधर चले तुम आज मचाने जग में हाहाकार ?
माता बनी बन्दिनी मेरी कैसे सहन करूँगा,
रोको मत इस स्वर्णमयी लंका का दहन करूँगा।
है धिक्कार जवानी को, जीवन को सौ धिक्कार,
काट सका न अगर माता की हथकड़ियाँ इस बार।
फाँसी, गोली और तुच्छ है बर्छी, डंडे, कोड़ा,
खेल जान पर खोज रहा हूँ छेनी और हथोड़ा।

विश्व-विजयिनी-शक्ति तुम्हारी, किन्तु भाग्य से हारे,
दिल्ली से नोआखाली क्यों देव, चले मन मारे ?
जन जनको समझा कर हारा, दर दर अलख जगाया,
ताली, छेनी और हथोड़ा इनमें एक न पाया।
रह रह कर उठती रहती है हूक हृदय में, मन में,
खुलीं न टूटीं हथकड़ियाँ—मां बिलख रही बन्धन में।
आह, काट डाले पुत्रों ने मां के दोनों हाथ,
अब मैं चला खोजने मरहम, सफल करें रघुनाथ !!!

कि यह बिलकुल बन्द हो गया। यहाँ तक कि सोवियत-जर्मन युद्ध काल में भी यह काम मुल्क के अनेक स्थानों में बन्द नहीं किया गया। बोलग्दा का मोलोतोव पेडागागिकल परिषद इस काम में काफ़ी तत्पर रहा।

लड़ाई शुरू होने के बाद मोलोतोव परिषद ने तीन दल इस काम के लिए भेजे। उसने दो जिल्दों में Vologda Dialectological Symposium और एक अस्थायी नक्शा भी प्रकाशित किया है। उत्तर रूसी बोलियों के अध्ययन के लिए भी इसने एक विभाग खोला है।

बोलोग्दा कानफरेंस में पढ़े गए अट्ठाइस निबन्धों से रूसी बोलियोंके अध्ययन की प्रगति तथा सोवियत संघ के दूसरे भाषाओं के अध्ययन पर काफी प्रकाश पड़ता है।

मेजर केदोत सिलिन ने अपने निबन्ध में सोवियत-जर्मन युद्धकाल में भाषा के क्षेत्र में होने वाले कामों का उल्लेख किया। प्रोफेसर जार्जिएवस्की और ग्रिबकोवा ने यूराल तथा इसके आसपास की बोलियों के अध्ययन पर प्रकाश डाला। यहाँ बतलाना जरूरी है कि आज तक यहाँ की बोलियाँ अछूती थीं।

कानफरेंस में समग्र सोवियत की बोलियों का नक्शा बनाने के लिए संगठन के बारे में भी विचार किया गया। पहली दूसरी जिल्द के संकलन के विषय में भी रिपोर्ट पेश की गई। पहली जिल्द में उत्तर-पश्चिमी बोलियाँ और दूसरी में उत्तर की मध्य ग्रूप की बोलियाँ संकलित होंगी।

१९३९ की लड़ाई के पहिले सोवियत संघ की सायंस एकेडेमी के सुझाव पर लेनिनग्राड के भाषा परिषद ने बोलियों के दो सौ नक्शे तैयार किए थे। यह काम फिर से शुरू किया गया है, बोलोग्दा का पेडागागिकल परिषद का रूसी विभाग तथा इसके अध्यापक एकेडेमी के Dialectological Commission की देख रेख में दूसरी जिल्द के संकलन का काम कर रहे हैं। बोलोग्दा इलाके की सामग्री इकट्ठी करने का काम समाप्त हो गया है और दूसरे क्षेत्रों की सामग्री भी तैयार है।

बोलोग्दा कानफरेंस ने सोवियत संघ जैसे विशाल मुल्क तथा यहाँ की सैकड़ों बोलियों का नक्शा बनाने के ऐतिहासिक और महान काम को आगे बढ़ाने के लिए काफी सहायता की है। लड़ाई समाप्त हुए दो साल से ऊपर हुए। बोलोग्दा कानफरेंस के समय लड़ाई चल ही रही थी। अब तो काम काफी आगे बढ़ चुका है। हम उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं जब यह काम रूसी विद्वान समाप्त करके दुनियाँ के भाषा तात्विक इतिहास में युगान्तर उपस्थित कर देंगे।

भाषा और बोलियों के क्षेत्र में आधी सदी से ऊपर से हिन्दुस्तान में काम हो रहा है।

केलाग, बेली, हिटने, फ़िश्चेल, बीम्स, ग्रैटन, काल्डवेल, फरवेस, बेबर, हार्नेल, ग्रियर्सन, तेस्सीतोरी, लेवी, टर्नर, ब्लश, स्तेन कोनो, आदि विदेशी विद्वानों ने इस क्षेत्र में काम किया है। लेकिन अब हिन्दुस्तान में एक नया युग शुरू हो रहा है। हिन्दुस्तानी विद्वानों को भी अपने अपने क्षेत्र में नए सिरे से काम शुरू करना होगा, पहले के कामों पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना होगा और उन्हें आगे बढ़ाना होगा।

आर्य भाषाओं के क्षेत्र में श्री रामगोपाल भाण्डारकर, शंकर पाण्डु रंग पंडित ने पिछली तथा इस शताब्दी के प्रारम्भ में काम किया है। लेकिन १९२१ ई० में लन्दन विश्वविद्यालय में सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय की डाक्टरेट की थिसिस इस क्षेत्र में एक ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। इसके बाद धीरेन्द्र वर्मा ने ब्रजभाषा, बाबूराम सक्सेना ने अवधी, उदयनारायण तिवारी ने भोजपुरी, सुभद्र झा ने मैथिली, वाणीकान्त काकती ने असमियाके क्षेत्र में काम किया है। लेकिन अब वह समय आ गया है जब कि गैज़ेटियर, एटलस, शब्द-कोश, पारिभाषिक कोशों के साथ ही भाषा और बोलियों के लिए कमीशन बैठाए जायं और अधिकारी विद्वानों के हाथों में इसका काम सौंपा जाय।

ज़मींदारी प्रथा खतम करने वाली प्रश्नावली का उत्तर

संयुक्त प्रान्तीय किसान संघ की ओर से

मध्यस्थ Intermediaries

१—काश्तकार (अर्थात ज़मीन जोतने वाले) और सरकार के बीच अधिकांश ज़मींदार ही मध्यस्थ होते हैं, परन्तु पिछले पचास वर्षों में जनसंख्या के बढ़ने और गृह उद्योग धंधों के क्रमशः नष्ट हो जाने के कारण भूमि पर जनसंख्या का भार बेहद बढ़ गया है। धंधों से हटने वाली जनसंख्या और प्राकृतिक रूप से बढ़ने वाली जनसंख्या को अपने जीवन निर्वाह के लिए और दूसरा कोई साधन न होने के कारण वह अधिकाधिक खेती पर अवलम्बित होती गई और भूमि पर जनसंख्या का भार बेहद बढ़ता गया। यह तो अभी से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ १८८१ की जनसंख्या की गणना के अनुसार भारतवर्ष की कुल जनसंख्या २५ करोड़ के लगभग थी। उस समय भी केवल ५६ प्रतिशत जनसंख्या खेती पर निर्वाह करती थी। परन्तु १९४१ की जनसंख्या की गणना के अनुसार जब भारत (बर्मा को छोड़कर) की जनसंख्या ३८ करोड़ से ऊपर हो गई। तब लगभग ७३ प्रतिशत जनसंख्या केवल खेती पर निर्भर है। इस बीच में खेती की भूमि का अधिक विस्तार नहीं हुआ। भूमि में थोड़ी सी वृद्धि तो हुई किन्तु विशेष वृद्धि न होसकी क्यों कि जितनी भूमि स्वयं काश्तकार के साधनों से जोती जा सकती थी उतनी भूमि काश्तकार तोड़ चुका था। अब तो जो भूमि बंजर पड़ी है उसको खेती के योग्य बनाने के लिए अत्यधिक पूँजी, श्रम तथा अन्य साधनों की आवश्यकता है जो राज्य ही उपलब्ध कर सकता है। फिर संयुक्त प्रान्त में तो बहुत भूमि पर रेह (alkali salt) आजाने तथा बहुत सी भूमि का कटाव (erosion) हो जाने के कारण वह खेती के अयोग्य हो गई है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि प्रति काश्तकार पीछे संयुक्तप्रान्त में २॥ एकड़ से कम भूमि का औसत हो गया। उत्तराधिकार के नियमों के कारण छोटे छोटे काश्तकारों के पास तो किसी किसी दशा में २॥ एकड़ से भी कम भूमि जोतने के लिए रह गई है। यह स्पष्ट है कि दो चार एकड़ से एक परिवार का पालन नहीं हो सकता। अतएव बहुधा ऐसा होता है कि जिसके पास भूमि है वह तो किसी नगर में कोई धंधा या काम करता है और अपनी ज़मीन को आध-बटाई पर अथवा लगान पर उठा देता है। शहरों में बहुधा बहुत से ऐसे क्लार्क, कचहरी के मुंशी, पटवारी, मास्टर तथा छोटे दूकानदार, कारखानों के मजदूर इत्यादि मिलेंगे, जिनके नाम कुछ भूमि है और वे उसे दूसरों को उठाये हुए हैं। भूमि की इतनी कमी है कि गांव में रहने वाले काश्तकार किसी भी शर्त पर ज़मीन को जोतने के लिए तैयार रहते हैं। जिन शर्तों पर ज़मीन काश्तकारों को दी जाती है वे सब दशाएं एकसी नहीं होतीं। कहीं भूमि पर अधिकार रखने वाला बीज और हल बैल देता है तो कहीं वह कुछ नहीं देता और लगान रूप में आधी पैदावार ले लेता है। महाजन भी ऋण के बदले बहुत सी भूमि पर अधिकार पा जाता है और वह भी अपने भूमि को उठा देता है। **इस प्रकार यद्यपि काश्तकार और सरकार के बीच में ज़मींदार ही मुख्य मध्यस्थ है, परन्तु कुछ और भी मध्यस्थ जिनके सम्बंध में ऊपर लिखा गया है उत्पन्न हो गया है।** परन्तु यह मानना पड़ेगा कि दूसरी प्रकार के मध्यस्थ काश्तकार का उतना अधिक शोषण नहीं कर पाते जितना कि जमींदार करता है और न वे उतने महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि इस प्रकार के मध्यस्थों के आंकड़े प्राप्त नहीं हैं। परन्तु खोज से पता चला है कि इस प्रकार के मध्यस्थ बहुत अधिक संख्या में नहीं हैं। फिर भी वे नगण्य नहीं हैं।

२—ज़मींदारों को तो समाप्त कर देना आवश्यक ही है परन्तु साथ ही उन मध्यस्थों को जो कि कभी भी स्वयं खेती नहीं करते समाप्त कर देना चाहिए। इसके लिए सरकार को एक नियम बना देना चाहिए

कि नाबालिग अथवा विधवा को छोड़कर यदि कोई भी व्यक्ति भूमि को आध-बटाई अथवा लगान पर एक वर्ष से अधिक के लिए उठावेगा तो उस भूमि को जोतने वाले का उस भूमि पर अधिकार स्वीकार कर लिया जायगा। और आगे चलकर सरकार भूमि को जोतने वाले को भूमि पर अधिकृत मानेगी।

३—जब कि किसी व्यक्ति की कुछ अधिकारों के विषय में मध्यस्थ की हैसियत हो, परन्तु उसे इन अधिकारों के अतिरिक्त और भी कुछ दूसरे प्रकार के अधिकार प्राप्त हों, तो उससे नीचे लिखे प्रकार के अधिकार छीन लेने चाहिए।

(क) सीर और खुदकाश्त जो शिकमी उठाई हुई हो। वह सारी ले ली जावे—ऐसी सीर और खुदकाश्त जो कि ज़मींदार स्वयं जोतता है यदि १०० बीघा से अधिक है तो उसके पास केवल १०० बीघा ज़मीन छोड़ी जावे और शेष उससे ले ली जावे। जो व्यक्ति सीर और खुदकाश्त को शिकमी नहीं उठाता और स्वयं उसको मज़दूर रखकर जोतता है, १०० बीघा छोड़देने पर वह उस पर अच्छे ढंग से खेती करेगा और वह १०० बीघा भूमि उसे एक सम्पन्न काश्तकार की हैसियत रखने में सफल होगी। परन्तु इसका यह परिणाम भी हो सकता है कि प्रत्येक ज़मींदार १०० बीघा भूमि अपनी खेती के लिए रख लें और उन शिकमी काश्तकारों को ही अथवा खेत मज़दूरों को मजदूरों के रूप में रखकर वे आज की ही भाँति उनका शोषण करते रहें। इसलिये यह आवश्यक होगा कि नियम ऐसा बनाया जावे कि जो जमींदार अपनी सीर और खुदकाश्त को मज़दूर रखकर जोतेगा उसको राज्य द्वारा निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी (minimum wage) देनी होगी। प्रत्येक जिले में न्यूनतम मज़दूरी कितनी होगी, इसको निर्धारित करने के लिए सरकार जिलाधीश अथवा अन्य किसी अधिकारी को नियुक्त कर देगी। जब तक खेती में भी न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित नहीं होगी तब तक खेत मज़दूरों की आर्थिक समस्या हल नहीं हो सकती।

(ख) ऊसर ज़मीनें और पेड़ों पर भी व्यक्तियों का अधिकार नहीं रहना चाहिए क्योंकि आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों के फल स्वरूप ऊसर भूमि को भी खेती के योग्य बनाया जा सकता है, किन्तु उसके लिए जितने पूँजी तथा अन्य साधनों की आवश्यकता होगी वह राज्य ही उपलब्ध कर सकता है। अस्तु इस ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए उस पर राज्य का स्वामित्व होना आवश्यक है। राज्य द्वारा उस ऊसर भूमि का सुधार करने के उपरांत उसमें सामूहिक फार्म (Collective Forms) स्थापित किए जावें। खेत के मजदूर जिनके पास आज तनिक भी भूमि नहीं है और जिनकी संख्या पिछले वर्षों में तेजी से बढ़ी है वे प्रसन्नतापूर्वक सामूहिक खेतों (Collective Forms) के सदस्य बन जावेंगे। इस प्रकार प्रांत में सामूहिक खेती का प्रयोग आरम्भ हो सकेगा और आगे चलकर अन्य काश्तकार भी सामूहिक खेती की उपयोगिता को समझ कर अपने छोटे-छोटे खेतों को बड़े-बड़े सामूहिक खेतों में परिणत करने के लिए तैयार हो सकेंगे। उसके अतिरिक्त भारत में जलाने के लिए ईंधन तथा पशुओं के लिए चारे का अकाल है, जिसका परिणाम यह होता है कि गोबर जो कि खेतों का बहुमूल्य खाद है, वह कंडों के रूप में जला दिया जाता है और चारे की कमी के कारण पशुओं की नस्ल में सुधार होना संभव नहीं है और अधिकांश पशु भूखे रहकर खेती के लिए अयोग्य बन जाते हैं। अस्तु ऊसर भूमि के कुछ भाग पर जंगल खड़ा किया जा सकता है। सरकार का वन विभाग अपनी देख रेख में प्रत्येक गाँव की पंचायत के सहयोग से (जंगल पंचायत स्थापित करने के लिए आवश्यक श्रम labour बिना मूल्य दे) कुछ ऊसर भूमि पर वन स्थापित करे और गाँव की पंचायत उस वन की लकड़ी तथा घास को गाँव वालों के उपयोग के लिए काम में लाने की व्यवस्था करे। इस प्रकार सरकार के नियंत्रण में यदि ऊसर भूमि आ जावेगी तो खेत मज़दूरों के लिए सामूहिक खेतों पर काम उपलब्ध किया जा सकेगा और चारे तथा लकड़ी की कमी को भी कुछ अंशों में कम किया जा सकेगा। यह राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक है। अस्तु सरकार का ही इस भूमि पर अधिकार रहना चाहिए। हाँ, उस भूमि का लाभ इस प्रकार गांव वालों और विशेष कर खेत मज़दूर और काश्तकारों को ही मिलेगा ऐसा आश्वासन दे देना चाहिए।

(ग) जंगल पर भी राज्य का अधिकार होना चाहिए।

ऊपर के तर्क के अनुसार ही जंगल पर भी राज्य का ही नियंत्रण होना चाहिए। व्यक्तियों के अधिकार में से उसे ले लेना चाहिए। किन्तु जंगलों का उपयोग समीपवर्ती गाँव वालों के लिए ही होगा ऐसी व्यवस्था कर देनी चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि गाँव की पंचायत वन विभाग की सलाह से बन का उपयोग गाँव के लिए करे।

(घ) बाग़ पर व्यक्तियों का ही अधिकार रहना चाहिए।

(ङ) खेतों की मेड़ पर के पेड़ पर उसका अधिकार होना चाहिए कि जो खेत जोतता है।

(च) सायर की आमदनी को ज़मींदारों से ले लेना चाहिए, क्योंकि इससे व्यापार, गमनागमन में अनावश्यक रुकावट होती है और ग्रामीण जनता का शोषण होता है। यह पद्धति मध्यकाल के सामन्तशाही युग का अवशेष है जबकि सामन्त अपने प्रभाव क्षेत्र में जान माल की रक्षा के बहाने इस प्रकार का कर लगाता था। आज के युग में इस प्रकार की पद्धति को चलने देना एक ऐसा अन्याय है कि जो सहन नहीं किया जाना चाहिए।

(छ) आबादी और रास्तों पर से भी ज़मींदारों का अधिकार नष्ट कर देना चाहिए। जिनका मकान हो उनका तथा उनके वंशजों का उसपर अधिकार हो। यदि कोई व्यक्ति बिना किसी उत्तराधिकारी के मर जावे तो राज्य उसका स्वामी हो। रास्तों पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार होना सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त हानिकर है। रास्तों पर तो सार्वजनिक अधिकार होना चाहिए।

जहाँ तक संयुक्त प्रान्त में तालाबों का प्रश्न है वे सिंचाई के काम नहीं आते। वे केवल सिंघाड़े, चावल, अथवा मछली उत्पन्न करने के उपयोग में आते हैं। अस्तु तालाबों को भी यहाँ खेत की भूमि के समान ही मानना चाहिए और ज़मींदार का उस पर से अधिकार समाप्त कर देना चाहिए। किन्तु कुओं पर व्यक्तियों का ही अधिकार रहना चाहिए क्योंकि कुएँ सिंचाई के साधन हैं। अतएव यदि कुओं से व्यक्तिगत स्वामित्व को हटा दिया जावेगा तो भविष्य में सिंचाई का यह साधन नष्ट हो जावेगा। लोग कुओं को बनाना छोड़ देंगे। साधारण किसान कुएँ बनाकर ही सिंचाई की दृष्टि से स्वतन्त्र हो सकता है। कुआं बनाना उसकी सामर्थ्य के अन्दर है। अस्तु खेती की उन्नति को ध्यान में रखते हुए कुओं पर व्यक्तिगत अधिकार रहने देना आवश्यक है।

मुआविज़ा

हमारी राय में ज़मींदारों के अधिकार छीनने के बदले में उन्हें कोई मुआविज़ा न देना चाहिए। इसके लिए नीचे लिखी हुई बातों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जावेगा कि मुआविज़ा देना न्याय संगत न होगा और ऐसा करने से किसान सदैव के लिए शोषण की चक्की में पिसता रहेगा।

१—भारतवर्ष में ज़मींदारी प्रथा हिन्दू तथा मुसलिम काल में कभी नहीं रही। जो लोग ज़मींदारी प्रथा को जागीरदारी प्रथा से मिलाते हैं वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। जागीरदारी प्रथा एक सैनिक संगठन था। साम्राज्य की सुरक्षा के लिए कुछ सेनानायकों को उनकी वीरता के तथा साम्राज्य भक्ति के उपलक्ष्य में जागीरें दे दी जाती थीं। जागीरदार को केवल उस क्षेत्र में किसानों से जो भूमि के मालिक होते थे वह भूमि कर मिलता था जो कि किसान को राज्य को देना होता था। एक प्रकार से जागीर सेना के व्यय के लिए दी जाती थी। भूमि पर किसान का अधिकार होता था, वही उसका मालिक होता था। जागीरें बदलती भी रहतीं थीं। बादशाह यदि जागीरदार के पुत्र को इस योग्य नहीं समझता था कि वह सम्राट की सेना का एक नायक रहे तो उसको अपने मृत पिता की जागीर नहीं मिलती थी। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासन के पूर्व भारत में जमींदारी प्रथा नहीं थी।

जमीन्दारी प्रथा का जन्म

बात यह थी कि जब मुग़ल साम्राज्य निर्बल होकर छिन्न भिन्न हो गया, स्वतंत्र नवाब सूबेदार और राजे अपने अपने प्रदेशों में स्वतंत्र बन बैठे तो केन्द्रीय सत्ता नष्ट हो गई। यह प्रान्तीय सूबेदार तथा नवाब भी आपस में युद्ध करते रहते थे; क्रमशः इनकी भी शक्ति क्षीण होती गई, शासनयंत्र ढीला होता गया और 'भूमिकर' जो कि उस समय राज्य की आय का मुख्य आधार था वसूल करना कठिन हो गया। अस्तु नवाबों

रानों तथा प्रान्तीय सूबेदारों तथा केन्द्रीय सरकार ने प्रत्येक तहसील के 'भूमिकर' को वसूल करने का ठेका व्यक्तियों को देना आरम्भ कर दिया। जो भी व्यक्ति उस क्षेत्र में प्रभावशाली और धनी होता वही राज्य से भूमि कर उगाहने का ठेका लेता। इससे यह लाभ हुआ कि राज्य भूमि कर उगाहने की झंझट से बच गया और उसके खजाने में निश्चित आय आने लगी। किन्तु उसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि राज्य का जनता से कोई सम्पर्क नहीं रहा। यदि राज्य की व्यवस्था ठीक रही तब तो यह ठेकेदार निश्चित कर ही किसानों से उगाहते थे और राज्य को निश्चित प्रतिशत देकर शेष अपने पास रख लेते थे, किन्तु यदि राज्य की व्यवस्था गड़बड़ हुई तो वह मनमाना कर किसानों से वसूल कर लेते थे। यही नहीं वे लोग इन क्षेत्रों में ऐसे प्रभावशाली बन गए कि कुछ समय के उपरान्त किसी अन्य व्यक्ति का साहस ही नहीं पड़ता था कि वह भूमि कर उगाहने का ठेका ले; क्योंकि पहले ठेकेदार का प्रभाव तथा उसके गुमाश्ते और नौकर चाकरों का उस क्षेत्र में ऐसा जाल फैला रहता था कि नए ठेकेदार को कर उगाहना बहुत कठिन पड़ता था। अतएव जब ठेके का समय समाप्त होता तो पुराना ठेकेदार फिर ठेका ले लेता। इधर देश की राजनैतिक स्थिति इतनी बिगड़ती गई कि अब वे इन प्रभावशाली ठेकेदारों को दबा भी नहीं सकते थे। ठेकेदार जितना भी कर चाहते उतना वसूल करते और जितना चाहते सरकारी खजाने में जमा कर देते। जब राज्य युद्ध में फँसा होता तो यह खज़ाने में कर जमा भी नहीं करते। इस प्रकार जब कि ब्रिटिश शासन यहाँ पूर्ण रूप से जम गया तो उस समय ज़मीन के बन्दोबस्त की व्यवस्था अत्यन्त गड़बड़ थी। जागीरदार अपनी जागीरों के मालिक जैसे बन बैठे थे और ठेकेदार भी एक प्रकार से उस प्रदेश का भूमि कर उगाहने का पुश्तैनी हक जमा बैठे थे।

ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ यह भलीभांति जानते थे कि भारत में अपने साम्राज्य को शक्तिवान बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देश में एक प्रभावशाली वर्ग उनका पृष्ठपोषक बनकर रहे और उनके शासन को दृढ़ बनाता रहे। अतएव उन्होंने इन भूमि कर उगाहने का ठेका लेने वालों और जागीरदारों को ही ज़मींदार बना दिया। किसानों के भूमि पर से सारे अधिकार जाते रहे एक ज़मींदार वर्ग उत्पन्न हो गया।

अस्तु अधिकांश ज़मींदार तो ब्रिटिश शासन की उपज हैं। आज जब कि ब्रिटिश शासन देश में समाप्त होने जा रहा है (अब समाप्त हो गया—सं०) तब यह आवश्यक है कि जमींदार जो कि ब्रिटिश शासन की उपज हैं वह भी उसके साथ समाप्त हो जावें। रहा मुआविज़ा देने का प्रश्न वह उठता ही नहीं, क्योंकि जमींदारों ने जमींदारियाँ पैदा नहीं की, उन्हें अन्यायपूर्ण ढङ्ग से ज़मींदार बना दिया गया। अस्तु यदि आज उनको समाप्त किया जारहा है तो मुआविज़े का प्रश्न कैसे उठता है? जो लोग यह कह कर मुआविज़ा देने का समर्थन करते हैं कि यदि मुआविज़ा नहीं दिया जावेगा तो जमींदारों की स्थिति दयनीय हो जावेगी वे यह भूल जाते हैं कि यदि उनका कोई पड़ोसी उनके मकान पर ज़बरदस्ती अधिकार करले और कुछ समय उपरान्त आप उसको अपने मकान से हटाने में सफल हों तो इस आधार पर कि वह कुछ समय उस मकान पर अधिकार किए रहा है आप उस मकान का मूल्य देना पसन्द करेंगे? और क्या यह न्याय संगत होगा?

इसके अतिरिक्त बहुत से जमींदार तो १८५७ के विद्रोह की उपज हैं। राष्ट्र के प्रति विश्वासघात करने के उपलक्ष्य में यह बड़ी बड़ी जमींदारियाँ ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने इन जमींदारों को दी हैं। क्या आज उसको उनकी जमींदारी का मुआविज़ा देकर राष्ट्रीय सरकार उनके देश द्रोह का उन्हें पुरस्कार देना चाहती है?

मुआविज़े के प्रश्न को एक और दृष्टि से भी देखना चाहिए। सरकार यदि जमींदारों को मुआविज़ा देगी तो उसे या तो जमींदारों को सरकारी बौंड देने होंगे अथवा सरकार को ऋण लेकर जमींदारों को मुआविज़ा देना होगा। ऐसी दशा में उस ऋण पर वार्षिक सूद तथा अन्त में उसके मूल की अदायगी का प्रश्न आवेगा और किसान से सरकार को यह सब वसूल करना होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि यद्यपि जमींदारी प्रथा नष्ट हो जावेगी, किन्तु बहुत लम्बे समय तक किसान का शोषण ज़मींदार के लाभ के लिए होता रहेगा।

देश में यदि खेती की पैदावार को बढ़ाना है तो किसान की लगान में कमी होना आवश्यक है, जिससे

कि वह अधिक पूँजी खेती में लगाकर अधिक लाभप्रद खेती कर सकें। किसान को अच्छे हल, बैल, बीज और खाद तथा सिंचाई के लिए कुएँ की आवश्यकता है। यदि मुआविज़ा दिया गया तो किसान से अधिक लगान वसूल किया जावेगा अथवा अन्य कर लगाए जावेंगे जो कि किसान को देने होंगे। ऐसी दशा में वह अधिक लाभप्रद खेती के लिए आवश्यक पूँजी कहाँ से लावेगा?

अस्तु किसान संघ की यह निश्चित राय है कि मुआविज़ा न दिया जावे।

जिन लोगों ने पूरा मूल्य देकर जमींदारी का हक खरीदा है और उन लोगों के बीच में जिन्हें उत्तराधिकार में या दूसरी तरह से हक मिला है कोई अन्तर करने की आवश्कता नहीं है और न उन हकों के लिए जो पिछले २० वर्षों में खरीदे गये हैं कोई भेद करने की आवश्यकता है। निजी खरीदारों और संस्थाओं जैसे बैंकों के बीच में भी कोई अन्तर रखने की जरूरत नहीं है।

मुआविज़े की शरह

मुआविज़े की रकम निर्धारित करने में नीचे लिखी बातों का ध्यान रखना चाहिए।

१—ज़मींदार किसानों से लगान वसूल करने में कुछ व्यय भी करता है उसे कारिन्दे, गुमाश्ते, चपरासी इत्यादि रखने पड़ते हैं। अदालती खर्च भी उठाना पड़ता है और फसल खराब हो जाने पर किसानों को सरकार छूट दे देती है। भविष्य में ज़मींदार को यह सब खर्च और झंझट नहीं उठानी पड़ेगी इसलिये ज़मींदार का जितना मुनाफा हो (अर्थात् माल्गुज़ारी जो वह सरकारी खज़ाने में जमा करता है उसको घटाकर जो शेष रहे वह) उसका २० प्रतिशत लगान वसूली का खर्च उसमें से घटा दिया जावे और जो वास्तविक मुनाफा (Net assets) हो उसका १५ गुना बहुत छोटे जमींदारों को, दस गुना मध्यम श्रेणी के ज़मीदारों को और ७½ गुना बड़े ज़मींदारों को मुआविज़ा दिया जावे। जो १०००) या उससे कम मालगुजारी अदा करते हैं वे छोटे जमींदार, जो १००० से अधिक और ५००० रु० से कम मालगुजारी अदा करते हैं वे मध्यम श्रेणी के जमींदार और ५०००) मालगुज़ारी से अधिक देते हैं वे बड़े जमींदार माने जावें।

ऊपर लिखी योजना के अनुसार यदि हम मान लें कि 'अ' ज़मींदार १५००० रु० लगान के रूप में किसानों से पाता है और ६५०० रु० माल्गुजारी के रूप में सरकार को देता है तो १५०००-६५०० = ८५०० रु० उसे मिलते हैं, किन्तु लगान वसूल करने में जो व्यय और झन्झट होता है उसके लिए हमने २० प्रतिशत खर्च की रकम को घटा देने की बात ऊपर कही है, अतएव १७०० (खर्च) रुपये ८५०० में से घटा दिये जावेंगे—अर्थात् ज़मींदार का वास्तविक मुनाफा रु० ८५००-१७०० = रु० ७६८०० रहा। क्योंकि जमींदार रु० ६५०० माल्गुजारी देता है इसलिये वह बड़े ज़मींदारों की श्रेणी में आवेगा और उसे ३४०० X १५ रु० ५१००० मुआविजा देना चाहिए।

जो वक्फ़ हैं अथवा पब्लिक ट्रस्ट हैं उनके मुआविज़े की शरह १५ गुना होना चाहिए। किन्तु जो प्राइवेट ट्रस्ट हैं उनमें और साधारण व्यक्तिगत जमींदारों में कोई भेद न करना चाहिए। क्योंकि बहुधा प्राइवेट अथवा निजी ट्रस्ट से व्यक्तियों को ही लाभ होता है। सर्वसाधारण के हित में उनका उपयोग नहीं होता।

८—जिन लोगों को १८५७ के विद्रोह के दमन करने में सहायता के उपलक्ष में जमींदारियाँ दी गई हैं और यदि वे जमींदारियाँ पाने वाले के उत्तराधिकारी के अधिकार में हैं, तो उनको कोई भी मुआविज़ा न दिया जाना चाहिए। वे ज़मींदारियाँ एक विदेशी सरकार ने राष्ट्र के साथ विश्वासघात के मूल्य स्वरूप दी थी। आज राष्ट्रीय सरकार उन जमींदारियों को ले लेती है तो उसमें कोई अन्याय नहीं होता। यदि वे जमींदारियाँ बेंच दी गई हों तो उन खरीदारों को वही मुआविज़ा दिया जावे कि जो साधारण जमींदारों को दिया जावेगा।

१४—जमींदारी प्रथा तोड़ देने के उपरान्त सरकार जहाँ सरकारी पावने की वसूली के लिए अपना विभाग रक्खेगी वहाँ सरकार को इस बात की सुविधा भी देनी चाहिए कि किसी भी गाँव के कुछ किसान एक सहकारी समिति बनाकर सरकारी पावना अदा करने का उत्तर-

नोटः—यदि मुआविज़े की दरों को आप लोग कम करना चाहें, तो छोटे जमींदार को १२ गुना, मध्यश्रेणी के ज़मींदारों को ८ गुना तथा बड़े जमींदारों को ६ गुना मुआविज़ा दिया जाय।

दायित्व अपने ऊपर ले लें। यह भी हो सकता है कि जो विक्रय-समितियाँ (marketing Societies) अथवा बहुत उद्देश्य वाली सहकारी समितियाँ (Multi-purposes Cooperative Societies) स्थापित की गई हैं, उनको भी यह सुविधा दी जावे कि वे अपने सदस्यों की लगान सरकार को अदा करने की ज़िम्मेदारी ले लें। जहाँ कोई गाँव अथवा किसानों का समूह सहकारी ढंग पर सरकारी पावना अदा करने की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले वहाँ सरकार को कमीशन रूप में २½ प्रतिशत कमी कर देना चाहिए. इसका परिणाम यह होगा कि किसानों को सामूहिक रूप से सरकारी पावना अदा करने के लिए उत्साह होगा और जहाँ सरकारी पावना सामूहिक रूप से अथवा सहकारी रूप से अदा करने की प्रथा प्रचलित हुई कि क्रमशः सहकारी भावना ग्रामवासियों में घर करने लगेगी और आगे चलकर सामूहिक खेती को भी इससे बल मिलेगा।

आगे चलकर हमने खेत-मज़दूरों के लिए बंजर भूमि को खेती के योग्य बनाने के उपरान्त सरकार द्वारा उस पर सामूहिक फार्म (Collective farms) स्थापित करने की जो योजना रक्खी है यदि वह कार्यान्वित की जावे तो सामूहिक खेतों से सरकारी पावना सामूहिक रूप से वसूल किया ही जावेगा। यदि सरकार आगे चलकर इस प्रकार सामूहिक रूप से सरकारी पावने को अदा करने की परिपाटी को प्रोत्साहन दे और बंजर भूमि पर सामूहिक खेत (Collective farms) स्थापित करे तो देश में आगे चलकर सामूहिक खेती अधिकाधिक होने लगेगी अन्य किसान भी अपने खेतों को सामूहिक खेतों में मिला देंगे और खेती की उन्नति सम्भव हो सकेगी। राज्य को सब सम्भावित उपायों से सामूहिक खेती को प्रोत्साहन देना चाहिए, तभी खेती की आशातीत उन्नति हो सकेगी।

(अगले अङ्क में समाप्त)

वनवासी जातियों की समस्यायें और उनका हल

श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित एम० ए०

आज सदियों पश्चात् भारतवर्ष अपनी स्वतन्त्रता का दर्शन कर रहा है यह दर्शन-सुख ही भारत के प्रत्येक प्राणी को आह्लादित करने वाला है। किन्तु इसके अतिरिक्त इसका दूसरा पहलू भी है। हमारी स्वाधीनता ऐसे संदिग्ध और अनिश्चित अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय समय में मिल रही है, तथा एक विश्वयुद्ध के पश्चात् आने वाले ऐसे आर्थिक संकट काल के समय मिल रही है, जिसने हमारे सन्मुख ऐसी सैकड़ों महान् समस्यायें लाकर खड़ीकर दी हैं जिनका आसानी से हल होना दुष्कर ज्ञात होता है। जिस अविभाज्य और अखंड रूप से हमें स्वाधीनता के दर्शन होने चाहिए थे वह तो दूर रहा हमारे सामाजिक वातावरण और स्तर में ऐसी साम्प्रदायिक अनिष्ट भावना व्याप्त हो गई है, जिसके कारण इस स्थिति से उत्पन्न गहरी समस्याओं का निराकरण और हल कर लेना अधिक कठिन हो गया है। सारांश में हमारे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्धों के जुड़े हुए तंतु टूट टूट कर ऐसे बिखरने की दशा में हैं जिनका जोड़ना तो दूर रहा—समेट कर एकत्रित करना ही हमारी शक्ति का अपव्यय कर रहा है। इन समस्याओं के बीच पड़कर हमारी सारी भावी महान् योजनाएँ खटाई में पड़ गई हैं। इसके अतिरिक्त हमारी प्रवृत्तियाँ और विचारधाराएँ भी बहुत प्रतिगामी होती जा रही हैं। जिन प्रतिगामी शक्तियों को नष्ट करने का हमारा सदैव से लक्ष्य रहा हमें आज उन्हीं से बराबरी का समझौता करना पड़ रहा है। इससे हमारे दृष्टिकोण और महान् पथ के आदर्श में दुर्बलता देखी जा रही है जिसका परिणाम अधिक कल्याणकारी प्रतीत नहीं होता है। जिन समस्याओं को हल करने का हमारा तरीका निश्चित और सही था, उनमें आज परिस्थितियों वश बड़ा व्यतिक्रम दिखाई पड़ रहा है। हमारे देश में स्वाधीनता के साथ ही साथ जिस प्रकार हिन्दू मुस्लिम समस्या का निराकरण किया गया उसका हल और उसका दृष्टिकोण कितना गलत है कि उसका परिणाम कभी भी हमारे लिए कल्याणकर नहीं हो सकता है और आश्चर्य यह रहा कि यह पथ जो हमारे मार्ग के ठीक प्रतिगामी था हमारे ही आज के मार्ग का एक प्रोग्राम बन बैठा। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस समय हम अपनी प्रगति से कितने पीछे जा बैठे हैं। जब प्रतिगामी भूमिका प्रारम्भ हुई तो उसने ऐसी अनेक अवांछनीय समस्याएँ उत्पन्न कर दीं जिनका रूप यह कभी भी नहीं रहा था—उदाहरणार्थ हम यह स्पष्ट देख रहे हैं कि आज हमारे यहाँ जाति जाति में, वर्ण वर्ण में, प्रान्त प्रान्त में, देशी रियासतों में, तथा भाषाओं; बोलियों और प्रत्येक जनपद में यह भावना प्रबल होती जा रही है कि किस प्रकार सभी अपने आपको विभक्त करके छोटी टुकड़ियोंमें स्वच्छन्द कर लें; चाहे वह स्वतंत्र रूप से एक दिन भी क़ायम रखने में समर्थ न हों। एक ओर विश्व में विभिन्न विभिन्न राष्ट्रों का संघीकरण हो रहा है क्योंकि वे आज अपने आप को रक्षित रखने में असमर्थ हैं और एक ओर हमारे यहाँ विभक्तीकरण का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। साम्राज्यवाद का अभिशाप हमारे अंग अंग को शिकार बनाए हुए है। भारत में विभाजन की पुकार उन समृद्ध सूबों और रियासतों से ही नहीं उठ रही है वरन् उसका विषाक्त धुआँ घने वनों और पर्वतों की गहरी और अंधेरी गुफाओं से भी निकलता दिखाई पड़ रहा है। भारत में विदेशी शासन ने साम्राज्यवाद के प्रोग्राम के अनुसार सन् १९४१ की जन गणना में ऐसे लोगों की संख्या अलग कर दी जो आर्थिक और नागरिक दृष्टि से कुछ अधिक पिछड़े हुए थे और आज तक प्रत्येक जनगणना में हिन्दुओं के ही अन्तर्गत समझे जाते रहे थे। इससे एक ओर तो हिन्दू-बल को ६ फीसदी का घाटा हुआ और दूसरी ओर एक विभिन्न जाति, धर्म, संस्कृति और गठन उद्घोषित करके साम्प्रदायिक वर्ग

विद्वेष फैलाने के लिए एक और अवसर उत्पन्न किया गया तथा इसके अतिरिक्त ईसाई मिशनरियों के लिए जिनका अधिकांश प्रसार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रसार का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा है एक खुला चरागाह मिला जहाँ ईसा की भेंड़ें मुक्त रूप से विचरण कर सकें। इन वनवासी और पिछड़ी जातियों का विभाजन यदि किसी आर्थिक योजना या किसी भी प्रकार के सुधार के दृष्टिकोण को लेकर हुआ होता तो बात दूसरी थी, किन्तु वहाँ तो योजना कुछ दूसरी ही थी जिससे ब्रिटिश साम्राज्यकी सरकार को एक बड़ा फायदा उठाना था। ऐसी वनवासी जातियों की आबादी सन् ४१ की जनगणना के अनुसार लगभग २३ करोड़ है। इस वर्ष उन लोगों की आबादी के आंकड़े नहीं दिये गये हैं कि जो इनमें से ईसाई या अन्य धर्मावलम्बी बने। इसका रहस्य स्पष्ट ही है। पिछले आँकड़ों के अनुसार ऐसे लोगों की भी संख्या लगभग डेढ़ पौने दो करोड़ के लगभग थी। इस समय अर्थात् सन् १९३१ से सन् ४१ तक दशवर्ष के बीच यदि बढ़ी हुई इनकी संख्या २ करोड़ भी मानी जाय तो इस प्रकार इनकी संख्या लगभग ४ या ४॥ करोड़ हो जाती है। इनके भीतर विभिन्नता की प्रवृत्ति उत्पन्न की जा रही थी, जिसका प्रस्फुटन और द्योतन कई पिछड़ी जातियों के जनपदों से हुआ है और यही प्रवृत्ति चलरही है।

सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार वनवासी जातियों की संख्या विभिन्न प्रांतों में इस प्रकार कही गई है:—

बम्बई में २२३ लाख, मध्यप्रान्त बरार में ३७ लाख ८ हजार, मद्रास में ५ लाख ६२ हज़ार, मैसूर में ९ हज़ार, ट्रावनकोर में १ लाख ३२ हज़ार, हैदराबाद में ६ लाख ७८ हज़ार, भोपाल में ७० हज़ार, आसाम में २८ लाख २४ हज़ार, बंगाल में १९ लाख २५ हज़ार, बिहार में ६१ लाख ९४ हज़ार, उड़ीसा में ३२ लाख ११ हज़ार यू. पी. में २ लाख ८९ हज़ार तथा राजस्थान में २५ और ३० लाख के बीच में है।

विभिन्न प्रान्तों में बेतरतीब पड़ी हुई ये वनवासी जातियाँ आज सदियोंसे जंगलों, पहाड़ियों और घाटियों में निवास करती आ रही हैं। न तो वाह्यजगत को इस प्रकार की कोई चिन्ता हुई कि इनको अन्धकार युग से निकाला जावे और न इन जातियों में ही कोई ऐसी प्रेरणा हुई कि वे बाहर निकल कर देखें कि उनके जगत के अतिरिक्त कोई दूसरा लोक भी है। वरन् हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों वाह्य जगत प्रगति करता गया त्यों-त्यों वनवासी लोगों की प्रवृत्ति बाहर के लोगों से मिलने-जुलने की छूटती गई। यह वियोग दोनों ओर से हुआ इसमें कोई सन्देह नहीं। दुर्भाग्य से हमारे देश में विदेशी शासन होने के कारण कभी इस बात की आवश्यकता भी नहीं समझी गई कि इन वनवासियों की ओर कभी देखा भी जाता, क्योंकि विदेशी सत्ता का उसमें कोई हित-साधन नहीं हो रहा था। किन्तु पर्याप्त समय पश्चात् विदेशी शासन को यह ज्ञात हुआ कि ये लोग भी साम्राज्यवादी उद्देश्योंमें बहुत दूर तक सहायक हो सकते हैं तभी से शासन द्वारा इनका भी लेखा जोखा होना प्रारम्भ हो गया।

इसमें सन्देह ही क्या है कि सदियों से दूर रहने के कारण ये वनवासी जातियाँ आशा से भी अधिक पिछड़ी हुई हैं। इतिहास के विकास की सभी अवस्थाएँ आज यत्र-तत्र इनमें देखी जा सकती हैं। अथवा यों कहिए कि इन वनों और पहाड़ों में प्रागैतिहासिक समय से लेकर आज तक के सभी मानव तथा सभ्यता स्तरों के नमूने भरे पड़े हैं। इनकी दीनता और बेवशी देख कर पाषाण हृदय भी दहल सकता है। आज इनकी आबादी भी नगण्य नहीं कही जा सकती है। इसी कारण इनका जीवन आज हमारे सम्मुख एक समस्या बन गया है। इस समस्या का वास्तविक और सच्चा हल क्या हो, यह निश्चित करने के पहिले हमें यह जान लेना आवश्यक है कि अभी तक इस ओर किए जाने वाले प्रमुख प्रयास कौन कौन हुए हैं और उनमें क्या क्या ऐसे दोष हैं जिससे वे अभी तक सफल नहीं बनाए जा सके और यह समस्या आज तक अपने मूलरूप में ज्यों की त्यों विद्यमान रही। सबसे पूर्व विदेशी शासन की उस नीति पर दृष्टि डालिए जिसके अनुसार उसने बहुत दिनों के शासन के पश्चात् यह नीति निर्धारित की जिसके अनुसार उन विशेष प्रदेशों का शासन अलग किया गया जिनमें वनवासी जातियों की प्रधान बस्तियां थीं।

१—सरकारी प्रयत्न

यह पहिले कहा जा चुका है कि विदेशी सरकार वनवासी जातियों की ओरसे सदैव उदासीन

रही। ब्रिटिश सरकार का राज्य संचालन के अतिरिक्त इस देश में एक और स्वार्थ रहा है, वह है ईसाइयत का प्रचार। इस प्रचार की भावना में सच पूछिए तो धार्मिक उद्धार की उतनी प्रवृत्ति नहीं रही जितनी राजनैतिक चाल। सरकारी कोष से कई करोड़ रुपया प्रति वर्ष भारत में व्यय होता रहा है, जिसका एक मात्र उद्देश्य राजनैतिक रहा है। धर्म की बोतल में रन पिलाकर कैसे अंगरेजियत की बू से भरे पूरे उपनिवेश स्थापित किए जायं, जिनका हित और संरक्षण साम्राज्यवादी शक्ति के प्रसार में हो, यह चिन्ता ब्रिटिश सरकार को सदैव रही। धार्मिक दृष्टि से उत्तेजित तथा जाग्रत उत्तरी भारत में जब ईसाइयत की वृद्धि का क्षेत्र संकुचित और सीमित समझा गया तो इन वनवासी क्षेत्रों की ओर सैकड़ों मिशनरियों ने प्रवेश किया जहाँ का क्षेत्र नितान्त निरापद था। अब केन्द्रीय सरकार को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि इन क्षेत्रों को संपूर्ण आबादी से शासन की दृष्टि से अलग उद्घोषित कर दिया जाय तथा उसका एक मात्र शासक गवर्नर या वायसराय हो, जिससे वह इन क्षेत्रों में उस प्रकार की प्रवृत्ति को न पनपने दे जो राष्ट्रीय एकता से भरी हो। यह दूर दूर रखने की प्रवृत्ति भारतीय एकता के विरुद्ध थी। आखिरकार यह भूमि ईसाइयत के प्रचार के लिए एक खुली चरागाह बनी। बेचारे निरीह मूकमानवों को धर्म की घुट्टी पिलाई जाने लगी, जिनको संभवतः धर्म की इस प्रकार की आवश्यकता १ प्रतिशत भी नहीं थी। इन ईसाइयों की विदेशी उपनिवेश बसाने की प्रवृत्ति और षड्यन्त्र का भण्डाफोड़* सन् १९४४ में हुआ जो २५ जून सन् १९४४ में डॉक्टर वैरियर एल्विन के इतिहास प्रसिद्ध वक्तव्य से पूर्ण स्पष्ट हुआ था। युद्धकाल में करोड़ों रुपये ईसाइयत के प्रसार के लिए भारत में साम्राज्यवादी देशों द्वारा भेजने के लिए संकल्पित किए गये, उनके भीतर महात्मा ईसा की आत्मा उतनी नहीं बोल रही थी जितनी कि साम्राज्यवादी ब्रिटेन की कूटनीति भरी थी। सन् १९३५ के एक्ट के अनुसार निम्न क्षेत्र इस प्रकार अलग उद्घोषित करे दियें गये। (१) उत्तर पूर्वी सीमान्त क्षेत्र सदिया, वाली लखीमपुर (२) नागा पर्वतीय प्रदेश (३) लुशाई पर्वतीय प्रदेश, (४) चटगाँव पर्वतीय प्रदेश, (५) कछार प्रान्त (नवगंग और सिवसागर प्रान्त में), (६) गारो पर्वतीय प्रदेश, (७) मिकिर प्रान्त, (८) खासी और जातियाँ पहाड़ियों वाला प्रदेश, (९) अंगुल जिला, (१०) छोटा नागपुर डिवीज़न, (११) सम्बलपुर प्रान्त, (१२) संथाल परगना, (१३) दार्जिलिंग जिला, (१४) गंगुम विजगापट्टम, (१५) गोदावरी एजेन्सी, (१६) मिर्जापुर और देहरादून के कुछ भाग, (१७) मांडला, चाँदा, छिन्दवाड़ा, नेमार, बेतुल, रामपुर, बिलासपुर, थाना, खानदेश के कुछ भाग, तथा मद्रास के पहाड़ी प्रान्त।

इस विभक्तीकरण के विधान में विदेशी सरकार का बहाना यह रहा कि वह इन वनवासी क्षेत्रों का संरक्षण चाहती है। किन्तु इस पवित्र उद्देश्य के लिए सरकार ने कोई भी प्रयत्न नहीं किए। देश की आबादी को अवैज्ञानिक टुकड़ियों में बाँट देना और उन्हें सदैव अनैक्य तथा पारस्परिक द्वेष का पाठ पढ़ाना—इसके अतिरिक्त एक विदेशी सरकार के हित में और कोई बात सोची ही नहीं जा सकती थी। अतः यह सरकारी स्वार्थ-युक्त हल नितान्त असफल रहा।

(२) मिशनरी हल

ऊपर कहा जा चुका है कि ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में यह हल महत्त्वपूर्ण हो चुका था। ईसाइयत के प्रसार के लिए ये नए क्षेत्र खोलकर और भी आसानी कर दी गई। किन्तु इस हल में इतनी बड़ी बड़ी दुर्बलताएँ हैं, जिन्हें कोई भी साधारणतया देख सकता है:—

(१) यह हल सबसे पहिले धर्म परिवर्तन का था, पश्चात् उनमें सुधार का। वनवासी जातियाँ जिन्हें आवश्यकता है रोटी, कपड़े और मकानों की, जिनका बौद्धिक स्तर अभी तक पर्याप्त पिछड़ा हुआ था, उन्हें धर्म जैसी गहन वस्तु की दवा पिलाना कितना बड़ा उपहास है। मैं बता चुका हूं कि इस उपहास की प्रतीति मिशनरी कर चुके थे, किन्तु उन्हें तो अपनी षड्यंत्रकारी साम्राज्यवादिनी नीति का बीजारोपण करना था।

*(२) यह सभी विद्वानों ने माना है कि वनवासी जातियों का यदि कभी भी प्राकृतिक सम्बन्ध हो

---

* देखिये हिन्दुस्तान टाइम्स २५ जून सन १९४४

* The religion of the aboriginals, at least of India, should be regarded as a religion of the Hindu family. Dr. Verier Elvin

सकता है तो हिन्दू समाज से. जिनके जीवन के कितने ही तत्त्व इनके जीवन से मिलते जुलते हैं, अथवा यों कहिए कि ये वनवासियों की टुकड़ियाँ स्वयमेव हिन्दू समाज के अविकसित अवस्था के बचें हुए अवशेष हैं, जो आज भी यत्रतत्र पिछड़े पड़े हुए हैं। इन वनवासियों के जीवन को एक अपरिचित क्रिश्चियन तौर तरीके के जीवन के साथ सम्बद्ध कर देना उनके सामाजिक हित की दृष्टि से भी अनावश्यक और अनुपयुक्त होगा।

*(३) जो लोग ईसाई बन जाते हैं उन्हें अपने पूर्व सामाजिक सम्बन्ध छोड़ने ही पड़ते हैं और वे नवीन संबन्ध को सुविधा पूर्वक आत्मसात् नहीं कर पाते हैं अतः उनका जीवन यन्त्रवत् टँगा रह जाता है। इसके अतिरिक्त वे निम्न वर्ग में रक्खे जाते हैं अर्थात् अधिकांश दूसरे रक्त वाले क्रिश्चियन उनसे स्वतंत्रतापूर्वक नहीं मिलते जुलते हैं। रक्त भेद का प्रभाव इनमें अधिकतर देखा जाता है। श्री जे०पी० मिल तथा श्री० शरतचन्द्र राय जैसे मानव शास्त्रियों का यह दृढ़ मत है कि मिशनरी हल नितान्त हानिप्रद और खतरनाक सिद्ध हुआ है।

(४) वनवासी जातियों के बीच ईसाइयत के प्रचार ने अन्य धर्मावलम्बियों को भी प्रेरित किया और वे भी उस क्षेत्र में घुसने लगे। परिणाम यह हुआ कि यत्र तत्र [illegible]ासी क्षेत्रों में धर्म के पहलवानो के अखाड़े खुल गये। जब कि इस तमाशे की कोई भी आवश्यकता वनवासी जातियों को नहीं रही।

(३) भौगोलिक हल

कुछ उद्योगपतियों द्वरा यह प्रस्तावित किया गया है कि वनवासी जातियों को वन पर्वतों से निकाल कर मैदान में बसाया जाय। यह स्वार्थ भरा प्रस्ताव उन लोगों की हीन मानसिक प्रवृत्तियों का द्योतक है!

(१) इस प्रकार के प्रस्ताव के अन्तर्गत यह योजना छिपी हुई है कि जिससे उद्योगपतियों को वनों, पहाड़ों और जंगली प्रान्तों में अपना व्यवसाय स्वच्छन्दता पूर्वक करने का क्षेत्र मिल जाय। वनवासी जातियों का वहाँ रहना और उनका शमन करना एक कठिन कार्य है। इस स्वार्थ विशेष से प्रेरित होकर मानव समूहों को माल असबाब की भाँति जहाँ चाहो फेंक दो—यह प्रवृत्ति नितान्त अमानवीय है।

(२) उन जातियों को जिनका जीवन आज सदियों से वन पर्वतों के वातावरण से ओतप्रोत हो गया है— उनको प्रकृतिदत्त आश्रय स्थलों से हटा देना और मैदानों में गुलामी के लिए छोड़ देना एक महान अन्याय है।

(३) ये जातियाँ उस प्रान्त विशेष के लिए अमृत तुल्य सिद्ध हो सकती हैं, यदि विशाल दृष्टिकोण से देखा जाय। वनों, पर्वतों और जंगली प्रान्तों का यदि कभी भी विकास और उत्पादन अर्थ में विकास हुआ तो यही वनवासी जातियाँ उसे सफल बनाने में सच्ची सहायक हो सकती हैं।

(४) इन्हें मैदानों में लाकर मैदानी जीवन के आर्थिक संकट को और भी गंभीर बनाना क्या गलत नहीं होगा? जब कि मैदान की आबादी स्वयमेव अपनी उत्पादन शक्ति परिमित रखती है।

(५) इस जबरदस्ती के सम्मिलन के परिणाम सामाजिक दृष्टि से और भी भयंकर हो सकते हैं, जिनका अनुमान लगा लेना दुष्कर नहीं है।

वैज्ञानिक कहे जाने वाले प्रयत्नः—

(१) इन वनवासी क्षेत्रों को देश की अन्य आबादी से दूर रक्खा जायः—

(अ) ब्रिटिश सरकार के बड़े बड़े आई० सी० एस० लोगों की दृष्टि से इनका शासन भली भाँति किया जा सके और ये लोग अपनी सभ्यता या संस्कृति को अछूता रखकर शुद्ध विकास कर सकें।

(ब) नृतत्त्व *विज्ञानवादियों की दृष्टि से ये बनवासी जातियाँ सभ्यता और विकास की विभिन्न अवस्थाओं व स्तरों की सूचक हैं। अतः इस विज्ञान की प्रदर्शनी के लिए इनकी यह अवस्थाएँ अस्तित्त्व में बनी रहें, जिससे इनका अध्ययन सभी कालों में किया जा सके।

ये दोनों प्रकार के दृष्टिकोण अराष्ट्रीय और अशुद्ध हैं:—

(अ) सभ्यता और संस्कृति की शुद्धता पर ध्यान करके किसी भी मानव समूह पर जबरन् यह रोक लगा रखना और उसे किसी संदूक में बन्द करके रखना तथा ऐसी आशा करना कि इस प्रकार उस मानव समूह की सभ्यता और संस्कृति विकसित होगी, महान् मूर्खता ही कही जानी चाहिए। मानव का कल्याण विस्तृत मानव-सम्मिलन में है न कि पृथकरण में? सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय और विश्वबन्धुत्व की कल्याणकर भावनायें अलग अलग सन्दूकों में बन्द करके रक्खे हुए मानव समूहों के बीच नहीं सोची जा सकती हैं। उनके विशाल अन्तमिलन में ही मानव का सच्चा विकास हो सकता है।

(ब) नृतत्त्व वैज्ञानिकों की स्वार्थपूर्ति के लिए मानव जैसे सजीव प्राणियों को प्रदर्शिनी की वस्तु बना कर रखना और उसका जड़वस्तु की भाँति उपयोग करना भी मानवीय कृत्य नहीं कहा जा सकता है। जहाँ तक उनके अध्ययन का प्रश्न है—वह अध्ययन अभी भी किया जा सकता है और पुस्तक बद्ध हो सकता है। अध्ययन का वास्तविक मूल्य तो अध्ययन के विकसित होते हुए क्रम में है न कि एक स्थायी तथा जड़ वस्तु की निष्क्रियता में। हमारा अध्ययन भी गतिशील होना चाहिए, तभी उसका कोई परिणाम निकल सकता है और उसका लाभ हो सकता है। एक सूखे और गिरे हुए वृक्ष का अध्ययन हमारे लिए कब तक एक अध्ययन की प्रेरक वस्तु बन कर रह सकता है और उसका क्या लाभ होगा? अतएव ऐसा जो लोग सोचते हैं वे स्वयमेव अध्ययन के विज्ञान से अपरिचित ज्ञात होते हैं। इसके अतिरिक्त हम अपने निश्रेयस्कर मनोरंजन के लिए लाखों प्राणियों को अपने खेल की वस्तु बनाए रहें यह भी क्या एक महान् अन्याय न होगा? हम स्वयं क्या किसी के खेल की वस्तु बने रहना कभी पसन्द कर सकते हैं? दूसरी बात और है हम ऐसा सोचते समय एक महान् मूर्खता और करते हैं—हम यह सोच लेते हैं कि हम ही उन निरीह प्राणियों के विधाता हैं—और सदैव बने रहेंगे। वे कभी भी चेतन प्राणियों की भाँति न जाग सकेंगे। आज जिसे हम अपना अधिकार समझ बैठे हैं कल कोई और भी वह अधिकार समझने का हकदार हो सकता है। क्या हमें जगत के इस परिवर्त्तन शीलता और क्रियाशीलता में विश्वास नहीं है? इसके अतिरिक्त यह कोई वनवासी जातियों का हल नहीं कहा जा सकता है।

द्वितीय स्थान उन मानव शास्त्रियों का है जो विज्ञानवादी भी हैं और सुधारवादी भी। इन लोगों का दृष्टिकोण डाक्टर मजूमदार§ तथा डाक्टर वैरियर एल्विन† द्वारा कहे गये वनवासी जातियों की दिक्कतों और कष्टों का ज्ञान कर लेने से स्पष्ट हो जायगा। इन्होंने वनवासी जातियों की समस्या को इस प्रकार प्रगट किया है तथा वनवासी जातियों के कष्ट को इस प्रकार गिनाया हैः—(१) आबकारी कानून (२) कृषिपद्धति की कठिनाइयाँ (३) झूम प्रथा की कानूनन् रोक (४) गान्धर्व विवाह पर रोक (५) इनकी आवश्यकताओं से विहीन शिक्षा (६) माल और दीवानी के नये कानून जो इनके सामाजिक संगठन में न खप सकें (७) मिशनरी हल ने इनके जीवन को और भी अव्यवस्थित तथा तितर बितर कर दिया, (८) राज्य की आर्थिक उदासीनता, (९) वनों के स्वतंत्र अधिकार छीने जाना, (१०) आर्थिक व व्यापारिक असंतुलन (११) इनके जातीय उद्योगों का बाहरी प्रतियोगिता के कारण धीरे धीरे लोप होना (१२) अनावश्यक सामाजिक संघर्ष आदि।

इनमें से कुछ कठिनाइयाँ तो मौलिक हैं और कुछ बाहर से लादी गई हैं। समुचित दृष्टिकोण न होने से सत्कार्यों में भी बाधा पड़ती है और कोई लाभ नहीं होता है। अतः इन जातियों की इन कठिनाइयों का सुधार और हल एकांगी रूप से हुआ। सफलता भी कम मिली और लाभ भी कम हुआ। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के व्यक्तियों को अवसर भी कम मिला और वे अपने प्रयोग सफलतापूर्वक न चला सके। अतएव संकट दिनों दिन बढ़ते गये तथा उनका हल इन व्यक्तियों के न तो ध्यान में आया और न उन्हें ऐसी कोई प्रेरणा मिली, जिसके कारण ये लोग इस दृष्टि को लेकर सोचते। हाँ उनके प्रकाशित विचारों से इतना स्पष्ट होता है कि डा० वैरियर एल्विन जैसे लोग उद्धारवादी होते हुए भी कम

---

* 'If the aboriginal becomes a christian he generally finds himself deprived of the free and natural recreations to which he is accustomed and he sinks into moral and economic degradatian. Dr. Verier Elvin.

* Anthropologist.

§ Primitive Society its Discomforts.

† Loss of Nerve.

से कम परिवर्त्तन करने के हामी हैं। हाँ, मूल रूप से क्रान्ति कर डालने के पक्ष में नहीं हैं। जीवन आर्थिक आधार पर ही उठकर किसी प्रकार की संस्कृति तथा सभ्यता का वाहक बन सकता है ऐसा विचार इनमें नहीं मिलता है। अपनी दृष्टि से इन वनवासियों में पाए जाने वाले गुणों को ही ये लोग सभ्यता और संस्कृति का स्वरूप दे डालते हैं, चाहे उस प्रकार के गुणों का कारण कुछ भी रहा हो। ऐसे व्यक्तियों को उनकी आज की सभ्यता और संस्कृति से कुछ मोह हो गया है, जिसे वे एकाएक त्यागना नहीं चाहते हैं। वे पूरे परिवर्तन के विरुद्ध हैं। सुधार चाहते हैं किन्तु धीरे धीरे। यह आज की परिस्थिति में कहाँ तक संभव होगा और प्रतीक्षा की यह अवधि उनकी दृष्टि में कितनी लम्बी होगी, जब कि ये पिछड़ी जातियाँ पूर्णरूप से समुन्नत हो सकेंगी, इसकी चिन्ता ऐसे व्यक्तियों को नहीं। ये उत्तरोत्तर सुधार के पक्षपाती हैं। मानव की आर्थिक और सामाजिक पीड़ाओं का दर्द कितना गहरा और अधिक है, यह पीड़ा कब तक सहन की जा सकती है, इसका मापदण्ड तथा लेखा जोखा करने का न तो इन्हें ध्यान है और न आवश्यकता। मानव विज्ञान के सिद्धान्तों तथा उसके काल्पनिक ज्ञान पर प्रगति होती रहे, इस बात की चिन्ता इन्हें अधिक है। मानव-विज्ञान में किस किस प्रकार परिस्थिति के अनुसार नई प्रवृत्तियाँ और दशायें उत्पन्न हो जाती हैं, इसकी कल्पना करना ही इनकी बुद्धि से परे है। अपने पुस्तकीय ज्ञान के सहारे सहारे ही विश्व चले ऐसी संभावना पर ये आज भी दृढ़ हैं। अतएव इस प्रकार के दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों के पास भी आज वनवासी जातियों का वर्तमान हल नहीं मिल सकता है।

इसके अतिरिक्त एक वर्ग और है जो इसी सुधारवाद का संगी है, किन्तु उसमें प्रयोगिक कार्य करने की प्रवृत्ति और क्षमता अधिक है, जिसका दृष्टिकोण श्रद्धेय श्री ए. बी. ठक्करबाप्पा की सम्मति से मिल जाता है। *वे इस प्रकार की कठिनाइयाँ इन वनवासियों में पाते हैं:—(१) दीनता (२) अशिक्षा (३) अस्वास्थ्य (४) इन प्रान्तों का बाहरी दुनियाँ से पृथक पड़ जाना, (५) शासन-प्रबन्ध की कुव्यवस्था (३) सुयोग्य नेतृत्त्व का अभाव।

इस विचार धारा के लोग यद्यपि वनवासी जातियों की समस्याओं से भली प्रकार परिचित हैं, किन्तु उनका हल वे अपनी उस विचारधारा के अनुसार सोचते हैं जो उनके जीवन क्रम का दर्शनशास्त्र है, अर्थात् गांधीवादी दर्शन, जिसमें प्रत्येक प्रकार के समझौतों को स्थान है। संघर्ष को टालने की योजना सर्व प्रथम रहती है—हृदय परिवर्त्तन की भावना ही जीवन का आधार बन जाती है। अतः इस प्रकार के व्यक्ति आंशिक सुधार के पक्षपाती रहते हैं। मौलिक परिवर्त्तन या क्रान्ति कर डालना इनके स्वभाव के विपरीत होता है। वैय्यक्तिक साधना का महत्त्व अधिक होता है—सामाजिक उत्थान और क्रान्ति का स्वप्न नहीं रहता है। इनका धैर्य सदियों तक भी प्रतीक्षा करने में स्थिर रह सकता है। अतएव इस प्रकार के दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों या संस्थाओं ने जहाँ जहाँ अपने सेवाकेन्द्र स्थापित किए उनकी प्रेरणा गांधीवादी दर्शन से रही, अतएव कहीं भी मौलिक परिवर्त्तन या सर्वश्रेष्ठ हल के दर्शन न हो पाए। इनकी लगन और तपस्या अवश्य स्तुत्य रही है, किन्तु दृष्टिकोण संपूर्ण रूप से व्यापक तथा विस्तृत न हो पाया। इस समस्या के इस प्रकार के हल से वर्षों तक उपयुक्त परिणाम की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, तब तक परिस्थिति और समय जगत को स्वयमेव ही खींच कर कहीं से कहीं ले जायगा, जिसका अनुमान आज हम भलीभांति कर सकते हैं और जिस दृष्टिकोण से हमारी इस वैय्यक्तिक साधना का मूल्य भी खटाई में पड़ सकता है। हमें जीवन क्रम के प्राकृतिक विकास के लिए विरोधी शक्तियों से संघर्ष करना पड़ेगा। यह संघर्ष चाहे हम सदियों तक चलावें अथवा कुछ ही दिनों में विध्वंस करके शान्ति और सुख की सांस लें। आज हम स्पष्ट देखते हैं कि यह गांधीवादी दर्शन पूर्ण रूप से हमारी सारी समस्याएँ हल करने में असमर्थ और अशक्त हैं।

अब हमें यह देखना है कि आज की परिस्थिति में किस दृष्टिकोण से हम देखने की यह कोशिश करें कि हमारे इन वनवासी जातियों की जीवन समस्याएँ किस ढंग पर हल की जावें, जिससे वे शीघ्र से शीघ्र जीवन का

* R. R. Kale Memorial lecture में श्री ए. बी. ठक्कर के व्याख्यान

उच्चस्तर पाकर हमारे सहयोगी—नागरिक बन सकें। सुधारवादी और उद्धारवादी विचार धाराओं में एक सबसे बड़ी दुर्बलता यह होती है कि सुधारवादी यह सोचने लगता है कि सुधार करते समय वह कोई बड़ा भारी अहसान करता है और उस अहसान का मूल्य उसे कम से कम कृतज्ञता प्रकाश में अवश्य पा जाना चाहिए। अतएव सुधार का दृष्टिकोण असमान प्रवृत्तियों से भर जाता है। हम यह पहिले ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि समाजवादी व्यवस्था में मानव के मौलिक अधिकारों के लिए अहसान जैसी कोई वस्तु नहीं है। प्रत्येक का यह अधिकार है कि वह मानवीय जीवन के सारे उपादानों का समान भोक्ता बने। उस जगत में अधिकार का लेन देन नहीं चल सकता और न कोई ऐसे अहसान का मूल्य होगा। अतः हमारा वनवासी जातियों की समस्या में भी यह दृष्टिकोण न होना चाहिए कि हम उनका उद्धार कर रहे हैं, उनके साथ कोई ऐसा अहसान कर रहे हैं जिसका मूल्य वे भी हमें चुकावेंगे; वरन् हमारा यह दृष्टिकोण हो कि [illegible]को उसी प्रकार रहने सहने का अधिकार है जैसा कि हमें—यदि आज वह इस प्रकार नहीं रह रहे हैं, तो कहीं न कहीं से उन पर अन्याय हो रहा है, जिस अन्याय का निवारण करना हम सबका भाई चारे के नाते परम कर्तव्य है। यदि हमारा दृष्टिकोण समाजवादी बन जाय तो फिर यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हम उनमें मिल कर उनका शोषण करेंगे और उनके समाज को अपने हितों का साधन बनावेंगे। अतएव आज वनवासी जातियों की समस्या दूसरों की समस्या नहीं वरन् स्वयं उनकी और उनके पड़ोसियों की ही समस्या है। पड़ोसियों की इसलिये कि उनके पड़ोसी उन सभी वस्तुओं का उपभोग करते हैं जो उनके प्रान्त विशेष से सम्बन्धित होती हैं। इतना भी क्यों—इस सारे राष्ट्र का कर्तव्य है कि इन वनवासी जातियों की समस्या मिल जुल कर हल करें—जो इनके वन प्रदेशों का उपयोग राष्ट्र हित के लिए कहते हैं।

मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते एक दूसरे के साथ सदैव रहना पसन्द करेगा। अतएव सभी वनवासी जातियों को अपने पड़ोसियों से स्वभावतः मिलना जुलना पड़ेगा—जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्हें अपने पड़ोसियों से सहायता और सहयोग लेना होगा। अतः यह देखना आवश्यक है कि इन जातियों के पड़ोसी लोग कौन हैं, किस वर्ग के हैं, किस स्तर पर हैं और किस स्वभाव तथा किस श्रेणी के हैं?

आबादी के अनुसार उड़ीसा बिहार और बंगाल में वनवासी जातियों की संख्या सबसे अधिक है। इनके पड़ोसी अधिकांश हिन्दू ही हैं। हिन्दुओं में मध्य श्रेणी के लोग अधिक हैं। वनवासी जाति के लोगों से इन पड़ोसी हिन्दुओं का सम्बन्ध जहाँ तक मिलने जुलने का है, वह अधिक समानता का नहीं। अधिकांश लोग इन्हीं हिन्दुओं के यहाँ नौकरी आदि करते पाए जाते हैं। कुछ लोग पहाड़ी तराइयों में एक फसली खेती भी करते हैं तथा जंगली उत्पादन पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। आसाम में ऐसी बात नहीं। वहाँ के वनवासी जातियों की आबादी २२ प्रतिशत है और अधिकांश सामूहिक रूप से इकट्ठी है। आसाम के वनवासी लोग बहुत कम सम्पर्क शेष आसामी हिन्दुओं से रखते हैं। इनके कबीले बड़े संगठित हैं। अधिकांश बनों और तराइयों में ही रहते हैं। यू. पी. के वनवासी लोग अधिकतर हिन्दुओं के निम्न वर्ग से मिल जुल गये हैं। केवल देहरादूनमें जान्सार बावर की खस जाति अभी तक अपना समुदाय अलग बना कर रह रही है, जिसकी आवश्यकताएँ वही हैं जो उस जिले की आम जनता की। मध्यप्रान्त में गोड़ों की आबादी, यद्यपि बहुत है और हिन्दुओं से सम्पर्क रखते हुए इन्हें काफी समय हो गया है किन्तु इनके यहां हिन्दुओं की सी ही वर्णव्यवस्था उत्पन्न हो गई है। इनके समाज में भी ऊंचे-नीचे मध्यस्थ वर्ग के लोग पाये जाते हैं। अतः इनकी समस्या विशेष पेंचीदी नहीं रह गई है। ट्रावनकोर, हैदराबाद, मैसूर आदि रियासतों में ये जातियाँ या तो मज़दूर वर्ग की सूचक हैं या जंगलों में भ्रमणशील प्राणियों के रूपमें पाई जाती हैं। बम्बई और राजस्थान के भील या तो अधिकांश एक फसली खेती करते हैं या वर्ष भर मेहनत-मज़दूरी करके अपना पेट पालते हैं। मद्रास के वनवासी लोग अधिकांश शहरों और बस्तियों से दूर रहते हैं और अपने छोटे छोटे समुदायों में यत्र तत्र घूमा करते हैं। न इनके पास वस्त्र और न भोजन। इनकी अवस्था

मज़दूर से भी गिरी हुई है किन्तु इनके संस्कार अब भी बनैले प्रान्तों और जंगलों से ज्यों के त्यों जुड़े हुए हैं। अतएव अब भी इनके लिये आशापूर्ण जीवन भविष्य के गर्भ में संरक्षित है।

इस प्रकार यदि हम देखें तो हमें प्रत्यक्ष यह ज्ञात होगा कि वनवासी जातियों का जीवन चार प्रकार की अवस्थाओं में बँटा हुआ है।

१—ऐसे लोग जो थोड़ी बहुत खेती करते हैं, २—ऐसे लोग जो अपने पड़ोसियों के यहाँ मेहनत-मज़दूरी करते हैं, ३—ऐसे लोग जो केवल बनैली उत्पत्ति पर ही अपने जीवन व्यतीत करते हैं और बनैली वस्तुओं का क्रय विक्रय नगरों और शहरों में आकर करते और वापिस चले जाते हैं; ४—तथा ऐसे लोग जो अभीतक बनैले प्रान्त की चहार दीवारी से निकलना ही नहीं जानते और घोर जंगलों के तपस्वी ही बने हुए हैं या इस संसार को देखने की लालसा ही नहीं है।

इसमें किसी को भी सदेह न होना चाहिये कि आज के संसार में जीवन का आर्थिक आधार इतना महत्वपूर्ण हो गया है कि सभी सभ्यता और संस्कृति की रचनाएं और योजनाएं उस पर अवलम्बित हो रही हैं। अतः इन वनवासी जातियोंके जीवन का आर्थिक आधार यदि ऊंचा उठता है तो निश्चय ही इनके समाज में उन्नति होगी। संयोग और सौभाग्य से हमारे देश में जंगलों, पहाड़ियों, आदि का अभी तक इतना महत्व नहीं समझा गया था। यदि पूंजपतियों या विदेशी सरकार का ध्यान इस ओर गया होता तो डर था कि हमारे वनवासी भाई भी कहीं अमेरिका के रेड-इंडियनों की भाँति खदेड़ खदेड़ कर भगा दिये गये होते या लोप कर दिये गये होते और सारे बनैले प्रांत उत्पादन के साधन बन गये होते। किन्तु आज हमारे राष्ट्र को इस प्रकार के जंगली प्रान्तों की महती आवश्यकता पड़ेगी। इस आवश्यकता के साथ ही साथ हमारी वनवासी जातियों की समस्या भी उठ खड़ी है। अतः हमारे सामने एकमात्र आज यही उपाय है कि इन बनैले प्रान्तों का राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण तत्परता से हो और उन प्रान्तों में सदियों से बसे हुए वनवासी जातियों को इन प्रदेशों का एकमात्र अधिकारी समझा जावे। वे उस भूमि के या तो मालिक बने या उस भूमि के उत्पादन के रूप से बड़े लाभ के साझीदार या हिस्सेदार। इसी प्रकारके समाजीकरण में इन वनवासी जातियों की सारी समस्याओं का हल विद्यमान है। सरकार अपने राष्ट्रीय योजना कोष से उन सभी बनैले प्रान्तों का राष्ट्रीयकरण करे। उत्पादन के साधन प्रदान करे तथा बनवासी जातियाँ पुनः अपने परिश्रम और सहयोग से इस उत्पादन में सबसे अधिक हिस्सा बँटावें। यह निश्चित है कि इस प्रकार की योजनाओं से अभी करोड़ों की आय हो सकती है, जिसमें से यदि पर्याप्त अर्थ इन वनवासियों पर व्यय किया जाय जैसा कि सहयोगिक सिद्धान्त है, तो निश्चय ही इनका आर्थिक स्तर इतना ऊंचा उठ सकता है जितना हम आज अनुमान नहीं भी कर सकते हैं। इन बनैले प्रान्तों में नई नई वनस्पतियाँ उगाई जायें, फलों के बाग लगवाए जायें, भिन्न भिन्न प्रकार की लकड़ी के लिए वृक्ष लगवाए जायें, खनिज पदार्थों के उत्पादन केन्द्र खोले जाय, लोहे, कोयले आदि के उत्पादन स्थल खोले जावें—जहां सम्भव हो कृषि का प्रबन्ध किया जाय, नदियों का सदुपयोग किया जाय आदि। ऐसे सहस्रों कार्य अभी करने शेष है जो कि इन बनैले प्रान्तों में ही किए जा सकते हैं। इनके सहस्रों कामों को करनेवाले कौन होंगे? अधिकांश ये ही जो इन प्रान्तों की एक एक इंच भूमि से परिचित हैं। यदि इस प्रकार की योजनाएँ समाजवादी आधार ले कर चलाई जाय तो मैं समझता हूँ कि राज्य को मानवों की कमी पड़ जायगी और आज वनवासी जातियों की जो समस्या पेचीदा ज्ञात होती है सरल हो जायगी तथा उनकी आवश्यकता अति महत्त्वपूर्ण हो जावेगी। हाँ, यदि यह व्यवस्था पूँजीपतियों के उद्योग से चलाई गई तो समस्या और भी भयंकर हो जायगी। अतएव हमें आज इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि इस प्रकार की भूमि सम्बन्धी राष्ट्रीयकरण की योजनाएँ प्रारम्भ हों, जो स्वयमेव हमारी समस्याओं का हल कर देंगी। हमारे देश में औद्योगिक विकास के लिए इस बात की अत्यधिक आवश्यकता है कि औद्योगिक कार्य संचालन के लिए तथा अन्य व्यवसाय चलाने के लिए हमारे वन, पर्वतीय प्रदेश, नदी प्रान्त, तराई प्रदेश अधिक से अधिक वस्तुओं के उत्पादन केन्द्र बने; अन्यथा हमारी औद्योगिक उन्नति हो ही नहीं सकती है। इन महत्त्वपूर्ण योजनाओं के बिना हमारी कोई भी सरकार १० वर्ष तक भी नहीं चल सकती है। किसी भी सरकार को यही सारी योजनाएँ कार्यान्वित करनी पड़ेंगी। हमारा उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है, उसी के अनुसार हमें अपनी आय सैकड़ों गुना बढ़ानी पड़ेगी और बिना इस प्रकार की व्यवस्था के आय बढ़ नहीं सकती। यदि आय न बढ़ी तो सरकार और उत्तरदायी सरकार स्थायित्व नहीं पा सकती है। विदेशी पूंजी और विदेशी आयात पर हम बहुत दिनों जीवित नहीं रह सकते हैं। यदि ध्यान से देखा जाये तो आज वनवासी जातियों की आबादी एक मात्र इन्हीं बनैले प्रान्तों में छिटकी हुई है। ये ही इसके सदियों के स्वामी हैं और आज हम उन्हें इस बात का अवसर देते हैं कि वे अपनी भूमि का सदुपयोग करें और उसका पुरस्कार पावें। इस प्रकार यदि व्यवस्थित रूप से योजनाएँ कार्यान्वित की जायं तो वनवासी जातियों की आर्थिक समस्याएँ ५ वर्ष में ही हल की जा सकती हैं और सुन्दरता से हल की जा सकती हैं।

वनवासी जातियों की चारों अवस्था वालों को कार्य मिल सकते हैं। प्रथम वर्ग को कृषि की उचित सुविधाएं मिलें। द्वितीय :मज़दूर वर्ग को बनैले प्रान्तों के उत्पादन केन्द्रों में उचित वेतन और उचित लाभ मिले, तथा तृतीय और चतुर्थ वर्ग भी इसी द्वितीय में सम्मिलित हो सकता है अथवा जीवन के अन्य व्यापार सम्बन्धी क्षेत्रों में भी वे कार्य कर सकते हैं। सुन्दर भोजन, समुचित वेतन और वस्त्र का आयोजन मनुष्य को कितना आकर्षण देता है इसकी नाप तौल नहीं की जा सकती है।

अब रही सामाजिक न्याय की बातें। सामाजिक दृष्टि से हमें सभी को समान अधिकार देने ही पड़ेंगे। अब आधुनिक युग में जातिगत श्रेणियाँ कायम नहीं रह सकती हैं। चाहे हरिजन हो, चाहे वनवासी सभी मानवीय अधिकारों के समान अधिकारी हैं। राज्य की ओर से ऐसा कोई भी कार्य न हो जहाँ जातिगत कृपा का ध्यान रक्खा जाय। सभी समाज के समान प्राणी हैं और समान नागरिक। राज्य इस बात की शीघ्र घोषणा करे और उसे दृढ़ता से व्यवहार में लावे। यदि प्रचार और उचित शिक्षा की व्यवस्था होती है, तो उसका यही दृष्टिकोण होना चाहिए। यदि इस दृष्टिकोण से जनतन्त्र का कार्य चला तो कोई कारण नहीं कि हमारे देश से ऊँच नीच की भावना शीघ्र लुप्त न हो जाय। आर्थिक और क्रान्तिकारी परिस्थितियाँ महान् बलवती होती हैं; वे मानव ढाँचे को स्वयमेव और निश्चय ही बदल डालती हैं। सामाजिक समानता राज्य के व्यवहार पर अधिकतर निर्भर रहती है। राजकीय रुख और व्यवहार सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने में सदैव सफल सिद्ध होता है।

अब रही संस्कृति और सभ्यता की बात। सभ्यता और संस्कृति की क्रमानुगत सृष्टि होती है। वह स्थायी वस्तु नहीं होती है। अतः इन वनवासी जातियों की सभ्यता और संस्कृति के संरक्षण की बात उन समाजों की वृद्धि और उन्नति में सन्निहित है। यदि वे समाज आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से न बढ़ेंगे तो उनकी संस्कृति और सभ्यता भी लुप्त प्राय हो जायगी। आज कई मानव समूह हमारे देखते देखते लुप्तप्राय हो गये इसका एक मात्र कारण यही था कि वे आर्थिक और सामाजिक स्थिति का संतुलन न कर सके—अपने अस्तित्व को न रख सके और विवश होकर अन्य समुदायों में जा मिले। अतः सभ्यता और संस्कृति के संरक्षण की बात एक उन्नत वनवासी समाज में अधिक टिक सकती है, न कि एक खंडहर समाज में? न तो वनवासी जातियों को पहाड़ों पर से उतार कर मैदानों में बसाना आवश्यक है, न उन्हें अलग छिपा कर रखना आवश्यक है, क्योंकि यह मनुष्य का स्वभाव नहीं, न उन्हें बाह्य जगत से दूर रखना आवश्यक है, क्योंकि यदि भारतीय शेष समाज से पर्दा प्रथा, बाल विवाह, बहुपत्नी प्रथा, छूत अछूत, बाल विवाह आदि कुरीतियाँ कानून द्वारा सदैव के लिए नष्ट कर दी गईं, तो कौन सा डर रहता है कि वनवासी समाज हिन्दू या भारतीय समाज में मिल जुलकर अपने आप को बिगाड़ लेगा। वनवासी जातियों में उनकी समाज संस्थाएँ, उनके मनोरंजन के साधन, उनके पुरुष स्त्री के सहयोगिक सम्बन्ध, उनके उत्सव, उनके जीवन के सभी क्षेत्र यदि देखे जायं तो यही ज्ञात होगा कि वे हमारी अपेक्षा शुद्ध समाजवादी समाज के अधिक समीप हैं। राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण की योजनाओं में वे भलीभाँति समा

जावेंगी और अपने समाज संस्थाओं को आर्थिक दृष्टि से अधिक संपन्न करके जीवन का एक सुन्दर सजीव चित्र स्थिर कर सकेंगी। एक सुसंगठित और निर्भीक समाज अपनी सभ्यता और संस्कृति को एक भयभीत और दीन हीन समाज की अपेक्षा अधिक संरक्षित रख सकता है। हाँ, प्रारम्भ में कई प्रकार की व्यवस्थाएं राज्य को कानून की दृष्टि से करनी होगी। जैसे बेगार प्रथा की एक दम समाप्ति, जिससे अधिकांश वनवासी जातियाँ बेहद पीड़ित हैं, ये जरायम पेशे की जाति नहीं है, अतः कानूनन उन्हें वही समान नागरिकता के अधिकार दिये जायं। जरायम पेशे के दुख के कारण वनवासी जातियाँ बेहद परेशान की जाती हैं। सारे वनवासी जातियों के प्रान्त केन्द्रीय सरकार अपने हाथ में ले ले, जिससे एक सी व्यवस्था उनमें चलाई जा सके, वनवासी जातियों को महाजनों की सदियों से न चुकनेवाले ऋणों से एकबारगी मुक्ति दी जाय, उनमें उनके वातावरण से युक्त शिक्षा और स्वास्थ्य का प्रबन्ध हो। इतना कार्य राज्य को प्रारम्भ में करना होगा। पश्चात् वह ऐसे सभी प्रांतों में जहाँ वनवासी लोग बसते हैं राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण की योजना कार्यान्वित करे। इसी व्यवस्था से उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याएं सुलझ सकती हैं। इसके विरुद्ध चाहे प्रतिवर्ष राज्य उन्हें दान के रूप में करोड़ों रुपया दे उसका कोई स्थायी लाभ न हो सकेगा। फटे कोट में चिथड़े लगा कर उसे नवीन का स्थान नहीं दिया जा सकता। उसका मूल परिवर्तन करना होगा, यदि सचमुच मानवीय रक्त का रक्षण करना है। अतएव इन वनवासी जातियों की समस्याओं को यदि इस प्रकार हल किया जाय, तो उनकी कोई समस्या ही नहीं रह जाती, वरन् हमें तो फिर इस बात की आवश्यकता पड़ेगी कि मैदानों से सहस्त्रों व्यक्ति वनैले प्रांतों में जाकर बसें और वनवासी लोगों का सहयोग करें, जहाँ जाना लोग सचमुच में पसन्द करेंगे, क्योंकि वहाँ का जीवन निश्चित रूप से अधिक सम्पन्न होगा। क्योंकि उत्पादन केन्द्र का स्रोत सदैव सम्पन्न और उन्नत होता है। एक समय था जब नदियों के किनारे बसना अधिक आकर्षण का केन्द्र था, किन्तु अब बड़े बड़े नगरों, बड़े बड़े कल कारखानों और बड़े बड़े व्यवसायों की असली कुंजी इन्हीं वनैले और पहाड़ी प्रान्तों के पास होगी।

अब केवल प्रश्न है ऐसी व्यवस्था करने और उसे कार्यान्वित करने का। यदि आज की जनतंत्रवादी सरकार उसे न कर सकी तो कल की आनेवाली समाजवादी सरकार को उसे करना होगा, क्योंकि समाज और राष्ट्र की सभी समस्याओं को ठीक रूप से सुलझाना आखिरकार समाज से क्रांतिकारी रूप में ही सम्पन्न होता है। और समस्याओं को टालनेवाली सरकार के दिन गिने गिनाए ही होते हैं।

समाज विज्ञान और समाज सेवा

प्रो० श्रीधरनीलकंठ रानाडे एम० ए०

हम अपने देश के इतिहास के एक नए युग में प्रवेश कर चुके हैं। अब हम किसी विदेशी शक्ति के राजनैतिक संरक्षण में नहीं हैं और अब हम अपने पैरों पर खड़े होने योग्य हो गए हैं जो कि इतने लम्बे काल से हमारा बोझ सहन करने के अनभ्यस्त हो गए थे। हमें अपने पैरों को मज़बूत बनाना है जिससे हम उन्नति के मार्ग पर (विस्तृत अर्थों में) दृढ़ता पूर्वक चल सकें। राजनैतिक स्वतंत्रता अंतिम साध्य के रूप में कोई भी अर्थ नहीं रखती। हमें स्मरण रखना चाहिये कि राजनैतिक स्वतंत्रता प्रथमतः कुछ उद्देश्यों के प्राप्ति के लिए एक बुनियादी शर्त है।

अब जब कि हमें अनुकूल परिस्थिति प्राप्त हो गई है हमें अपने उद्देश्यों पर स्पष्ट रूप से विचार कर लेना चाहिये क्योंकि इसके बिना हमारी वर्तमान राजनीतिक विजय उद्देश्य-विहीन रह जायगी। एक बार अपने उद्देश्यों को निश्चित करके हम उसके प्राप्ति की इच्छा करते हैं; इसके लिए एक कार्यक्रम तैयार करते हैं और उसकी पूर्ति के लिए कार्य करना आरम्भ कर देते हैं। उच्चतम आदर्शों के संबंध में कोई कठिनाई नहीं है। हम सभी इस बात में सह[illegible] हैं कि हमें एक ऐसा वातावरण बनाना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना पूर्ण विकास प्राप्त करसके और साथ ही साथ, समाज की उन्नति में पूर्ण रूप से सहायक हो सके। दूसरे शब्दों में, हम यह इच्छा करते हैं कि व्यक्ति और समाज का ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण हो कि एक दूसरे की उन्नति तथा विकास में सहायक हों जिससे व्यक्ति को सुख और शान्ति प्राप्त हो और समाज शक्तिशाली तथा उन्नतिशील हो। यही आधुनिक समाज-सेवा का उद्देश्य है। इसके लिए आवश्यक है कि हम अपनी सामाजिक संस्थाओं तथा सामाजिक शक्तियों को, जो हमारे जीवन को प्रभावित करती हैं, भली भांति समझ लें जिससे कि हमें उन्हें सुधारने, उनमें परिवर्तन करने तथा उनपर रोक रखने में समर्थ हों। हमें मानव स्वभाव से परिचित होने की भी आवश्यकता है ताकि हम जान सकें कि वह हमारे आदर्शों के बीच किस प्रकार खप सकता है। यही अभिप्राय समाज विज्ञान का है।

मानव जाति के आरंभिक काल से ही समाज सेवा दान के रूप में वर्तमान थी। दया मानव स्वभाव की प्रमुख विशेषता है। समाज विज्ञान का इतिहास हाल ही का है और समाज-सेवा, आधुनिक अर्थ में, इसी शती की देन है। यह मनुष्य के कार्यक्षेत्र में विज्ञान के प्रयोग का प्रतिनिधित्व करती है जो कि अब तक भावनाओं द्वारा संचालित होती थी। विद्या से सामाजिक कार्यक्षेत्र विस्तृत हो गया है और उसे वैय्यक्तित दान क्षेत्र से उठाकर उस स्तर तक उठा दिया गया है जहाँ की इसकी आवश्यकता को ही समूल नष्ट कर देने का संगठित प्रयत्न होता है ताकि उसके पुनः घटने की सम्भावना कम से कम रह जाय। वास्तव में आधुनिक समाज सेवा दान की प्रथा को मिटाने के लिए ही है।

दान का आधार सामाजिक दोषों और मानवीय असफलताओं की अप्रतिरोधक स्वीकृति है। परिस्थितियों से मजबूर, अभागे लोगों को इसी तरह से रहना है• क्योंकि उनके भाग्य में यही लिखा है। इस विचार के कारण दुखियों और पीड़ितों का केवल अस्थाई दुःख-परिहार होता है, जिसका कोई स्थाई प्रभाव नहीं रहता। आधुनिक समाज-सेवा इस विचार का बिलकुल त्याग करती हैं। प्रतिकूल परिस्थिति में पड़े हुए कुव्यवस्थित एवं पीड़ित व्यक्तियों को समाज में लाना है क्योंकि ऐसा करना समाज के ही हित में है। इस लिए ऐसे सभी व्यक्तियों को दूसरों की सहायता प्राप्त करने का अधिकार है। कोई भी व्यक्ति एक सामाजिक कार्यकर्ता के आदर तथा ध्यान के अनुपयुक्त नहीं है। उसके तमाम प्रयत्नों के पीछे उसके अन्दर दृढ़ विचार होना

चाहिए कि मानव जीवन मानवीय व्यवहार के ही योग्य है; उसका विश्वास, जिसका आधार ज्ञान हो, यह होना चाहिए कि प्रयत्न से आकस्मिक घटनाओं द्वारा खड़े किए प्रतिबन्धों पर (चाहे किसी भी अंश में हों) विजय पाया जा सकता है।

परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि आधुनिक सामाजिक कार्यकर्ता अपने को केवल नियमातिरिक्त दशाओं, जैसे भिखारियों, अनाथों, अपंगों और पीड़ितों, से ही संबंधित रखता है। उसका संबन्ध साधारण लोगों से भी रहता है। उसे साधारण को असाधारण बनने से रोकने के लिए मोर्चे खड़े करने पड़ते हैं। इसके बाद सामाजिक सुख शान्ति को दृष्टि में रखते हुए उसका उद्देश्य होता है प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता को उसकी चरम सीमा तक उन्नति करने के लिए रास्ता बनाना प्रत्येक व्यक्ति को उसकी सर्वोच्च शक्ति को पूरी तरह उभाड़ पाने में सहायता मिलनी चाहिए। साथ ही साथ यह भी स्मरण रखना है कि यथाक्रमत्व (normality) एक अनिश्चित तथा अस्पष्ट शब्द है—साधारण तथा असाधारण के बीच कोई स्पष्ट रेखा नहीं है। इस संकीर्ण विश्व में जहाँ कि नित्य सामाजिक परिवर्तन होते रहते हैं, अनुमानतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने को सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप सुन्दर से सुन्दर तरीके से बनाने के लिए व्यवसायिक सहायता, पथप्रदर्शन तथा परामर्श की आवश्यकता पड़ जाया करती है। इस प्रकार सामाजिक कार्य का दायरा सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग को अपने हद में कर लेता है। सामाजिक कार्यकरता का सम्बन्ध अनाथ बच्चे के आश्रय तथा शिक्षा से, नवयुवकों के शारीरिक तथा मानसिक विकास से, उनके विशेष प्रवृत्तियों के सदुपयोग की व्यवस्था से, तथा कार्यकर्ता की कार्य क्षमता से और शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से पंगु समुदाय की चिंता तथा यथा संभव उपयोग से रहता है।

सामाजिक विज्ञान का विकास विद्यालयों के क्षेत्र से होकर शनैः शनैः कार्यक्षेत्र में हो रहा है। व्यवहारिक समाज विज्ञान आधुनिक सामाजिक संस्थाओं और प्रणालियों के उत्पत्ति तथा उनके तात्पर्यों से सम्बन्ध रखता है। प्रयोगिक मनोविज्ञान मनुष्य के अचेतन के अनुसंधान में लगा हुआ है। यह मानवीय कार्यस्थल का उद्‌गम मालूम करना चाहता है जिससे हम मानव प्रकृति को अच्छी तरह समझ सकें। मनोविज्ञान मानस-रोग-चिकित्सा और मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान ने शिक्षा तथा अपराध के दृष्टिकोण के अन्दर एक प्रबल क्रांति पैदा कर दी है। अर्थशास्त्र अब केवल मनुष्य के भौतिक जीवन सम्बन्धी दुर्बोध सिद्धांतों से वास्ता नहीं रखती। सामाजिक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मुख्यतः मितव्ययी संस्थाओं द्वारा मनुष्य पर पड़ने वाले प्रभाव से है। इसी प्रकार चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में मानवीय रोगों के सामाजिक पहलू पर खोज हो रहा है। हाल ही में चिकित्सा सम्बन्धी सामाजिक कार्य का विकास हुआ है। रोगी के लिए चिकित्सा ही काफी नहीं है। यह निश्चित कर लेना ज़रूरी है कि वे इसका अच्छा से अच्छा उपयोग करेंगे। इसके अतिरिक्त सामाजिक विज्ञानों ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि किसी भी सामाजिक समस्या को अच्छी तरह हल करने के लिए उसे अनेक दृष्टिकोणों से देख लेना चाहिये। इस प्रकार एक सामाजिक कार्यकर्ता के लिए समाज विज्ञान की जानकारी अनिवार्य है। सामाजिक समस्याओं पर विचार और उनके सुझाव की विधि उस ज्ञान पर आधारित होना चाहिए जो हमें इन विज्ञानों से मिलता है।

स्वतन्त्रता ने हमारे कन्धे पर महान् उत्तरदायित्व का भार रख दिया है। हमें संसार के सामने सिद्ध करना है कि हम इस बोझ को उठाने योग्य हैं। हमारे सामने अनेक आर्थिक तथा सामाजिक समस्याएँ समाधान के लिए पड़ी हैं। हमारे बच्चे मानसिक तथा शारीरिक दृष्टि से अविकसित हैं—उन्हें अवसर भी कम मिलता है। हमारी स्त्रियाँ दबाई हुई हैं और पुरुष कार्य कुशलता रहित हैं। बेकारों, भिखारियों, अपराधियों, वेश्याओं, अपंगों तथा अवरुद्ध मानसिक शक्ति वाले मनुष्यों की समस्या पर कभी वैज्ञानिक रूप से दृष्टि नहीं डाली गई। हमारे गाँव अज्ञान और गरीबी के अन्धकार में डूबे हुए हैं। हमारे औद्योगिक मज़दूर गन्दे स्थानों में रहते हैं और अपने जीवन से अत्यधिक असन्तुष्ट हैं। हमलोगों को इस कटु सत्य को स्वीकार कर लेना चाहिए। हमें अपने समूचे सामाजिक ढाँचे

में फिर से जीवन डालना है। अब हमारे सामने यह कार्य है कि हम सामाजिक कार्यक्षेत्र को संभालने, संगठित करने तथा पथ-प्रदर्शन करने योग्य कुछ नेताओं को उत्पन्न करें। हमें ऐसे अवसरों की आवश्यकता है जिसमें हम व्यवसायिक समाज सेवकों को शिक्षा दे सकें। इस दिशा में अबतक नगण्य प्रयत्न किया गया है। व्यावहारिक समाजविज्ञान की बात तो दूर रही, समाज विज्ञान हिन्दुस्थान के बहुत ही कम विश्वविद्यालयों में शिक्षा का विषय रहा है। बम्बई का "टाटा इन्सटिट्यूट आव-सोशल साइन्सेज़" ही अबतक एकमात्र ऐसी संस्था रही है जो कि इस विषय में पर्याप्त शिक्षा देती रही है। युक्तप्रान्त में, इस विषय की आवश्यकता देखते हुए, काशी विद्यापीठ, बनारस के ट्रस्टियों ने समाज विज्ञान का कोर्स खोला है। यह इन्टरमीडियेट के विद्यार्थी के लिए तीन साल का तथा ग्रैजुएट के लिए दो साल का है।

अभी तक हमारे विदेशी शासकों को केवल अमन-चैन बनाए रखने से काम था। हमें अब शासन पद्धति का ढाँचा ही समूल बदल देना है, जिसमें बड़े बड़े परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ सकती है। हमारे शासक अफ़सरों को समाज सेवा की शिक्षा मिलनी चाहिए। कम से कम उन्हें सभी समाज विज्ञानों की अच्छी जानकारी होनी चाहिए जिससे कि वे सामाजिक कार्यकर्ताओं के कार्यों के गुण जान सकें और उनकी सहायता कर सकें। उदाहरणार्थ मजिस्ट्रेटों को अपराध सम्बन्धी नए विचारों की शिक्षा मिलनी चाहिये और उन्हें परीक्षण (Probation) तथा प्रतिज्ञा (Parole) के सिद्धांतों की जानकारी होनी चाहिए। अपने देश में समाज सेवा के कार्य के संगठन के लिए सरकार को अवश्य नेतृत्व करना पड़ेगा।

हमें अपने पूर्व की उदासीनता और लापरवाही से हुई क्षति को पूरा करना है। हमें संसार के उन्नतिशील देशों के बीच में स्थान पाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना पड़ेगा। समाज सेवा के संगठन के कार्यमें संयुक्तराष्ट्र और सोवियत संघ ने महान् उन्नति की है। हम उनके अनुभवों से लाभ उठा सकते हैं और अन्धकूपों से अपने को बचाकर आगे बढ़ा सकते हैं। प्रत्येक विदेशी चीज़ के प्रति घृणा देखाने से काम नहीं बनेगा। ज्ञान राष्ट्रीय सीमाएं नहीं मानता। अतएव हमें अपने मस्तिष्क से बनावटी सीमाएं निकाल देनी चाहिए। हाँ, मानवीय प्रयत्नों के सभी क्षेत्रों में हमें अपना पूर्ण योग प्रदान करना चाहिए।

आज की जो अनेकों सामाजिक समस्याएं हैं उनकी ओर हमें जनता का ध्यान आकृष्ट करना है और उनके विचार अपने पक्ष में करना है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए बम्बई के कुछ प्रमुख नागरिकों ने, इसी वर्ष नवम्बर मास में, एक अखिल भारतीय समाज-सेवा सम्मेलन करने का निश्चय किया है। हमारे देश में समाज-सेवा कार्य के लिए बड़े पैमाने पर प्रचार की आवश्यकता है, ताकि देश के लोग स्वस्थ, प्रगतिशील और योग्य बन सकें। वास्तविक प्रजातंत्र के लिए यह एक अनिवार्य शर्त है।

साहित्य और संस्कृति के लिये खतरा

साहित्यकार की विराट प्रतिभा के साथ साथ उसकी आर्थिक हीनता भी जगत प्रसिद्ध है। विदेशों में जहाँ शिक्षा का इतना प्रसार है, बिना पूर्ण प्रसिद्धि के कोई भी साहित्यकार सिर्फ साहित्य सर्जना के आधार पर अपनी जीविका नहीं चला सकता। हिन्दी के उन साहित्यकारों की आर्थिक हीनता प्रसिद्ध है, जो विश्वविद्यालयों या और कहीं कोई नौकरी नहीं करते। ऐसे साहित्यकारों में हिन्दी के विशिष्ट साहित्यकार भी हैं। हिन्दी के ऐसे प्रतिष्ठित साहित्यकारों के नाम पर अनेक बार चन्दे की आयोजना भी की गई है, जिसमें पूंजीपतियों और उनके दलालों ने सस्ते में नाम कमाने की गरज से (जानबूझ और नाम कमाने की वृत्ति से) रुपया भी दिया है। यह हम इसलिये भी कहते हैं कि हमें ऐसे पूंजीपतियों का पता है जो अपेक्षाकृत कम-प्रसिद्ध साहित्यकारों की जरूरतों को जानते समझते हुए भी, उनसे सम्पर्क रखते हुए भी उनकी पूरी उपेक्षा करते हैं—और अपेक्षाकृत प्रसिद्ध साहित्यकारों के पीछे कभी कभी दुम भी हिलाते फिरते हैं! इनको साहित्य और साहित्यकारों का हित श्रेय नहीं है। इनका तो उद्देश्य होता है। प्रसिद्ध साहित्यकारों के निकट "चोखो" बनकर, साहित्यकारों की दुनिया में भी कुछ नाम कमा जाना। इसीलिये कभी कभी सेट साहित्य पर पुरस्कारों की भी घोषणा करते हैं। इस घोषणा में भी साहित्य की श्रीवृद्धि उनका ध्येय नहीं होता, उनका ध्येय होता है साहित्यकारों में भी "सेट" बने रहना। ये पूंजीवादी मनोवृत्ति में पले रहने के कारण साहित्यकारों में भी श्रेणी-भेद कायम करना चाहते हैं। अपने रुपयों के बल पर ये शक्ति सम्पन्न साहित्यकारों का एक ऐसा दल कायम करना चाहते हैं, जो इनकी 'सहायता' के एहसान से दबी रहे, जो यदि कभी पूंजीपतियों के जुल्मों का चित्र खींचना चाहे, तो उसके मस्तिष्क में इन ('साहित्यिकों के सहायकों') सेठों की उदारता आ जाय, पूँजीपतियों के विरुद्ध कटुता कम हो जाय। क्योंकि हमको इसका भी पता है कि ये सेठ उसी साहित्यकार के प्रति (छद्म) भक्ति रखते हैं जिसके साहित्य में श्रेणी-संघर्ष का चित्र या भाव नहीं आता। ऐसा ये जानबूझ कर और अपने श्रेणीहित की दृष्टि से करते हैं।

इसके साथ ही हमें इस बात का भी पता लगा है कि कुछ पूंजीपति मिलकर और अलग अलग भी बड़ी बड़ी प्रकाशन संस्थाएं खोल रहे हैं। उसमें वे पुस्तकें प्रकाशित करने के आधुनिक तम साधन भी रखेंगे। लेखकों को रुपया भी देंगे। पर उसी लेखक और उसी साहित्यकार को वह महत्व देंगे, जिसमें श्रेणी-संघर्ष न हो, जिसमें श्रेणी-संघर्ष का सिद्धान्त मानने वालों को किसी छल से बुरा कहा गया हो, या जिसमें शान्ति, करुणा, मैत्री की भड़ैती करके उमड़ती हुई जनक्रान्ति की ज्वाला को बुझाने की कोशिश की गई है। वह ऐसे साहित्य को प्रोत्साहन देंगे जो यौन समस्या से सम्बन्धित हो, जिसके अन्दर युवक युवतियों की काम-क्रीड़ा को प्रोत्साहन की भावना हो। और वह ऐसे साहित्य को भी प्रोत्साहन देंगे, जो संस्कृति, परम्परा और कला के नाम पर बुद्धि विलास की ओर जनता को ले जाय। जिसके अन्दर 'कला' और 'साहित्य' के नाम पर प्रति-क्रिया को प्रोत्साहन मिले।

इस तरह इतिहास की धारा के साथ हमारी संस्कृति जिस मोड़ पर आज है, उसको खींचने की कोशिश की जायगी। भारतीय संस्कृति के अन्दर मानव समता की जो भावना आज विकसित हो रही है, उसके लिये आज खतरा पैदा हो गया है। इस खतरा में यह सरकार साहित्यकारों की सहायता कर सकती है, इसकी आशा हम नहीं करते। कारण युक्त प्रान्तीय सरकार ने साहित्यकारों की सहायता की जो योजना प्रस्तुत की है, उसके अन्दर साहित्यकार अपना अपमान महसूस कर सकते हैं और करते हैं। अतः आज हम साहित्य के अन्दर विकासमान भारतीय संस्कृति के लिये अन्धकार ही अन्धकार पाते हैं। किन्तु साहित्यकार का धर्म अन्धकार से प्रकाश में जाना है।

—बैजनाथसिंह 'विनोद'

'समता' का स्वागत

जबलपुर से समता नामक एक मासिक प्रकाशित होने जा रहा है। उसके स्वागत के साथ हम उसकी विज्ञप्ति यहाँ दे रहे हैं—

"वर्तमान युग संघर्ष का, कृतित्व का, वैचारिक साहसों का काल है। 'समता' इस नई प्रगतिशील चेतना का साहित्यिक माध्यम होने के साथ ही साथ हिन्दी की चिर प्रवहनशील साहित्यिक परंपरा के आलोचन, उन्नयन तथा विकास में सहायक होने का प्रयत्न करेगी। 'समता' की यह मनीषा है कि उसे युग तथा साहित्य की बहुविध समस्याओं को, जीवन के अनुभवों और विचारों के बीच स्थायी संपर्क के आधार पर सुलझाने का सौभाग्य प्राप्त हो, तथा इस प्रकार वह साहित्य के विकास में योग दे सके। आधुनिक युग-जीवन की समस्याएँ वायवीय नहीं हैं। वे आधुनिक समाज तथा व्यक्ति की उपज हैं। इसी दृष्टिकोण से 'समता' द्वारा जीवन तथा साहित्य की समस्याएँ परखी जावेंगी और नवीन सांस्कृतिक मूल्यों के प्रश्नों का विवेचन किया जायगा।

बदलते हुए युग-जीवन का यह तकाज़ा है कि नवीन परिस्थिति के अनुकूल अभिव्यंजना शैली का भी विकास हो। साहित्य और कला के नव-नवीन प्रयोगों का 'समता' स्वागत करेगी। साहित्य का अन्य कलाओं के साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हुए संगीत, नाटक, जननाट्य, लोकगीत तथा लोक कलाओं की भी उपेक्षा नहीं की जावेगी। उसी तरह विदेशी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के कलाकारों की कला तथा साहित्य का अध्ययन 'समता' में नियमित रूप से मिलेगा।

'समता' में साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त दर्शन, पुरातत्व, इतिहास, राजनीति आदि विषयों पर गंभीर लेख मिलेंगे। 'समता' को हिन्दी के श्रेष्ठ विचारकों तथा लेखकों का सहयोग प्राप्त है। नई प्रतिभाओं के लिए इसके पृष्ठ खुले हुए हैं। 'समता' का प्रथम अंक ता० १५ सितम्बर को प्रकाशित होगा। 'समता' की प्रत्येक पुस्तिका का मूल्य १) है तथा सालाना चंदा १०) पत्र व्यवहार निम्न पते पर होना चाहिये।"

वसंत पुराणिक
प्रबंध-सम्पादक 'समता'
६०१ गोल बाज़ार
जबलपुर।

सम्पादक-मण्डल
नन्ददुलारे वाजपेयी
रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल'
शिवनन्दनसिंह चौहान
डा० नारायण विष्णु जोशी
गोपीकृष्ण प्रसाद
गजानन माधव मुक्तिबोध

भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस

ज न वा णी

सम्पादक-मण्डल
आचार्य नरेन्द्रदेव वी० पी० सिन्हा
राजाराम शास्त्री बैजनाथसिंह 'विनोद'

विषय-सूची

ग्राहकों और एजेन्टों से

जनवाणी का कार्यालय अब बनारस ही आगया है। पत्रव्यवहार इस पते से करें।

व्यवस्थापक "जनवाणी",
जनवाणी प्रेस एन्ड पब्लिकेशंस लिमिटेड,
गोदौलिया, बनारस।

(वार्षिक मूल्य ८) **'जनवाणी' सम्पादकीय विभाग** एक प्रति का ।॥)
काशी विद्यापीठ, बनारस

वर्ष १, भाग २] अक्टूबर १९४७ [अङ्क ५; पूर्णाङ्क ११

हमले

श्रीभगवतशरण उपाध्याय

१

पश्चिमी एशिया का सारा प्रसार दक्षिणी ईरान से ईराक के ऊपरी भाग तक, दज़ला-फ़रात का पूरा काँठा, मेसोपोतामियाँ, बेबिलोनिया, असीरिया जल-मग्न था। ईसा से प्रायः तीन सहस्र वर्ष पूर्व हज़ारों मील लंबा-चौड़ा यह भूखण्ड जल से आप्लावित हो गया था। यह वह जल-प्रलय था जिसकी स्मृति आज तक इसराइल की सन्तान ने हिब्रू 'बाइबिल' में, असुर की औलाद ने 'गिल्गमिश' में, मनु की सन्तति ने 'मनुस्मृति' में सुरक्षित रखी है।

इस जल-प्रलय से बहुत पूर्व पश्चिमी बाल्कन से नीपर के पार वोल्गा की घाटी तक एक वीर जाति का निवास था, जिनकी ढोरें अमित थीं और जो घोड़े की पीठ पर दिन-दिन रात-रात मीलों सफर के आदी थे। इनके कबीले कभी पड़ोसियों पर हमले करते थे, कभी आपस में टकरा जाते थे। इन्हें आर्य कहते थे। जल-प्रलय से पूर्व ही ये उत्तर से होकर असीरिया और बाबुल की राह ईरान में उतर आए थे। दज़ला फ़रात के निचले द्वाब में एक शालीन सभ्यता सदियों से जागरूक थी। यह सभ्यता मेसोपोतामिया में सुमेर की थी। आर्य अपने मार्ग में कभी इनसे भी टकराए थे, पर बाद स्वयं वे बिखर गए थे, कुछ कबीले ईरान में कुछ हिन्दूकुश के इर्द गिर्द।

हिन्दूकुश की दीवार आस्मान चूमती थी पर आर्य उसे लाँघ गए। सामने काबुल की प्रसन्न घाटी थी जहाँ उपवनों की परम्परा को कुभा (काबुल), क्रुमु (कुर्रम) और गोमती (गोमल) सींचती थी। आगे सप्तसिन्धु का हराभरा लहराता देश था। आर्य रीझ गए पर उसे भोगना आसान न था। उसके पहले जान की बाजी थी। किन्तु जान के खेल आर्यों के लिए नए न थे। उनका व्यक्तिगत जीवन उनके 'जनों'—कबीलों—का सामूहिक जीवन तलवार की धार पर चलने वाला जीवन था और उसकी क्षणभंगुरता उनकी अनजानी न थी।

पर आगे दीवार खड़ी थी उनकी राह रोके—काली कुमक, मर्दों की और शक्तिसीम नारियों की भी। दक्षिण पंजाब में रावी और सिन्धु के किनारे सिन्ध से प्रायः समुद्र तट तक और सिन्ध से बलूचिस्तान प्रायः

सुमेर शहरों की सीमा तक एक प्राचीन सभ्यता का विस्तार था। यह द्रविड़ों की सैन्धव सभ्यता थी प्राचीन सभ्यताओं में अति प्राचीन, सुन्दर, उदार, व्यापार प्रिय। तब उस सिन्ध में जहाँ आज आग बरसती है, रेत उड़ती है हरे खेत लहराते थे, उपवन विहँसते थे। उन सैन्धवों के मकान पकाई ईंटों के बने थे, जो आर्यों को लोहे कैसे लगते थे। उनके नगर प्लान से बने थे, उनकी सड़कें साफ सूथरी थीं; उनके स्नान-सरोवर संसार के आश्चर्य थे। कला में ये सैन्धव प्रभूत उन्नति कर चुके थे। उनके विलास की निधियाँ अमित थीं। अबतक का जीवन उनका शान्त सुन्दर, समृद्ध और सुखी रहा था। अस्त्र-सन्धान उनके वश की बात न थी। परन्तु आगत विपत्ति को जीतने के लिए वे बद्धपरिकर हुए।

टक्करें हुईं, गहरी और खूनी। आर्यों की अनेक लहरें आईं और अनवरत आती रहीं। एक आती, दो आती तो सैन्धव झेल लेते। यहाँ तो लहरों का तांता न टूटता था। सिन्धु की टूटती तरंगों की भाँति आर्यों के कबीले आते और सैन्धवों पर टूटते रहे। ईसा से लगभग २७०० वर्ष पूर्व आर्यों ने सैन्धवों के सारे मोर्चे तोड़ दिए। अब भगदड़ थी। चप्पे-चप्पे के लिए रक्त बहा था, परन्तु इतना बलिदान करके भी सैन्धव अपनी भूमि, अपने नगर, अपने पशु न बचा सके। उनकी समृद्धि लुट गई, विलास के साधन नष्ट हो गए।

उनके विजेता घुमक्कड़ थे, खाना बदोश। घोड़े की पीठ उनका घर था, धनुष-बाण और परशु उनकी संपत्ति थे, वर्म और कवच उनके रक्षक, कुत्ते उनके सहायक। उन्हें हारना क्या था? सुन्दर, ऊँचे उनके डीलडौल, लोहे की सी ठोस चौड़ी छाती, लंबी बलिष्ट उनकी भुजाएँ, सैन्धवों से सवाई और दैत्य की सी उनकी काया—सैन्धव कब तक उनके सामने ठहर सकते थे।

कठोर उनका जीवन था, विपत्ति उनकी सहचरी। तूफान से वे लड़ते थे, मृत्यु के सम्मुख अट्टहास करते थे। अनागरिक बर्बर जीवन में वे अनायास शक्ति का संचय करते थे। इसी प्रकार के लड़ाकों को जीतना उन सैन्धवों के लिए असंभव था, जो कद में उनसे अत्यन्त छोटे थे, शक्ति में अतीव दुर्बल। उनके पास अपनी रक्षा के लिए भी विशेष साधन न थे। वर्म तो उनके पास थे ही नहीं। हाथ की लड़ाई में कद का बड़ा सहारा और लाभ होता है, सो उनके शत्रुओं को था, उनको न था। फिर हल में जुतने वाले बैलों के उनके रथ आर्यों के सपदगामी घोड़ों का मुकाबला क्यों कर सकते थे? आर्य व्यूह बाँध कर लड़ने में पटु थे। जब तक सैन्धव एक पार्श्व सम्हालते आर्यों के घुड़सवार मोर्चा बदल झट दूसरे पार्श्व पर आक्रमण करते। शत्रु जब तक उसे सम्हालता आर्य उसकी हरावल रौंदते पीठ तक जा घुसते। सैन्धवों के जीवन में युद्ध संभवतः न था। उनका जीवन सभ्यता की देन विलास का था। उनके लिए उन आर्यों से लोहा लेना जिनका संघर्ष ही जीवन था असंभव था। फिर सैन्धव ऐसे देश में थे जहां की जलवायु शरीर को शिथिल तुन्दिल कर देती थी। स्फूर्ति और सतर्कता जिनकी अनजानी थी! आर्य पहाड़ों पर मृगशावकों से चढ़ते उतरते थे, अपने घोड़ों, अपने कुत्तों के साथ। सैन्धव अपनी भूमि पर आत्मरक्षा में लड़ रहे थे। अपनी भूमि पर आत्मरक्षा में लड़ना शत्रु को विजय का क्षेत्र समर्पित कर देना है। उनकी सेनाओं में नारियां भी थीं और नारी-सेनाएँ प्रायः शक्ति का नहीं परेशानी का कारण सिद्ध होती होंगी। भारतीय युद्ध परंपरा में जब लड़ाई देशी थी, शायद इनका कुछ उपयोग था, पर संशक्त काल-से आर्य योद्धाओं के सामने उनकी क्या चलती! वे सर्वथा पराजित हो गए। कुछ काल तक वे छुक-छिप कर संघर्ष करते रहे, परन्तु पूर्णतः परास्त होकर उन्होंने अपने निवास छोड़ दिए। दक्षिण और पूर्व का रास्ता नापा।

आर्यों ने उनके नगर, उनके घर उनसे छीन लिए। परन्तु आर्य नागरिक नहीं ग्रामीण थे। उनको सादा गाँव का खुला जीवन पसन्द था। नगर और पक्के मकानों का उपयोग उनका अनजाना था, विलास से वे अनभिज्ञ थे। सैन्धवों के नगर उन्होंने जला कर खाक कर दिए। पंजाब में उन्होंने नदियों के तीर अपने गाँवों के बल्ले गाड़े। बचे हुए सैन्धवों में से अनेक जो सम्हाल के बाहर थे उन्होंने मार डाले, बाकी दास बना लिए, नारियों का दासियों की भाँति प्रयोग किया। रथों में भर भर कर उन्हें उन्होंने अपने

गुरुओं-पुरोहितों को दान दिया, मित्रों को भेंट किया। कालान्तर में इनसे कक्षीवान, कवष, औशिज, वत्स से ऋषिसत्तम प्रसूत हुए। इन सैन्धवों से उन्होंने हल-बैल से खेती करना, कपास उगाकर सूती कपड़ा बुनना सीखा। उन्हें कभी वे 'दास', 'दस्यु', 'कृष्ण', 'मृधवाचा' 'अनासा', 'अदेवयु', 'अकर्मन', 'अयज्वन', 'शिश्न-देवाः' आदि कहते थे, अब उन्हीं से उन्होंने उनके धर्म की विधि-क्रियायें सीखीं, जन्तर-मन्तर सीखे, योग प्रक्रियाएँ सीखीं। उनकी धार्मिक पुस्तक ऋग्वेद के काल-स्तर से अथर्ववेद तक पहुँचते-पहुँचते आर्यों के धर्म-दुर्ग पर सैन्धवों ने सर्वथा अधिकार कर लिया। अथर्ववेद उसका ज्वलन्त प्रतीक है।

२

सदियाँ सहस्राब्दियाँ बीतीं। आर्यों ने प्रदेश पर प्रदेश जीते और विजित में अपने जनपद-राज्य खड़े किए। इनपर उनके साम्राज्य आरूढ़ हुए। पर जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे राज्यों और गणतन्त्रों का ही प्रसार था। पंजाब विशेषकर इन छोटे-छोटे गणतन्त्रों और राज्यों से भरा था। ये भी परस्पर लड़ा करते। गणतन्त्र भी, राज्य भी। साम्राज्यों की छोटी-मोटी परम्परा केवल मगध में ही थी और मगध भारत का मध्यदेश था। गंगा और शोण के संगम पर दोनों के कोण में हाल का बसा पाटलिपुत्र (उससे पहले राजगृह और गिरिव्रज) उसका केन्द्र था।

उस केन्द्र और उस साम्राज्य की सीमा पंजाब से दूर दक्षिण-पूर्व में ही समाप्त हो जाती थी। सहवेदना जैसी कोई चीज इस साम्राज्य और पंजाब के छोटे राज्यों तथा गणतन्त्रों में न थी। प्रत्येक स्वतंत्र था, अपने कार्यों का स्वयं फलभोक्ता और स्वयं अपना सहायक। नैतिक संबंध इनमें अभी स्थापित न हुआ था।

मगध में शाक्य सिंह बुद्ध अभी हाल ही दहाड़ चुके थे और वह साम्राज्य मूर्छित सा हो रहा था। राज्यों में प्रव्रजित नर-संख्या बढ़ाने की होड़ थी, सेना की नहीं। विरक्ति का फ़ैशन था, सज्जन या तो गृह त्याग संघ की शरण जाते थे, या गृह में रहकर गृहस्थ उपासक होते थे। दोनों अस्त्र की झंकार से नाक-भौं सिकोड़ते थे। यदि इस समय कोई शक्ति आक्रमण करती तो भारत सर हो जाता।

बाहर की शक्ति ने आक्रमण किया और भारत का एक बड़ा भाग सर हो गया। इस समय ईरान में प्रबल हखमनी सम्राटों का शासन था। उनका विशाल साम्राज्य पूर्व में वक्षुनद (सीर दरिया, अक्सस) से पश्चिम में यूरोप की पूर्वी सरहद और ईजियन सागर तक फैला हुआ था। ये सम्राट यूरोप पर समय असमय छापा मारते थे, विश्ववन्दित ग्रीकों को संत्रस्त रखते थे। इसी हखमनी कुल में दारयवहु नामका प्रतापी राजा हुआ। दारयवहु (५२१-४८५ ई० पू०) और उसके पूर्वज भारतीयों की ही भाँति आर्य थे। दारयवहु ने अपने शिलालेखों में अपने को 'आर्याणां आर्यः' और 'क्षत्रियाणां क्षत्रियः' लिखवाया था।

उसी दारयवहु ने पश्चिम में सफल न होकर पूर्व में 'प्रसर' की सोची। पूर्व पर्सिपोलिस (परसपुर), शूषा और एकबताना (हखमनी साम्राज्य की पूर्वी राजधानियाँ) के पास भी था। भारतीय सौदागर जब ईरान की ओर जाते थे तब भारतीय समृद्धि का सबूत मिलता था। ईरानी व्यापारी इस देश की संपत्ति की कहानी नित्यप्रति कहते थे और ईरानी किसान और सम्राट उसे तन्मय हो सुनते थे। हखमनी सम्राट दारयवहु ने बाबुली ज्योतिषियों को बुलवाया। उनसे तारों का रुख पूछा। गणकों ने उसे कार्यारंभ करने की सलाह दी।

ईरानी सम्राट ने अपने नौकाध्यक्ष को बहाने से भारत भेजा। उसने यहाँ आकर बताया कि वह केवल सिन्धुनद से चलकर उसके मुहाने से ईरान के लिए नौसाधन से सामुद्रिक मार्ग खोलेगा। वह आया और सोते, विलासी, प्रव्रजित, दुर्बल भारत की तन्द्रा देख गया। ईरान ने अपना लंबा हाथ बढ़ाया और भारत के दो समृद्ध प्रान्त खींच कर हड़प लिए। भारत के छोटे राज्य और गणतन्त्र परस्पर लड़ते, ताकते और काना-फूसी करते रहे, जब चेते तो लुट चुके थे। पश्चिमी पंजाब और सिन्ध के उपजाऊ प्रदेश दारयवहु ने स्वायत्त कर अपने साम्राज्य में मिला लिए जिसकी पूर्वी सीमा अब सिन्धुनद तक पहुँच गई। ईरानी साम्राज्य में इस सम्मिलित भारतीय प्रान्त का नाम बीसवां प्रान्त (क्षत्रपी) पड़ा। यहाँ से अनन्त सुवर्ण-कणों का धन ईरानी सम्राट के कोश भरता था।

इस पराजय के कारण थे इन गणतन्त्रों और छोटे राज्यों की दुर्बलता और उससे कहीं बढ़कर पारस्परिक द्वेष और संगठन का अभाव। पड़ोसी के सामने जब शत्रु है तो उससे पड़ोसी लड़े—यह नीति इन भारतीय राज्यों का मूलमन्त्र था और ये पड़ोसी की विपत्ति में भी हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। माना कि ईरानी साम्राज्य का विस्तार बड़ा था, उसके साधन असामान्य थे और उसकी सेनाओं में देश-देश के चुने हुए वीर लड़ाके थे। परन्तु इन साधनों का उपयोग ग्रीस के विरुद्ध क्यों सफल न हो सका? आखिर ग्रीस के नगर-राज्य तो विस्तार में भारतीय गणतन्त्रों और राज्यों से छोटे थे? कारण यह था कि ग्रीक-नगर राज्यों में एकता थी, द्वेष न था, संगठन की शक्ति थी। वे सतर्क थे, सोते न थे।

इससे भारत की कुछ काया पलटी। भारत ने छोटे कमज़ोर राज्यों का परिणाम देखा परन्तु कम से कम पंजाब में उससे वे लाभ न उठा सके। इतना अवश्य हुआ कि पश्चिमी जगत से भारत के व्यापार का एक स्थल मार्ग खुल गया।

३

४२५ ई० पू० तक कम्बोज, गन्धार और सिन्धु प्रदेश फिर स्वतंत्र हो गए। भारतीयों ने देखा कि छोटे राज्यों से शक्ति क्षीण हो रहेगी। इससे वे साम्राज्य-निर्माण में लगे। शशुनागों के मागध राज्य पर नन्दों का मागध-साम्राज्य खड़ा हुआ। महापद्म नन्द उग्रसेन ने कालान्तर में मध्य देश से क्षत्रिय राज्यों को उखाड़ कर अपना 'सर्वक्षत्रान्तक' विरुद चरितार्थ किया। परन्तु उसका साम्राज्य पश्चिम में गंगा-यमुना के काँठों तक ही सीमित रहा। पंजाब को वह न छू सका। पंजाब के राज्यों की दशा न सुधारी, पूर्ववत् बनी रही। छोटे-छोटे गणतन्त्र और खुल्ले-राज्य, परस्पर विद्वेषी और असंगठित ही रहे।

इसी समय (लगभग ३३० ई० पू०) सिकन्दर मकदूनिया से दिग्विजय के लिए निकला। उसके पिता फिलिप ने भी आस पास के देश जीते थे और ग्रीक नगर राज्यों को कुचल डाला था। जब तक ग्रीक नगर राज्य संगठित थे उन्होंने संसार के तत्कालीन सबसे बड़े ईरानी साम्राज्य तक को चुनौती दी। परन्तु परस्पर की फूट हो जाने के बाद छोटे फिलिप के सामने भी वे क्षण भर न टिक सके। सिकन्दर संसार-विजय के स्वप्न देखा करता था। ग्रीक हेरीदोतस ईरानी दरबार में राजदूत की हैसियत से रह चुका था और उसने भारत और पूर्वी देशों का तिलस्मानी हाल लिख छोड़ा था। उससे सिकन्दर और प्रभावित हुआ था। ३३० ई० पू० के लगभग मकदूनिया से निकल उसने मिस्र और आस पास के देश जीत लिए। फिर वह ईरानी साम्राज्य की ओर बढ़ा और उसे उसने कुछ ही ठोकरों से गिरा दिया।

३२६ ई० पू० में वह हिन्दूकुश लाँघ गया। भारत सुविस्तृत ईरानी साम्राज्य का गिरना सुन चुका था, सहमा था परन्तु सचेत न था। छोटे छोटे राज्य अब भी लड़ते रहे, परस्पर विद्वेष करते रहे, पड़ोसी की विपद से फायदा उठाते रहे। आक्रमक की आड़ में वे अपने झगड़े ले खड़े हुए। कइयों ने अपने देशवासियों के विरुद्ध सिकन्दर की सहायता की। आक्रमक अभी सुग्ध में ही था और तक्षशिला के राजा आम्भी ने उसके पास अपनी स्वतंत्रता अर्पण करने के लिए अपने दूत भेजे। प्रथम भारतीय राजा शशिगुप्त ने भी हार कर भारतीयों के विरुद्ध उसका साथ दिया। कुनार, पंजकोरा और स्वात नदियों की दूनों में वीर जातियों का निवास था। चप्पे चप्पे जमीन के लिए वे मर मिटीं। मस्सग-दुर्ग के नर-नारी एक एक कर मर मिटे पर विजेता की राह न रुकी। संगठित शक्ति ने कभी उसका मुकाबिला न किया।

तक्षशिला के राजा आम्भी की सहायता से उद्भाण्डपुर के पास सिकन्दर सिन्धु के पार उतर गया। परन्तु केकय देश का वीर राजा पुरु वितस्ता के पार घाट रोके पार खड़ा था। केकय के उत्तर में अभिसार था। वहाँ के राजा ने भी पुरु से मिल जाना चाहा पर सिकन्दर की सूझ से ऐसा न हो सका। काबुल आदि विजित देशों के अनेक वीर भाग कर पुरु की सेना से आ मिले थे। पुरु के नेतृत्व में इन दुर्दर्ष लड़ाकों से सिकन्दर का सामना था। झेलम बाढ़ के जल से फूली हुई थी। पार करना अत्यन्त कठिन था। अब सिकन्दर ने चोरी की सोची। अपने पड़ाव में नाच रंग होने का हुक्म दिया। वहाँ रसद जुटाने लगा जिससे पड़ाव के सामने पुरु की सेना खड़ी थी।

शत्रु को भास हो कि वह बरसात वहीं बिताना चाहता है। शत्रु निस्संदेह असावधान हो गया। लगभग सोलह मील ऊपर बढ़ कर सिकन्दर ने अँधेरी रात में झेलम पार कर लिया। दारा के विरुद्ध जब सन्ध्या समय वह अरावेला में पहुँचा था और उसके सेनापतियों ने सुझाया था कि रात में ही आक्रमण कर दिया जाय वरन असंख्य ईरानी सेना देखकर ग्रीक सेना डर जायगी, तब उसने कहा था कि 'सिकन्दर जीत चुराएगा नहीं।' झेलम के तट पर उसने जीत चुराई। पर उसे जीत पानी थी, चुराकर या सामने लड़कर। भारतीय इसे क्यों नहीं सीख सके?

पुरु ने अपने बेटे को उसका सामना करने को भेजा। बेटा सेना सहित जूझ गया। फिर पुरु बढ़ा। उसके हाथियों की दीवार के सामने ग्रीक सेना खड़ी थी जिसमें, यूरोप, अफ्रीका और एशिया के वीर थे और भारतीय विभीषण भी। पर सिकन्दर सहम गया। उसने कहा—आज असाधारण मनुष्यों, असाधारण जन्तुओं से सामना है। घमासान छिड़ गया। पानी खूब बरस चुका था। भारी भारी रथ पंक में धँस गए। धनुर्धर ज़मीन की रपटन से मार न कर सके। द्रुतगामी ग्रीक अश्वारोहियों ने फुर्ती से दाएँ बाएँ हमले किए। हाथियों की आँखें ग्रीक धनुर्धारियों ने छेद डालीं, उनकी सूंड उन्होंने काट डाली। हाथी वेदना से चिग्घाड़ते हुए भागे और भागते हुए उन्होंने पुरु की सेना को रौंद डाला। इसी समय ग्रीक सेनापति क्रातेरस ने जो अपने 'रिज़र्व' के साथ झेलम पार था, नदी पार कर पुरु पर हमला किया। पुरु की सेना कट चुकी थी पर वह लड़ता जा रहा था। उसके नंगे कन्धे पर शत्रु का भाला लगा। वह मूर्छित हो चला। आम्भी ने चिल्ला कर आत्मसमर्पण करने को कहा। पुरु ने देशद्रोही पर लौट कर वार किया। आम्भी निकल भागा परन्तु पुरु पकड़ा गया! होश में आने पर जब वह ऊँचा जवान सिकन्दर के सामने लाया गया तब यह पूछने पर कि उसके साथ कैसा व्यवहार किया जाय उसने दर्प से कहा—"जैसा राजा राजा के साथ करता है।" सिकन्दर ने उसका राज्य लौटा दिया और पुरु भी शशिगुप्त की भाँति भारतीय स्वतंत्रता को कुचलने और अपने देशवासियों के विरुद्ध लड़ने को उद्यत हुआ। भारतीय इतिहास इस प्रकार के अनवरत उदाहरणों से भरा पड़ा है। सिकन्दर का कार्य आसान हो गया।

पर आगे बढ़ना फिर भी आसान न था। सामने छोटे छोटे अनेक संघ-राज्य थे, जिन्होंने पगपग पर उसको लोहे के चने चबवा दिए। रावी और व्यास के बीच कठ नामक राष्ट्र था। कठ अपनी राजधानी साँकल के चतुर्दिक रथों के तीन घेरे बनाकर जी जान से लड़े। फिर पुरु की कुमक आने पर वे सर हो सके! साँकल नगर मिट्टी में मिला दिया गया। व्यास के तट पर सिकन्दर की सेना ने हथियार डाल दिए और आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। उस पार एक विशाल संघ-राज्य था, उसके आगे नन्द का मागध साम्राज्य दूर तक फैला हुआ था। सिकन्दर ने सेना को समझाया बुझाया पर वह टस से मस न हुई। उसने सप्ताह भर अपने को अपने शिविर में बन्द रखा और अन्त में सेना से फिर कहा—"छोड़ दो मुझे विस्तृत नदियों के सामने, जन्तुओं के मुख में और उन जातियों के हाथ में जिनका त्रास तुम्हारे हृदयों को भर रहा है, पर मैं ढूंढ़ लूंगा उन सूरमा लड़ाकों को जो मेरा अनुसरण करेंगे।" सेना फिर भी न हिली। सिकन्दर का अनुसरण करने के लिए एक ग्रीक सैनिक भी उद्यत न हुआ। अन्त में लाचार होकर वह लौट पड़ा। पर लौटना भी आसान न था। अनेक वीर जातियाँ पीछे भी राह रोके खड़ी थीं। रावी के दोनों तटों पर मालव संघ का राज्य था, वितस्ता और रावी-संगम के नीचे। उनसे पूर्व क्षुद्रकों का संघ राष्ट्र था। मालव और क्षुद्रक दोनों ही बाँके लड़ाके थे। मालव किसान एक हाथ में हँसिया दूसरे में तलवार धारण करता था, मालव और क्षुद्रकों में परस्पर सदा से शत्रुता थी, परन्तु समान शत्रु को देख उन्होंने प्रबल एका किया। अपने द्वेष को भुलाने के लिए उन्होंने निश्चय किया कि सारी मालव कुमारियाँ अविवाहित क्षुद्रक नवयुवकों से और क्षुद्रक कन्यायें मालव कुमारों से ब्याह दी जाँय। यह विधान आश्चर्यजनक था, परन्तु जहाँ शक्ति थी उसका सामना सिकन्दर नीति से करता था, जहाँ नीति थी वहाँ तीव्र सैन्यसंचालन से। मालवों और क्षुद्रकों की सेनाएँ अब परस्पर मिलने के

…बढ़ चली थीं और यदि कहीं वे मिल गई होतीं सिकन्दर के भाग्य का निपटारा वहीं हो जाता। पर …से बढ़कर सिकन्दर मालवों के अरक्षित गाँवों …नगरों पर टूट पड़ा और मालव तथा क्षुद्रक मिल … मालवों के एक संघ ने मुल्तान के पास उसका …किया और एक मालव सैनिक की चोटजनित …से ही सिकन्दर बाबुल में मरा। क्षुद्रकों ने आत्म…कर दिया, अमूल्य भेंटों के साथ सिकन्दर की …में अपने दूत भेजे। एक बार हारकर भारतीय …तोड़ देते थे। सिकन्दर छोटे मोटे राज्यों को …में जीतता आगे बढ़ा। सिन्ध में ब्राह्मणों ने विजित …को उकसा कर उनसे फिर विद्रोह कराया। …की संख्या में वे मारे गए। उनमें से चुने हुए …ग्यारह दार्शनिक तलवार के घाट उतारे जाने वाले … दार्शनिकों ने उनकी मेधा जाँचनी चाही। …कन्दर ने कैदियों से कहा—तुम ग्यारह हो। एक …में से मध्यस्थ बनेगा। बाकी दस से मैं प्रश्न …गा। उत्तरों की उत्तमता के क्रम से ही प्राण वध …गा। उत्तमता का निर्णय मध्यस्थ करेगा। प्रश्न …प्रकार थे—

प्रश्न—जीवितों की संख्या अधिक है या मृतकों की?
उत्तर—जीवितों की क्योंकि मृतक मर कर नहीं …ते।

प्रश्न—समुद्र में जीव अधिक हैं या स्थल पर?
उत्तर—पृथ्वी पर क्योंकि समुद्र स्थल का ही एक …है।

प्रश्न—जानवरों में सबसे अधिक बुद्धिमान कौन है?
उत्तर—जिसने मनुष्य को अपना पता नहीं लगने …दिया।

प्रश्न—तुमने शम्भु को बगावत करने के लिए …उकसाया?
उत्तर—इसलिए कि मैं चाहता था कि वह यदि …तो इज्जत के साथ और मरे तो इज्ज़त के साथ।

प्रश्न—पहले कौन सिरजा गया—दिन या रात?
उत्तर—दिन, रात से एक दिन पहले।

सिकन्दर चकरा गया कुछ समझ न सका। पूछा—…का क्या मतलब?
उत्तर—असंभव प्रश्नों के असंभव ही उत्तर होंगे।

प्रश्न—मनुष्य कैसे संसार का प्यारा होता है?
उत्तर—बहुत ताकतवर पर साथ ही प्रजा का प्यारा होकर, प्रजा जिससे डरे नहीं।

प्रश्न—मनुष्य देवता कैसे बन सकता है?
उत्तर—देवता सा कार्य करके, जो मनुष्य न कर सके।

प्रश्न—जीवन और मृत्यु में अधिक बलवान कौन है?
उत्तर—जीवन, क्योंकि वह भयानक से भयानक कष्ट सह लेता है। (सिकन्दर के आचरण पर यह भयानक व्यंग था।)

प्रश्न—कब तक जीना इज़्ज़त से जीना है?
उत्तर—जब तक मनुष्य नहीं सोचता कि अब जीने से मर जाना अच्छा है।

अब सिकन्दर ने मध्यस्थ के निर्णय के लिए उसकी ओर देखा। निर्णायक ने कहा—'उत्तर एक से एक बढ़कर हैं।'[1] सिकन्दर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और कड़ककर कहा—तब तू सबसे पहले मरने को तैयार हो जा। निर्णायक बोला—'तब तुम झूठे साबित होगे।' सिकन्दर उन्हें मुक्त कर उनसे रुखसत हुआ। वह बलूचिस्तान की राह काबुल लौट गया।

इस हमले से स्थल का पश्चिमोत्तर व्यापार-मार्ग और प्रशस्त हो गया। भारतीयों ने ग्रीकों से सिक्के ढालने की नई विधि सीखी। ग्रीक दर्शन का भारत को ज्ञान हुआ, पश्चिम ने पूर्व को जाना।

परन्तु इस भारतीय पराजय के कारण क्या थे? पारस्परिक विद्वेष, अकर्मण्यता, शिथिलता, समस्या की जटिलता को न समझ सकने की शक्ति। भारतीय जीवन सदा खन्डशः संगठन पर जोर देता था। उसकी वर्ण-व्यवस्था, समाज-विधान सभी आंशिक दृष्टि से प्रस्तुत थे। राजनीतिक संगठन भी इसी प्रकार सामूहिक रूप न प्राप्त कर सका। गणतन्त्र, राजतन्त्र, सभी इस दृष्टि से दुर्बल प्रमाणित हुए। गणतन्त्रों और राज्यों में तो संघर्ष चलता ही था, स्वयं गण राज्यों और राज-तन्त्रों में भी पारस्परिक स्पर्धा और संघर्ष था। राज-नीतिक आचरण भी कुछ उच्चकोटि का न था। एक बार परास्त होकर फिर विजयी के विरुद्ध आचरण

[1] देखिए—पाँचवीं सदी ईस्वी के ग्रीक इतिहासकार प्लूतार्च की 'जीवनियाँ'।

गर्हित समझा जाता था जो किसी देश की राजनीति में विशिष्ट नहीं माना गया। शशिगुप्त, पुरु, आदि ने पहले तो जान पर खेल कर सिकन्दर का सामना किया, पर हार जाने के बाद उन्होंने उसकी विजयों में सहायता की। शशिगुप्त पुरु के विरुद्ध लड़ा, पुरु अपने भतीजे और कठों के विरुद्ध। युद्ध नीति का भी भारतीयों को कुछ लाभ न था। वे एक बात तै करके उसकी लकीर पर चलते थे परिस्थितियों में चाहे जैसे परिवर्तन होते जायँ। दारा के विरुद्ध अराबेला के युद्ध में रात में सिकन्दर ने अंधेरे का लाभ उठाना चोरी समझा पर पुरु के विरुद्ध जब कोई चारा न रहा उसी ने झेलम के तट पर अँधेरी रात में 'राह चुराई'। भारतीय इस प्रकार की बात नहीं सोच सकते थे। उनके युद्ध के तरीके भी बोझिल, भारी और पुराने थे। रथों और हाथियों का प्रयोग उनका भोंडा होता था। राजा पुरु की पराजय विशेष कर इस कारण हुई कि उसके हाथी अपनी सेना में ही पिल पड़े। भारतीय इतिहास में बाद में भी अनेक बार यह घटना दुहराई गई। भारतीयों ने अश्वारोही सेना पर कम जोर दिया। रथों की अपेक्षा घुड़सवार सेना अत्यधिक फुर्तीली थी। युद्ध की बदलती परिस्थितियों के अनुसार आचरण करते घुड़सवारों को देर नहीं लगती। फिर सिकन्दर का सैन्य-संचालन महत्वपूर्ण और असाधारण था। उसकी जोड़ या मेधा का एक भी सेनापति भारतीयों के पास न था। जान को खतरे में डाल कर युद्ध के प्रत्येक क्षेत्र में पहुँच जाना तो उसके लिए साधारण बात थी ही, उसकी प्रत्युत्पन्न मति भी असामान्य थी। युद्ध की बदली परिस्थितियों में अत्यन्त शीघ्रता से वह नीति निर्णय करता था और बिजली की भाँति वह असावधान शत्रु पर जा टूटता था। अनेक बार हारा हुआ मैदान उसने अपनी फुर्ती और तीव्रता के बल पर जीत लिया। मालव और क्षुद्रकों ने जब सदियों का वैमनस्य भुलाकर समान शत्रु के सम्मुख सम्मिलित शक्ति प्रदर्शित करनी चाही, सिकन्दर ने उस भयानक संकट को झट भाँप लिया। मालव और क्षुद्रक सेनाएं मिल जाने के लिए एक दूसरे की ओर बढ़ रहीं थीं। परिस्थिति भाँप कर सिकन्दर ने विद्युत गति से मालव गाँवों और नगरों पर हमला किया और इसके पूर्व कि मालव क्षुद्रकों से मिल पाते उसने उनका विध्वंस कर दिया। यदि कहीं दोनों मिल गए होते तो ग्रीकों को कहीं भागने की राह भी न मिलती और वे वहीं ढेर हो गए होते।

४

सिकन्दर के हमले का विशेष प्रभाव भारतीयों पर नहीं पड़ा। पहले तो भारतीय दूसरों से उचित अनुचित कुछ भी सीखने में अपनी मानहानि समझते थे, दूसरे सिकन्दर का भारत-संपर्क भी कुछ लंबा न रहा। कुल उन्नीस महीने वह भारत में रहा था। वह तूफ़ान की भाँति आया था, तूफ़ान की ही भाँति लौट गया। पुराण, साहित्य में कहीं भी उसका संकेत नहीं मिलता। ३१७ ई० पू० तक चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसके आक्रमण के सारे चिह्न पंजाब से मिटा दिए। भारतीय शीघ्र इस आक्रमण को भूल गए। एक बात यह जरूर हुई कि भारतीयों ने अपने 'छोटे असंगठित राज्यों' की दुर्बलता समझी और चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त ने, जिसने उस आँधी के सामने पंजाब के गणतन्त्रों और राज्यों को दुर्बल पेड़ों की भाँति गिरते देखा था, एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, जिसकी सीमाएं पंजाब तक पहुँच गईं। इसी साम्राज्य के अन्तरंग में पंजाब की छोटी बड़ी सारी रियासतें तत्काल समा गईं। निस्सन्देह गणतन्त्रों की स्वतन्त्रता कुचल गई, परन्तु राजनीतिक दृष्टि से भारत काफी शक्तिमान हो गया। उसके पड़ोसी उसकी शालीनता को समझने लगे। उस भारतीय साम्राज्य का विस्तार पूर्व में समुद्र से लेकर पश्चिम में सिन्धुनद तक था। उससे अब कोई अन्य साम्राज्य ही लोहा बजा सकता था।

सिकन्दर के उत्तराधिकारी के अभाव में उसका विशाल साम्राज्य उसके सेनापतियों में बँट गया था। मिस्र का राज्य तालेमी को मिला था, सीरिया का सिल्यूकस को। सिल्यूकस का प्रतिस्पर्धी अन्तिगोनस था जिससे उसका निरन्तर युद्ध चलता रहा था। उसे बुरी तरह हरा कर ही सिल्यूकस को चैन मिला। सिल्यूकस के सुविस्तृत सीरियक साम्राज्य की पूर्वी सीमा चन्द्रगुप्त के मागध साम्राज्य के समानान्तर दौड़ती थी। जब उसे शत्रु से कुछ फुरसत मिली, उसने भारत की ओर रुख किया। सिकन्दर की पंजाब विजय के समय सिल्यूकस

ा के साथ रहा था और अपने को उसका उत्तरा-
ी समझता था। उस हैसियत से उसका पंजाब
र स्वायत्त करने का प्रयत्न करना स्वाभाविक ही
फिर वह दारयवहु तृतीय के साम्राज्य का भी
धिकारी था और दारयवहु तृतीय के साम्राज्य में
के उर्वर प्रान्त गान्धार, कम्बोज तथा सिन्धु
रदायी रह चुके थे। साथ ही सिल्यूकस का अपना
य भी इस समय संसार का सबसे बड़ा साम्राज्य
इस कारण भी उसकी महत्वाकांक्षा असीम थी।
ई० पू० के लगभग उसने अपने छिने प्रान्तों पर
अधिकार करने के लिए भारत पर चढ़ाई की।
शाल साम्राज्यों की सेनाएं सीमाप्रान्त पर कहीं
ई।

र इस समय भारत सिकन्दर और पुरु का भारत
। उसकी सीमा पर अब न तो शशिगुप्त थे, न
, न पुरु। उसका प्रबल पाहरू चन्द्रगुप्त उसकी
में सतत जागरूक था। संसार का अप्रतिम
तिज्ञ विष्णुगुप्त चाणक्य तब उसका सतत चिन्तन
था। टक्करें जो हुईं तो सिल्यूकस मुंह की खा
उसने देखा पासा पलट चुका था। भारत अब
त था, सशक्त। उसकी सेना का संचालन
प्त सा वीर और चतुर सेनापति करता था जो
सामरिक-शैली से भी अनभिज्ञ न था। हार इतनी
ड़ी कि सिल्यूकस ने लाचार होकर सन्धि की जो
उसके विजेता के लाभ की थी। तदनुसार हेराल,
सिया (कन्धार), बलूचिस्तान और हिन्दूकुश
काबुल के प्रान्त चन्द्रगुप्त के हाथ लगे। अब
साम्राज्य की सीमा हिन्दूकुश तक पहुँच गई,
अफ़गानिस्तान, कम्बोज (बदख्शाँ) और
भी शामिल थे। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त को
की ओर से एक राजकन्या भी भेंट में मिली
संभवतः भारतीय सम्राट ने विवाह कर लिया।
ाद तो अपनी ओर से चन्द्रगुप्त ने अपने
प्रतिद्वन्द्वी को ५०० हाथी दिए जिनका अपने
अन्तिगोनस् के विरुद्ध उचित उपयोग कर
् ने दिखा दिया कि उनसे युद्ध जीत भी जा
। स्वयं चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस् के विरुद्ध
उचित उपयोग किया था। इस समय

भारत में न नेतृत्व का अभाव था। न संगठन का, न उचित मंत्रणा और न परामर्श का।

५

तीसरी सदी ई० पू० के मध्य सीरियक साम्राज्य कुछ कमजोर पड़ गया। उस साम्राज्य में अनेक जातियों का निवास था। उनकी महत्वाकांक्षाएँ विभिन्न थीं। उनको एक डोर में बाँध रखना बड़ी शक्ति और चतुराई का काम था। अन्तियोक उस पैतृक विशाल साम्राज्य को न सम्हाल सका। दो बड़े सूबे पार्थिया और बैक्ट्रिया (बाख्त्री, बह्लीक) उसके हाथ से निकल गए। पार्थिया की स्वतंत्रता जन-आन्दोलन का परिणाम था, बैक्ट्रिया का यूनानी शासक का विद्रोह। इसके प्रथम स्वतंत्र शासक दियोदोतस् प्रथम के विषय में हम कुछ नहीं जानते परन्तु उसका पुत्र दियोदोतस् द्वितीय सोलिउक के चंगुल से सर्वथा बाहर हो गया। परन्तु बैक्ट्रिया में राजनीति का रुख एक बार और बदला और युथिदेमो नामक एक वीर घुमक्कड़ ने दियोदोतस् को मार कर इस वक्षु नद की उर्वर केसर-प्रसविनी भूमि पर कब्ज़ा कर लिया। इसी समय सीरियक सम्राट् अन्तियोकस् विद्रोही बैक्ट्रिया को फिर से सर करने पूर्व की ओर चला। एक लंबे अरसे तक वह वहाँ के नगरों का घेरा डाले पड़ा रहा, पर कुछ हो न सका। युथिदेमो और उसके पुत्र दोनों उत्कट लड़ाके थे और उन्होंने अन्तियोकस् के छक्के छुड़ा दिए। अन्त में युथिदेमो के पुत्र देमित्रियस् की कुशलता से दोनों में सन्धि हुई और अन्तियोकस् ने युथिदेमो का बैक्ट्रिया पर स्वतंत्र अधिकार स्वीकार किया। सेलिउक सम्राट ने देमित्रियस् की कुशलता देख उसे अपनी कन्या भी व्याह दी।

फिर वह भारत की ओर मुड़ा। भारत अशोक की मृत्यु के बाद फिर असावधान हो गया था। वास्तव में राजनीतिक संगठन, सूझ और चालें अधिकतर अर्थ-शास्त्रों में थीं उनका प्रयोग में विघटन बहुत कम होता था। शासन से जनता का कोई संबन्ध न था। वह जान बूझकर उससे दूर रखी गई। इससे विजयों और पराजयों से उसका कोई संबन्ध न था। जब कोई प्रतिभावान् सम्राट शक्ति और सूझ से शासन-सूत्र का परिचालन करता, शासन सुस्थिर होता। फिर उसके

निधन के बाद ही वह शिथिल हो जाता था। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना कर उसकी अपनी मेधा और बाहुबल से रक्षा की। अशोक के समय तक वह सुरक्षित रहा परन्तु अशोक ने जो बौद्ध-नीति अपना ली उससे उसके 'प्रत्यन्त' निर्भय हो चुके थे और पड़ोसी उसके साम्राज्य के टुकड़ों पर तृष्णा की दृष्टि डालने लगे थे। पार्थिया और बैक्ट्रिया की घरेलू परेशानियों के कारण सेलिउक सम्राट भी पहले तो चुप रहे और बैक्ट्रियन शासक भी। परन्तु अशोक के मरते ही दोनों सजग हुए। अशोक के मरते ही उसके अनेक साम्राज्य विशृंखल हो गए और काबुल के हिन्दूकुश पर्वत प्रदेशों में सुभागसेन स्वतंत्र हो गया, पामीर और कम्बोज बैक्ट्रियन ग्रीकों ने हड़प लिया।

अन्तियोकस् जब युथिदेमो के विरुद्ध विफल प्रयत्न हुआ तब लौटते लौटते उसने भी बहती गंगा में हाथ धो लेना निश्चित किया। भारत बेचारा देश था, अरक्षित। हिन्दूकुश डाँक उसने सुभागसेन पर आक्रमण किया। सुभागसेन में न तो अन्तियोकस् से लड़ने की शक्ति थी, न उसे स्वतंत्रता के अपहरण का विशेष दुख था। उसने आत्मसमर्पण कर दिया। सिद्धान्ततः काबुल की घाटी सीरियक साम्राज्य का प्रान्त बन गया। परन्तु उसे रखने की न तो अन्तियोकस् की इच्छा थी न शक्ति। वह तो बैक्ट्रिया में अपनी लाज की झेंप मिटाने आया था उसके लिये इतना बहुत था। वह लौट गया। पर उसके इस आचरण ने भारत की राजनीतिक परिस्थिति में एक विशेषता पैदा करदी। चन्द्रगुप्त के बाद कुछ काल भारत विदेशी हमलों से बचा रहा था। अन्तियोकस् ने पड़ोसियों को भारत की राह दिखादी और जिस आसानी से सुभागसेन ने आत्मसमर्पण किया था उससे भारत विजय का का कार्य अत्यन्त सरल जान पड़ा। फिर तो बैक्ट्रिय-ग्रीक हमलों का ऐसा ताँता लगा कि भारत की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था सर्वथा विनष्ट हो गई, जिससे प्रायः सौ वर्षों तक भारत के एक बड़े भाग पर ग्रीकों का राज रहा और उसके बाद दो सदियों तक शक-कुषाण आदि अन्य विदेशी राजकुलों का। निश्चय अन्तियोकस् के आक्रमण और विजय ने भारतीय नैतिक व्यवस्था का खोखलापन प्रमाणित कर दिया।

२

६

युथिदेमो की मृत्यु के बाद उसका पुत्र देमित्रियस् बाख्त्री का राजा हुआ। वह अत्यन्त महत्वाकांक्षी था और उसने शासन की बाग डोर लेते ही भारत की ओर अपनी नज़र डाली। सिकन्दर उसका आदर्श था और उसने उसके विजित प्रान्तों के परे उस विशाल देश के हृदय तक चोट करने का निश्चय किया। १९० ई० पू० से पहले ही आक्रमण में उसका सहायक उसका सेनापति और जामाता मिनान्दर था, जिसका नाम प्राचीन भारतीय राजनीति और धार्मिक इतिवृत्त में अमर हो गया है।

भारत की अवस्था इस काल दयनीय थी। नर्मदा के दक्षिण में आंध्र-सातवाहनों का सुविस्तृत साम्राज्य था। पूर्व में आसमुद्र कलिंग के नृपति जैन धर्मानुयायी चेदिवंशीय ब्राह्मण खारवेल का साम्राज्य था जो कभी सातवाहनों पर पिल पड़ता, कभी दुर्बल मगध पर। मगध पर एक बार वह सफलतापूर्वक चढ़ भी दौड़ा था। ये दोनों ब्राह्मण-साम्राज्य सबल थे परन्तु उनकी सरगर्मी पूर्व और दक्षिण तक सीमित थी। सारा उत्तर और मध्य भारत पिछले मौर्यों के अधिकार में था जो जैन अथवा बौद्ध थे। मौर्यों के जैन और बौद्ध धर्मावलंबन तथा ब्राह्मणों से संघर्ष ने देश को कायर और अक्षम कर दिया था। अन्त्य सम्राट बृहद्रथ का चौथा पूर्वज शालिशूक मौर्य कट्टर जैन था। अपने साम्राज्य को उसने धर्म के नाम पर लहू लुहान कर दिया। काठियावाड़ और गुजरात में उसने अन्य मतावलंबियों को इस कदर जबर्दस्ती जैन बनाया कि प्रजा त्राहि त्राहि कर उठी। इसी समय देमित्रियस् ने मौका देख कर भारत पर हमला किया। शालिशूक का शासन इतना कष्टकर और असह्य हो गया था और जनता इतनी अक्रिय हो गई थी कि उसने बजाय उस शासन के विरुद्ध विद्रोह करने के विदेशी को आमंत्रित किया और उसे अपना त्राता समझ 'धर्ममीत' (धर्ममित्र) कह कर संबोधित किया। शार्गीसंहिता के युगपुराण में जहाँ इस हमले का जिक्र है देमित्रियस् का नाम 'धर्ममीत' लिखा मिलता है, यद्यपि उसका भारतीय रूपान्तर 'दिमित' था जैसा समकालीन महा-

मेघवाहन खारवेल के हाथीगुम्फा वाले अभिलेख में खुदा है।

देमित्रियस् ने देखा भारतीय व्यवस्था नितान्त खोखली हो गई है और आक्रमण करते ही कुचल जायगी। उसने तत्काल हमला किया। काबुल के दक्षिण में उसने अपनी सेना के दो भाग किए। एक को अपने जामाता मिनान्दर की नायकता में देकर उसे मथुरा और साकेत की राह से मगध की ओर बढ़ने की आज्ञा दी, दूसरा स्वयं लेकर राजपूताने की राह मध्यमिका (चित्तौर के पास की नगरी) होता हुआ चला। उधर से उसका जाना केवल इसीलिए उचित न था कि यह उसकी आक्रमण-नीति का एकांश था और दोनों की यह दोरुखी कूच मगध के हृदय पाटलिपुत्र पर एक साथ दो ओर से चोट करने वाली थी, वरन् इसलिए भी कि गुजरात, काठियावाड़ और मरुदेश शालिशूक की दमननीति से अत्यधिक जर्जर हो गए थे। वहाँ आक्रमक को सहायता और साधुवाद दोनों मिलते; साथही वहाँ की जनता के अत्याचार कातर होने के कारण उस भूभाग का आसानी से पराजित हो जाना अधिक संभावित था।

मिनान्दर अपनी सेना लिए मथुरा और साकेत पर घेरे डालता जीतता पाटलिपुत्र जा धमका। स्वयं देमित्रियस् भी वायुवेग से मध्यमिका आदि विजय करता मागध राजधानी में प्रविष्ट हुआ। मौर्य साम्राज्य के सारे प्रान्त विच्छिन्न हो गए, लोकधर्म अव्यवस्थित। युगपुराण लिखता है कि इस 'दुष्ट विक्रान्त यवनों' के आक्रमण से सारे 'विषय (प्रान्त) आकुल' हो गए, 'पार्थिव' (राजा) विनष्ट। सर्वत्र शूद्रों की तूती बोल उठी। ब्राह्मणादि द्विज भी शूद्रवत् आचरण करने लगे। स्वयं पतञ्जलि ने अपने समसामयिक 'महाभाष्य' में इस आक्रमण का उल्लेख किया—"अरुणद् यवनः साकेतं, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्"। परन्तु युगपुराण के प्रमाण से 'युद्ध दुर्मद यवन' बहुत काल तक मध्यदेश में न ठहर सके (मध्यदेशेन स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः)। स्वयं उनके घर में घोर युद्ध छिड़ गया था—

आत्मचक्रोत्थितं घोरं युद्धं परम दारुणम्।
ततो युगवशातेषां यवनानां परिक्षये॥

युक्रेतिद नाम के एक यवन वीर ने देमित्रियस् की वैक्ट्रियन गद्दी को उसकी अनुपस्थिति में सूनी पाकर उसे स्वायत्त कर लिया। देमित्रियस् ने जब यह सन्देश सुना तो वह सेना सहित शीघ्र स्वदेश की ओर लौटा। इसी समय बढ़ती यवन-शक्ति के भय अथवा देश को विदेशियों से रक्षा करने की कामना से कलिंग खारवेल मगध की ओर बढ़ा। अब तक देमित्रियस् पाटलिपुत्र और मगध छोड़ चुका था। खारवेल परन्तु बढ़ता गया और उसने कुचले पाटलिपुत्र से मनमाना धन चूसा और तीर्थंकर की वह मूर्ति, जिसे नन्दराज कभी कलिंग से उठा ले गया था, जो कलिंग पर मगध की विजय की छाप सी थी, फिर से कलिंग ले आया। देमित्रियस् तो गृह-युद्ध के कारण अपने बाख्त्री-राज्य की पुनः प्राप्ति के अर्थ प्रयत्न करने स्वदेश की ओर लौटा और खारवेल सुविधा देख अपने हाथीगुम्फा के अभिलेख में 'योनराज दिमित' का उसके आक्रमण-भय से भागना लिखवाने से न चूका। यद्यपि जब शालिशूक दक्षिण राजपूताने, गुजरात और सौराष्ट्र में उसके स्वधर्मियों, जैनों पर बलात्कार कर रहा था तब खारवेल हिला तक न था। भारतीय राजाओं की नीति तब निस्संदेह स्वार्थपरक थी। अपने ही राजाओं के विरुद्ध उनकी दिग्विजय भी थी, अश्वमेध भी था। विदेशी आक्रमणकारी के प्रति वे उदासीन थे, आक्रान्त जनता के प्रति उनका कोई उत्तरदायित्व न था। आक्रमणकारी से भिड़ना केवल उस राजा का काम था जो आक्रान्त था। देश में इतनी बड़ी उथल-पुथल हो गई; जिस पंजाब को सर करते सिकन्दर को पग-पग पर लड़ना पड़ा था, यद्यपि उसने विशाल ईरानी साम्राज्य केवल कुछ ठोकरों से चूर चूर कर दिया था, उसी पंजाब को रौंदते चन्द्रगुप्त और चाणक्य के मागध साम्राज्य के हृदय पाटलिपुत्र तक यवन घुसते चले आए, परन्तु न खारवेल अपनी जगह से हिला और न सातवाहन हिले! और यह विप्लव साधारण नहीं था। इसे युगपुराण ने युगान्तर और युगों का सन्धि काल कहा। यह आक्रमण एक मार्ग से सहसा भी न हुआ था, पूर्णतया संयोजित था और इसका दबाव एक साथ पश्चिमी समुद्र तक सारे उत्तर भारत और मध्य देश पर पड़ा था। खारवेल ने उसकी प्रतिक्रिया

के रूप में अपनी प्रशस्ति की पक्तियाँ कुछ झूठे तारों से चमका लेनी ही काफ़ी समझी! वह अपनी यशः काया का निर्माण कर रहा था जब भारत की शोषित जनता विदेशी आतंक से कुचल कर खून उगल रही थी, जब अन्न के स्थान पर उर्वरा सनातन भूमि रक्त वमन कर रही थी। चाणक्य और चन्द्रगुप्त की आत्माएँ, बोधायन और आपस्तम्ब की आँखें स्वर्ग से आँसू डाल रही होंगी; उन्हीं के राजनीतिक केन्द्रीकरण और सामाजिक खण्डीकरण का तो यह परिणाम था कि उनके विशाल साम्राज्य और दृप्त समाज के रोम-रोम बिखर गए और विरक्त उदासीन जनता चुपचाप देखती रही, यद्यपि उसकी विरक्ति अथवा उदासीनता आक्रमण-जनित दुःखों से उनकी रक्षा न कर सकी। देमित्रियस् की ग्रीक संज्ञा 'भारत का राजा' हुई।

देमित्रियस् लौटा परन्तु युक्रेतिद उसे सबल पड़ा। उससे वह अपना राज्य न लौटा सका और शीघ्र वह नव-विजित की ओर लौटा। भारत में उसने अपने राज्य खड़े किए। कापिशी (काफ़िरिस्तान) पुष्करावती (पेशावर), तक्षशिला, शाकल (स्यालकोट) में अनेक यवन-राज्य खड़े हुए। देमित्रियस् ने यूथिदेमिया आदि नगरों का निर्माण किया। यवन और हिन्दू साथ साथ रहने लगे। यवनों के स्वतंत्र नगर भी थे, हिन्दू नगरों में स्वतंत्र यवन मुहल्ले भी जहाँ ग्रीक महाकाव्य 'उलीसिज़', 'ईलियद' पढ़े जाते थे, अफ़लातूँ, अरस्तू के दर्शन विचारे जाते थे, इस्काइलस्, मिनान्दर के नाटक खेले जाते थे। इस सौ वर्षों से ग्रीक राज्य ने भारतीय जीवन के अनेक क्षेत्रों को प्रभावित किया। उनके दर्शन, ज्योतिष, मुद्राओं, व्यापार, राजनीति, साहित्य, कला सब को। मूर्तिकला में तो उनकी टेक्नीक की एक शैली ही चल पड़ी जो आज भी 'गान्धार-शैली' के नाम से विख्यात है। इसी काल 'पौलिश' और 'रोमक' सिद्धान्तों के नाम से ग्रीक ज्योतिष ने भारतीय ज्योतिष-शास्त्र में अपना स्थान बनाया। इन आक्रमणों से दो लाभ हुए। एक तो वर्ण व्यवस्था सर्वथा टूट गई। पहले ही इसे बौद्ध साम्प्रदायिक आक्रमणों ने झकझोर दिया था, मौर्य राजाओं के बौद्ध-जैन आचरण ने भी इसे विशेष क्षति पहुँचाई थी और इस आक्रमण ने तो उसकी कमर ही तोड़ दी। दूसरे मौर्य साम्राज्य के पतन से जो शक्ति राजतन्त्रों और संघ राज्यों को दबाए हुई थी वह स्वयं नष्ट हो गई जिससे फिर एक बार जन-सत्ता गणों की पूर्वी पंजाब, राजपूताना, काठियावाड़ में प्रतिष्ठा हुई। यौधेय, कुणिन्द तथा मालव फिर उठ खड़े हुए।

७

इस अराजक परिस्थिति में शक्तिम राजनीतिक साहसीक के लिए खुला क्षेत्र था। एक ब्राह्मण सहसीक ने उस क्षेत्र में पदार्पण किया। भारत में ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष चिर काल से चलता आया था। कालान्तर में जब शूद्र महापद्म नन्द ने ब्राह्मण मंत्रियों की सहायता से क्षत्रिय शक्ति का सर्वथा नाश कर दिया तब मूर्छित क्षत्रियता ब्राह्मण चाणक्य के अंक में जा गिरी और उसी छाया में उसने फिर साँस ली। परन्तु शीघ्र अशोक ब्राह्मण प्रभाव की शृङ्खला तोड़ स्वतंत्र हो गया और उसकी सन्तान ने उत्तरोत्तर ब्राह्मण-विरोध किया। वे या तो बौद्ध थे या जैन। यदि राजकार्यों में वे जागरूक रहते तो उनके अत्याचार, उनकी दुर्बलता, उनकी शोषण-नीति, उनकी विलासिता प्रजा को शायद सह्य हो जाती, परन्तु उसके अभाव में इन दुर्बलताओं ने विशाल और व्यापक रूप धारण किया। प्रजा का असन्तोष भड़क उठा। ब्राह्मण-वर्ग ने उससे लाभ भी खूब उठाया। षड़यन्त्र के केन्द्र थे अन्त्य मौर्य सम्राट बृहद्रथ के पुरोहित-कुलीय सेनापति पुष्यमित्र शुंग और कर्णाधार थे 'महाभाष्य के रचयिता महर्षि पतञ्जलि'। राजा के प्रथम कर्तव्य—प्रजारक्षण के नाम पर बृहद्रथ को 'प्रतिज्ञा-दुर्बल' (राजा प्रजारंजन और रक्षण की अपने अभिषेक के समय प्रतिज्ञा किया करता था जिसकी अपूर्ति से वह सिद्धान्ततः अपनी गद्दी से हटाया जा सकता था) कह सर खुले मैदान में सेना के सामने उसका बध कर दिया।

अब उसने मगध की गद्दी पर स्वयं आरूढ़ हो ब्राह्मण विधि विधान फिर से प्रचलित किए। यज्ञानुष्ठान फिर लौटे, वर्ण-धर्म की प्रतिष्ठा हुई। मनुस्मृति उसी काल में लिखी गई और उसने प्रव्रजित गृहस्थों, श्रमणों और बीच के अराजक विप्लव में उठे शूद्रों के विरुद्ध सख्त कानून बनाए। स्वयं पुष्यमित्र ने दो-दो अश्वमेध किए और फलतः उसका विरुद 'द्विरश्वमेधयाजी' हुआ। बौद्धों का विनाश भी उसने कुछ कम न किया। बौद्ध

जैन प्रतिनिधि स्वरूप मौर्य राज्य की परिसमाप्ति से समाज में सबसे अधिक दुखी बौद्ध जैन ही हुए। अशोक के दान और स्थविर-परामर्शों से बौद्ध संघारामों में कुछ राजनीतिक शक्ति भी आ गई थी, और जैसे जैसे मौर्य राजा शक्ति में क्षीण होते गए उनकी अवस्था अधोधः गिरती गई, उसी परिमाण में इन संघारामों का प्रभुत्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया था। संघारामों में प्रतिक्रिया हुई और वे पुष्यमित्र और उस ब्राह्मण-साम्राज्य का विनाश करने पर सन्नद्ध हुए। शाकल (स्यालकोट) में इस काल देमित्रियस् का साझेदार, सेनापति और जामाता मिनान्दर राज करता था। बौद्ध दार्शनिक नागसेन के प्रभाव से वह हाल ही बौद्ध हो गया था। उसने राजनीति में धर्म को अस्त्र बनाया। बौद्धों ने उसे धर्म द्रोहीब्राह्मण पुष्यमित्र पर आक्रमण करने को उकसाया।

मिनान्दर दूरदर्शी था वह बौद्धधर्म में दीक्षित इसीलिए हुआ था कि देमित्रियस् के जीते मगध को फिर से वह स्वायत्त करले और वह जानता था कि बौद्ध परिचालित भारतीय जनता का एक विशाल समुदाय इस प्रकार उसके साथ होगा, विशेष कर क्षत्रिय जो न केवल ब्राह्मण विद्वेषी थे वरन् युद्ध में जिनकी विशेष क्षति भी हुई थी। मिनान्दर पूर्व की ओर बढ़ा, परन्तु मगध की तलवार अब निष्क्रिय जैन-बौद्ध-क्षत्रिय के हाथ में न थी, कर्मठ ब्राह्मण के हाथ में थी, जो यज्ञ में पशु काटता था युद्ध में मानव, और जिसके कल्याण और आचार की रक्षा वरुण की भाँति स्वयं पतञ्जलि करते थे। साकेत की ओर कहीं तलवारें खनकीं, कुछ चोटें हुईं, पूर्व और पश्चिम भिड़े, फिर पश्चिम रण छोड़ भागा और जैसा ग्रीक इतिहासकार प्लूतार्चनें पाँचवीं सदी में अपनी 'जीवनियों' में लिखा, 'गंगा के काँठे में लड़ता हुआ मिनान्दर मारा गया।' मिनान्दर की विधवा ने उसके उत्तराधिकारी शिशुको अंक में ले पश्चिम की शरण ली। पुष्यमित्र का क्रोध सकारण था पाटलिपुत्र से जलन्धर तक के सारे बौद्ध बिहार उसने जला डाले। मिनान्दर की राजधानी शाकल पहुँच उसने घोषणा की—जो मुझे एक श्रमण मस्तक देगा, उसे मैं सौ दीनारें दूँगा ("यो मे श्रमणशिरं दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि—दिव्यावदान)। अपना दूसरा अश्वमेध करने की भी उसने ठानी। उसी की भाँति उदात्त उसका षोडशवर्षीय पौत्र वसुमित्र संवकुमारों से परिवृत्त अश्व की रक्षा में चला और यवनों को सिन्धु के उस पर कर दिया। उस नद के दक्षिण तटीय कोण में जो उनके साथ उसका 'महासम्मर्द' (मालविकाग्निमित्र) हुआ उससे उसने उनकी बची खुची शक्ति भी नष्ट कर दी। इसी का यह परिणाम हुआ कि पश्चिमी पंजाब के यवन राजा पिछले शुंगों से भी मित्र भाव रखने लगे थे और तक्षशिला के ग्रीक राजा अन्तलिखित ने काशीपुत्र भागभद्र (जो ओद्रक अथवा भागवत था) के दरबार में हेलिओदोर नाम का अपना भागवत राजदूत भेजा जिसने विष्णु की पूजा में गरुडध्वज नामक स्तंभ खड़ा किया, जो आज भी बेसनगर में खड़ा है। पुष्यमित्र के समय में फिर एक बार चंद्रगुप्त के शासन काल की भांति शक्ति और समृद्धि लौटी। पतञ्जलि के तत्वावधान में वर्ण-धर्म एक बार फिर जमा।

शुंग भी कालान्तर में दुर्बल हो गए। उनका अन्तिम सम्राट देवभूति अतीव विलासी हुआ। 'अतिस्त्रीसंगरत' 'अनंगपरवश' देवभूति को उसके अमात्य वसुदेव ने सम्राट की दासी पुत्री द्वारा वध करा कर स्वयं शुंग-सिंहासन पर अधिकार कर लिया (देवभूतिं तु शुंगराजानं व्यसनिनं तस्यैवामात्यः कण्वो वसुदेवनामातं निहत्य स्वयमवनीं भोक्ष्यति।—विष्णु पुराण; अतिस्त्रीसंगरतमनंगपरवशं शुंगममात्यो वसुदेवो देवभूतिदासीदुहित्रा देवीव्यञ्जनया वीतजीवितमकारयत्।—हर्ष चरित)। वसुदेव काण्वायन गोत्र का ब्राह्मण था। इस वंश में चार राजा हुए, सारे दुर्बल। इसी काल शकों का आक्रमण हुआ। जिस प्रकार कभी बौद्धों ने ब्राह्मणों के विरुद्ध देमित्रियस् मिनान्दर को निमन्त्रित किया था, उसी प्रकार अब उन्हीं के विरुद्ध जैनों ने शकों को आमन्त्रित किया। उनका अग्रदूत कालकाचार्य था।

लगभग १६५-१६० ई० पू० में उत्तर-पश्चिम चीन के कान-सू प्रान्त में बसने वाली हिंग-नू नामक जाति चारागाहों में सूखा पड़ने के कारण अपने पड़ोसी यूहच्ची (ऋषीक) से जा टकराई। यूहची को पीछे हटना

पड़ा। पश्चिम हटते हुए वे सिर दारिया के उत्तर बसने वाले शकों से जा टकराए। शक अपना देश छोड़ १४०-१२० ई० पू० के बीच बाख्त्री और पार्थव राज्यों पर टूट पड़े। वहां का ग्रीक राजपरिवार शकों के आप्लावन में डूब गया। शक अब दक्षिण-पश्चिम पार्थिया की ओर मुड़े। पार्थव राजाओं के साथ अनेक हार-जीतों के बाद मज्ददात द्वितीय ने उन्हें हरा कर पूर्व की ओर भगा दिया। उनके सामने काबुल की घाटी में हिन्दवी ग्रीकों का राज्य था, इससे वे सीस्तान या शकस्तान में फैल गए। फिर कन्दहार और बलूचिस्तान होते हुए वे सिन्धु-देश में उतरे जिसे हिन्दू शकद्वीप और ग्रीक इन्डो-सीथिया कहते थे। भारत में शकों का आगमन लगभग १९० ई० पू० के हुआ। कालकाचार्य उन्हें यहां लाते या न लाते, भारत उनका अनिवार्य लक्ष्य था और परिस्थितियों के संयोग से उनको यहां आना ही था।

'कालकाचार्य-कथानक' के अनुसार कालक 'सगकुल' जाकर शकों को 'हिन्दुगदेश' (उज्जैन) लाए। शक उसके पीछे चलते हुए सिन्धुनद को पार कर 'सुरट्ठ' (सौराष्ट्र) में प्रविष्ट हुए। 'सगकुल' का एक समान अधिपति था 'साहानुसाहि'। स्वयं 'सगकुल' अनेक साहियों में विभक्त था। जब मज़्ददात शक्तिमान हो गया तब उसने अपने पूर्वज आर्लबान का शकों से बदला लेना चाहा।" उसने सात्तियों या 'सगकुल' के पास दूत द्वारा आज्ञा भेजी कि शकों के सारे सरदार यदि अपने कुल और बन्धु-बान्धवों का विनाश न चाहते हों तो आत्महत्या करलें, वरन् उन्हें युद्ध करना पड़ेगा और हारने पर वह उनका सर्वनाश कर देगा। 'सगकुल' इस पर बड़ा व्याकुल हुआ और कालक के अनुरोध से वे उज्जयिनी में आ बसे। सिन्धुनद को पार करते ही वे सुराष्ट्र (काठियावाड़) के स्वामी बन गए। अवन्ती के शक-शासन का यह प्रथम युग लगभग १०० ई० पू० और ५८ ई० पू० के बीच था। प्रायः सभी प्रमाणों से शकों द्वारा उज्जयिनी की विजय लगभग १०० ई० पू० के हुई। और ये प्रथम युगीय शक ही प्रमाणतः मालवों से मथुरा के शुंगों के उत्तराधिकारी हुए। युग-पुराण शकों की उज्जयिनी-विजय से कुछ ही बाद प्रायः प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्ध में लिखा गया था और यह शकों की इस विजय घटना का समसामयिक प्रमाण है। युगपुराण में यह शक-आक्रमण १०० ई० पू० के लगभग शुंग-शासन में ही हुआ, वैसे इसका समय कुछ बाद कण्व वंश के आरंभ में भी हो सकता है।

जिस मालव-गण ने कभी सिकन्दर की राह रोकी थी वह कुछ काल बाद पंजाब छोड़ दक्षिण की ओर चला। प्रायः १५०-१०० ई० पू० में हम मालवों को उनके नए आवास पूर्वी राजपूताना में प्रतिष्ठित पाते हैं। इसी समय शकों का भारत पर आक्रमण हुआ जिनके ९५-९६ परिवारों ने सिन्धु पार कर सुराष्ट्र, गुजरात और अवन्ती पर अधिकार कर लिया था। मालव और दक्षिण की ओर बढ़े। ५८ ई० पू० के आसपास अजमेर के पीछे से निकलकर अवन्ती की ओर चले जहाँ उन्हें विदेशी शकों से लोहा लेना पड़ा। लड़ाई जरा जम कर हुई क्योंकि एक ओर तो स्वतंत्रता प्रिय मालव थे दूसरी ओर अवन्ती के शक जो मज़्दात द्वितीय के क्रोध से भागे हुए थे। भारत से बाहर उन्हें मृत्यु का सामना था इसलिए जान पर खेल कर वे मालवों से लड़े। फिर भी हार उन्हीं की हुई। मालव विजयी हुए और उनके मुखिया के नाम पर इस विजय के स्मारक स्वरूप जो संवत् चलाया गया उसका नाम 'विक्रम' अथवा 'मालव' संवत् पड़ा। तभी से मालवों के नाम पर अवन्ती का नाम भी मालवा पड़ गया। यहाँ से निकाले जाने पर कुछ शक संभवतः मथुरा चले गए, कुछ अपनी पुरानी भूमि सिन्धु देश में शकद्वीप की ओर बढ़ गए। इनके अतिरिक्त बाहर से उनकी धाराएँ निरन्तर आती रहीं। उन्होंने देश पर गहरा प्रभाव छोड़ा, क्योंकि देश के साथ उनका सदियों तक सम्बन्ध बना रहा था और उनके बाद जिस शक्ति ने भारत पर युगों तक शासन किया वह कुषाण-जाति भी विदेशी थी। शकों ने भारत पर पाँच केन्द्रों—सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा उज्जयिनी, और महाराष्ट्र—से राज्य किया। अन्त में इनके पश्चिमी साम्राज्य को आभीरों के आक्रमण और आभीर ईश्वरदत्त की महत्वाकांक्षा ने तोड़ दिया। ये आभीर भी इसी काल बाहर से आए थे और अभारतीय थे। शकों के जिस आक्रमण ने भारत पर गहरा प्रभाव डाला और मध्यदेश को आक्रान्त कर डाला वह शक अस्लाट के नेतृत्व में हुआ

था। उसका वर्णन गार्गीसंहिता का युगपुराण इस प्रकार करता है—

"तब लोहिताक्ष अम्लाट (अम्नाट) नाम का महाबली धनुमूल (धनु के बल) से अत्यन्त शक्तिमान हो उठेगा, और पुष्प नाम धारण करेगा। रिक्त नगर (पाटलिपुत्र) को वे सर्वथा आक्रान्त कर लेंगे। वे स्वामी (शक सरदार) अर्थ लोलुप और बलवान होंगे। तब वह विदेशी (म्लेच्छ) लोहिताक्ष अम्लाट रक्तवर्ण के वस्त्र धारण कर निरीह प्रजा को क्लेश देगा। पूर्व-स्थिति को अधोगामी कर वह चतुवर्गों को नष्ट कर देगा।

"रक्ताक्ष अम्लाट भी अपने बान्धवों के साथ नाश को प्राप्त होगा।

"फिर विकुयशस नामक अब्राह्मण लोक में प्रसिद्ध होगा। उसका शासन भी दुष्ट और अनुचित होगा।

"उस सुदारुण युद्धकाल के अन्त में वसुधा शून्य हो जायगी और उसमें नारियों की संख्या अत्यन्त बढ़ जायगी। करों में हल धारण कर स्त्रियाँ कृषि कार्य करेंगी और पुरुषों के अभाव में नारियाँ ही रणक्षेत्र में धनुर्धारण करेंगी। उस समय दस-दस बीस-बीस-नारियां एक-एक नर को बरेंगी। सभी पर्वों और उत्सवों में चारों ओर पुरुषों की संख्या अत्यन्त क्षीण होगी, सर्वत्र स्त्रियों के ही, झुण्ड दीखेंगे, यह निश्चित है। नारियाँ पुरुष को जहाँ-तहाँ देखकर 'आश्चर्य!' 'आश्चर्य!' कहेंगी। ग्रामों और नगरों में सारे व्यवहार नारियाँ ही करेंगी। पुरुष (बचे-खुचे लाचारी से) सन्तोष धारण करेंगे और गृहस्थ प्रव्रजित होंगे।

"फिर असंख्य विक्रान्त शक प्रजा को आचार भ्रष्ट हो कर अधर्म करने पर बाध्य करेंगे। ऐसा सुना जाता है। जन-संख्या का चतुर्थ भाग शक तलवार के घाट उतार देंगे और उनका चतुर्थांश (धन) संख्या अपनी राजधानी को ले जायँगे।

"आर्य धर्मी और अनार्य दोनों नराधम हो जायँगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इस युगान्त में एक आचार और एक वेश के हो जायँगे इसमें संशय नहीं। मित्रता नारी के लिए होगी और नर पाखण्ड-युक्त हो जायँगे। नीच भिक्षुक संसार में चीर और वल्कल और जटावल्कल धारण करेंगे।"

इस उद्धरण पर टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। यह स्वयं सिद्ध है। स्पष्ट है कि इस आक्रमण ने वर्ण धर्म को जर्जर कर दिया और राजनीतिक तथा सामाजिक विक्रिया कुछ काल तक चलती रही, परन्तु निरन्तर की चोट ने हिन्दू समाज को कुछ कम उदार न किया। धीरे-धीरे उसकी धारणा शक्ति बढ़ती गई और उसने ग्रीकों की ही भाँति शकों को भी आत्मसात कर लिया। अनेक शकों ने रुद्रदामन और उषवदात (ऋषभदत्त) की भाँति अपने हिन्दू नाम रखे और हिन्दू देवी-देवताओं के उपासक बने! रुद्रदामन ने तो १५० ईस्वी के लगभग जो गिरनार पर्वत पर अपना संस्कृत में अभिलेख लिखवाया, उसने उस भाषा में पहली गद्य-शैली निर्मित की। चौथी शती के अन्त में शकों का सर्वनाश कर चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने माल्वा, गुजरात और काठियावाड़ पर अधिकार किया और अपना 'शकारि' विरुद धारण किया।

९

शकों के बाद भारत पर कुषाणों का हमला हुआ। कुषाण उसी युह-ची जाति का एक क़बीला थे जिन्हें हूणों ने चीन के पश्चिमी भाग से भगा दिया था और जिनसे टकरा कर शकों ने मध्य-दक्षिणी एशिया में कुहराम मचा दिया था। ये कालन्तर में यारकन्द की घाटी में बसे थे और भारतीय इन्हें ऋषीक कहते थे। धीरे धीरे हिन्दूकुश पार कर स्वात और सिन्धु की घाटियों में ये गंधार में आ बसे। यहाँ इन ऋषिकों के सरदार ने उनके पाँचों कबीलों को एक कर अपने अथवा अपने कबीले के नाम पर उन्हें कुषाण कहा। तब से उनकी संज्ञा कुषाण हुई। इनका पहला राजा कुषाण कफ्स (कडफाइसिस) था। उसने अफगानिस्तान, काफ़िरिस्तान, गान्धार जीतकर अपने पूर्व शासित बलख, कम्बोज आदि में मिला लिया। कफ्स बौद्ध था परन्तु उसका पुत्र विम कफ्स शैव था। उसने भारतीय प्रदेशों पर पहला हमला किया और शीघ्र सारा पंजाब, सिन्ध और मथुरा जीत लिए। उसकी राजधानी तो वक्षुनद की घाटी में बदख्शाँ में थी, परन्तु उसके राज्य की सीमाएँ पश्चिम में पार्थव साम्राज्य, पूर्व में चीन साम्राज्य और दक्षिण में (मथुरा के दक्षिण) सातवाहन साम्राज्य को छूने लगीं।

विम कफ्स के बाद कनिष्क इस वंश में नृपति हुआ जिसने अपने पूर्व पुरुषों की विजयों को बढ़ाया। चीन

से उसने खुत्तन, यारकन्द आदि जीत लिया; पार्थव आक्रमण को असफल किया। पश्चिमी संयुक्त प्रान्त तथा बिहार जीता और बौद्ध भिक्षु, दार्शनिक और कवि अश्वघोष को बलपूर्वक कश्मीर ले आया। कश्मीर की सुन्दर घाटी उसने पहले ही जीत ली थी। जहाँ तक इतिहास को ज्ञात है उसकी विजयों के विरुद्ध भी देश में विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई। उसकी मुद्राओं पर अनेक धर्मों के देवता उत्कीर्ण हैं। परन्तु विशेष झुकाव उसका बौद्ध धर्म की ओर था और उसके प्रचार और सेवा में काफ़ी परिश्रम भी किया। उसने पार्श्व की सलाह से श्रीनगर में चौथी बौद्ध संगीति भी बुलाई, जिसकी कार्यवाही दार्शनिक वसुमित्र की अध्यक्षता में और उसकी अनुपस्थिति में अश्वघोष की अध्यक्षता में हुई। उसीकी संरक्षता में महायान संप्रदाय की भी उत्पत्ति हुई और बुद्ध की प्रथम प्रतिमा बनी। भारतीय भास्कर्य की एक विशिष्ट शैली का नाम कालान्तर में कुषाण-शैली ही पड़ गया। कनिष्क के पश्चात्य-कालीन उत्तराधिकारी तो पूर्णतः हिन्दू हो गए और वासुदेव आदि नाम रखने लगे, शिव की उपासना करने लगे।

कुछ दिनों में कुषाण ब्राह्मण वाकाटकों और क्षत्रिय नागों की सम्मिलित चोट से नष्ट हो गए और उनका शासन केवल काबुल की घाटी में रह गया। समुद्रगुप्त ने जिनको अपने प्रयाग स्तंभ वाले लेख में शाहिशहिनु-शाही शकमुरुण्डै कहा है वास्तव में वे शक-कुषाण दोनों ही थे। अल्बेरूनी ने इनके साठ राजाओं का ज़िक्र किया है। काल के अन्तर से ये लोग शुद्ध भारतीय माने जाने लगे थे और क्षत्रिय तथा ब्राह्मण भी बन बैठे। भारतीय समाज ने उनको इस नए कलेवर में स्वीकार भी किया। ये ब्राह्मण-क्षत्रिय 'साही' एक लम्बे काल तक भारत के प्रहरी रहे और बाहर के आक्रमणों को ग्यारहवीं सदी तक रोकते रहे। भारत की ही रक्षा में उनके कुल का क्षय हुआ।

१०

गुप्त साम्राज्य जिस समय अपने उत्कर्ष के पथ पर था तभी एक बर्बर जाति ने भारत पर आक्रमण किया। वह जाति हूण थी। हूण हुइंग-नू नाम से चीन के उत्तर पश्चिमी प्रान्त कान-सू में रहते हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि अनावृष्टि से अकाल पड़ने के पश्चात् उनको अपना देश छोड़ पश्चिम की ओर बढ़ना पड़ा। उनके संक्रमण से अनेक जातियाँ चल पड़ीं और परस्पर कुछ जमाने तक टकरातीं और साम्राज्यों की जड़ें हिलातीं रहीं। हूणों का संक्रमण आंधी की तरह था। इनके आक्रमण से कितनी ही सभ्यताएँ मिट गईं. कितने ही साम्राज्य उखड़ गए। अपने सरदार अत्तिल के नेतृत्व में उन्होंने पूर्वी यूरोप को जलाकर खाक कर दिया। रोमन साम्राज्य की उन्होंने रीढ़ तोड़ दी। वे जहाँ-जहाँ गए गाँव नगर जलाते गए, उनके निवासियों को तलवार के घाट उतारते गए। जली बस्तियाँ उनके मार्ग का पता बताती थीं।

लगभग ४५५ ई० के उन्होंने भारत पर भी अपनी कुदृष्टि फेरी, परन्तु तब गुप्त साम्राज्य के एक वीर सकंदगुप्त ने उनकी बाढ़ रोक दी। भीतरी के स्तंभ लेख से स्पष्ट है कि उसके हूणों से टकरा जाने से धरा हिल गई, भुजाओं ने आवर्त बना दिया—"हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।" परन्तु स्कन्दगुप्त उन्हें कुछ ही काल तक रोक सका। संभवतः उनसे लड़ते ही लड़ते उस नरपुंगव की जान भी गई। परन्तु हूणों की लहर पर लहर आती रही और कला-विलास से जर्जर न तो समाज ही उनको रोक सका न साम्राज्य की शक्ति ही। गुप्त साम्राज्य उन की ठोकरों से शीघ्र टूक-टूक हो गया। उसके प्रान्त-प्रान्त बिखर गए। हूणों ने देखते-देखते पश्चिमी भारत पर अधिकार कर लिया। एकबार मालवा के यशोधर्मन विक्रमादित्य और एक बार मगध के बालादित्य ने उन्हें हराया। उसके पहले तोरमाण ने मालवा पर अधिकार कर लिया था। उसके पुत्र मिहिरगुल को ऊपर लिखे दोनों राजाओं ने मार भगाया तो वह काश्मीर भागा और वहाँ शरणागत हुआ फिर प्रवंचना से वहाँ के राजा को मार कर काश्मीर की गद्दी पर जा बैठा। वह अपने क्रूर कृत्यों के लिए विख्यात था। उसके बाद हूणों का विशेष दबदबा तो न रहा परन्तु निस्सन्देह उनके छोटे मोटे राजा मालवा आदि में दीर्घ काल तक राज करते रहे। हूणों की साधारण जनता भारतीय आबादी में खो गई और उससे राजपूतों के अनेक कुल प्रसूत हुए। इसी प्रकार गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद अनेक

...तियाँ आईं और यहाँ की आबादी और समाज में ...ो गईं। गूजरों ने गुजरात को अपना नाम दिया। ...र्जर-प्रतिहारों का प्रसिद्ध सम्राट कुल उन्हीं का था। ...नेक अग्निकुलीय राजपूत कुल वास्तव में ...विदेशी थे, परन्तु भारतीयकरण के कारण क्षत्रिय ...मान लिए गए। उस काल की आई जातियां ...। अनेक ऐसी थीं जो आज भी पूर्णतया हिन्दू ...समाज में घुल न सकीं। उनके शरीर की बनावट ...आदि साधारण जनता से उन्हें पृथक् कर देती हैं। जाट, ...गूजर, अहीर आदि उन्हीं में से कुछ हैं। इनमें से ...अहीर तो शकों के साथ-साथ ही आए थे और उन्होंने ...एक बड़ा साम्राज्य भी खड़ा कर लिया था। ईश्वरदत्त ...इनके सम्राटों में विशेष प्रसिद्ध हुआ। इनके बाद छोटे-...मोटे हमले आते ही रहे।

११

हर्ष के शासनकाल में ही मुहम्मद ने अरब में इस्लाम धर्म की नींव डाली। ६३२ ई० में उनकी मृत्यु हुई। और उस मृत्यु से लगभग ८० वर्षों के भीतर भीतर मुसलमानों ने पूर्व में सिन्धु नद से पश्चिम में अतलान्तक सागर तक के विस्तृत देश जीत लिए। मुहम्मद की मृत्यु के पाँचवें ही वर्ष में अरबों ने यज्द-...गुर्द को परास्तकर ईरानी साम्राज्य पर कब्जा कर लिया। अगले १५ बरसों में उन्होंने रोमनों से शाम, फ़िलस्तीन और मिस्र ले लिए।

खलीफ़ा उमर के समय में भारत के पश्चिमी तट पर अरबों के पहले हमले हुए। कोंकड़ से थाना ज़िले पर जो अरब हमला हुआ उसमें अरबों ने पुलकेशिन् के हाथों मुँह को खाई। ६४४ ई० में अरबों ने श्रीहर्ष ...राय से मकरान जीत कर उसे मार डाला। उसके पुत्र ...के भी मारे जाने पर वह सिन्ध का राज्य उस कुल के ब्राह्मण मंत्री चच के हाथ आया। राजा दाहिर को दण्ड देने के लिए मुहम्मद-इब्न-क़ासिम ने सिन्ध पर चढ़ाई की। देवल पर उसका क़ब्ज़ा होते ही दाहिर पूरब की ओर हट गया। दाहिर के भाई ने उस प्रदेश में मुहम्मद का खूब मुक़ाबला किया; परन्तु मुसलमान अन्त में विजयी हुए। प्रजा की एक बड़ी संख्या बौद्ध थी और उसने इस विपत्ति से लड़ने की कोई चेष्टा न की।

लगभग दसवीं सदी के मध्य अलप्तगीन नामक तुर्क ने जो कभी बुखारा के अमीर के यहाँ प्रतिहार रह चुका था, गज़नी में एक छोटी सी जागीर की नींव डाली। उसके दामाद सुबुक्तगीन ने ९८६ ई० के लगभग भारत की ओर निगाह फेरी और उसने भारतीय साही राजा जयपाल के कई किले छीन लिए। उसने जयपाल के ऊपर कई हमले किए। उनसे तंग आकर जयपाल ने भी उसके राज्य पर हमला करने की ठानी। परन्तु पहले ही हमले में वह हार कर पकड़ा गया और उसे दयनीय सन्धि करनी पड़ी। घर लौट कर जयपाल ने शर्तें भुला दीं। इस पर सुबुक्तगीन ने फिर उसके राज्य पर चढ़ाई की। जयपाल ने कन्नौज के राज्य-पाल और जेजाकभुक्ति के धंगा की सहायता से उसका सामना किया पर वह फिर हारा और लमग़ान पर सुबुक्तगीन ने अधिकार कर लिया।

सुबुक्तगीन के बेटे महमूद ने ११०१ और १०२९ ई० के बीच प्रायः प्रत्येक वर्ष भारत के नगरों पर आक्रमण कर नगरों को लूटा और हिन्दू मन्दिरों को तोड़ उनके धन-धान्य उठा ले गया। ११०१ ई० में उसका पहला हमला हुआ। जयपाल, उसका बेटा आनन्दपाल और उसके सारे सरदार कैद हो गए और पेशावर तथा ओहिन्द पर महमूद का क़ब्जा हो गया। जयपाल अग्नि में जल मरा। आनन्दपाल ने नमक की पहाड़ियों में भेरा को राजधानी बना कर लड़ाई जारी रखी। १००९ ई० की चढ़ाई को रोकने के लिए आनन्दपाल ने अनेक भारतीय राजाओं की सहायता से एक बड़ी सेना तैयार की; परन्तु वह फिर हारा। इस हार का कारण उसका हाथी था। चोट लगने से वह भागा और सेना ने राजा को भागते समझ मैदान छोड़ दिया। १०१८ में महमूद ने मथुरा और कन्नौज को लूटा। उसकी अन्तिम प्रसिद्ध चढ़ाई १०२३-२४ में सोमनाथ के प्रसिद्ध शिव-मंदिर पर हुई। उसके पहुंचते ही अन्हिलवाड़ का राजा भीम सोलंकी भाग कर कच्छ चला गया। मन्दिर में पुजारियों तक की संख्या सम्भवतः महमूद की सेना से अधिक थी; परन्तु देश की कायरता ने उसे अनायास जिता दिया। और वह अनन्त धनराशि गज़नी ले गया।

१२

११९१ में भारत के सीमान्त की ओर उस मुस्लिम विजेता ने रुख किया जिसने गज़नी का राज्य महमूद के उत्तराधिकारियों से छीन लिया था। एक बड़ी सेना लेकर वह हिन्दुस्तान में घुसा। दिल्ली और अजमेर का चौहान राजा पृथ्वीराज तृतीय, मुसलमान इतिहासकारों का राय पिथौरा जुझौतीमें अपना समय और शक्ति नष्ट कर रहा था। शिहाबुद्दीन ग़ोरी ने जब सरहिन्द ले लिया तब पृथ्वीराज उससे लोहा लेने आगे बढ़ा। पानीपत के पास तरखड़ीके मैदान में लोहे से लोहा बजा और चौहान रिसालों ने पठानों के पैर उखाड़ दिए। शिहाबुद्दीन भी घायल हो कर भागा। मैदान पृथ्वीराज के हाथ रहा।

शिहाबुद्दीन अपनी पराजय भूल न सका। वैसे भी वह घर बैठा नहीं रह सकता था क्योंकि उसे हिन्दुस्तान जीतना था। अगले साल एक विशाल सेना लेकर वह लौटा। उसी तरावड़ी के मैदान में फिर घमासान हुई। शिहाबुद्दीन की सेना सधे तरीके से पीछे हटी। राजपूतों ने समझा मुसलमान भाग रहे हैं। अपनी कतारें छोड़ बे तरतीब उन्होंने उनका पीछा किया। मुसलमान लौटे और जम कर लड़ने लगे। हिन्दुओं की सेना बिखर गई थी भाग चली, स्वयं पृथ्वीराज हाथी से घोड़े पर चढ़ कर भागा। मुसलमानों ने उसका पीछा किया और सरस्वती के किनारे उसे पकड़ कर मार डाला। शिहा-बुद्दीन ने दिल्ली पर कुब्ज़ा कर लिया।

११९४ ई० में शिहाबुद्दीन फिर लौटा और अब कन्नौज के विरुद्ध चला। कन्नौज तब भारत की राजधानी समझा जाता था। पाटलिपुत्र की लक्ष्मी वहाँ अधिष्ठित थी जिससे कन्नौज की शान 'महोदय श्री' कहलाती थी; जिसे जीतने के लिए विजेता सदा तत्पर रहते थे। कन्नौज भारत की राजधानी के पद पर प्रतिष्ठित था। उसे बचाने के लिये वृद्ध जयचन्द्र अपनी सेना लेकर चन्दावर के मैदान में उतरा और वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया। इतिहास के व्यंग ने भगोड़े पृथ्वीराज को वीर और देशभक्त कहा और सम्मुख समर में प्राण देने वाले जयचन्द को कायर और देशद्रोही!

११९७ ई० में शिहाबुद्दीन ग़ोरी के एक सेनापति मुहम्मद बिन बख़्त्यार ने थोड़े से सैनिक लेकर बिहार बंगाल पर चढ़ाई की। किसी गाँव में उसका अन्त किया जा सकता था, परन्तु वह बेदाग़ निकल गया और उस छोटीसी सेनासे न केवल उसने बिहार और बंगाल विजय की वरन् उद्दण्डपुर के हज़ारों भिक्षुओं को तलवार के घाट उतार दिए। इतिहास में भारतीय क़ायरता और मुस्लिम साहस का यह अपना उदाहरण आप है। इस हमले और कुतबुद्दीन ऐबक के प्रयत्न से सारे हिन्दुस्तान पर मुसल्मानों का क़ब्जा हो गया।

१२२१ में अब उत्तर भारत पर दास-कुलीय इल्तमश का राज था। मंगोल मध्य एशिया में खून की होली खेल रहे थे। उनके सरदार चिंगेज़ खाँ ने वहाँ से पुराने साम्राज्य उखाड़ कर अपना विशाल साम्राज्य खड़ा किया था। मंगोलों के हमलों से हिन्दुस्तान सहमा सहमा रहता था। उस साल भारत पर एक नई विपत्ति आई। अपने प्रतिद्वन्दी जलालुद्दीन का पीछा करता हुआ चिंगेज़ भारत पहुँचा। परन्तु शीघ्र वह उसकी खोज कर लौट गया। हिन्दुस्तान की बला टली। गनीमत थी कि हिन्दुस्तान जीतने नहीं आया था। फिर भी उसके आने और लौटने के रास्ते खून के नाले और जले हुए गाँव बताते थे।

चौदहवीं सदी के अन्त में मध्य एशिया में एक और आँधी उठी थी, जिसकी मार से सल्तनतें चूर चूर हो गई थीं। समरकन्द के चगताई वंश के तैमूर-लंग ने वोल्गा से यारकन्द तक फैला हुआ एक साम्राज्य स्थापित किया था। उसने तुगलक वंश के अन्त्य दिनों में १३९८ ई० में भारत की ओर नज़र फेरी। जब वह भारत की ओर बढ़ा तो यहां सर्वत्र आतंक छा गया। गाँव के गाँव शहर के शहर उसकी सेना के आगे केवल भय से भागते चले, यदि यह जन समूह केवल रुककर उसकी सेना पर गिर गया होता तो वह पिस गई होती, पर कायरता ने भारतीयों के दिलों में इस कदर घरकर लिया था कि तैमूर लूटता हुआ बढ़ा और भारतीय दिल्ली की ओर भागे। सुल्तान दिल्ली किले से तैमूर के मुकाबले के लिए निकला। तैमूर ने लड़ाई शुरु होने के पहले जो अपनी सेना की स्थिति देखी तो मालूम हुआ कि उसका एक बड़ा भाग केवल भारतीय क़ैदियों की निगरानी में व्यस्त है। झट उसने कैदियों का वध करने की आज्ञा

दी। एक लाख कैदी वध कर दिए गए। संसार के इतिहास में यह भी एक अद्वितीय घटना थी। एक लाख सैनिक तैमूर के साथ न थे। ये एक लाख कैदी उस काल में संसार विजय कर सकते थे पर उन्होंने चुपके से बिना ज़बान हिलाए अपना मस्तक बढ़ा दिया और वध हो जाने दिया। तैमूर सुल्तान को जीत दिल्ली लूटता मेरठ और हरद्वार पहुँचा। रास्ते में गांव जलाता, जनता को तलवार के घाट उतारता कांगड़ा के रास्ते जम्मू होता शिवालिक के पहाड़ों में खो गया।

१३

मुसल्मान हमलों में मुगलों का हमला बड़े महत्व का था, क्योंकि उसने उस सल्तनत की नीव डाली जिसने भारत में जमकर राज किया। जिसमें बाबर, अकबर, शाहजहां और औरंगजेब हुए। बाबर मां की ओर से चिंगेज खां और बाप की ओर से तैमूर का वंशज था। ग्यारह साल की उम्र में वह फ़रगना की गद्दी पर बैठा। पर उसे शीघ्र गद्दी छोड़ भागना पड़ा। अनेक बार उसने वह देश जीता अनेक बार उसे छोड़ वह भागा। विपत्ति उसकी सहचरी बनी और उसने उसमें साहस और अध्यवसाय भरा। बाबर अन्त में हार कर मध्य एशिया के स्वप्न भुला दक्षिण की ओर मुड़ा। काबुल जीतकर उसने अपनी सल्तनत के पाए वहां खड़े किए और वहां से उसने हिन्दुस्तान जीतने के मंसूबे बाँधे।

हिन्दुस्तान तब लोदी वंशीय अफ़गान के हाथ में था जिससे उसके प्रायः सारे सरदार नाराज़ थे। मेवाड़ के राणा सांगा पर उसने दो दो चढ़ाइयां कीं। दोनों बार उसे धूल चाटनी पड़ी और एक बड़ा भाग खोकर वह दिल्ली लौटा था। सांगा प्रायः बाबर की आयु का ही था, उत्कट लड़ाका। गुजरात और मालवा तक उसका आतंक छाया रहता था। अब इब्राहिम लोदी को हराकर उसने और भी प्रान्त हथिया लिये। पर उसने बढ़कर दिल्ली पर कब्ज़ा क्यों न कर लिया? इसके बजाय उसने बाबर के पास आक्रमण के निमंत्रण के लिए अपने दूत भेजे! पजाब का दौल्तखां लोदी लाहौर में विद्रोही हो गया था, इब्राहिम का चाचा अलाउद्दीन बाबर से जा मिला था। इससे बढ़कर बाबर से व्यक्ति को संयोग क्या मिल सकता था, जब भारत के पेशवा और समर्थ लड़ाके उसे अपना देश जीतने को आमंत्रित कर रहे थे। उधर पूरब में लोहानी अफ़गानों ने दिल्ली से किनारा कर अपने स्वतंत्र साम्राज्य के स्वप्न देख रहे थे।

लाहौर और दीपलपुर लेता बाबर आगे बढ़ा। दिल्ली के पास पानीपत के मैदान में १५२६ ई० में इब्राहिम ने एक लम्बी सेना के साथ उसका मुकाबला किया। उसके पास कुल बारह हज़ार सेना थी। सांगा अपने घर से तमाशा देख रहा था, लोहानी चुप थे, दौल्त खाँ आक्रमक से मिल गया। बाबर के पास ७०० तोपें थीं। भारतीय सैनिकों ने न कभी तोप देखेथे न बन्दूकें; और उनकी मार के सामने वे दम भर न टिक सके। हाथी तोपों की मार के सामने अपनी सेना को कुचलते हुए भाग निकले। बाबर ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया।

उसका जमुना पार बढ़ना रणबाँकुरे राजपूतों और सांगा से लोहा लेना था। आगरे के पीछे बयाना और धौलपुर तक साँगा का राज्य था। साँगा बाबर का भीषण प्रतिद्वन्द्वी था। उसकी एक आँख एक बाँह तो पहले ही जाती रही थी। वास्तव में हिन्दुस्तान की लड़ाई इब्राहिम और बाबर के बीच नहीं साँगा और बाबर के बीच थी। बाबर ने बढ़कर बयाना पर कब्जा कर लिया। साँगा ने तिरछे हमले से उसे वहां से निकाल बाहर किया। साँगा की शक्ति और राजपूतों की विकट मार की खबर पहले ही बाबर के सैनिकों को मिल गई थी और उनपर उनका आतंक छा गया था। एक मुगल सरदार बयाने की ओर बढ़ते हुये जो साँगा की राह रोकने गया, तो राजपूतों ने उसे इस तरह पीछे फेंका कि वह मुगलों के पड़ाव से आ टकराया। सर्वत्र राजपूतों का त्रास जम गया। बाबर ने स्वयं भयभीत होकर सीकरी में पड़ाव डाला, वहां खाइयां खुदवाई और अपनी ७०० फिरंगी तोपों को चमड़े के फीतों से बँधवा दिया, जिसमें राजपूतों के हमलों से वे तितर-बितर न हो जाय। उसमानी तुर्कों ने इस विधि का सफल प्रयोग ईरानियों के विरुद्ध किया था और पहले पहल यह तरीका बोहेमिया के लोगों ने जर्मन रिसालों का वेग रोकने के लिए अमल में लाया था। यूरोपी फिरंगी तरीके राजपूतों की राह में रोड़े अटकाने आए। पर उनके रिसालों की ठोंकरों से तितर-बितर हो गए।

बाबर ने बड़ी सूझ, धैर्य और हिम्मत से काम लिया। राजपूतों ने भयंकर हमला किया। पठानों और मुगलों की कुमक बिचल गई। तोपों से भयंकर आग बरस रही थी, परन्तु राजपूतों का वेग उनसे अधिक था। सीधे उनके मुँह में राजपूत घुड़सवार खो जाते, उनकी दगती बाढ़ों में उनकी कतारें चमकतीं और क्षण भर बाद सवार और घोड़े आस्मान में उड़ते हुए नज़र आते। जान पड़ा जैसे वे दगती तोपों पर भी कब्ज़ा कर लेंगे। पर सहसा सांगा के मस्तक में एक तीर लगा और उसने गहरा घाव कर दिया। अस्सी घावों वाला सांगा मूर्छित हो गया। उसके अनुचर उसे युद्ध क्षेत्र से बाहर ले गए। झाला अज्जा ने उसका स्थान लिया। भयंकर मार होती रही, लोहा से लोहा बजता रहा। एकाएक पीछे से चक्कर मार बाबर की रक्षित सेना ने राजपूतों की चन्दावल पर हमला किया। जब तक राजपूत चन्दावल सम्हालें सामने की मुग़ल फ़ौज़ ने उनकी हरावल तोड़ दी। इस युद्ध नीति को पश्चिमी एशिया में तुलुग़मा कहते थे। शैबानी की इसी चाल से जरपशॉं की लड़ाई में बाबर ने समरकन्द का मुकुट खोया था, इसी चाल से खानवा की लड़ाई में उसने हिन्दुस्तान का ताज ज़ीता।

१४

अठारहवीं सद्दी के मध्य और तीसरे चरण में दो और हमले हुए जिनसे भारत की काफ़ी क्षति हुई। जब मुगलों का वैभव निम्नगामी हो चला था, उनकी शक्ति दुर्बल हो चली, तभी नादिरशाह ने ईरान से भारत की ओर प्रस्थान किया। आफ़गानिस्तान जीत उसने भारत पर हमला किया और करनाल के पास शाही सेना को बुरी तरह परास्त किया। ईरानी तोपन्दाज़ी का कार्य बड़ी सुगमता से करते थे। भारतीय उनके सामने ठहर न सके। नादिरशाह ने शर्त के साथ दिल्ली में प्रवेश किया। पहले तो वह चुप रहा परन्तु ग़ल्ले की दर के संबन्ध में उसके सिपाहियों और दिल्लीवालों से जो झगड़ा हुआ उससे चिढ़कर उसने कत्लेआम का हुक्म दे दिया। १७३९ ई० के इस कत्लेआम का मुक़ाबला न तो १२२१ ई० का चिंगेज़ खां का हमला कर सकता था और न १३९८ ई० का तैमूर का। नौ बजे सुबह से दो बजे तीसरे पहर तक यह क़त्लेआम चलता रहा, दिल्ली में ख़ून के नाले बहते रहे। मुहम्मदशाह की प्रार्थना पर फिर यह हत्याकांड रुका। नादिरशाह लगभग पचास करोड़ रुपये, तख्त-ताऊस और कोहनूर लेकर स्वदेश लौटा। देश लहू-लुहान हो गया। मरहठे और राजपूत देखते और आपस में लड़ते रहे।

१७६१ ई० में पानीपत की तीसरी लड़ाई हुई। मरहठों ने धीरे धीरे दिल्ली के दरबार पर अपना प्रभाव जमा लिया था। अज़ीज़ुद्दौला को गद्दी पर बैठाना उन्हीं का काम था। नादिरशाह को मारकर अफ़गानिस्तान की जनता ने उसके सेनापति अहमदशाह अब्दाली को बैठा दिया था। उसने आरम्भ में भारत पर छोटे मोटे अनेक हमले किए और पंजाब में अपना सूबेदार नियुक्त कर वह स्वदेश लौट गया। उसके जाते ही मरहठों ने लाहौर पर हमला कर उस पर अधिकार कर लिया! इससे नाराज़ होकर उनको दंड देने की गरज़ से अब्दाली लौटा। मरहठों ने भी एक सेना तैयार की। गायकवाड़, सिन्धिया और होलकर शामिल थे। भरतपुर का जाट राजा सूरजमल भी उनसे आ मिला। राजपूतों ने भी कुछ मदद भेजी। सदाशिवराव सेना का संचालक बना और पेशवा का पुत्र विश्वासराव उसका सहायक। परन्तु इस सेना के विविध अंगों में मेल न था। पानीपत के मैदान में अब्दाली आ डटा था, परन्तु उस पर शीघ्र हमला न हो सका। ऐन मौके पर इस संबन्ध में कथोपकथन होने लगा कि युद्ध प्राचीन अथवा अर्वाचीन किस विधि से हो। सूरजमल ने पुरानी पद्धति का समर्थन किया जिसे होल्कर ने सराहा। सदाशिवराव जिसने इब्राहिम गर्दी की तोपों की मार उदयगिर के मैदान में देखी थी खुल्लमखुल्ला युद्ध के पक्ष में था। इब्राहिम ने उसे डरा भी दिया था कि यदि उसकी राय न मानी गई तो वह अब्दाली से जा मिलेगा। खैर, हमला हुआ और पहली मार में मरहठों की विजय भी हुई पर सदाशिवराव काम आया और इब्राहिम घायल हुआ। सिन्धिया घायल होकर भागा और होल्कर ने भी सूरजमल के साथ भारत की राहली। यह खबर पाकर स्वयं पेशवा उत्तर

की ओर बढ़ा पर नर्मदा के पास उसे एक पत्र मिला जिसका भाव इस प्रकार था—दो मोती नष्ट हो गए, सत्ताइस सोने की मोहरें खो गईं, चाँदी-ताँबे की कोई गिनती नहीं। पेशवा को इससे इतनी चोट पहुँची कि उसका निधन ही हो गया। उसकी मृत्यु और मरहठों की हार ने महाराष्ट्र को भयंकर विपद में डाल दिया। इस युद्ध का यह परिणाम तो होना ही था। ऐन मौके पर जहाँ सक्रियता और एकता की आवश्यकता थी, निष्क्रियता और वाग्मिता ने उनका स्थान ले लिया। आपसी वैमनस्य, मन्त्रणा की अनेकता और व्यक्तिगत महत्वाकाँक्षा ने विजय पराजय में परिवर्तित कर दी; वरना भारत फिर एक बार शक्ति और स्वतंत्रता के समीप पहुँच गया था। चारों ओर मराठों का उत्कर्ष हो रहा था। अपने अपने केन्द्रों में राजपूत आदि भी प्रबल थे और मुसल्मानों का सूर्य डूब रहा था परन्तु परस्पर की फूट ने पासे पलट दिए।

भारत पर अन्तिम अधिकार अंग्रेज़ों का हुआ। यूरोपीय जातियों का भारत पर अधिकार वस्तुतः आक्रमण से नहीं कूटनीति से हुआ। यथार्थतः उनकी दो ही लडाइयाँ—प्लासी और बक्सर की—अपेक्षाकृत महत्व की थीं। उनके खेल राजनीतिक दाँव-पेच और अवसरवादिता के थे। प्रायः सोलहवीं सदी में ही यूरोपीय भारत में आने लगे थे, विशेष कर व्यापारी के रूप में पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी, अंग्रेज़ आते रहे और व्यापार के निमित्त वे अपने केन्द्र और कोठियाँ स्थापित करते रहे। भारतीय दरबारों में बहुत समय उनकी परस्पर स्पर्धा चलती रही जो मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद बेहद बढ़ गई। उनका काम मौका देखकर देशी रियासतों को एक दूसरे के विरुद्ध भड़काना और लड़ाना हो गया। जब उनमें वैमनस्य बढ़ जाता तो ये उनके यहाँ सैन्य-शिक्षण, तोपन्दाज़ी आदि का काम करने लगे। जब उनकी शक्ति हो गई तो ये प्रबल हो गए और इनकी आपसी कशमकश ज़ोर पकड़ती गई और अन्त में उसने खुले युद्ध का रूप धारण किया और देश तो भारतीय क्षेत्र से अलग हो गए परन्तु फ्रांसीसी और अंग्रेज़ कुछ काल तक संघर्ष करते रहे। अन्त में अंग्रेज़ सफल हुए। और उन्होंने फ्रांसीसियों को निकाल कर अपना असली रूप धारण किया। पहले तो वे देशी रियासतों के संरक्षक बने फिर उन्हें हड़प गए। इसके उत्तर में १८५७ ई० में सिपाही विद्रोह हुआ, परन्तु योग्य सेनापति के अभाव, संगठन की कमी, गुरखों और सिक्खों के देशद्रोह और विद्रोह देशव्यापी न होने के कारण यह विप्लव असफल रहा। फलस्वरूप अंग्रेज़ पार्ल्यामिण्ट ने लार्ड केनिंग के शासन काल में भारत का इन्तजाम अपने हाथ में ले लिया। अंग्रेज पहले सौदागर होकर आए, फिर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की हैसियत से देश के शासक हुए, फिर शोषक स्वामी। प्रायः पौने दो सौ वर्षों तक भारत वसुन्धरा को भोगकर, उसकी जनता को कंगाल बना और उसमें फूट के बीज बोकर उन्होंने उससे हाथ खींचा यद्यपि उनके उपकार भी निस्सन्देह स्वीकार करने पड़ेंगे। आधुनिक शिक्षा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण; राष्ट्रीयता की भावना आदि उनकी देन हैं, जिनसे हम सर्वथा इनकार नहीं कर सकते।

× × ×

हमले क्यों होते हैं? भारत पर हमले क्यों हुए? और हमलों में भारत हारा क्यों? ये प्रश्न स्वाभाविक हैं। यद्यपि इनके उत्तर इतने आसान नहीं। नीचे उन प्रश्नों पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

हमले क्यों होते हैं? यह प्रश्न केवल अतीत का नहीं है। और इसका उत्तर कम से कम अतीत और वर्तमान दोनों से संबंध रखता है। हमले होते हैं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, यशोविस्तार के लिए, शोषण के लिए। अतीत के हमले आर्थिक कारणों से, यशोविस्तार के लिए, धर्म प्रचार आदि के अर्थ हुए। जातियों के संक्रमण प्राचीन काल में अधिकतर जीवन के साधनों के अभाव के कारण हुए। पशुचारण के लिए, चारागाहों की कमी, आहार के अभाव, कृषि की असुविधाओं के कारण जन समूह या उनके कबीले एक स्थान से दूसरे स्थान घूमते फिरे। आर्य इसी कारण यूरोप के पूर्वी भाग के अपने आवास को छोड़ ईरान, भारत, इटली और ग्रीस आदि देशों को चले गए। कान-सू प्रान्त में अकाल पड़ने से हुइंग-नू (हूण) चीन से पश्चिम को इसी कारण चल पड़े थे। कई बार किसी शक्तिशाली जाति के स्थान परिवर्तन से भी और जातियों के आवास और निष्क्रमण पर प्रभाव पड़ता है। हूणों के अपने स्थान-परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि

युह-ची अपने स्थान से हिल गए। युह-चियों के हिलने से शकों में संक्रमण हुआ और इस कारण बाखत्री का राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया। आर्थिक कारण आधार और बीज रूप में प्रायः सारे संक्रमणों के मूल में है।

भारत के ऊपर भी हमले इन्हीं कारणों से हुए। यहां से बाहर जाने वालों की संख्या नहीं के बराबर है। युद्ध से जर्जर केवल एक कबीले का भारत से बाहर जाने का स्पष्ट प्रमाण है वरना इस बात का एक भी उदाहरण नहीं जब भारत से कोई जाति बाहर गई हो। इसका एक मात्र कारण यह है कि भारत सदा उर्वर भूमि रहा है और कृषि के साधन जितने यहां सरलता से उपलब्ध रहे हैं उतने संभवतः किसी अन्य देश में नहीं। यहाँ की समृद्धि ने भी अन्य जातियों को इस पर आक्रमण करने को उत्साहित किया है।

भारत हारा क्यों? और अनवरत हारता क्यों रहा? यह भी प्रश्न बड़ा स्वाभाविक है। परन्तु इसका उत्तर भी अपेक्षाकृत कठिन इसलिए हो जाता है कि यहां वीरों का अभाव नहीं रहा, कर्मठों का अभाव नहीं रहा, चिन्तकों का अभाव नहीं रहा, साहस की कमी न रही।

भारत की पराजय का सबसे महत्वपूर्ण कारण यहाँ का सामाजिक संगठन रहा है। भारत विधान का देश रहा है। यहाँ के व्यक्तियों, व्यक्ति-समूहों, अथवा विविध आबादियों ने अपने हित का आप चिन्तन नहीं किया है। यहाँ के व्यक्तियों के लिए अन्य व्यक्ति सोचते रहे हैं। विधानपरक जीवन बिताना इतना स्वाभाविक हो गया था कि जिस विषय पर शास्त्र का विधान था, उस पर अपना मत और आचरण निश्चित करना व्यक्ति को प्रायः असंभव हो गया है। और वह विधान चाहे औचित्य, उपादेयता, काल और देश का अतिक्रमण कर गया है परन्तु उसकी फिर से नई परिस्थितियों के आलोक में समीक्षा करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। इसका ज्वलंत उदाहरण भारत की वर्ण व्यवस्था है। उसने उसके नैतिक जीवन में प्रायः सारी दुर्बलताएँ भर दी हैं। वर्ण किसी समय में श्रम-विभाजन और पेशों को आर्थिक व्यवस्था के अर्थ बने—यह साधारणतया इतिहासकारों का मत है, यद्यपि वर्ग विशेष की स्वार्थ लोलुपता और परशोषण नीति इसका प्रधान कारण रहा है, इस वक्तव्य में कम यथार्थता रहीं है। वर्ण व्यवस्था ने समाज को जाति पाँति के बन्धनों में जकड़ कर उसे टूक टूक कर दिया। समूह समूह व्यक्ति व्यक्ति में ऊँच नीच की भावना जगाई, जन जन में घृणा और विद्रोह को उत्पन्न किया। नीति-पुस्तकों में लिखा तो अवश्य गया कि व्यक्ति की पूजा उसके गुणों से होती है, परन्तु जीवन में वस्तुतः ऐसा कभी हुआ नहीं। व्यक्ति सदा अपने वर्ण और आर्थिक 'स्टेटस्' से आदृत अथवा अनादृत हुआ। इससे जन्म को कारण समझ कर व्यक्ति ने अध्यवसाय से ऊपर उठने की बात छोड़ दी। विधायकों ने भी उसे बार बार समझाया कि उसकी व्यक्तिगत हीन परिस्थिति उसके पूर्व जन्म के कर्मों का परिपाकस्वरूप है और उसमें उसे संतोष करना होगा। इससे अपनी स्थिति को बदलने की व्यक्ति अथवा समूह ने प्रयत्न न किया। आत्मविश्वास भी इससे जाता रहा और अपनी हीनता से असन्तुष्ट नहीं, अकिंचन हो उठा। जिस समाज में व्यक्ति व्यक्ति, जाति जाति में ऊँच नीच का भाव हो, जहाँ एक वर्ग अथवा वर्ण नगर के भीतर तक रहने न दिया जाता हो, उसकी छाया से द्विजाति अपने को भ्रष्ट समझने लगी हों, नगर में प्रवेश करते हुए उसे लकड़ी बजाकर सवर्णों को सावधान करने की अनिवार्यता सिद्ध हो, उसके सामूहिक अथवा सामाजिक उत्कर्ष अथवा प्रगति की क्या आशा की जा सकती है? इस प्रकार एक बड़े जन समुदाय को अन्त्यज बना कर छोड़ देने के कारण समाज की शक्ति अत्यन्त सीमित हो जाती है। फिर वर्णों में पारस्परिक प्रेम न रहने के कारण उनसे सामूहिक आचरण संभव नहीं। हिन्दुओं के मुसलमानों से हारने के कारणों में एक प्रधान कारण यह भी रहा है कि उनमें सबके समान अधिकार होने के कारण मुसलमानों में ऊँच नीच के भेदभाव अथवा पारस्परिक घृणा का अभाव रहा है और मुसलमान जाति का प्रत्येक वर्ग, प्रायः प्रत्येक व्यक्ति का उपयोग हो सका है और होता रहा है। इसके विपरीत हिन्दुओं में साधारण जनता, अनुपेक्षणीय जनबल की उपेक्षा हुई है और यह शापित वर्ग समय समय पर सदा देश के शत्रुओं का साथ देने अथवा उसकी हिमायत करने को प्रस्तुत होता गया है। एक बार एक वर्ण की परिधि में आ जाने के बाद उससे बाहर निकलने की संभावना न रही और

दूसरों के कार्य जो सब प्रकार से परिस्थिति विशेष में स्वाभाविक होते, 'परधर्म' समझ कर त्याज्य हो गए। युद्ध करना केवल क्षत्रियों का कर्म है, जब यह सिद्धान्त समाज में बल पकड़ गया तब बाकी तीन वर्ण और चौथा अछूत वर्ग युद्ध के अर्थ बेकार हो गए। इससे समाज के प्रायः तीन चौथाई भाग विदेशी आक्रमकों की राह से हट गए। राजनीति क्षत्रिय कर्म है, इसने भारतीय क्षत्रियेतर मानव को उससे उदासीन कर दिया। 'कोउ नृप होइ हमैं का हानी, चेरि छौड़ि नहिं होउब रानी।' इस उदासीनता की पराकाष्ठा उपस्थित करता है। क्या कारण है कि सोमनाथ के मन्दिर पर महमूद ग़ज़नी की चढ़ाई के अवसर पर जब अन्हिलवाड़ का राजा भीम भाग गया तब किसी और ने आक्रमक की राह रोकने का प्रयत्न क्यों न किया यद्यपि उस विशाल मन्दिर के पुजारियों और अन्य कर्मचारियों की ही इतनी संख्या थी कि यदि वे महमूद की सेना पर केवल गिर पड़ते तो वह पिस जाती? क्या आश्चर्य कि तैमूर के एक लाख बन्दियों की रक्षक सेना उस संख्या का दशांश भी न थी और केवल लड़ाई की असुविधा के कारण उसने उन्हें तलवार के घाट उतार दिया! इतने आदमी क्या नहीं कर सकते थे? क्या आश्चर्य यदि बख्तियार ने १८ घुड़सवारों (कुछ लोगों ने यह संख्या २०० बताई है जो निस्सन्देह विशेष अन्तर नहीं डालती) के साथ बिहार और बंगाल पर अधिकार कर लिया हो! क्या आश्चर्य जब खनवा-सिकरी के युद्ध में साँगा सा देश का मुकुटमणि छिन गया हो और हज़ारों राजपूतों ने बाबर की तोपों के मुँह में अपनी बलि कर दिया हो, और आगरे और सिकरी के किसान बिना अपनी भवों पर बल डाले शान्ति पूर्वक खेतों में हल चलाते रहे हों! यदि सारा समाज एक इकाई में संगठित होता तो व्यक्ति-व्यक्ति का समाहार होता हुआ भी वह बूँदों के समाहार की भाँति जल का प्रवाह होता जिसकी शक्ति सर्वथा अजेय हो जाती। वरन पुरु, चन्द्रगुप्त मौर्य, खारवेल, पुष्यमित्र, शातकर्णी, नाग वीरसेन, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त, यशोधर्मन्, पुलकेशिन् द्वितीय, सांगा, प्रताप, शिवाजी, आदि के होते हुए भी भारतीय सदा हारते क्यों रहे? क्योंकि इन नामों के अर्थ यही थे, अन्य नहीं, अन्य हो भी नहीं सकते थे। वर्ण-व्यवस्था राह की रुकावट थी। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति की तरह यहां भी नाई, मोची, दर्जी, खोंचेवाले आदि में से अपूर्व सेनापति क्यों नहीं हो गए? वर्ण-व्यवस्था उनके बीच में बाधक थी।

इस व्यवस्था की जकड़ के कारण विवाहों की परिधि जो संकुचित हो गई थी उससे निरन्तर ह्रास होती जाति-विशेष की शक्ति को अन्य जाति की धारा अपने असमान प्राणाणुओं से पुष्ट कर पुनर्जीवित न कर सकी।

भारतवर्ष ने दूसरों से सीखने अथवा अपनी भूलें को दुरुस्त करने का कभी प्रयत्न न किया। अपनी प्राचीनता और गौरव में भारतीय इस कदर भूले हुए थे, इस दिशा में उन्हें इतना गर्व था कि उन्होंने यह नहीं समझा कि उन्हें भी दूसरे कुछ सिखा सकते हैं और उन्हें उनसे सीखना चाहिए। 'इसी देश की प्रसूति ने पृथ्वी भर के जातियों को अपने अपने धर्म और कर्तव्य की शिक्षा दी', इस असत्य और युक्तिहीन गर्वोक्ति ने भारतीयों को प्रयत्नहीन बना दिया। इसके साथ साथ भारतीय वसुन्धरा की उर्वरा शक्ति ने आसानी से शस्य प्रसव कर अपने निवासियों को प्रमादी बना दिया। संघर्ष जो प्रगति की आद्याशक्ति है उनके जीवन में न रहा।

भारत में जाति और कभी कभी धर्म के नाम पर तो वीरता समय-समय पर दिखाई भी गई परन्तु देश-प्रेम की वह भावना जो अन्य देशों में पाई जाती है यहां कभी न रही। जिन वीरों ने हल्दीघाटी को अमर कर दिया वे भारत के लिए नहीं, सम्भवतः मेवाड़ के लिएँ, राणा प्रताप के लिए लड़े थे। भारतीय साहित्य में इसी लिए स्काट की पंक्ति—

Breathes there the man with soul so dead
Who ne'er to himself hath said
This is my own my native land.

की टक्कर या उस तरह की एक लाइन न लिखी जा सकी।

यहाँ प्रायः छोटे छोटे राज्य परस्पर लड़ते रहे। जब कभी साम्राज्य खड़े हुए तो उनके आधार सामन्तवादी थे जिसमें राजनीतिक अधिकार तथा नागरिक सतर्कता कुछ हद तक थी परन्तु उन्हें साम्राज्यों ने

हड़प लिया और पारस्परिक फूट के कारण वे आपस में संघ निर्माण कर सबल न हो सके। केवल एक ही अपवाद इस सम्बन्ध में उपस्थित किया जा सकता है। और वह है लिच्छवियों आदि आठ गणों का वज्जी-संघ जिसने वर्षों मागध साम्राज्य को चुनौती दी और तब तक नष्ट न किया जा सका जब तक कि उनमें फूट के बीज बोकर उनकी एकता नष्ट न कर दी गई। जब कभी समान शत्रु के सामने विविध राजा संगठित भी हुए तो उनकी इकाइयां प्रायः स्वतन्त्र रहीं। सारी सेना एक सेनापति के संचालन अथवा अधिकार में न रह कर अपने अपने सामन्त के आधीन थी। मुहम्मद ग़ज़नी, मुहम्मद ग़ोरी, अहमदशाह अब्दाली सबके विरुद्ध संगठित सेनाओं की यही कमज़ोरी थी। अब्दाली के विरुद्ध तो पहले मरहठों, राजपूतों और जाटों में ही वाग्युद्ध छिड़ गया था।

अपने सुअवसरों से भारतीयों ने कभी फायदा न उठाया। अपने देश से कभी बाहर न निकले थे। पृथ्वीराज ने यदि गोरी को परास्त किया तो उसका सर्वथा नाश न कर सका। पुष्यमित्र की भाँति उसे ग़ोर तक पहुँच जाना था। राणा साँगा ने इब्राहिम लोदी को दो दो बार हराया परन्तु एक आध प्रान्त स्वीकार कर वह चुप हो गया। उसे चाहिए था कि वह लगे हाथ दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार कर ले। इसके बजाय उसने दौलतखां लोदी और इब्राहिम के चाचा अलाउद्दीन् के साथ बाबर को सुल्तान के विरुद्ध चढ़आने और उसके साथ साझा करने के लिए अपने दूत भेजे। मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद मराठे भारत के वास्तविक भाग्य-विधाता और साम्राज्य निर्माता बने रहे। वस्तुतः अंग्रेजों ने राज्य उनके हाथ से लिया। परन्तु चिर काल तक मराठे लूट-पाट में समय खोते और आपसी युद्ध में अपनी शक्ति व्यय करते रहे और शीघ्र सब कुछ गंवा बैठे। क्यों नहीं अब्दाली के पहले या पीछे ही उन्होंने हिम्मत करके भारत की राजनीतिक बागडोर हाथ में लेली?

भारतीय सैन्य संगठन अत्यन्त प्रश्नात्मक था। आनुवंशिक चतुरंगिणी सेना कालांतर में बोझिल सिद्ध हुई, परन्तु उसके विधान में भारतीयों ने कुछ अन्तर नहीं डाला। घुड़सवारों की सेना थोड़ी और पैदलों की अधिक होती थी। हाथी अधिकतर अपने ही पक्ष को हानि पहुँचाते थे, यद्यपि उनका उचित उपयोग लाभकर हो सकता था जैसा चन्द्रगुप्त मौर्य और सिल्यूकस निकेटर के पक्ष में हुआ। यह सेना देशी शत्रुओं के सामने तो लड़ती थी परन्तु विदेशियों के सामने पीठ दिखा जाती थी। यूरोप, पश्चिमी और मध्य एशिया में तोपों और बन्दूकों का प्रयोग सदियों से हो रहा था परन्तु भारत में उनका प्रयोग ही कोई नहीं जानता था। उनका प्रयोग पहले पहल यहाँ बाबर ने किया। मराठों ने सैन्य-संगठन पर कुछ ध्यान दिया भी और उन्होंने कवायद का भी लाभ उठाया परन्तु वे भी सामन्ती प्रथा से ऊपर न उठ सके। भारत के शायद केवल मौर्य और गुप्त सम्राटों के पास वैतनिक (Standing) सेना थी। विदेशियों से यहाँ वालों ने सुन्दर सैन्य नीति भी नहीं सीखी। कुशल सेनापति यहां कदाचित ही कोई हुआ। सैन्य सञ्चालन और युद्ध नेतृत्व का स्तर बहुत ऊँचा न उठ सका। हम सिकन्दर, बाबर या नेपोलियन की भाँति किसी भारतीय सेनापति का नाम नहीं ले सकते।

यहां के धर्म में दूसरों का नाश करने, जीतने आदि का विधान कम था। बौद्ध और जैन धर्मों ने तो अहिंसा का बाना पहनाया। शुद्ध हिन्दू धर्म में ही युद्ध का कुछ समावेश था। दिग्विजय और अश्वमेध इसी की कुछ उदात्त संस्थाएँ थीं। काषाय धारण कर प्रव्रजित हो जाना यहाँ बड़े त्याग औ साहस की बात समझी जाती थी। इसीसे युगपुराण ने भारत के शककालीन सर्वनाश के समय इस काषाय पर विकट व्यंग किया था। बौद्ध और जैन धर्मों ने जो राष्ट्र के भोजन में शाकाहार की मात्रा का विधान किया उससे भी युद्ध-प्रकृति का कुछ ह्रास हुआ।

इन आँकड़ों के विरुद्ध विदेशी आक्रमणों में प्रायः इन सब त्रुटियों का समाधन था। वे अपने समाज के सारे वर्गों का उपयोग कर सकते थे, क्यों कि उनमें जात-पाँत के भेद भाव न थे। उनकी शारीरिक शक्ति प्रचुर थी और उनमें विलास और अवकाश जनित प्रमाद न था। उनमें भुक्खड़ों की संख्या अधिक थी जो लूट के नाम पर दौड़ पड़ते थे और भारत की समृद्धि का उनको पता था। धर्म के नाम पर मुसलमान

एँ मध्य एशिया के दूर देशों तक के सैनिकों को र्षित करती थीं। भारतीय धर्म ठंडे हो गए थे; के नाम पर लड़ाकों को जोश नहीं दिलाया जा सकता मुसलमान सेनाएं काफ़िरों के विरुद्ध 'जेहाद' ती थीं। विदेश की बहुसंख्यक जनता के बीच नाश आशंका से वे संगठि रहते थे। उनकी सेना संगठित कुशल सेनापतियों द्वारा संचालित थीं और उनके युद्ध के नवीनतम साधन उपलब्ध थे। अवसर वे न खोते थे और बार बार हार कर भी वे प्रयत्न ड़ते। सर्वत्र विदेशियों में विवाह करने से उनकी शक्तिमान होती रहती थी। अवसर से उन्होंने लाभ उठाया।

भारतीयों के हारने और विदेशियों को जीतने के में निम्नलिखित कारण थे :—

१. भारतीयों में वर्ण व्यवस्था की जकड़।

२. अपनी भूलों और दूसरों से न सीखने की प्रवृत्ति।

३. जीवन-साधनों की सुविधा से उत्पन्न प्रमाद।

४. राष्ट्रीयता और देशप्रेम का अभाव।

५. छोटे राज्यों की बहुलता, उनकी फूट और गणराज्यों का दमन।

६. सैन्य-संगठन और सैन्य-संचालन की दुर्बलताएँ।

७. सुअवसर से लाभ उठाने का अभाव।

८. धार्मिक उत्तेजना की कमी और बौद्ध जैनादि धर्मों की अहिंसक नीति।

९. विजेताओं में ऊपर लिखे गुणों का भाव।

द्रोह और विद्रोह

प्रो० जगन्नाथ एम० ए०,

द्रोह से विद्रोह बिलकुल भिन्न !

तिमिर-नाशक उषा-सा विद्रोह है,
तिमिर - पोषक तारकों - सा द्रोह है,
रवि सदृश विद्रोह ज्वाला एक है,
जुगनुओं - सी द्रोह अग्नि अनेक है।

आग दोनों में परन्तु विभिन्न है !
द्रोह से विद्रोह बिलकुल भिन्न है !

पथ - प्रदर्शन द्रोह कर सकता नहीं,
जागरण की स्फूर्ति भर सकता नहीं,
आग से विद्रोह के खिलते सुमन,
द्रोह ज्वाला किन्तु कर देती विमन।
सदैव प्रसन्न है, यह खिन्न है !
द्रोह से विद्रोह बिलकुल भिन्न है !

मनुज का विद्रोह से उत्थान है,
द्रोह तो मनुजत्व का अवसान है,
वह मनुज विद्रोह से अनजान है,
प्रेम ही जिसका न जीवन प्राण है।
प्रेम से विद्रोह पूर्ण अभिन्न है !
द्रोह से विद्रोह बिलकुल भिन्न है !

भारतीय पत्रों के दमन का इतिहास

पं० विष्णुदत्त शुक्ल

समाचार पत्रों पर राज्यतंत्र का नियंत्रण होना एक स्वाभाविक-सी बात है। प्रायः प्रत्येक देश में जहां समाचार पत्रों का प्रचार है, उनके नियन्त्रण के लिए शासन व्यवस्था अवश्य है। अन्तर केवल यह है कि जो देश स्वतन्त्र हैं, उनके यहां के नियन्त्रण में कठोरता की कमी होती है और जो पराधीन हैं, उनके समाचार पत्र इस प्रकार कुचले जाते हैं कि बेचारों को सांस लेने की भी छूट नहीं होती। भारतवर्ष के समाचार पत्रों पर यहां के विदेशीय शासकों की कुछ ऐसी ही दृष्टि थी। बेचारे समाचार पत्रों के सर पर, कायदे कानूनों, आर्डीनेन्सों और रेगूलेशनों की नंगी तलवार झूला करती थी। इन्हें दबाने के लिए आये दिन नये-नये उपाय निकला करते थे।

दूसरे देशों में तो समाचार पत्रों का नियंत्रण उस समय आरम्भ हुआ जब वहां के समाचार पत्रों में ऐसी बातों का प्रकाशन होने लगा जो राजतंत्र की नीति के विरुद्ध होती थीं। परन्तु भारतवर्ष की दशा विचित्र रही। यहाँ के शासक वृन्द समाचार पत्र निकलने के पहिले ही उसका गला घोटने को तैयार बैठे थे। सिफ़त की बात तो यह थी कि उन पत्रों को भी पहिले ही से दबाया गया जो यूरोपियनों द्वारा प्रकाशित होने को थे। यदि यह बात न होती तो शायद हम हिकी साहब के जर्नल के पहिले ही समाचार पत्रों के दर्शन कर लेते! सन् १७६८ में विलियम बेल्ट नाम के एक सज्जन ने एक प्रेस खोलकर समाचार पत्र निकालने का विचार किया था, परन्तु जबतक वे अपने संकल्प को कार्यरूप में परिणत करें तबतक उनको बंगाल के फोर्ट विलियम गवर्नमेण्ट से हुक्म मिला कि आप तुरंत ही पहिली स्टीमर से मद्रास जाइये और वहां से अपने घर यूरप का रास्ता नापिये। उन बेचारे के तमाम मनसूबों पर पानी फिर गया और झख मार कर इस हुक्म की तामील करनी पड़ी। इस उदाहरण से अन्यान्य लोग भी जो पत्र निकालने की बातें सोचते थे, निरुत्साह हुए और सन् १७८० तक किसी की हिम्मत पत्र निकालने की नहीं हुई—२९ जनवरी सन् १७८० को मि० जेम्स आगस्टस हिकी नाम के एक यूरोपियन पादड़ी सज्जन ने बंगाल गज़ट नाम का एक पत्र निकाला। परन्तु बंगाल गज़ट पूरे दस महीने भी न चल पाया था कि सरकार की आँखों में वह खटकने लगा। १४ नवम्बर सन् १७८० को फोर्ट विलियम से हुक्म निकला कि बंगाल गजट शासन की शांति भंग करता है। इस लिए जनरल पोस्ट आफिस द्वारा वह कहीं न भेजा जायगा। इस हुक्म से पत्र के प्रचार को धक्का जरूर लगा परन्तु वह कुचला न जा सका। उसका प्रचार अधिकांश में कलकत्ते में था और मि० हिकी चपरासियों द्वारा उसे ग्राहकों के पास भेजने लगे। परन्तु सरकार तो कुचल डालने पर ही तुली थी। उपरोक्त हुक्म के थोड़े दिन बाद ही गवर्नमेंट ने मिस्टर हिकी पर मामला चलाया। वे गिरफ्तार कर लिए गये। फिर भी पत्र निकालने की व्यवस्था वे कर गये। मगर जब सरकार बहादुर किसी पत्र को कुचलने पर ही तुले हुये हों तब वह पत्र कब तक चल सकता है। भारत के प्रथम गवर्नर जनरल जनाब वारन हेस्टिंग्स साहब ने मिस्टर हिकी पर मामले पर मामला चलाना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि अन्त में बेचारे हिकी साहब को हार मान कर अपना पत्र बन्द ही कर देना पड़ा। ऐसे ही प्रत्युत, इससे भी अधिक क्रूर व्यवहार मिस्टर विलियम डूवेन आदि अन्य पत्र संचालकों के प्रति भी किये गये। मिस्टर विलियम डूवेन ने १७९४ में इण्डियन वर्ल्ड नाम का पत्र निकाला था। इस पत्र में यद्यपि सरकार का विरोध न किया गया था तथापि उसे दबाने की चेष्टा की गई। सन् १७९५ की १ जनवरी को अंक निकलने वाला था। उसकी सारी तैयारियां हो चुकी थीं। परन्तु २७ दिसम्बर को ही उन्हें एक पत्र

मिला जिसमें उन्हें गवर्नमेंट हाउस बुलाया गया था। ड्वेन ने सजा पाने का कोई काम तो किया ही न था अतः उनके मन में कोई दूसरा विचार आया ही नहीं। उस समय गवर्नर जनरल देश से विदाई ले रहे थे। अतः मिस्टर ड्वेन ने सोचा कि उन्हें जलपान के लिए निमंत्रित किया गया है। वे ठीक समय पर वहाँ पहुँच गये। वहाँ पर गवर्नमेंट के सेक्रेटरी ने उनके साथ जो बर्ताव किया वह नितांत निंदनीय था। उसी दशा में वे गिरफ्तार करके शस्त्रधारी सैनिकों के पहरे में सीधे इंगलैंड भेज दिये गये। इंगलैंड में भी वे चुपचाप छोड़ दिये गये और उन्हें कभी यह तक न बताया गया कि उन्हें किस अपराध पर यह दंड मिला। उनकी ५० हजार डालर की सम्पत्ति भारतवर्ष में थी। उसका एक हब्बा भी उन्हें नहीं मिला। इस प्रकार के प्रहार पत्रकारों पर हुए। इतना होते हुए भी पत्रों का प्रकाशन एक बार प्रारम्भ हो जाने के बाद फिर उनका ताँता नहीं टूटा। किसी न किसी प्रकार एक के बाद एक पत्र निकलता ही गया।

अन्त में लार्ड वेलज़ली साहब के शासन काल में (सन् १७९९) प्रेस और पत्रों के सम्बन्ध का एक अलग कानून बना। इस कानून के अनुसार यह आवश्यक हो गया कि प्रत्येक पत्र का मुद्रक पत्र के अन्त में अपना नाम स्पष्ट रूप से छापे और प्रत्येक पत्र का स्वामी और उसका सम्पादक सरकार के सेक्रेटरी के पास अपने निवास स्थान का पूरा पता लिख भेजे। सब से अधिक खटकनेवाली बात उस कानून में यह थी कि कोई समाचार पत्र उस समय तक प्रकाशित न किया जाय जब तक कि गवर्नमेंट सेक्रेटरी या उनके द्वारा अधिकार प्राप्त कोई अन्य व्यक्ति प्रकाशित होने के पहले उसकी पाठ्य सामग्री देख कर उसके प्रकाशनार्थ अपनी स्वीकृति न दे दे। मगर किया क्या जा सकता था। पराधीन प्रजा का अपने राज्यतंत्र में हाथ ही क्या सकता था? सब बातें माननी ही पड़ीं। लार्ड हेस्टिंग्स के शासन काल आरम्भ होते ही अक्तूबर सन् १८१३ में एक कानून बना जिसके अनुसार हुक्म हुआ समाचार पत्र और उसके विशेषांक आदि सब प्रकार पत्रों के प्रूफ गवर्नमेंट के चीफ सेक्रेटरी को दिखा न जाया करें तब प्रकाशित किये जाया करें। यह कानून मामूली हैंडबिल और परचों के लिए भी लागू कर दिया गया। यह अवस्था पत्र वालों के लिए असह्य सी हो गयी। प्रत्येक अंक का प्रूफ लेकर स्वीकृति प्राप्त करने के लिए चीफ़ सेक्रेटरी के दफ्तर दौड़े जाना तब उसे प्रकाशित करना यह स्वाभिमानी पत्र सम्पादकों और प्रकाशकों के लिए सह्य हो ही न सकता था। एशियाटिक मिरर के सम्पादक डा० जेम्स ब्राइस इस कानून से खास तौर पर असन्तुष्ट थे। वे इसके रद कराने की बराबर कोशिश करते रहे। उधर अवस्था में भी परिवर्तन हो गया था। अभी तक केवल अंग्रेजी में पत्र निकलते थे। इसलिए पहिले के कानूनों में सब से बड़ी सजा थी देश निकालने की। अंग्रेजी पत्र यूरोपियनों द्वारा निकलते थे अतः उन पत्रों के संपादकगण विलायत भेज दिये जाते थे। परन्तु अब देशी भाषाओं में भी पत्र निकलने लगे थे इसलिए उनके लिए उपर्युक्त कानून काफी न था। भारतवासी विलायत कैसे भेजे जाते? इन सब कारणों से पहिले के कानून को उठा कर एक नये कानून की सृष्टि करने की आवश्यकता सरकार को अनुभव हुई। इसलिए जब मि० ब्राईस ने उक्त कानून का विरोध किया तब वह उठा लिया गया और उसके स्थान पर १८ अगस्त १८१८ को नया कानून बनाया गया जिसमें निम्नलिखित आदेश दिये गये :—

(१) कोई ऐसा मजमून न छपे जिससे सरकार पर या सरकारी कर्मचारियों के आचरण पर आक्षेप होता हो।

(२) ऐसी बातें न छापी जांय जिनसे भारतवासियों के चित्त में आतंक फैले या एक दूसरे के प्रति शक पैदा हो।

(३) धार्मिक मामलात में कोई दस्तन्दाज़ी न की जाय।

(४) भारत में अंग्रेजी शासन की प्रतिष्ठा पर आघात करनेवाला कोई मजमून न छपे।

(५) व्यक्तिगत दुराचार की बातें जिनसे समाज की व्यवस्था नष्ट होती हो न प्रकाशित हों।

यह कानून बन गया। परंतु इसका प्रयोग बहुत ही कम हुआ। कानून भी बहुत कड़ा न था साथ ही लार्ड हेस्टिंग्स की सरकार इस मामले में सख्ती

न करती थी। लार्ड हेस्टिंग्स के बाद कुछ दिनों के लिए जार्न आडम गवर्नर जेनरल की गद्दी पर आसीन हुए। आप ने उन कानूनों का प्रयोग करना शुरू किया जो पहिले के बने पड़े थे। परन्तु जब इतने से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ तब उन्होंने ऐसे और कानून भी बनाये जिनसे डा० मार्श मैंन के शब्दों में 'पत्रों की स्वतंत्रता बिलकुल ही हरण कर ली गयी'।

ऐसे ही अवसर पर भावी के मारे जेम्स सिल्क बकिंगहम नाम के एक सज्जन ने कलकत्ता जरनल नाम का एक अंगरेज़ी पत्र निकाला। पत्र स्वतत्र विचार का था इस लिए थोड़े ही दिनों में वह सरकार की आँखों में खटकने लगा। एकाध बार तो मामूली चेतावनी देकर ही छोड़ दिया गया मगर जब उसकी नीति न बदली तब उसका लायसेंस छीन लिया गया और सम्पादक महाशय को देश निकाले का दण्ड हुआ। १२ फरवरी सन् १८२३ में उन्हें यह हुक्म हुआ कि अब उनका मुँह इस देश में न दिखलाई पड़े। वे बचारे अनिच्छा पूर्वक इंगलैंड गये। मि० बकिंगहम का इङ्गलैंड में अच्छा स्वागत हुआ। उनकी सहायता के लिए धन संग्रह किया गया, थोड़े ही दिन बाद पार्लियामेंट के सदस्य बन गये और अन्तिम दिनों में ईस्ट इन्डिया कंपनी की ओर से उन्हें इस बात के लिए पेन्शन की गई कि सन् १८२३ में उनके साथ कम्पनी द्वारा अन्याय किया गया था। यह सब कुछ हुआ मगर मि० बकिंगहम का पत्र जो उनके देश निकाले के साथ ही साथ बन्द हो गया था फिर कभी न निकला।

मि० बकिंगहम के देश निकाले के थोड़े ही दिन बाद १४ मार्च सन् १८२३ को जान आडम ने एक नया नियम बनाया जिसके अनुसार फोर्टविलियम की जागीरदारी के अन्दर निकलने वाले पत्रों पर नियंत्रण किया गया। इस नियम के अनुसार कोई आदमी पहिले लायसेंस लिये बिना समाचार पत्र नहीं निकाल सकता था। एक एक हलफनामे के साथ पत्र के मालिकों, प्रकाशकों और मुद्रकों को अपने अपने निवास स्थान का पता देना लाजिमी हो गया। मसविदे के एक नियम के अनुसार सरकार ने लायसेंस छीन लेने का अधिकार भी अपने हाथ में रखा। इन नियमों की अवहेलना करने वाले के लिए ४००) जुर्माना और चार महीने तक की सजा की व्यवस्था की गयी। बीच में लार्ड हेस्टिंग्स के समय में कुछ दिनों तक समाचार पत्रों की स्वतंत्रता का उपभोग कर चुकने के बाद यह नया नियम देश वासियों को बहुत खटका। १५ मार्च सन् १८२३ को यह मसविदा सुप्रीम कोर्ट आव कलकत्ता के सामने स्वीकृति के लिए पेश हुआ। १७ मार्च को ही सर्व श्री चन्द्रकुमार टैगोर, द्वारकानाथ टैगोर, राम मोहनराय, हरचन्द्र घोष, गौरी चरण बनर्जी और प्रसन्न कुमार टैगोर के सम्मिलित हस्ताक्षर से एक प्रार्थना पत्र दिया गया। परन्तु यह प्रार्थना पत्र ४ अप्रैल सन् १८२३ को अस्वीकृत कर दिया गया और उपरोक्त मसविदा देश के सिर कानून के रूप में मढ़ दिया गया।

इस कानून के अनुसार भी कलकत्ता जरनल आदि कुचले गये। मगर पत्रों का प्रकाशन बन्द नहीं हुआ। सन् १८२६ में लार्ड एमहर्स्ट ने एक और कानून बनाया जिसमें ईस्ट इण्डिया 'कम्पनी के नौकरों' को आदेश दिया गया कि कम्पनी का कोई नौकर किसी प्रकार से किसी समाचार पत्र से सम्बन्ध न रखे। उन्हीं लाट साहब के जमाने में कलकत्ता क्रानिकल नामक पत्र कुचल डाला गया।

लार्ड एमहर्स्ट के बाद लार्ड विलियम बैंटिक साहब भारतीय शासनतन्त्र के सूत्रधार हुए। इनके जमाने में समाचार पत्रों पर कोई प्रहार नहीं हुआ। फिर भी कानून सब ज्यों के त्यों बने रहे। मगर उनके प्रयोग में इन्होंने सख्ती नहीं की। लार्ड बैंटिक के बाद शासन की बागडोर सर चार्ल्स मेटकाफ के हाथ में आई। ये महाशय समाचार पत्रों की स्वाधीनता के पक्षपाती, उदार विचार के व्यक्ति थे। इन्होंने अपनी धारा सभा के सदस्य लार्ड मेकाले को आज्ञा दी कि वे कानून का एक मसविदा तैयार करें जिसके द्वारा भारतवर्ष के समाचार पत्रों को स्वाधीनता दी जाय। तदनुसार लार्ड मेकाले ने एक मसविदा तैयार किया। सर चार्ल्स मेटकाफ ने इस मसविदे की सिफारिश की और वह सुप्रीम कौंसिल द्वारा स्वीकृत हो गया। ३ अगस्त सन् १८३५ को उस पर सपरिषद गवर्नर जनरल के हस्ताक्षर भी हो गये। इस कानून के द्वारा (१) बिना लाइसेंस प्रेस रखने से रोकने वाला कानून

(२) शान्ति और व्यवस्था वाला कानून (३) समाचार पत्रों द्वारा होने वाली शरारत रोकने वाला कानून और (४) छापाखानों की स्थापना का नियंत्रण करने वाला कानून, समाचार पत्र सम्बन्धी इस प्रकार के पिछले सब कानून रद्द कर दिये गये। इस कानून के अनुसार समाचार पत्र प्रकाशित करने के पहिले डिक्लेरेशन देने की व्यवस्था की गई। इस नियम की अवहेलना में ५०००) तक के जुर्माना और दो वर्ष तक की सजा की व्यवस्था भी हुई। कहना न होगा कि जन साधारण ने इस कानून का अच्छा स्वागत किया और अपनी कृतज्ञता केवल शब्दों में हीं नहीं वरन् मेटकाफ हाल बनवा कर प्रकट की। परन्तु ईस्ट इडिया कंपनी के डायरेक्टरों ने सर चार्ल्स मेटकाफ़ के इस कार्य को पसंद नहीं किया। आपस का मत विरोध यहाँ तक बढ़ा कि सर चार्ल्स जैसे स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए यह असंभव हो गया कि वे कम्पनी की नौकरी में बने रहते। वे अलग हो गये। लार्ड आकलैण्ड उनके उत्तराधिकारी हुए परन्तु उन्होंने भी सर चार्ल्सवाले कानून को ज्यों का त्यों बना रहने दिया। लगभग २० वर्ष तक मेटकाफ़ द्वारा प्रदत्त समाचार पत्रों की यत्किञ्चित् स्वाधीनता भारतवर्ष भोगता रहा।

सन् १८५७ के स्वातंत्र्य युद्ध के समय अवस्था में फिर परिवर्तन हुआ। १३ जून १८५७ को लार्ड केनिङ्ग ने स्वयं धारा सभा में एक बिल पेश किया जो उसी दिन कानून बना दिया गया। इस नये कानून के अनुसार समाचार पत्रों की हालत करीब वैसी ही हो गई जैसी १८३५ के पहिले थी। बिना सरकारी लाइसेंस प्राप्त किए कोई पत्र न निकल सकता था। लाइसेंस देना न देना सरकारी खुशी पर निर्भर था। दिये हुए लाइसेंस भी सरकार छीन सकती थी। वह समाचार पत्रों का वितरण रुकवा सकती थी। पत्रों को हुक्म था कि वे ऐसी कोई बात प्रकाशित न करें जिससे जनता में सरकार के प्रति घृणा-भाव फैले, अंग्रेजी सरकार की व्यवस्था के प्रति असंतोष या विरोध-भाव फैले, भारतवासियों में सन्देह या आतंक फैले अथवा देशी राज्यों और सरकार की दोस्ती में खलल पैदा हो। कानून में यह भी कहा गया कि यदि इन नियमों का उल्लंघन किया गया तो सरकार टाइप प्रेस आदि सब जब्त कर लेगी। इस प्रकार समाचार पत्रों की उन्नति के मार्ग में फिर रोड़े अटकाए गये। मगर गनीमत यह थी कि इस कानून की मियाद सिर्फ एक साल ही थी। इस कानून के पास हो जाने से पत्रकारों में बड़ा असंतोष फैला। यहां तक कि अंग्रेज पत्रकार मि० ज़ान ब्रूस नार्टन ने इसका घोर विरोध किया। इसकी आलोचना में कड़े लेख लिखे और इसको रद्द कराने की कोशीश की। मगर एक वर्ष के अन्दर हो ही क्या सकता था। एक वर्ष बाद हालत फिर पहिले की सी हो गई।

सन् १८३५ से १८६७ तक, बीच का उपरोक्त एक वर्ष छोड़ कर, कोई नया कानून नहीं बना। सन् १८६७ में वही सन् १८३५ वाला कानून फिर दोहराया गया। इसके अनुसार समाचार पत्रों के मुद्रक तथा प्रकाशक को डिक्लेरेशन देने की व्यवस्था थी। परन्तु इस कानून से समाचार पत्रों को किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचा। इसके बाद लार्ड लिटन साहब गद्दी नशीन हुए। यह महाशय अपनी या अपनी सरकार की आलोचना सुन ही न सकते थे। इसलिए इन्होंने सबसे पहिले समाचार पत्रों का गला घोटने की सोची। उनका क्रोध भारतीय भाषाओं के पत्रों पर सबसे अधिक था। वे चाहते थे कि देशी भाषाओं के समाचार पत्रों पर सरकार का अधिक अंकुश रहे और समाचार पत्रों को दबाने के लिए उस समय तक जो कानून देश में प्रचलित थे उनमें दिए हुए अधिकारों से अधिक अधिकार सरकार के हाथ में आ जाय। इसी आशय का एक बिल धारा सभा में पेश किया गया जो १४ मार्च सन् १८७८ में कानून बन गया। गोरे अधमरे पत्र तो इस कानून के प्रहार से बरी कर दिये गये और इसका शिकार बने केवल देशी भाषा के पत्र।

इस कानून में अन्यान्य बातों के साथ साथ यह भी कहा गया था कि यदि कोई पत्र प्रकाशक कानून की उन धाराओं से बचना चाहे जो सख्त सी मालूम होती हैं तो उसे चाहिये कि समाचार पत्र प्रकाशित करने के पहिले विशेष सरकारी कर्मचारी को समाचार पत्र का प्रूफ़ दिखाकर स्वीकृत ले ले। किन्तु भारत सचिव को यह शर्त भी पसन्द नहीं आई। इसलिए जब उनकी स्वीकृति का समय आया, तब उन्होंने इस

शर्त का विरोध किया। फल यह हुआ कि उसी साल १६ अक्तूबर को यह शर्त भी उठा ली गई।

ऊपर कहा जा चुका है कि १८७८ का नया कानून अंग्रेजी भाषा के पत्रों के लिए लागू न था। यह कानून बनाते समय सरकार की आँखों में अमृत बाजार पत्रिका विशेष रूप से खटक रही थी। पत्रिका उन दिनों बंगाला में निकलती थी। इसी लिए देशी भाषा और अंग्रेजी भाषा का भेद भाव किया गया मगर पत्रिका के संचालक भी मामूली आदमी न थे। ज्योंही यह कानून पास हुआ त्योंही रातों रात सब प्रबन्ध करके उन्होंने तुरन्त अपने पत्र का रूप बदल दिया और बंगला के बजाय पत्र अंग्रेजी में निकालने लगे।

देशी भाषाओं के पत्रों पर प्रहार करने वाले इस कानून का विरोध मि० ग्लैडस्टन ने पार्लियामेंट में किया और जब १८८० में इङ्गलैंड की सरकार में परिवर्तन हुआ और मि० ग्लेडस्टन प्रधान मंत्री बने तब उन्होंने लार्ड रिपन को भारत का वायसराय बना कर भेजा और उन्हें हिदायत कर दी कि इस बेहूदे कानून को हटा दें। तदनुसार उन्होंने १९ जनवरी सन् १८८२ में उक्त कानून को रद्द कर दिया। परन्तु पोस्ट आफिस के अधिकारियों को यह अधिकार अवश्य दे रखा कि यदि वे देशी भाषा के किसी पत्र में कोई बात राजद्रोहात्मक देखें तो उसे रोक सकें और ज़ब्त कर सकें। परन्तु भारत के तानाशाही विदेशी शासक यह भी न देख सके। उन्होंने कहा कि पत्रवालों की कटु आलोचना से बचने के लिए कोई साधन नहीं रह जाता। इसलिए सन् १८९८ में भारतीय दण्ड विधान में १२४ ए धारा का रूप बनाया गया जिसके द्वारा राजद्रोह के बहाने समाचार पत्रों पर बड़ा कठोर नियंत्रण हुआ। इसके साथ ही साथ भारतीय दण्ड विधान में १५३ ए धारा का नया सृजन हुआ, जिससे जातीय विद्रोह फैलाने के बहाने समाचार पत्रों पर अंकुश रखा गया। एक कानून पास हो चुका था जिसके द्वारा सरकारी कागजात तथा सूचनाएँ प्रकाशित करने की मुमानियत कर दी गई थी। इस प्रकार समाचार पत्रों पर एक के बाद एक प्रहार होता चला गया और इन कानूनों के शिकार आगे चलकर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जैसे नेता तक बने।

परन्तु इतने से ही सरकार को सन्तोष न हुआ। बात यह थी कि इस बीच में कांग्रेस की स्थापना से जनता में जागृति के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे थे। समाचार पत्रों की संख्या भी बढ़ रही थी। इसी बीच में बंग भंग और स्वदेशी आन्दोलन भी चले। इस प्रकार जागृति के पर्याप्त लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। सरकार जागृति की उपेक्षा कैसे कर सकती थी। साथ ही वह यह भी जानती थी कि इस जागृति में समाचार पत्रों का काफी हाथ है। अतः उसने समाचार पत्रों का गला और मजबूती से दबाना तय किया।

मारले मिण्टो रिफार्म के अनुसार काम होना प्रारम्भ हो गया था। अब यद्यपि पहिले की तरह नादिरशाही हुक्म देने के लिए सरकार तैयार न थी तथापि कौंसिलों का जो जाल बिछाया गया था वह काफी मजबूत था। उसके द्वारा सरकार जो चाहे सो आसानी के साथ कर सकती थी। फिर क्या था? नया कानून बनाना था कि एक सिलेक्ट कमेटी बना दी गई। उसे यह हुक्म हुआ कि वह प्रेस कानून के सम्बन्ध में स्थिति की जाँच करके राय दे कि क्या करना चाहिये। इस कमेटी में मिस्टर एस० डी० चार्ल्स, मिस्टर सी० एम० रिवाज, मिस्टर सी० सी० स्टिक्स, मिस्टर एच० ई० एम० जेम्स, रायबहादुर आनन्द चार्लू; सर ग्रिमिथ एच० पी० इवान्स और महाराज बहादुर लक्ष्मीश्वर सिंह सदस्य निर्वाचित हुए। इस कमेटी ने अपनी राय दी कि एक कानून बनना चाहिए। कमेटी के भारतीय सदस्यों ने इसका विरोध भी किया। परन्तु उनका बहुमत न था। सिलेक्ट कमेटी द्वारा तैयार किया हुआ कानूनी मसविदा पेश हुआ। नई-नई कौंसिल थीं, लोग वहाँ पर नये नये पहुँचे थे। सरकारी चालों का ठीक ठीक पता था ही नहीं। कानून इतनी खूबी के साथ पेश किया गया कि व्यवस्था परिषद् के अनेक भारतीय सदस्यों को उसकी भयंकरता तक का अनुभव नहीं हुआ। यहाँ तक कि महामना गोखले और मजरुल हक जैसे नीतिनिपुण नेता भी जाल में फँस गये। परिणाम यह हुआ कि कानून बहुमत से पास हो गया। पण्डित मदनमोहन मालवीय और श्री भूपेन्द्र नाथ बसु ने इसका विरोध अवश्य किया था। परन्तु बहुमत के सामने इन बेचारों

को क्या चलती। कानून पास हो जाने के बाद लोगों को इसकी भयंकरता का अनुभव हुआ। उस समय श्रीमान् गोखले ने भी अफसोस किया और मजरुल हक ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि नये होने के कारण हम धोखा खा गये।

प्रेस ऐक्ट बन गया। अब उसने अपना वार करना शुरू किया। नृशंस राक्षस की भाँति यह कानून एक एक पत्र पर प्रहार करने लगा। किसी को धमकियाँ दी गईं, किसी से जमानतें तलब की गयीं, किसी की जमानतें जब्त हुईं। इस प्रकार जो जिस स्थिति में था वह उसी में सताया गया। जिसने जरा भी ऊँचे स्वर में लिखा जमानत वगैरह जब्त करके तुरन्त उसके मुख पर ताला लगा दिया गया। मामला बहुत बढ़ गया। कानून का प्रहार अप्रतिहत गति से होने लगा। लोग परेशान हो गये। अब उसके विरोध की आवाज उठी। सन् १९१० में कानून पास हुआ था। सन् १९१७ तक लोग उसका प्रहार एक प्रकार से चुपचाप सहते रहे। इसके बाद उसी साल कुछ प्रसिद्ध लोगों का एक डेपुटेशन इस सम्बन्ध में वायसराय महोदय से मिला। परन्तु उसका कोई असर नहीं हुआ। परिस्थिति बद से बदतर होती गई। देश का राजनीतिक वायुमण्डल अधिकाधिक उद्दीप्त हो चला था। यूरोपीय महासमर बन्द हो चुका था। भारतवासी अपनी सहायता के पुरस्कार में बड़ी-बड़ी आशाएँ कर रहे थे, परन्तु पुरस्कार की बात तो दूर रही उलटा रौलट कानून जैसे कानून का उपहार मिला। जनता ने इसका विरोध किया। सत्याग्रह सग्राम की घोषणा हुई। जलियांवाला बाग का कांड हुआ। इस प्रकार एक साथ ही अनेक ऐसी घटनाएं घटी जिससे देश का राजनीतिक दृष्टिकोण अधिक सजग और प्रबुद्ध हो गया। इस जाग्रत मनोवस्था में प्रेस एक्ट की बात बहुत ही खटकने वालीं बात थी। लोग समाचार पत्रों द्वारा अपने मनोभाव व्यक्त करने के लिए उत्कण्ठित होते; उधर बात के प्रकाशित होते न होते बेचारे समाचार पत्र का गला घोट दिया जाता। केवल आठ नौ वर्ष में कोई ३५० प्रेस और ३०० समाचार पत्र इस कानून के शिकार बने। और इन प्रेसों और पत्रों से जो जमानत तलब की गई। उसकी तादाद लगभग छः लाख रुपये तक पहुँची थी। इसके अतिरिक्त कोई ५०० पुस्तकें ज़ब्त की जा चुकी थीं। जमानत के रुपये जमा करने में असमर्थ होने के कारण लगभग २०० प्रेस १३० समाचार पत्र दिन के उजाले में ही न आने पाये थे। सन् १९१७ के बाद से तो इसका प्रयोग और भी कठोरता के साथ हुआ। अमृत बाजार पत्रिका, बाम्बे क्रोनिकल, हिन्दू इण्डिपेण्डेण्ट, ट्रिब्यून, भारतमित्र, वसुमती आदि अनेक अंग्रेजी और देशी भाषा में प्रधान पत्रों पर प्रहार हुए। अखिल भारतीय पत्रकार संघ के सभापति मि० हार्नीमैन को देश निकाला दे दिया गया। यह अवस्था असह्य हो गई। अब संगठित रूप से इस कानून के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ हुआ। वायसराय के पास डेपूटेशन भेजने की बात ऊपर दी जा चुकी है। दूसरी बार मि० खपर्डे ने बड़ी कौंसिल में वह प्रस्ताव रखा कि प्रेस एक्ट की ज्यादतियों की जांच करने के लिए सरकारी और गैरसरकारी सदस्यों की एक कमेटी बना दी जाय। परन्तु यह साधारण-सा प्रस्ताव भी नादिरशाही कौंसिल में न पास हो सका। तो भी आन्दोलकों ने आशा नहीं छोड़ी। उस समय तक पत्रकार संघ की स्थापना हो चुकी थी और प्रेस डिफेन्स फंड (पत्र सहायक कोष) भी खुल गया था। अतः कार्य आगे बढ़ाया गया। सन् १९१९ में अखिल भारतीय पत्रकार संघ की ओर से इंगलैंड के प्रधान मंत्री और भारत सचिव के पास मेमोरेंडम के रूप में एक तार भेजा गया। जिसमें प्रेस एक्ट की उपरोक्त सब ज्यादतियों का विवरण दिया गया। साथ ही पार्लियामेंट के अन्य सदस्यों के पास भी उस मेमोरेंडम की नकल भेजी गई अब आन्दोलन इतना आगे बढ़ चुका था कि उसकी उपेक्षा सम्भव न थी। साथ ही नये शासन सुधार हुए थे और नई कौंसिल का निर्माण हुआ था। अतः २२ फरवरी सन् १९२१ को माण्टेगू चेम्सफोर्ड रिफार्म के अनुसार संगठित एसम्बली में विलियमविंसेण्ट ने प्रेस एक्ट के सम्बन्ध में एक वक्तव्य देते हुए उसमें आवश्यक परिवर्तन करने का इरादा ज़ाहिर किया। इसके अनुसार मिस्टर एस० पी० अडोनल ने प्रस्ताव रखा कि प्रेस एक्ट की जांच करने तथा उसके संशोधन और परिवर्तन के संबन्ध सलाह देने के लिए एक कमेटी बनाई जाय।

यह प्रस्ताव पास हो गया। कमेटी बनी। इसके चेयरमैन सर तेजबहादुर सप्रू बनाये गये और सदस्यों में सर्व श्री डब्ल्यू० एच० विन्सेण्ट, जमनादास द्वारकादास, सहदेव लाल, टी० वी० शेशगिरि ऐयर, शहाबुद्दीन, ज्ञोगेन्द्र नाथ मुखर्जी, मीरअसद अली और मुंशी ईश्वर शरण थे। कमेटी ने गवाहियां लीं और १४ जुलाई सन् १९२१ को अपनी रिपोर्ट पेशकी। रिपोर्ट में सिफारिश की गई थी कि प्रेस एक्ट रद्द कर दिया जाय। तदनुसार सन् १९२२ में यह कानून रद्द कर दिया गया।

प्रेस एक्ट तो रद्द हो गया परन्तु समाचार पत्रों के दबाने के लिए अन्यान्य कानूनों का खूब ज़ोरदार प्रयोग होने लगा। १२४ ए (राजद्रोह) १५३ ए (जाति विद्रोह) अदालत का अपमान, क्रिमिनलला एमेंडमेंट एक्ट, १८१८ का रेगूलेशन आदि अनेक कानून पत्रों एवं पत्रकारों के दमन के साधन बनाये गये। सरकारी अधिकारियों को इन कानूनों का उग्र प्रयोग करने का चस्का-सा लग गया। नतीजा यह हुआ कि प्रेस एक्ट के रद्द होने के बाद भी केसरी, बाम्बे-क्रानिकल, सर्चलाइट, सर्वेन्ट, बंगवासी फारवर्ड आदि अनेक पत्र सताये गये।

सन् १९३० में जब महात्मा गान्धी का नया स्वराज्य आन्दोलन चला तब एक नई रचना की गई। आन्दोलन के अवसर पर समाचार पत्रों पर उल्टा सीधा प्रहार करता सरकारी नीति थी। अतः प्रेस एक्ट की फिर आवृत्ति हुई। इस बार एसम्बली में पास कराने की आवश्यकता भी नहीं समझी गई। वाइसराय लार्ड इरविन महाशय ने अपने विशेषाधिकार के बल पर ही इसकी रचना कर डाली। यह प्रेस आर्डीनेन्स के रूप में सामने आया। इसमें प्रायः वे सब बातें थीं जो १९१० के प्रेस एक्ट में थीं। जमानत की रकम ५०० से २००० तक रखी गई थी। इस अस्त्र का प्रयोग करने के लिए अधिकारी गण कितने उतावले और बेचैन हो रहे थे इसका थोड़ा सा अन्दाजा इस बात से होगा कि अधिकार का ख्याल किये बिनाही सरकारी कर्मचारी पत्र को दबाने की धुन में थे। बंगाल सरकार के चीफ़ सेक्रेटरी ने अधिकार न होते हुए भी इंडियन डेली न्यूज प्रेस से १००० की जमानत तलब की। उनकी यह धींगाधींगी ७ मई सन् १९३० को कलकत्ते के चीफ़ प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट के उस आर्डर से स्पष्ट हो गई जिसमें उन्होंने कहा था कि जमानत तलब करने का उक्त नोटिस गल्ती से निकाला गया। इस आर्डीनेन्स ने भी अपने कार्य काल में समाचार पत्रों की अच्छी खबर ली। आर्डीनेन्स की मियाद ६ महीने की होती थी। अतः ६ महीने बाद यह आर्डीनेन्स स्वतः रद्द हो गया। इस समय लोगों में यह धारणा फैली कि अब यह आर्डीनेन्स के रूप में न आयेगा। यदि आयेगा भी तो एसम्बली में पेश होकर बाकायदा कानून के रूप में आवेगा। मगर उनकी यह धारणा थोड़े ही दिन बाद गलत साबित हो गई। वायसराय महोदय ने एक नया आर्डीनेन्स फिर निकाल दिया। यह नया आर्डीनेन्स २३ दिसम्बर सन् १९३० को प्रेस एंड अनआथोराइज्ड न्यूज़ पेपर्स आर्डीनेन्स के नाम से बनाया गया। यह आर्डीनेन्स पहिले से भी सख्त बनाया गया। पहिले वाले आर्डीनेन्स में केवल समाचार पत्रों के ऊपर बार था। जो समाचार पत्र कोई आपत्तिजनक बात छापता उसीसे जमानत तलब करने की व्यवस्था थी। परन्तु दूसरे में मामूली हैंड बिल, पर्चे आदि के आपत्तिजनक होने पर भी दंड विधान था। सम्भवत्, इसका कारण यह था कि जिन दिनों पहिला प्रेस आर्डीनेन्स जारी था उन दिनों लोग समाचार पत्र न निकाल कर हैंडबिल आदि के प्रकाशन द्वारा प्रचार कार्य किया करते थे। इसी लिए बीच में भी थोड़े दिन के लिए इस प्रकार की पर्चे बाजी के लिए अलग से एक आर्डीनेंस बनाया गया था। इन नये आर्डीनेंस में उसी बीच वाले आर्डीनेंस का उतना हिस्सा और पहिले आर्डीनेंस का सब मसाला मिलाकर इसका रूप और भी भयंकर कर दिया गया था। जमानत आदि में भी सख्ती की गई थी। पहिले आर्डीनेंस में ५०० से लेकर २००० तक की जमानत थी, उसमें ५०० से ५००० कर दी गई। इसमें यह व्यवस्था भी हो गई कि यदि पत्र विशेष आपत्तिजनक हो तो प्रेस भी ज़ब्त कर लिया जाय। यह विधान पहिले आर्डिनेन्स में न था। इस प्रकार नये आर्डिनेन्स का रूप काफी भयंकर हो गया था। परन्तु गनीमत यह हुई कि इसका प्रयोग नहीं होने पाया। पहिले राजनीतिक आन्दोलन के शान्त करने की बात

चीत छिड़ी फिर शान्ति स्थापना हुई और सब आर्डिनेन्स वापस ले लिए गये। इसी लिए यह आर्डीनेन्स अपनी कठोरता का प्रयोग न कर सका। परन्तु सरकार की शनि दृष्टि समाचार पत्रों पर बराबर लगी रही। इस तरफ उसे मौका भी अच्छा हाथ लगा। देश के सब राजनीतिक नेता राउण्डटेबुल कान्फ्रेन्स के झगड़े में लगे हुए थे। एसम्बली के अनेक प्रभावशाली और प्रतिभावान सदस्य भी उसी सिलसिले में विलायत भेजे जा चुके थे। इस लिए अब सरकार का विरोध करने वाले इने गिने सदस्य ही रह गये थे। यह मौका देख कर होम मेम्बर महाशय ने झट नया प्रेस बिल पेश कर दिया। इसका विरोध हुआ। कानूनी त्रुटि के कारण इसका पेश होना भी पहिले रुक गया। परन्तु तुरन्त ही उसे वापस करके उसी प्रकार का दूसरा बिल पेश कर दिया गया जो विरोध होते भी पास हो गया। अबकी बार का कानून आर्डीनेन्स के रूप में नहीं बाकायदा कानून के रूप में स्वीकृत हुआ। यद्यपि इसमें यह कहा गया कि यह केवल क्रान्तिकारी आन्दोलन को प्रोत्साहन देने वाले पत्रों को काबू में रखने के लिए ही बनाया गया है तथापि उसका रूप जितना व्यापक था उसको देखते हुए कोई समाचार पत्र अपनी स्थिति को अबाध नहीं समझता था। इस कानून में यह कहा गया था कि किसी प्रकार की उत्तेजना फैलाने का प्रयत्न न किया जाय, नहीं तो दंड मिलेगा। यहाँ 'किसी प्रकार' शब्द इतना व्यापक था कि इसके अन्दर मामूली समाचार प्रकाशन तक आ सकता था। इस कानून की मियाद केवल दो बरस की रखी गई।

यह सन् १९३१ के अन्तिम दिनों में बना था। उन दिनों राजनीतिक अवस्था कुछ शान्त थी। सन् १९३२ के प्रारम्भ से जब राउण्ड टेबुल कानफरेंस का थोथा नाटक देख लिया गया तब आन्दोलन फिर उठा। नये सत्याग्रह संग्राम के छिड़ जाने से बेचारे समाचार पत्रों पर फिर आफत आई। फिर आर्डीनेन्स बना। पिछले साल का कानून प्रत्यक्ष रूप से केवल क्रांतिकारी पत्रों को दबाने के लिए गढ़ा गया था। वह सत्याग्रह सम्बन्धी कार्य को कुचलने के लिए काफी न समझा गया। इसलिए एक नया आर्डीनेंस निकला जिसके द्वारा न केवल सम्पादकीय विचार वरन् समाचारों के शीर्षक और समाचार तक कुछ विशेष अवस्था में अनियमित करार दे दिये गये। इसके कारण समाचार पत्रों की स्वतंत्रता एक दम ही कुचल दी गई। फिर भी सरकार चैन से नहीं बैठी। यह कानून नहीं आर्डीनेन्स था। इसकी मियाद के ६ महीने के बाद क्या होगा यह चिन्ता उसे पहिले ही से लगी हुई थी। इसीलिए आर्डीनेन्स की मियाद खतम होते ही उसने एक नया जाल रचा। अबकी बार एक और कानून बनाया गया जिसके द्वारा तमाम आर्डिनेन्सों को स्थायी कानून का रूप दे दिया गया। सबके साथ समाचार पत्र सम्बन्धी यह आर्डिनेन्स भी कानून बन गया।

इसके बाद शासन व्यवस्था में कुछ परिवर्तन हुए। प्रान्तीय शासन कांग्रेस के हाथ में आया। इससे उन कानूनों की कठोरता के प्रयोग का अवसर नहीं आया। फिर भी केन्द्रीय सरकार अपनी न थी इसलिए कानून उठाये भी नहीं जा सके। कानून की किताब में अब भी वे मौजूद हैं।

इस कोढ़ पर खाज का काम गत द्वितीय महायुद्ध ने किया। शासकों की निरंकुशता के कारण कांग्रेस को शासन व्यवस्था से अलग हो जाना पड़ा। इसके बाद प्रान्तीय शासन सूत्र अधिकांश में एकमात्र तानाशाह गवर्नरों को हाथ में चले गये। लड़ाई हो ही रही थी, बहाना भी मिल गया, और इस बहाने समाचार पत्रों का गला इस प्रकार घोटा गया कि शब्द तक वे स्वतंत्रता पूर्वक नहीं निकाल सके। चित्र, कार्टून, शीर्षक, समाचार, लेख विज्ञापन सबके छापने में प्रतिबंध लगे। कागज का कण्ट्रोल हुआ। तार, टेलीफोन, डाक, यातायात सम्बन्धी असुविधाएँ हुई और इस प्राणवान व्यापार को निर्जीव बनाकर छोड़ दिया गया।

अब ब्रिटिश हुकूमत हट गई है। उसके हटते ही आशा थी कि समाचार पत्र स्वतन्त्रता का अनुभव करेंगे। किसी अंश में यह आशा फलवती भी हुई, परन्तु पूर्ण स्वतन्त्रता आज भी नहीं है। और यद्यपि अंग्रेजी शासन काल में यह आशा की जाती थी कि देश के स्वतन्त्र होने पर समाचार पत्रों की पवित्रता और स्वतन्त्रता की रक्षा भी होगी तथापि अब मालूम होता है कि वह स्वतन्त्रता केवल आंशिक स्वतन्त्रता ही होगी पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं। देखें भविष्य क्या सिद्ध करता है।

भारतीय चल-कोषों का राष्ट्रीयकरण

श्री जगदीशप्रसाद बाजपेयी बी० ए०, एल० एल० बी०

वर्तमान उद्योग धन्धों के युग में चल-कोषों का महत्व कितना अधिक बढ़ता जा रहा है यह किसी से छिपा नहीं है। राष्ट्र की उन्नति उसके व्यवसाय तथा उद्योग धन्धों पर निर्धारित है और इन उद्योग धन्धों की उन्नति चल-कोषों पर। यदि हम उद्योग धन्धों की उन्नति करना चाहते हैं तो चल-कोषों की उन्नति करना हमारा प्रथम कर्तव्य है।

भारत के रिजर्व बैंक ने सन् १९३९ में सरकार के समक्ष कुछ प्रस्ताव संयुक्त-स्कंध-अधिकोष (ज्वाइंट-स्टाक-बैंक्स) के निर्देश एवम् नियंत्रण के लिए रखे थे। उसमें अधिकोषण (बैंकिंग) की परिभाषा इस प्रकार की गई थी।

"चल-कोषों से अभिप्राय चालू हिसाब (करेन्ट एकउंट) तथा अन्य रूप में धन संग्रह की स्वीकृति (डिपोजिट) तथा उसे धनादेश (चेक) द्वारा निकालने की सुविधा प्रदान करना है।"

अधिकोषण मानव के मस्तिष्क की उस सुन्दर खोज का नाम है, जिससे कि हम एक स्थान पर बहुत से व्यक्तियों की अधिक पूँजी (जिसका उपयोग तुरन्त न हो) एकत्र करके किसी विशेष कार्य में उपयोग कर सकते हैं। इस प्रथा से दोनों का ही लाभ होता है; जो व्यक्ति अपनी पूँजी का भाग जमा करते हैं उनको कुछ व्याज मिलता है तथा धनागार (चल-कोष) भी उसी पूँजी को अधिक सूद की दर पर अन्य व्यक्तियों को उधार देकर स्वयम् लाभ उठाते हैं। यह सामूहिक पूँजी का समुचित और सुन्दर उपयोग है। आधुनिक युग में राष्ट्र की शक्ति एवम् प्रगति का उसके चल-कोषों के व्यवसाय से ही पता लगाया जा सकता है। जो भी देश जितना अधिक चल-कोषों का उपयोग करता है वह उतना ही अधिक उन्नतिशील गिना जाता है। पश्चिमीय देशों में शायद कुछ ही प्रतिशत ऐसे व्यक्ति होंगे जो कि इस प्रथा से न लाभ उठाते हों। हमारे भारतवर्ष में अभी तक इसकी प्रगति बड़े पैमाने पर नहीं हुई है और यह भी हमारे अवनति के कई मुख्य कारणों में से एक है। यह अन्दाज़ लगाया जाता है कि इतने बड़े बड़े चल-कोषों का भारत में व्यापार होने के पश्चात् भी यह केवल १० प्रतिशत लोगों को ही अपनी ओर खींच पाया है और अब भी ९० प्रतिशत व्यक्ति इससे न स्वयम् ही लाभ उठाते हैं वरन् अपने समाज को भी अपनी पूँजी से लाभ उठाने से वंचित रखते हैं।

चल-कोषों के प्रमुखतः दो कार्य होते हैं। अधिकोषण (बैंकिंग) एक प्रकार का व्यापार है। उदाहरणार्थ, इसे हम एक ऐसा व्यापार कह सकते हैं जिसमें रुपया कुछ कम सूद पर उधार लिया जाकर अधिक सूद पर उधार दिया जाता हो।

चल-कोषाधिकारियों (बैंकर्स) के व्यवसाय की दूसरी ओर अधिक महत्वपूर्ण स्वरूप को यदि हम आर्थिक उन्नति तथा स्थायित्व की धुरी कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। जब तक कि व्यापार के लिए पूँजी अनिवार्य है तथा ऐसी पूँजी अधिक संग्रहणीय भी है, उस समय तक स्वभावतः ही चल-कोष हमारी अन्य आर्थिक प्रक्रियाओं के मूल आधार स्तम्भ बने रहेंगे, इसमें किंचितमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता है। इसी कारण से हमारी चल-कोष विषयक नीति में एक विशेष प्रकार का निदान उपस्थित हो जाता है, उदाहरणार्थ चल-कोषों का कार्य न केवल लाभ करना है बल्कि सुचारुरूप से पूँजी का समीकरण करना भी है, जिससे कि देश की आर्थिक एवम् औद्योगिक उन्नति का पथ सुगमता से निर्धारित किया जा सके। प्रायः चल-कोषों के यह दोनों स्वरूप—लाभ की दृष्टि से चल-कोषों का उपयोग तथा सामाजिक संस्था के रूप में पूँजी की उत्पत्ति एवम् विभाजन के श्रोत—यह बहुधा पारस्परिक संघर्ष के कारण बन जाते हैं,

व्यक्ति और परिस्थिति

पं० रामानन्द मिश्र

पूरा मनुष्य

गरीबी क्षोभ और वेदना समाज में बढ़ती जा रही है। समाज का रेशा रेशा परिवर्तन पुकार रहा है। फिर भी क्रान्ति क्यों नहीं हो रही है? गरीब गरीब के कंधे से कन्धा मिला शोषकों से लड़ने के बदले धर्म और राष्ट्रीयता के नाम पर एक दूसरे का गला क्यों काट रहा है? "सामाजिक वातावरण से (जिसमें आर्थिक प्रधान है) मनुष्य की भावना निर्धारित होती है।—" मार्क्स के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार आज विशाल जन समूह को क्रान्ति के मैदान में रहना चाहिये था। पर ऐसा नहीं हो रहा है। क्या मार्क्स का सिद्धान्त गलत था? नहीं। मार्क्स ने ही फुअरबाख. पर टिप्पणी लिखते हुए १८४५ में लिखा था—"अबतक के सभी भौतिकवादों का प्रधान दोष यही रहा है कि उन्हों ने प्रेरणा का अध्ययन उसके वाह्य-प्रेरक उपकरणों के आधार पर ही किया है। उनके पीछे मनुष्य के अन्तःकरण की वृत्ति का जो स्थान है, स्वयं कर्त्ता की भावनाओं का जो प्रभाव है उसपर उन्हों ने ध्यान नहीं दिया।"

परन्तु स्वयं मार्क्स और ऐंगिल्स अपने लेखों में इस पक्ष के उचित स्थान को दिखा नहीं सके। ऐंगिल्स ने मरने के पहले अपने एक खत में कबूल किया कि—"मार्क्स और मैं अंशतः नवयुवकों में इस भावना को फैलाने का जिम्मेवार हूँ कि आर्थिक पक्ष ही सब कुछ है। एक तो विरोधियों को आक्रमणों के जवाब देने में हमें इस पर जरूरत से ज्यादा जोर डालनी पड़ी। दूसरे हमें न समय मिला न अवसर कि दूसरे पक्ष को भी पूरी तौर पर रख सकें।" इसका नतीजा यह हुआ कि आर्थिक पहलू ही सब कुछ है, ऐसा अर्द्ध-सत्य पूर्णसत्य की तरह समाजवादी साहित्य [illegible] में प्रचलित हो गया। कम्यूनिस्टों की थीसिसों पर आप गौर करें तो पन्ने के पन्ने रंगे मिलेंगे आर्थिक परिस्थिति के विश्लेषण में, पर इन्हें बदलने वाली क्रान्ति के वाहक मानव समुदाय की प्रेरणाओं का विश्लेषण शायद ही कहीं मिले। इसी कारण वैज्ञानिक समाजवाद व्यवहार में अवैज्ञानिक रहा।

सामाजिक प्रभाव को इन्कार कर जिन्हों ने इतिहास को व्यक्तियों का चिद्विलास मात्र बना दिया है उन्हों ने जैसा दोष किया वैसा ही दोष मानव अन्तस्थल के प्रभाव को इन्कार करने वालों ने किया। क्रियात्मक प्रेरक शक्ति परिस्थिति छाया मात्र नहीं है, बल्कि उन्हें बदलने की प्रेरणा है। ऐंगिल्स ने कहा है—एक दृष्टि से समाज का इतिहास प्रकृति के इतिहास से मौलिक रूप से भिन्न है। समाज के इतिहास में सभी पात्र चेतना संयुक्त हैं। वे एक निश्चित लक्ष्य की ओर विचार पूर्वक भावना के साथ जाते हैं वाह्य परिस्थिति से मनुष्य प्रभावित होता है, पर क्यों इसलिए कि उनमें उसकी वासनाओं की तृप्ति का सामर्थ्य है। इसके अन्तर की कामनायें वाह्य संसार की वस्तुओं पर विशेष मूल्यों को डालती है। 'आम' के फल में अपना एक गुण है पर गुण की विशेष ग्राहकता मनुष्य के जीभ की बनावट और मन के तरंगों पर निर्भर करती है। जो मछली नहीं खाता उसके निकट मछली का आस्वाद शून्य है।

परन्तु वाह्य वस्तुओं के गुणों में तृप्ति सामर्थ्य है इसको इन्कार कर आदर्शवादी दार्शनिकों ने अपने दर्शन को अवास्तविक बना दिया। न्याय ने बहुत प्राचीन काल में ही इसका जवाब दे दिया था।

सुख या योग निर्भर करता है वाह्य वस्तुओं और करताओं दोनों के गुणों पर। दोनों में किसी की सत्ता को इन्कार करने से हम अर्द्ध-सत्य की लड़ी में फँस जाते हैं।

हमें नये सिरे से कर्त्ता के पक्ष को समाजवादी साहित्य में लाना होगा। वाह्य परिस्थिति प्रभाव डालती [illegible] है, पर परिस्थिति और मानव अंतस्थल की धारा के

मिलने से किस रूप की भावनायें प्रकट होती हैं इसे बतांना होगा। ऐंगिल्स ने भी मरने के पहले कहा था कि:—"अन्तस्थल में जाकर ये किस रूप में प्रकट होती है इसे हम नहीं बता पाये। यह पक्ष उपेक्षित रहा। इससे हमारे विरोधियों को मौका मिला कि हमारे सिद्धान्तों के बारे में गलतफहमी पैदा करें।"

आर्थिक मनुष्य अर्द्धकाल्पनिक मनुष्य है इसीलिए लेलिन ने कहा था—"समाजवाद की रचना का कार्य हमारे काल्पनिक मनुष्यों के द्वारा नहीं होगा, बल्कि उन मनुष्यों के द्वारा जो हमें पूँजीवाद से विरासत के रूप में मिले हैं।

अन्तःकरण

मनुष्य के अन्तस्थल को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है—जाग्रत, सुप्त और अचेतन। याद रहे अन्तर एक ही है, उसमें कई भाग नहीं जैसे सा रे ग म आदि एक ही स्वर के चढ़ाव हैं सात भिन्न भिन्न स्वर नहीं। चित्तविश्लेषण शास्त्र हमें बताता है कि इनमें अचेतन जिसे साधारणतः हम नहीं जानते बहुत ज़्यादा प्रभाव रखता है। फिर भी उसे पूर्ण प्रकाश का मौका नहीं मिलता। क्यों? इसे समझने के लिये अन्तस्तल के कार्य कलाप को एक और तरह से समझना होगा।

जीवन के अन्तस्थल में उद्दाम वासना की प्रचंड ज्वाला है। यह नहीं जानती धर्म को, समाज को, देश को, स्वयं अपने शरीर को। इसे चाहिये तृप्ति, चाहे सारा विश्व या स्वयं जलकर खाक हो जाय। दूसरी ओर हैं वास्तविकताएं, परिस्थितियाँ जो कदम कदम पर रोक लगाती हैं, अंकुश देती है। उन्हें भी इन्कार कर जीवन नहीं चल सकता। इसलिए पैदा होती हैं विधि-निषेधमयी नई अन्तरधारा। वासना, वास्तविकता और विधि निषेधमयी बुद्धि ये तीन धारायें आपस में अनवरत टकराती रहती हैं। कुचली हुईउद्दाम वासनाओं की ज्वाला अन्तर में लेकर वाह्य बाधाओं से युद्ध में संलग्न विधि निषेधमयी अपनी ही भावनायें त्रस्त मनुष्य को अक्सर अज्ञात ग्लानि और पीड़ा से व्यथित करता रहता है। एक ओर समाज विदित आचारों की श्रेष्ठता की छाप अन्तर पर पड़ जाती है दूसरी ओर वासनाओं से पिंड नहीं छूटता। इसलिए मानव अन्तस्थल तीसरी तौर पर दो भागों में विभाजित रहता है। साधारण और असाधारण।

वासना और वास्तविकता जहाँ एक दूसरे के सामने सर झुका मिल कर काम करने लगती हैं वहाँ अन्तर साधरण गति से चलता है। जहां वास्तविकता, वासना के सामने जरा भी झुकना नहीं चाहती या वासना वास्तविकता के सामने वहाँ असाधारण कार्यकलापों की सृष्टि होती है—जो विशेष होने पर तरह तरह की बीमारियों और पागलपन में प्रकट होते हैं। पर याद रहे पागलपन की छोटी लहरें हर व्यक्ति में रहती है और साधारणता की लहरें प्रत्येक पागल में।

अन्तर जगत् के बीच में संघर्षों से पैदा होते हैं भावबन्ध भावग्रंथि (complex), उन्नयन (Sublimation) और तर्क-बहलाव (Rationalisation)। अभ्यास से पैदा होता है पुराने आचारों का बन्धन। इन आचारों के प्रति मनुष्य का जबर्दस्त खींचाव रहता है। ये आचार तो पैदा हुए किसी बीते युग में उस युग की आवश्यकता को पूरा करने, परन्तु उनका अधिकार जब मनुष्य के हृदय पर दृढ़ हो जाता है तो आवश्यकता मिटने पर भी उनका प्रभाव नहीं जाता। लेलिन ने कहा था:—"लाखों मानव के अन्तर में जमें हुए अभ्यास की शक्ति अत्यंत प्रबल होती है।" (The power of habit ingrained in millions and ten of millions is a terrible power.)

इसी तरह मजहबी ख्यालों का भी प्रभाव अन्तर पर रहता है। मार्क्स और फ्रायड दोनों ने माना है कि वाह्य वास्तविकता के सम्मुख मनुष्य जो असहायपन अनुभव करता है वही मजहब की बुनियाद है। अपने और संसार का अज्ञान, जीवन के अर्थ की खोज मनुष्य को ले जाता है कल्पना के जगत में। मार्क्स ने कहा है:—"मजहब बोझ से दबे प्राणी की आह है अथवा हृदयहीन विश्व का हृदय, अथवा आत्माहीन वस्तुस्थिति की आत्मा।"

फ्रायड ने भी इसे ही दूसरे शब्दों में कहा है:—"मजहबी सिद्धान्तों पर उस युग की छाप है जिसमें वे पैदा हुए याने मानव जाति की अज्ञान शैशवावस्था।

इस तरह बहुरंगी अन्तर्जगत में भावनाओं और परिस्थिति के संघर्ष का परिणाम होता है सचेतन व्यवहार।

परिस्थिति में क्या है

(१) आर्थिक संगठन
(२) राजनैतिक संगठन
(३) विचार धारा
(४) संस्कृति
(५) परम्परागत आचार

मनोभावों में क्या है

(१) काम वासना
(२) स्वतंत्रता की प्रेरणा
(३) प्रभुता की कामना
(४) जीवन रक्षा की कामना
(५) वंश रक्षा की कामना
(६) ज्ञान की प्यास

इन दोनों का अन्तर्द्वन्द्व प्रकट होता है जिसपर फ्रायड का सारा सिद्धान्त टिका हुआ है। अन्तर का ही एक भाग वासना है और दूसरा परिस्थिति को समझने वाला सहज मन। वासना है तर्कहीन, बुद्धिहीन, केवल भोग की कामना रखने वाली। सहज मन है तर्क और बुद्धियुक्त वास्तविकता को समझने वाला। इन दोनों का द्वन्द्व अनिवार्य है। फिर वासना के मूल में स्वयं द्वन्द्व है। एक ओर है काम (जीवन) दूसरी ओर है नाश (मृत्यु) मैं रहूँ न रहूँ (to be or not to be) का द्वन्द्व अज्ञातरूप से चलता रहता है, ऐसा फ्रायड का कहना है।

याद रहे मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अच्छा या बुरा, किसी तरह का भी समाज उसे चाहिए। पर समाज गठन की पहली सीढ़ी पर ही मनुष्य उलझ जाता है काम वासना से। ऐंगिल्स ने "परिवार की उत्पत्ति" में लिखा है:—"वयस्क युवकों की सहिष्णुता, ईर्षाहीनता, पहली शर्त है, बड़े और स्थायी समाजों के गठन की, जिन समाजों में मनुष्य पशुता से ऊपर उठकर मनुष्य बनता है।"

यह फ्रायड ने भी माना है कि प्रवृत्तियों के दमन का प्रेरक आर्थिक है।

भाषा के जन्म के इतिहास पर लिखते हुए फ्रायड ने माना है कि भाषा का जन्म प्रेयसी या प्रिय के पुकारने में हुआ। पीछे इन्हीं ध्वनियों को श्रम के साथ जोड़ दिया गया। याने कामैषणा का उन्नयन हुआ। (Labour Provides a channel for displaced Sexual energy)

जाँता चलाते हुए स्त्रियाँ जो ग्राम्य गीत गाती हैं उनका आप अध्ययन करें तो श्रम और काम वासना का सम्बन्ध और ज्यादा साफ दीख पड़ेगा।

१७८९ में पेरिस वासियों ने पुराने देवताओं के स्थान पर समता, भाईचारा और स्वतन्त्रता को बैठाया। एक बड़े गिरजाघर में समारोह के साथ स्वतन्त्रता की देवी को बैठाकर श्रद्धाञ्जलि देना तय पाया। स्वतंत्रता देवी के स्थान पर बैठी कौन? पेरिस की सर्व सुन्दरी नर्तकी। ऐसा ही मनुष्य है।

व्यक्ति और इतिहास

किसानों और मजदूरों का जो सही नेतृत्व करना चाहते हैं उन्हें अपनी जमात को समूहों और टुकड़ों दोनों का अच्छी तरह अध्ययन करना होगा। व्यक्ति ही सब कुछ है या व्यक्ति नगण्य है। दोनों विचार एकांगी है। १८९० में अपने मित्र ब्लीक को खत लिखते हुए एंगिल्स ने लिखा था।"जीवन की अनेकों विभिन्न स्थितियों से पैदा होती हैं इच्छाएं। इन हजारों लाखों इच्छाओं की संघर्ष की धारा से बनता है इतिहास। एक ऐतिहासिक घटना के पीछे शक्तियों के समतुलन की असंख्य श्रेणियाँ हैं। प्रत्येक अपने शरीर तथा मन की बनावट और बाह्य परिस्थिति (जिसमें प्रधान है आर्थिक) के अनुसार इच्छा करता है। पर परिणाम होता है इच्छाओं का सामूहिक लघुतम। इससे यह नतीजा नहीं निकालना चाहिए कि व्यक्तिगत इच्छाओं का मूल्य० है, उल्टे प्रत्येक की इच्छा परिणाम का साधक और भागी है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार इतिहास में अन्तिम निर्णायक प्रभाव होता है पैदावार का। इससे ज्यादा न हमने कहा है न मार्क्स ने। इसलिए कोई यदि हमारे वाक्यों को

तोड़-मरोड़ कर, यह अर्थ निकालता है कि आर्थिक पहलू ही एक मात्र निर्णायक पहलू है तो वह हमारे वाक्यों को अर्थहीन अवास्तव और निकम्मा बना देता है। आर्थिक परिस्थिति बुनियाद है पर उसके ऊपर खड़े हुये महल के भिन्न भिन्न भाग—लड़ने वाले के अन्तर में वर्ग-संघर्ष का राजनैतिक रूप, राजनैतिक, दार्शनिक और सामाजिक सिद्धान्त, तथा धार्मिक भावना—सभी इतिहास की धारा पर अपना प्रभाव डालते हैं और अक्सर ये ही उसकी रूप रेखा को निर्धारित करती हैं।

क्रान्ति निर्भर करती है परिस्थिति की परिपक्वता पर। परिस्थिति परिपक्व होने पर मानव समाज को क्रान्ति के मैदान में उतरना पड़ता है। इस समय में जिम्मेवारी परिस्थति पर नहीं, संघर्ष में खड़े मानव समुदाय और उनके पथ प्रदर्शकों पर चली जाती है। आज हम इसी अवस्था में खड़े हैं। मानव स्टेज के बीच में ढ़केल दिया गया है अन्तिम पार्ट अदा करने के लिए। आवश्यकता के युग से वह किस तरह छलांग मारकर स्वतंत्रता के युग में जायगा, इसका निर्णय उसके कार्यकलाप पर आश्रित है।

उस मानव का अध्ययन करना सबसे जरूरी हो गया है जो आज हमारा सबसे बड़ा बाधक है, इस मानव की अन्तर-क्रान्ति-विरोधी ग्रंथियाँ, जो उसे ले जाती है साम्प्रदायिक संघर्षों और जाति भेदों की रूढ़ियों की ओर समाजवाद को आवश्यंभावी मानकर मानवेच्छाओं और प्रेरणाओं का अध्ययन नहीं करना यान्त्रिक भौतिकवाद को अपनाना है। स्टालिन ने १९३४ में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी को रिपोर्ट देते हुए कहा था—"इस समय सबसे बड़ी कमी है संगठन शक्ति रखने वाले नेताओं की,। तथाकथित परिस्थितियों के नाम पर खेलना उचित नहीं। जब कि किसान और मज़दूर क्रान्ति के लिए तैयार हैं, परिस्थितियों का कार्य कलाप बहुत महदूद हो गया है। अब संस्था-संगठन और नेतृत्व की जिम्मेदारी प्रधान बन गई है।" याने अब से असफलता और दोषों की ९० प्रतिशत जिम्मेदारी हमारे ऊपर है परिस्थितियों पर नहीं।

इस जिम्मेदारी को हम तभी पूरा कर सकते हैं जब हम मनुष्य के कल्पित मित्र को छोड़ कर मनुष्य जैसा है वैसा ही समझने का प्रयत्न करें। उनके अन्तस्थल के गहन तल में जाकर ढूढ़ें कि कहाँ क्या है जो उसे क्रान्ति की ओर बढ़ने नहीं देता और सोचें कि किस प्रकार बाधाओं को दूर किया जा सकता है।

आसबर्न की किताब 'फ्रायड और मार्क्स' के आधार पर। —लेखक

अहिंसा

श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह

ओ मनुज की पाशविकता से उपेक्षित शक्ति!
सत्य की विस्मृत, विकृत मानव-हृदय में भक्ति!
उस हृदय में जो कि विभ्रम का बना है खेल।
और जिसके भाग्य पर हैं कुग्रहों के मेल।

तुम हृदय की एक कोमल भावना अम्लान।
जो बनी थी भूमि पर अपवर्ग का सोपान।
किन्तु, बर्बर बुद्धि की खा खा भयानक चोट।
एक दिन निर्मूल-सी, रज में गई जो लोट।

व्यक्ति और परिस्थिति

पं० रामानन्द मिश्र

पूरा मनुष्य

गरीबी क्षोभ और वेदना समाज में बढ़ती जा रही है। समाज का रेशा रेशा परिवर्तन पुकार रहा है। फिर भी क्रान्ति क्यों नहीं हो रही है? गरीब गरीब के कंधे से कन्धा मिला शोषकों से लड़ने के बदले धर्म और राष्ट्रीयता के नाम पर एक दूसरे का गला क्यों काट रहा है? "सामाजिक वातावरण से (जिसमें आर्थिक प्रधान है) मनुष्य की भावना निर्धारित होती है।—" मार्क्स के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार आज विशाल जन समूह को क्रान्ति के मैदान में रहना चाहिये था। पर ऐसा नहीं हो रहा है। क्या मार्क्स का सिद्धान्त गलत था? नहीं। मार्क्स ने ही फुअरबाख. पर टिप्पणी लिखते हुए १८४५ में लिखा था-"अबतक के सभी भौतिकवादों का प्रधान दोष यही रहा है कि उन्हों ने प्रेरणा का अध्ययन उसके वाह्य-प्रेरक उपकरणों के आधार पर ही किया है। उनके पीछे मनुष्य के अन्तःकरण की वृत्ति का जो स्थान है, स्वयं कर्त्ता की भावनाओं का जो प्रभाव है उसपर उन्हों ने ध्यान नहीं दिया।"

परन्तु स्वयं मार्क्स और ऍंगिल्स अपने लेखों में इस पक्ष के उचित स्थान को दिखा नहीं सके। ऍंगिल्स ने मरने के पहले अपने एक खत में कबूल किया कि—"मार्क्स और मैं अंशतः नवयुवकों में इस भावना को फैलाने का जिम्मेवार हूँ कि आर्थिक पक्ष ही सब कुछ है। एक तो विरोधियों को आक्रमणों के जवाब देने में हमें इस पर जरूरत से ज्यादा जोर डालनी पड़ी। दूसरे हमें न समय मिला न अवसर कि दूसरे पक्ष को भी पूरी तौर पर रख सकें।" इसका नतीजा यह हुआ कि आर्थिक पहलू ही सब कुछ है, ऐसा अर्द्ध-सत्य पूर्णसत्य की तरह समाजवादी साहित्य में प्रचलित हो गया। कम्यूनिस्टों की थीसिसों पर आप गौर करें तो पन्ने के पन्ने रंगे मिलेंगे आर्थिक परिस्थिति के विश्लेषण में, पर इन्हें बदलने वाली क्रान्ति के वाहक मानव समुदाय की प्रेरणाओं का विश्लेषण शायद ही कहीं मिले। इसी कारण वैज्ञानिक समाजवाद व्यवहार में अवैज्ञानिक रहा।

सामाजिक प्रभाव को इन्कार कर जिन्हों ने इतिहास को व्यक्तियों का चिद्विलास मात्र बना दिया है उन्हों ने जैसा दोष किया वैसा ही दोष मानव अन्तस्थल के प्रभाव को इन्कार करने वालों ने किया। क्रियात्मक प्रेरक शक्ति परिस्थिति छाया मात्र नहीं है, बल्कि उन्हें बदलने की प्रेरणा है। ऍंगिल्स ने कहा है—एक दृष्टि से समाज का इतिहास प्रकृति के इतिहास से मौलिक रूप से भिन्न है। समाज के इतिहास में सभी पात्र चेतना संयुक्त हैं। वे एक निश्चित लक्ष्य की ओर विचार पूर्वक भावना के साथ जाते हैं वाह्य परिस्थिति से मनुष्य प्रभावित होता है, पर क्यों इसलिए कि उनमें उसकी वासनाओं की तृप्ति का सामर्थ्य है। इसके अन्तर की कामनायें वाह्य संसार की वस्तुओं पर विशेष मूल्यों को डालती है। 'आम' के फल में अपना एक गुण है पर गुण की विशेष ग्राहकता मनुष्य के जीभ की बनावट और मन के तरंगों पर निर्भर करती है। जो मछली नहीं खाता उसके निकट मछली का आस्वाद शून्य है।

परन्तु वाह्य वस्तुओं के गुणों में तृप्ति सामर्थ्य है इसको इन्कार कर आदर्शवादी दार्शनिकों ने अपने दर्शन को अवास्तविक बना दिया। न्याय ने बहुत प्राचीन काल में ही इसका जवाब दे दिया था।

सुख या योग निर्भर करता है वाह्य वस्तुओं और करताओं दोनों के गुणों पर। दोनों में किसी की सत्ता को इन्कार करने से हम अर्द्ध-सत्य की लड़ी में फँस जाते हैं।

हमें नये सिरे से कर्त्ता के पक्ष को समाजवादी साहित्य में लाना होगा। बाह्य परिस्थिति प्रभाव डालती है, पर परिस्थिति और मानव अंतस्थल की धारा के

मिलने से किस रूप की भावनायें प्रकट होती हैं इसे बतांना होगा। ऍंगिल्स ने भी मरने के पहले कहा था कि:—"अन्तस्थल में जाकर ये किस रुप में प्रकट होती है इसे हम नहीं बता पाये। यह पक्ष उपेक्षित रहा। इससे हमारे विरोधियों को मौका मिला कि हमारे सिद्धान्तों के बारे में गलतफहमी पैदा करें।"

आर्थिक मनुष्य अर्द्धकाल्पनिक मनुष्य है इसीलिए लेलिन ने कहा था—"समाजवाद की रचना का कार्य हमारे काल्पनिक मनुष्यों के द्वारा नहीं होगा, बल्कि उन मनुष्यों के द्वारा जो हमें पूँजीवाद से विरासत के रूप में मिले हैं।

अन्तःकरण

मनुष्य के अन्तस्थल को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है—जाग्रत, सुपुप्त और अचेतन। याद रहे अन्तर एक ही है, उसमें कई भाग नहीं जैसे सा रे ग म आदि एक ही स्वर के चढ़ाव हैं सात भिन्न भिन्न स्वर नहीं। चित्तविश्लेषण शास्त्र हमें बताता है कि इनमें अचेतन जिसे साधारणतः हम नहीं जानते बहुत ज्यादा प्रभाव रखता है। फिर भी उसे पूर्ण प्रकाश का मौका नहीं मिलता। क्यों? इसे समझने के लिये अन्तस्तल के कार्य कलाप को एक और तरह से समझना होगा।

जीवन के अन्तस्थल में उद्दाम वासना की प्रचंड ज्वाला है। यह नहीं जानती धर्म को, समाज को, देश को, स्वयं अपने शरीर को। इसे चाहिये तृप्ति, चाहे सारा विश्व या स्वयं जलकर खाक हो जाय। दूसरी ओर हैं वास्तविकताएं, परिस्थितियाँ जो कदम कदम पर रोक लगाती हैं, अंकुश देती है। उन्हें भी इन्कार कर जीवन नहीं चल सकता। इसलिए पैदा होती हैं विधि-निषेधमयी नई अन्तरधारा। वासना, वास्तविकता और विधि निषेधमयी बुद्धि ये तीन धारायें आपस में अनवरत टकराती रहती हैं। कुचली हुई उद्दाम वासनाओं की ज्वाला अन्तर में लेकर वाह्य बाधाओं से युद्ध में संलग्न विधि निषेधमयी अपनी ही भावनायें त्रस्त मनुष्य को अक्सर अज्ञात ग्लानि और पीड़ा से व्यथित करता रहता है। एक ओर समाज विदित आचारों की श्रेष्ठता की छाप अन्तर पर पड़ जाती है दूसरी ओर वासनाओं से पिण्ड नहीं छूटता। इसलिए मानव अन्तस्थल तीसरी तौर पर दो भागों में विभाजित रहता है। साधारण और असाधारण।

वासना और वास्तविकता जहाँ एक दूसरे के सामने सर झुका मिल कर काम करने लगती हैं वहाँ अन्तर साधरण गति से चलता है। जहां वास्तविकता वासना के सामने जरा भी झुकना नहीं चाहती या वासना वास्तविकता के सामने वहाँ असाधारण कार्यकलाओं की सृष्टि होती है—जो विशेष होने पर तरह तरह की बीमारियों और पागलपन में प्रकट होते हैं। पर याद रहे पागलपन की छोटी लहरें हर व्यक्ति में रहती है और साधारणता की लहरें प्रत्येक पागल में।

अन्तर जगत् के बीच में संघर्षों से पैदा होते हैं भावबन्ध भावग्रंथि (complex), उन्नयन (Sublimation) और तर्क-बहलाव (Rationalisation)। अभ्यास से पैदा होता है पुराने आचारों का बन्धन। इन आचारों के प्रति मनुष्य का जबर्दस्त खींचाव रहता है। ये आचार तो पैदा हुए किसी बीते युग में उस युग की आवश्यकता को पूरा करने, परन्तु उनका अधिकार जब मनुष्य के हृदय पर दृढ़ हो जाता है तो आवश्यकता मिटने पर भी उनका प्रभाव नहीं जाता। लेलिन ने कहा थाः—"लाखों मानव के अन्तर में जमें हुए अभ्यास की शक्ति अत्यंत प्रबल होती है।" (The power of habit ingrained in millions and ten of millions is a terrible power.)

इसी तरह मजहबी ख्यालों का भी प्रभाव अन्तर पर रहता है। मार्क्स और फ्रायड दोनों ने माना है कि वाह्य वास्तविकता के सम्मुख मनुष्य जो असहायपन अनुभव करता है वही मजहब की बुनियाद है। अपने और संसार का अज्ञान, जीवन के अर्थ की खोज मनुष्य को ले जाता है कल्पना के जगत में। मार्क्स ने कहा है:—"मजहब बोझ से दबे प्राणी की आह है अथवा हृदयहीन विश्व का हृदय, अथवा आत्माहीन वस्तुस्थिति की आत्मा।"

फ्रायड ने भी इसे ही दूसरे शब्दों में कहा है:— "मजहबी सिद्धान्तों पर उस युग की छाप है जिसमें वे पैदा हुए याने मानव जाति की अज्ञान शैशवावस्था।

इस तरह बहुरंगी अन्तर्जगत में भावनाओं और परिस्थिति के संघर्ष का परिणाम होता है सचेतन व्यवहार।

परिस्थिति में क्या है

(१) आर्थिक संगठन
(२) राजनैतिक संगठन
(३) विचार धारा
(४) संस्कृति
(५) परम्परागत आचार

मनोभावों में क्या है

(१) काम वासना
(२) स्वतंत्रता की प्रेरणा
(३) प्रभुता की कामना
(४) जीवन रक्षा की कामना
(५) वंश रक्षा की कामना
(६) ज्ञान की प्यास

इन दोनों का अन्तर्द्वन्द्व प्रकट होता है जिसपर फ्रायड का सारा सिद्धान्त टिका हुआ है। अन्तर का ही एक भाग वासना है और दूसरा परिस्थिति को समझने वाला सहज मन। वासना है तर्कहीन, बुद्धिहीन, केवल भोग की कामना रखने वाली। सहज मन है तर्क और बुद्धियुक्त वास्तविकता को समझने वाला। इन दोनों का द्वन्द्व अनिवार्य है। फिर वासना के मूल में स्वयं द्वन्द्व है। एक ओर है काम (जीवन) दूसरी ओर है नाश (मृत्यु) मैं रहूँ न रहूँ (to be or not to be) का द्वन्द्व अज्ञातरूप से चलता रहता है, ऐसा फ्रायड का कहना है।

याद रहे मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अच्छा या बुरा, किसी तरह का भी समाज उसे चाहिए। पर समाज गठन की पहली सीढ़ी पर ही मनुष्य उलझ जाता है काम वासना से। ऐंगिल्स ने "परिवार की उत्पत्ति" में लिखा है:—"वयस्क युवकों की सहिष्णुता, ईर्षाहीनता, पहली शर्त है, बड़े और स्थायी समाजों के गठन की, जिन समाजों में मनुष्य पशुता से ऊपर उठकर मनुष्य बनता है।"

यह फ्रायड ने भी माना है कि प्रवृत्तियों के दमन का प्रेरक आर्थिक है।

भाषा के जन्म के इतिहास पर लिखते हुए फ्रायड ने माना है कि भाषा का जन्म प्रेयसी या प्रिय के पुकारने में हुआ। पीछे इन्हीं ध्वनियों को श्रम के साथ जोड़ दिया गया। याने कामैषणा का उन्नयन हुआ। (Labour Provides a channel for displaced Sexual energy)

जाँता चलाते हुए स्त्रियाँ जो ग्राम्य गीत गाती हैं उनका आप अध्ययन करें तो श्रम और काम वासना का सम्बन्ध और ज्यादा साफ दीख पड़ेगा।

१७८९ में पेरिस वासियों ने पुराने देवताओं के स्थान पर समता, भाईचारा और स्वतन्त्रता को बैठाया। एक बड़े गिरजाघर में समारोह के साथ स्वतन्त्रता की देवी को बैठाकर श्रद्धाञ्जलि देना तय पाया। स्वतंत्रता देवी के स्थान पर बैठी कौन? पेरिस की सर्व सुन्दरी नर्तकी। ऐसा ही मनुष्य है।

व्यक्ति और इतिहास

किसानों और मजदूरों का जो सही नेतृत्व करना चाहते हैं उन्हें अपनी जमात को समूहों और टुकड़ों दोनों का अच्छी तरह अध्ययन करना होगा। व्यक्ति ही सब कुछ है या व्यक्ति नगण्य है। दोनों विचार एकांगी है। १८९० में अपने मित्र ब्लीक को खत लिखते हुए एंगिल्स ने लिखा था।. "जीवन की अनेकों विभिन्न स्थितियों से पैदा होती हैं इच्छाएं। इन हजारों लाखों इच्छाओं की संघर्ष की धारा से बनता है इतिहास। एक ऐतिहासिक घटना के पीछे शक्तियों के समतुलन की असंख्य श्रेणियाँ हैं। प्रत्येक अपने शरीर तथा मन की बनावट और बाह्य परिस्थिति (जिसमें प्रधान है आर्थिक) के अनुसार इच्छा करता है। पर परिणाम होता है इच्छाओं का सामूहिक लघुतम। इससे यह नतीजा नहीं निकालना चाहिए कि व्यक्तिगत इच्छाओं का मूल्य० है, उल्टे प्रत्येक की इच्छा परिणाम का साधक और भागी है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार इतिहास में अन्तिम निर्णायक प्रभाव होता है पैदावार का। इससे ज्यादा न हमने कहा है न मार्क्स ने। इसलिए कोई यदि हमारे वाक्यों को

तोड़-मरोड़ कर यह अर्थ निकालता है कि आर्थिक पहलू ही एक मात्र निर्णायक पहलू है तो वह हमारे वाक्यों को अर्थहीन अवास्तव और निकम्मा बना देता है। आर्थिक परिस्थिति बुनियाद है पर उसके ऊपर खड़े हुये महल के भिन्न भिन्न भाग—लड़ने वाले के अन्तर में वर्ग-संघर्ष का राजनैतिक रूप, राजनैतिक, दार्शनिक और सामाजिक सिद्धान्त, तथा धार्मिक भावना—सभी इतिहास की धारा पर अपना प्रभाव डालते हैं और अक्सर ये ही उसकी रूप रेखा को निर्धारित करती हैं।

क्रान्ति निर्भर करती है परिस्थिति की परिपक्वता पर। परिस्थिति परिपक्व होने पर मानव समाज को क्रान्ति के मैदान में उतरना पड़ता है। इस समय में जिम्मेवारी परिस्थति पर नहीं, संघर्ष में खड़े मानव समुदाय और उनके पथ प्रदर्शकों पर चली जाती है। आज हम इसी अवस्था में खड़े हैं। मानव स्टेज के बीच में ढ़केल दिया गया है अन्तिम पार्ट अदा करने के लिए। आवश्यकता के युग से वह किस तरह छलांग मारकर स्वतंत्रता के युग में जायगा, इसका निर्णय उसके कार्यकलाप पर आश्रित है।

उस मानव का अध्ययन करना सबसे जरूरी हो गया है जो आज हमारा सबसे बड़ा बाधक है, इस मानव की अन्तर-क्रान्ति-विरोधी ग्रंथियाँ, जो उसे ले जाती हैं साम्प्रदायिक संघर्षों और जाति भेदों की रूढ़ियों की ओर समाजवाद को आवश्यंभावी मानकर मानवेच्छाओं और प्रेरणाओं का अध्ययन नहीं करना यान्त्रिक भौतिकवाद को अपनाना है। स्टालिन ने १९३४ में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी को रिपोर्ट देते हुए कहा था—"इस समय सबसे बड़ी कमी है संगठन शक्ति रखने वाले नेताओं की। तथाकथित परिस्थितियों के नाम पर खेलना उचित नहीं। जब कि किसान और मज़दूर क्रान्ति के लिए तैयार हैं, परिस्थितियों का कार्य कलाप बहुत महदूद हो गया है। अब संस्था-संगठन और नेतृत्व की जिम्मेदारी प्रधान बन गई है।" याने अब से असफलता और दोषों की ९० प्रतिशत जिम्मेदारी हमारे ऊपर है परिस्थितियों पर नहीं।

इस जिम्मेदारी को हम तभी पूरा कर सकते हैं जब हम मनुष्य के कल्पित मित्र को छोड़ कर मनुष्य जैसा है वैसा ही समझने का प्रयत्न करें। उनके अन्तस्थल के गहन तल में जाकर ढूढ़ें कि कहाँ क्या है जो उसे क्रान्ति की ओर बढ़ने नहीं देता और सोचें कि किस प्रकार बाधाओं को दूर किया जा सकता है।

आसबर्न की किताब 'फ्रायड और मार्क्स' के आधार पर। —लेखक

अहिंसा

श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह

ओ मनुज की पाशविकता से उपेक्षित शक्ति!
सत्य की विस्मृत, विकृत मानव-हृदय में भक्ति!
उस हृदय में जो कि विभ्रम का बना है खेल।
और जिसके भाग्य पर हैं कुग्रहों के मेल।

तुम हृदय की एक कोमल भावना अम्लान।
जो बनी थी भूमि पर अपवर्ग का सोपान।
किन्तु, बर्बर बुद्धि की खा खा भयानक चोट।
एक दिन निर्मूल-सी, रज में गई जो लोट।

तुम धरा के हाथ से खोई हुई मणि एक।
वहन पा सकती जिसे कर अश्रुका उद्रेक।
खो गई है साथ ही जिसके हृदय की दीप्ति।
खो गया सन्तोष, उसकी खो गई सब तृप्ति।

एक दिन, दिन के निखिल कोलाहलों से ऊब।
जब गया पश्चिम-जलधि में लाल दिनकर डूब।
सो रही थक कर धरा, तम ओढ़कर विश्रान्त।
सो रहा था मौन तब आकाश भी हो क्लान्त।

तुम जगीं तब भूमि का नव स्वप्न बन सुकुमार।
और मरु में भी बहाती चाँदनी की धार।
ओढ़ करुणा का मुलायम, शुभ्रतम परिधान।
और अधरों पर लिए सुख की मधुर मुसकान।

स्नेहमय कोमल करों से एक कलिका तोड़।
और कर उससे सुवासित एक अंचल-छोर।
स्यात् सहलाने लगीं तुम भूमि-उर की पीर।
और आनन पर लगे झड़ने नयन से नीर।

एक स्नेहावेश से दृग चूमकर शतबार।
तुम लगीं करने तनिक स्वप्निल मही को प्यार।
और उसके खो रहे थे क्षणिक सुख में प्राण।
स्पर्श पाकर थे सिहरते भाव सब म्रियमाण।

किन्तु सहसा तोप का सुन एक भीषण नाद।
खुल गईं आँखें धरा की खो गया उन्माद।
और, देखा, तो चतुर्दिक हो रहा था शोर।
भर रहा था रक्त-लोथों से धरा का क्रोड़।

किन्तु, विस्मित भूमि के दृग थे विषण्ण, अधीर।
ढूँढती थीं पुतलियाँ, वह ज्योति की तस्वीर।
ज्योति वह जो स्वप्न में थी छा गई बन तेज।
कर रहे थे व्यंग जिस पर ये मनुज खूँरेज।

और सहसा एक 'मानव-वृद्ध' आया पास।
छोड़ता युग की दशा पर क्षोभ का निःश्वास।
भूमि ने देखी उसी की आँख में जल-धार।
हो रही थी, मूर्ति जिसमें स्वप्न की साकार।

और, उसकी आँख से दो बूँद छलका नीर।
वह गई गलकर मही के स्वप्न की तस्वीर।
तप्त भू की धूल जिसको लीलकर सोल्लास।
कर उठी अपनी धरा का आप ही उपहास।

प्रेम मार्गियों का प्रेम-पंथ

डा० कमल कुलश्रेष्ठ एम० ए०, डी० फिल०

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य में सर्वत्र एक प्रेम-पंथ की चर्चा है। कुछ विद्वानों का मत है कि वह प्रेम आध्यात्मिक है। प्रस्तुत निबंध लेखक ने अन्यत्र विनय-पूर्वक उनके कथन को अस्वीकार किया है। जब सम्पूर्ण हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य के प्रेम पर हम दृष्टि डालते हैं तो वह एक लौकिक प्रेम प्रतीत होता है। पद्मावती के एकाध संकेत समुद्र की एक छोटी सी लहर की भाँति अपने में ही खो जाते हैं। प्रस्तुत लेखक का यह दृढ़ विचार है कि हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य में आया हुआ प्रेम भले ही भौतिक एवं लौकिक हो परन्तु अपने में महान् है। उसकी उज्वलता पर भले ही कामवासना अपनी छाया डाल रही हो, परन्तु उस छाया के तले बसकर भी वह उज्ज्वल ही है। एक विशुद्ध लौकिक दृष्टिकोण से उसका विश्लेषण होना चाहिए।

प्रायः प्रत्येक काव्य में दो प्रकार का प्रेम है:

१. नायक एवं नायिका के बीच।

२. नायक एवं प्रतिनयिका के बीच।

एकाध काव्य में एक तीसरे प्रकार का प्रेम भी है:

३. नायिका एवं प्रतिनायिका के बीच।

पहला प्रेम चार प्रकार से उत्पन्न होता है:—

१. गुण श्रवण द्वारा।

२. चित्र दर्शन द्वारा।

३. प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा।

४. स्वप्न दर्शन द्वारा।

पद्मावती रत्नसेन का प्रेम पहले, सुजान चित्रावली का दूसरे, मनोहर एवं मधुमालती का तीसरे और हंस और जवाहिर का चौथे प्रकार से उत्पन्न होता है। इन कारणों का कोई भी प्रभाव प्रेम पर नहीं पड़ता। प्रेम सर्वत्र प्रेम ही है चाहे जिस कारण से उत्पन्न हुआ हो। एक बार प्रेम में पड़ जाने पर मनुष्य विवश हो जाता है।

कठिन मरम ते पेम बिवस्था।
ना जिउ जिऐ न दसम अवस्था॥[१]

कबीर ने जिस प्रेम के लिए कहा था:

प्रेम छिपाया ना छिपै जा घट परगट होय।
जो पै मुख बोलै नहीं नैन देत हैं रोय॥[२]

वही प्रेम रत्नसेन, नल आदि का है। इसमें सन्देह नहीं कि यह कामजनित है परन्तु कामजनित होने पर भी प्रेम में इतनी तीव्रता असाधारण वस्तु है। एक स्त्री के लिए माँ की ममता के पाशको कच्चे धागे की तरह तोड़कर बन-बन भटकना, सात-सात समुद्र पार कर जाना, हिंसा, शस्त्र के बल पर नहीं, अहिंसा और प्रेम के अस्त्र के बल पर अनजान देश में जाकर स्पष्ट कहना

पद्मावती राजा की बारी।
हौं जोगी तेहि लागि भिखारी॥

और वर्षा, शीत, घाम सहते हुए प्रेम में योगी बनकर सारे राज्य सुखों को ठुकरा देना अपने आप में एक महानता रखता है। धन्य है वह लौकिक प्रेमी जिसने ऐसा किया है।

पद्मावती के लिए रत्नसेन ने कौन से कष्ट नहीं सहे, चित्रावली के लिए सुजान ने क्या नहीं किया। अपनी नव विवाहिता पत्नी से उसने स्पष्ट कह दिया कि प्रेमका सुख चित्रावली के पाने पर ही उसे मिलेगा[३] और वास्तव में वह कामसुख से वर्षों तक दूर रहा। राजकुँवर ने पुहुपावती के लिए अपनी दो-दो नव विवाहिता पत्नियों से कहा कि मैं तो पुहुपावती के प्रेम में लीन हूँ।[४] और वास्तव में वह उसी के लिए पागल बना रहा। वह प्रेम जो मनुष्य को इतना

---

१ जायसी ग्रंथावली (१९३५) पृष्ठ ५६.

२ हम तुम मानहिं सबै रस जहं लग पेम सुभाउ।

३ एक प्रेम रस होइ तब जब चित्रावली पाउ।

४ चित्रावली (१९१२) पृष्ठ ११५.

त्यागी, कष्टसहिष्णु, धैर्यवान दृढ़ एवं सच्चा बना देता है, पूजनीय है, स्वयं अपनी पार्थिवता में ही दिव्य है।

इस प्रेम का लक्ष्य हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य में दो जीवनों का एकीकरण है। यह एकीकरण विवाह की संस्था द्वारा किया जाता है। परन्तु विवाह का कोई भी प्रभाव इस प्रेम पर नहीं आता। पद्मावती विवाह के पहले रत्नसेन की शूली का समाचार सुनकर संदेश भेजती है कि अगर तुम जीवित रहोगे तो मैं भी रहूँगी और अगर तुम न रहे तो मैं भी न रहूँगी। मैं हथेली पर प्राण लिए बैठी हूँ—

काढ़ि प्रान बैठी लेइ हाथा।
मरे तो मरौं जिओं एक साथा॥[1]

और विवाह के पश्चात भी लक्ष्मी से कहती है कि मुझे उसी घाटकी ओर बहा दो जहाँ पर प्रिय हैं। मेरे लिए आग जला दो, मैं जलकर मर जाना चाहती हूँ सारस की जोड़ी बिछुड़ कर जीवित नहीं रहती—

बाउरि होइ परी पुनि पाटा।
देउ बहाइ कंत जेहि घाटा॥
को मोहिं आगि देइ रचि होरी।
जियत न बिछुरे सारस जोरी॥[2]

रत्नसेन के बंदी बन जाने पर वह गोरा बादल से कितने विनय के स्वर में कहती है कि दुख का वृक्ष अब नहीं रखते बनता। उसकी जड़ें तो पाताल तक गहरी चली गई हैं और शाखा स्वर्ग तक। उसकी छाया मेरे सारे संसार को अपने अंदर किए हैं—

दुख बरिखा अब रहै न राखा।
मूल पतार सरग भइ साखा॥
छाया रही सकल महि पूरी।
बिरह बेल भइ बाढ़ि खजूरी॥[3]

सूर्य को ग्रहण ने ग्रस लिया है, अब कमल क्या करे? मैं भी वहाँ जाऊंगी जहाँ प्रिय गए हैं—

सूरज गहन गरासा, कंवल न बैठै पाट।
मूहं पथ तेहिं गवनब, कंत गए जेहि बाट॥[4]

१. जायसी ग्रंथावली (१९३५) पृष्ठ १२८।
२. वही पृष्ठ २०२।
३. वही ,, ३१७।
४. वही ,,

और जिस प्रकार जलते हुए लाक्षा गृह में साहस करके भीम गए थे और जाकर उन्हों ने रक्षा की थी, तुम भी वैसे ही करो—

जैसे जरत लखाघर साहस कीन्हा भीउं।
जरत खंभ तस काढ़हु के पुरुषारथ जीउं॥[5]

विवाह के पश्चात् रत्नसेन लक्ष्मी के छल पर कहता है कि मैं तो भौंरा हूं, मालती के पुष्प को गंध से हीं पहिचान लेता हूं—

मैं हौं सोइ भंवर औ भोजू।
लेत फिरौं मालति कर खोजू॥[6]

तुम क्या रो रही हो। तुम में वह रूप तो है, गंध नहीं है—

का तुइं नारि बैठि अस रोई।
फूल सोइ पै बास न सोई॥[7]

और मैं तो सुगंध पर मरनेवालों में हूँ। किसी दूसरे फूल की गंध नहीं लेता—

हौ ओहि बास जीउ बलि देऊं।
और फूल के बास न लेऊं॥[8]

विवाह के पहले भी उसने पार्वती से कहा था कि अप्सरे, भले ही तुम्हारा रंग सुंदर है परंतु मुझे तो पद्मावती ही चाहिए—

भलेहि रंग अछरी तोर राता।
मोहिं दुसरे सौं भाव न बाता॥[9]

मैं स्वर्ग नहीं चाहता। मैं जिसके लिए मरता हूँ वही स्वर्ग है—

हौ कविलास ब्याह कै करऊं।
सोइ कबिलास लागि जेहि मरऊं॥[10]

स्पष्ट है कि प्रेम की तीव्रता पर कोई भी प्रभाव विवाह का नहीं पड़ा। उसकी शिखा पूर्ववत् ही जल रही है और प्रेमी तथा प्रेमिका एक अनन्य भाव से एक दूसरे से प्रेम कर रहे हैं।

५ वही ,, ३१८।
६ वही ,, १०९।
७ वही
८ वही
९ वही पृष्ठ १०३.
१० वही

यह प्रेम बड़ा एकान्तिक है, उसका लक्ष्य प्रेम ही है, कुछ और नहीं। परन्तु मनुष्य इस पर चलकर और कुछ भी कर सकता है। पुहुपावती का राजकुंवर पुहुपावती को प्राप्त करने के पश्चात् भी त्यागी एवं परोपकारी बना रहा। अतिथियों एवं साधु सज्जनों का वह बड़ा सम्मान करता रहा। नारायण उसकी परीक्षा लेने के लिए आए। उन्होंने कठिनतम परीक्षा ली। प्रेम पंथ पर चलने वाला राजकुंवर एक तपस्वी को वह उत्तर नहीं दे सकता था जो कि रत्नसेन ने तलवार को म्यान से बाहर निकाल कर पद्मावती को मांगने वाले अलाउद्दीन को दिया था :

दरब लेह तो मानों सेव करौं गहि पाउ।
चाहे जो सो पदमिनी सिंघलदीपहि जाउ॥[1]

वह तो विनीत स्वर में कहता है :

भलेहि गुसाईं किरपा कीन्हा।
मनसादान मांग के लीन्हा॥[2]

इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि राजकुंवर का प्रेम पुहुपावती के प्रति कम हो गया था। वह पुहुपावती से कहता है कि उसके बिना वह आत्महत्या भले कर लेगा परन्तु 'सत्त' नहीं टाल सकता—

मो ते सत्त न टारा जाई।
बलु तुम्ह बिनु मरबो विष खाई॥[3]

पुहुपावती भी जाने को तैयार हो जाती है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसका प्रेम राजकुंवर के प्रति कम हो गया था। आत्मसमर्पण के स्वर में वह राजकुंवर से कहती है कि मेरे प्रान तो तुम्हारे हैं, तुम जिसे चाहो दे दो—

इह सुनि के पुहुपावती कहेसि भला हो पीव।
जेहि भावे तेहि देहु अब इह तुम्हार है जीव॥[4]

यहां पर एक बात और भी स्पष्ट कर देनी चाहिए। यह प्रेम सपत्नी के विषय में एकदम आदर्शात्मक है। इस विषय में जायसी ने परिस्थिति अत्यंत स्पष्ट कर दी है। पद्मावती और नागमती में विवाद होता है और मारपीट हो जाती है परंतु रत्नसेन दोनों को समझाता

१ वही पृष्ठ २५१.
२ पुहुपावती पृष्ठ ४५१.
३ वही ४ वही पृष्ठ ४५२

है कि मेरे लिए दिन और रात दोनों ही आवश्यक हैं, तुम आपस में लड़ती क्यों हो? पत्नी का धर्म पति सेवा ही है।[4]

और रूप गर्विता पद्मावती तथा नागमती दोनों शांत हो जाती हैं। प्रेम की अपार शक्ति के कारण ही तो पद्मावती के पास नागमती ने संदेश भेजा था : कि हे सपत्नी, जिसके हाथ में मेरा पति है वह तुम मेरी बैरिन नहीं हो सकती। एक बार मुझसे मेरे प्रिय को मिला दो, मैं तुम्हारे पैरों पर अपना माथा रखती हूं—

सवति, न होसि तू बैरिनि मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर तोर पाय मोर माथ॥[5]

रंगीली से भी जब राजकुंवर कहता है कि अगर तुम्हें सपत्नी से ईर्ष्या न लगे तो तुम मेरे साथ चलो—

जौ न सवति कर मानहु माखा,
तौ तुम्ह हमरे संग चलहु कै बैरागिनि भेस,
मन सकुचि जनि आनहु जात बिराने देस॥[6]

तो रंगीली स्पष्ट उत्तर देती है कि प्रिय, जिस पर तुम अनुरक्त हो उस सपत्नी की मैं बलिहारी जाऊंगी—

औ तेहि सवति की मैं बलिहारी।
जेहि पर प्रीतम रीझि तुम्हारी॥[7]

साधु के साथ जाते समय पुहुपावती कहती है कि प्रिय मेरे मनमें एक ही पछतावा बचा है। मैं दोनों सपत्नियों को नहीं देख सकी हूं—

पै अब एक अहै पछतावा,
दुवौ सवति नहिं देखै पावा॥[8]

रूपमती एवं रंगीली दोनों आकर उससे मिलती हैं तो वह उनसे अपने स्नेहार्द्र शब्दों में कहती है कि हम सपत्नी भाव को आज से छोड़ती हैं और दोनों एक मां से उत्पन्न हुई बहिनों की तरह रहेंगी—

आजु से मानों वहि निसि गाई।
जनु तीनों की एके माई॥[9]

४ जायसी ग्रंथावली (१९३५) पृष्ठ २२५
५ वहीं पृष्ठ १८१
६ पुहुपावती पृष्ठ २४१
७ वही पृष्ठ २४१
८ वही पृष्ठ ४५२
९ वही पृष्ठ ४५२

और बतलाती है कि मुझे तो नाथ वैरागी को देने लेजा रहे हैं—

हमैं देइ वैरागिहिं लेइ चले नर नाह ॥[१]

तो दोनों ही राजकुंवर के पास जाकर कहने लगीं कि पुहुपावती के स्थान पर हमें वैरागी को देदो—

राज कुंवर के आगे जाई।
दूनौ ठाढ़ भई सिर नाई॥
कहेन्ह पुहुप है सबके जीऊ।
सो कैसे तुम देवहु पीऊ॥
दस दोउ माह बराइ कै लेहू।
जाइ कै तेहि वैरागिहि देहू॥[२]

यह प्रेम कितना दिव्य है, हृदय की पाशविक वृत्तियों के कारण उठे हुए समस्त कुभावों का विनाश कर सामंजस्यवादी भावों की यह वृद्धि करता है।

प्रेम-पंथ का योगी यह जानता है कि वह काम वासना से पूर्ण है। सुहागरात के बाद राजकुंवर पुहुपावती की सखियों से कहता है कि यह मैं थोड़े ही था जिसने पुहुपावती को कष्ट दिया, यह तो काम था। वह काम बड़ा शक्तिशाली है, उससे कोई भी नहीं बचा है—

मैं पुहुपावति दुख नहिं दीन्हा।
जो कछु कीन्ह काम सभ कीन्हा॥
जेहिरे काम सो कोउ न बाचा।
सभ कह काम नचावे नाचा॥
कामै सभ कहं काम करावे।
काम से तब कोइ करे न पावे॥
कामहि सिव कर आसन टारा।
तबही ते उपजा जग पारा॥
काम के करत परासह लंभा।
मंछोद्री कर निरखत सोभा॥
इन्द्रहु के पुनि काम सताएउ।
भग ते खुनि सहस चख पाएउ॥
कामहिं ते उपजा संसारा।
काम लाग सभ खेल पसारा॥[३]

और काम को ये कवि प्रेम से विलग मानते हैं, इसी कारण कवि दुःखहरनदास कहते हैं।

दुःख हरन यहि काम कह राखि सकै जो कोह।
जगत माह सो सहज ही मुकती जीअत होइ॥[४]

इन कवियों का काम से तात्पर्य शारीरिक संयोग से है, प्रेम इन कवियों के दृष्टिकोण से मन की वह वृत्ति है जो पुरुष को नारी की ओर दृढ़ता के साथ खींचती है।

यहाँ पर एक बात और भी स्मरणीय है, यों तो यह प्रेम-पंथ इन कवियों ने समस्त मानव जाति के लिए माना है परंतु कहानियाँ एवं दृष्टांत एक मात्र उच्च वर्ग में से ही दिए हैं, उच्च वर्ग के सम्मुख रोटी का प्रश्न नहीं होता, नल दमन काव्य में इस क्षुधा के प्रश्न को लिया गया है और कवि स्वीकार करता है कि भूखे पेट प्रेम नहीं होता[५]। प्रश्न यह है कि क्या अन्य कवियों के सम्मुख यह प्रश्न नहीं था?

प्रतिनायिका और नायक के बीच का प्रेम भी आदर्शात्मक है, नायक नायिका को पाकर प्रतिनायिका को भूल नहीं जाता। रत्नसेन ने ज्यों ही सुना कि नागमती विरह से जलकर काली हो गई है और खून के आँसू रो रही है—

जरी बिरह भइ कोइल बानी।
... .
हिया फाट वह जब ही कूकी।
परै आँसु सब होइ होइ लूकी॥

वह पक्षी से कहता है—

पंखि, आँखि तेहि मारग लागी सदा रहाहिं।
कोइ न संदेसो आवहिं तेहिक संदेस कहाहिं॥[६]

और वह गंधर्वसेन से झूठ तक बोलता है—

आवा आजु हमार परेवा।
पाती आनि दीन्ह मोंहि देवा॥
राज काज औ भुंइ उपराहीं।
सत्रु भाइ सम कोई नाहीं॥
आपंन आपन करहिं सो लीका।
एकहि मारि एक चह टीका॥
... ...

१ वही पृष्ठ ४५२
२ वही पृष्ठ ४५२
३ वही पृष्ठ ३१८
४ वही पृष्ठ ३१
५ नल दमन (प्रिंस अव वेल्स म्यूजियम बम्बई की नागरी प्रचारिणी सभा काशी में सुरक्षित प्रतिलिपि) पृष्ठ ११०।
६ वही पृष्ठ १८४।

उहां निभर दिल्ली सुलतानू।
होइ जो भोर उठै जिमि मानू॥[१]

दोनों राजकुंवर भी अपनी पूर्व विवाहिता पत्नियों से प्रेम करते हैं।[२] प्रेम-पंथ में इस प्रेम में और नायिकारब्ध प्रेम में कोई अंतर नहीं है। दोनों प्रेम समानस्तर पर रखे गए हैं। नागमती से रत्नसेन कहता है—

नागमती तू पहिल बिआही।
कठिन विछोह दहै जनु दाही॥[३]

पुहुपावती का राजकुंवर तो रंगीली के पैरों पर भी गिर पड़ता है।

इस प्रकार इन कवियों ने नायक एवं प्रतिनायिका के प्रेम को नीचा नहीं रखा, हां उसमें संघर्ष नहीं दिखलाया। इस कारण वह पाठक के मन पर अपनी वह उज्ज्वल आभा नहीं डालता जो कि नायिकारब्ध प्रेम डालता है।

प्रतिनायक की सत्ता केवल पद्मावती में है। प्रतिनायक और नायिका के बीच जिस प्रेम का विकास जायसी करते हैं वह दूसरी प्रकार का है। रत्नसेन तो योगी की भाँति सात समुद्र पार कर पद्मावती को प्राप्त करने के लिए गया था परंतु अलाउद्दीन तलवार के जोर से पद्मावती को चाहता है। उसका दूत कहता है:

बोलु न राजा आपु जनाई।
लीन्ह देवगिरि और छिताई॥[४]

इस पर रत्नसेन के क्रोध की सीमा नहीं रहती। परंतु जब सुल्तान विनय के स्वर में संधि के लिए कहता है तो राजा इस दुर्वृत्त व्यक्ति को अपने महल में ही ठहरा लेता है और दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिम्ब दिखलाने के लिए राजी हो जाता है। प्रतिनायक के हृदय में नायिका के लिए वह प्रेम नहीं रहता जो परम त्याग एवं कष्ट सहिष्णुता से भरा हो। उसमें प्रेम तलवार द्वारा हृदय जीतने का यत्न करता है जो सफल नहीं हो सकता। यह प्रेम पन्थ नहीं है।

सच्चे प्रेम-पंथ में तो अहिंसा, योग, विनयशीलता आदि का विशेष महत्व है जिसका स्पष्टीकरण प्रतिनायक और नायिका के प्रेम के द्वारा कवि कर देता है।

इस प्रेम-पंथ के बड़े गुण इन कवियों ने गाए हैं। जायसी ने बुढ़ापे की बुराई की है क्योंकि बुढ़ापे में यौवन नहीं रहता और मनुष्य प्रेम नहीं कर सकता है। वे तो अत्यंत संतप्त स्वर में कहते हैं कि लम्बी आयु अभिशाप है—

बिरिध जो सीस डुलावै सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़ी आऊ होहु तुम्ह किन्ह यह दीन्ह असीस॥[५]

यौवन प्रमत्त पद्मावती के सम्मुख समस्या दूसरी है। आयु का तकाजा प्रेम पंथ का है, समाज प्रेम-पन्थ में पैर रखने से रोकता है। वह करे तो क्या करे—

जोबन चंचल ढीठ है करै निकाजै काज।
धनि कुलवंति जो कुल धरै कै जोबन मन लाज॥[६]

और अन्त में वह कुल को छोड़ने को तैयार सी है।[७] आयु उसे प्रेम-पंथ में खींच ले जाती है।

सूरदास लखनवी तो साफ कहते हैं कि भवरोग की औषधि प्रिय ही हैं। प्रिय प्रेम पंथ में मिलता है। उसी से संसार में सुख मिल सकता है—

जगत रोग महं भोग पिउ॥[८]

और वे प्रेम क्या प्रेमी और प्रेमिकाओं को बड़ी श्रद्धा से देखते हैं:

जिनके पेम कथा मैं जारा।
धन ते जिन्ह झेली सो झारा॥[९]

१—वही पृष्ठ १८। २—पुहुपावती में इसी कारण वह अपनी पूर्व पत्नियों का सन्देश सुनकर लौट आता है।
३—पुहुपावती पृष्ठ ४४६
४—जायसी ग्रन्थावली (१९३५) पृष्ठ २५१

५ वही पृष्ठ ३४२ ६ वही पृष्ठ ८५
७ एक स्थान पर मंझन अविवाहित प्रेम में रति के स्थान को सुस्पष्ट करते हुए उपदेश देते हैं:
एक निमिख सुख कारन आपहु सरबस कौन नसाउ,
तिरिया थोरहि अकरम जग अपकीरत पाउ।
मंझनका दृढ़ विश्वास कुल एवं धर्म की मर्यादा में है।
सुनहु कुँअर एक बचन हमारा।
धर्म पंथ दुहुँ जग उजियारा।
.. .. ..
कुल औ धरम दोउ रखवारी।
मन ता पथ दे जाय निकारी।
८ नलदमन पृष्ठ ५५
९ वही पृष्ठ ११

उसमान कहते हैं कि सृष्टि के खंभे रूप, विरह प्रेम ही हैं—

रूप प्रेम बिरहा जगत मूल सृष्टि के थम्भ।[१]

और नूर मुहम्मद कहते हैं कि इस संसार की रचना ही प्रेम के कारण की गई है—

अलख प्रेम कारन जग कीन्हा।
धनि सो सीस प्रेम महं दीन्हा॥[२]

जायसी भी कहते हैं :

सुमिरों आदि एक करतारु।
जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारु॥
कीन्हेसि प्रथम जोति परकारु।
कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू॥[३]

उसमान प्रेम की उत्पत्ति के विषय में कहते हैं कि उसे ईस्वर ने ही बनाया

आदि प्रेम विधि ने उपराजा।[४]

और फिर प्रेम के ही कारण सारी सृष्टि बनाई—

प्रेमहि लागि जगत सब साजा॥[५]

जायसी तो इस प्रेम को अखिल सृष्टि में व्याप्त मानते हैं :

रोवं रोवं ते बान जो फूटे।
सूतहि सूत रुधिर मुख छूटे॥
नैनहिं चली रकत की धारा।
कथा भीनि भएउ रतनारा॥
सूरुज बूड़ि उठा होइ ताता।
औ मजीठ टेसू बन राता॥
भा बसंत रातीं बनसपती।
औ रातें सब जोगी जती॥
भूमि जो भीनि भएउ सब गेरु।
औ राते तहं पंखि पखेरु॥
राती सती अगिन सब काया।
गगन मेघ राते तेहि छाया॥[६]

१ चित्रावली (१९१२) पृष्ठ १४
२ इन्द्रावती (१९०६) पृष्ठ ६
३ जायसी ग्रंथावली (१९३५) पृष्ठ १
४ चित्रावली (१९१२) पृष्ठ १३
५ वही पृष्ठ १३
६ जायसी ग्रन्थावली (१९३५) पृष्ठ १११:२

एक दूसरे स्थल पर वह कहते है :

अस जर परा विरह कर गठा।
मेघ साम भए धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु केतु गा दाधा।
सूरज जरा चांद जरि आधा॥
औ सब नखत तराइं जरहीं।
टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं।
जरै सो धरती ठावहिं ठाऊं।
दहकि पलास जरै तेहि दाउं।[७]

इस प्रेम में जब मनुष्य पड़ता है तो उसकी दशा बड़ी ही शोचनीय हो जाती है। उससे न तो जीते ही बनता है और न मरते—

कठिन मरम तें प्रेम बिवस्था।
न जिउ जिऐ न दसम अवस्था।[८]

प्रेम पंथ के पथिक के लिए तो कोई भी उपचार नहीं होता। वैद्यों ने जो उपचार राजा नल के किए वे सब व्यर्थ सिद्ध हुए। प्रेमियों की दशा का वर्णन करते हुए सूरदास लखनवी कहते हैं।

जिन्ह तम बासा प्रेम का तिन घट रकत न मांस।
अगिन तेज दोऊ उवत चुह निकसत होइ सांस।[९]

और प्रेम तथा भूमि सब बराबर हो जाते हैं—

मन राता जब मीत सों तब तन सों कछु नाहिं।
भावै लोटौ भूइं पर भावै सेज्या माँहिं।[१०]

यही नहिं, घट बिलकुल सूना हो जाता है—

मन उरझा उत प्रेम फंद छुटै तो इस सुधि लेइ।
तन सूना जिउ पीउ पहुं कह को उत्तर देइ।[११]

मंझन ने तो प्रेम के निवास स्थान के विषय में अपनी स्पष्ट सम्मति दी है :

सुचौ जाहि दिन सृष्टि उपाई।
प्रीति परेवा देव उड़ाई।
तीनौ लोक ढूंढ़ कै आवा।
आप जोग कहुँ बैरु न पावा॥
तब फिर हम जिउ पैसौ आई।
रह्यौ लुभान न कियौ उड़ाई॥[१२]

७. वही पृष्ठ १८६. ८. वही पृष्ठ ५६.
९. नल दमन पृष्ठ ४६। १०. वही पृष्ठ ४७. ११. वही पृष्ठ ४८.
१२ मधुमालती (काशी नागरी प्रचारणी सभा में सुरक्षित पोथियों में से मझंन की मधुमालती के उद्धरण इस लेख में दिए गए हैं।)

प्रेम पंछी स्वयं अपना परिचय भी देता है कि जहाँ दुख रहता है वहीं पर मेरा निवास स्थान है—

जहवां दुख तहं मोर निवासा।[१]

प्रेम के महत्व के विषय में वे कहते हैं कि जिसके हृदय में विरह ने घाव नहीं किया उसका जन्म लेना बेकार है—

मंझन जो जग जनम ले विरह न कीया घाव।
सूने घर का पाहुना ज्यों आवा त्यों जाव॥[३]

जायसी की प्रेमानुभूति सबसे अधिक तीव्र है। उसकी पद्मावती कहती है कि मैं प्रिय के पास शृंगार करके क्या जाऊँ। मुझे तो प्रिय सर्वत्र व्याप्त दिखलाई पड़ता है—

करि सिंगार तापहं का जाऊं।
ओही देखहुं ठावहिं ठाऊं॥

नैन मांह है उहै समाना।
देखौं तहां नाहिं कोउ थाना॥[३]

उसका दृढ़ विश्वास है—

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा।
बेधि रहा सगरो संसारा॥[४]

जायसी का विरह भी अत्यंत तीव्र है। नागमती इतनी संतप्त है कि—

हाड़ भए सब किंगरी नसैं भईं सब तांति।
रोवं रोवं ते धुनि उठै कहौं कथा केहि भांति॥[५]

किन्तु सूरदास के शब्दों में यह सारी बातें गोपनीय हैं। जो इन्हें जानता है उसे ही ये बतलानी चाहिए किसी दूसरे को नहीं—

प्रेमी प्रीतम को परम कहै न काहू पांह।
जानै ताहि जनाइए लोगन सों कछु नांह॥[६]

१ वही। २ वही।
३ जायसी ग्रन्थावली (१९३५) पृष्ठ १६३।
४ वही पृष्ठ ४८। ५ वही पृष्ठ १८१। ६. नल दमन पृष्ठ ६२

श्रमिक—एक चित्र !

श्री रामावतार यादव 'शक्र'

—१—

आज की यह यामिनी
दीनकी तकदीर से भी अधिक काली !
घोर वर्षा हो रही है !
याकि जगती रो रही है !
पवन का झोंका प्रबल है !
भींगता बाहर खड़ा वह श्रमिक—
जाने क्यों विकल है !
सामने है झोपड़ी !
सह रही जो मेघका आघात एकाकी खड़ी !
झुक रही हैं टट्टियाँ भी हर घड़ी !

× × ×

फूस भी काफी न उस पर !
दीनता यह हाय सीमाहीन !
दूर में कुछ हैं महल भी !
विहंसते वे, चमकती विद्युत जभी पथ-हीन !
देखता उस ओर भी वह !
देखता फिर दृश्य यह अति घोर भी वह !

—२—

उस झोपड़ी का दृश्य भी !
झोपड़ी में खूब पानी !
एक कोना ही बचा है,
हैं वहाँ पर तीन प्राणी—
श्रमिक की बीमार पत्नी और दो सुकुमार बच्चे !
बस सभी कंकाल सच्चे !

× × ×

श्रमिक कोने में खड़ा है !
एकदम चुपचाप है वह !
कुछ नहीं वह बोलता है !
कुछ नहीं वह डोलता है !
आँकता क्या जिन्दगी का मूल्य—
अपने आप है वह !

× × ×

भर रही जो 'आह' रुग्ना, ध्यान से वह सुन रहा !
भूख से बच्चे विकल हैं !
हाय, वे पाते न कल हैं !
नोंचते मां के वदन को,
देखता वह श्रमिक भीषण दृश्य यह—
होकर अचल है !

साहित्य की छान-बीन

श्री बैजनाथसिंह विनोद

रस-सागर (उर्दू कविताओं का नागरी लिपि में संग्रह) रचयिता—श्री सागर निज़ामी। सुन्दर एण्टीक कागज पर सुन्दर छपाई, पृष्ठ संख्या १६०। कुल ७२ कविताएं। सोल एजेंट्स—हिन्द-किताब्स लि०, २६१-२६३ हार्नबी रोड, बम्बई। मूल्य ६)।

उर्दू साहित्य में कवि के सम्बन्ध में डा० अब्दुल हक़ साहब की राय ही समीचीन है। उनकी राय है 'सागर' उर्दू के नए कवियों में से हैं, जिनपर उर्दू कविता की नई तब्दीली का खास असर है और जो अपना असर दूसरों पर डाल रहे हैं। इस वक्त हिन्दुस्तान जिस उलझन में है, वह उनकी कविता से साफ ज़ाहिर है। यह वतनियत (राष्ट्रीयता) और आज़ादी के दीवाने हैं। हिन्दुस्तान को अपनी जन्मभूमि समझते हैं और अपने मधुर गीतों और जोशीली कविताओं से अपने वतन में रहनेवालों को हर किस्म की कुर्बानी और आज़ादी हासिल करने के लिए उकसाते हैं। उनका कलाम फ़िर्क़ापरस्ती की गिन्दगी से बिल्कुल पाक है। वह धर्म और कौम का बिल्कुल फ़र्क नहीं करते। हिन्दुस्तान उनका वतन और हिन्दुस्तानी उनके हमवतनी हैं। इसको साबित करने के लिए यहाँ उनकी कविताएं लिखने की जरूरत नहीं। उनकी तो हर कविता इन खयालों से भरी हुई है।" (रस-सागर, पृ० १६) और प्रस्तुत संग्रह का प्रथम अध्याय "नई सुबह" में ऐसी ही कविताएं हैं। 'सागर' की कविताओं को राष्ट्रीयता से अलग करना सम्भव ही नहीं है। दुर्भाग्य से हमारे देश में मुसलिम लीग के ज़हरीले प्रचार के कारण मुसलमानों में राष्ट्रीयता का होना आश्चर्यजनक माना जा सकता है। किन्तु हिन्दी साहित्य की दृष्टि से उर्दू साहित्य में राष्ट्रीयता ढूंढ़ना हमारे काम का नहीं है। हमारी दृष्टि "सागर" के दूसरे पहलुओं पर है।

संग्रह में "कारवाने इन्क़लाब" नामक एक कविता है, जिसकी "बुनियाद ज़माने के उन खयालों पर रखी गई है, जो संसार भर में नई सामाजिक रूह की पैदावार हैं। क्रान्ति और बेदारी ने समाज के जिन दबे हुए हल्कों में जाग्रति की लहर दौड़ाई है, उन सारे हल्कों को एक क़ाफिले की सूरत में दिखाया गया है और इन्हीं के मुंह से इनकी विपता बयान की गई है। क़ाफिले का आम खाका खींचकर सबसे पहले एक हरिजन औरत, सुन्दरी भंगियों की विपता का बयान करती है।" इसमें कुछ लाइने हैं—

"आह लेकिन भूक ने इनकी नजाकत लूट ली,
कुदरते-फ़ैयाज़[1] ने दी थी जो दौलत लूट ली,
जिनकी कमरें बार से फ़ाक़े के हैं टूटी हुई,
बेगमों और रानियों के नाज़ को लूटी हुई,
जिनके सीनों पर है उरियानी की चादर तार-तार,
भूक में मलफ़ूफ़[2] जोबन प्यास में लिपटी बहार,
दर-बदर साइल[3] जवानी सर-बसर[4] मुफ़लिस शबाब
मरहबा सद मरहबा, 'अय कारवाने इन्क़लाब।"

× × ×

"रस्सियाँ डोलों की हाथों में हैं और पनहारियाँ,
सारियों के चीथड़े हैं चीथड़ों की सारियाँ।"

× × ×

वह डपट, वह डाँट, वह धुतकार और वह झिड़कियाँ,
खुश्क बासी रोटियों के साथ ताज़ी गालिया,
वह सड़े सालन, वह जूठी पत्तलें, वह दाल भात,
अनगिनत नस्लों ने जूठन खाके काटी है हयात,
फ़ातिहा की रोटियाँ भूले से भी मिलती न थीं,
मेरी परछाईं जो पड़ जाती तो धुलती थी ज़मी,
लेकिन अब तैयार हो जायें खुदा-याने-समाज[5],
एक एक जल्लाद से बदला लिया जायेगा आज,

१. दानी कुदरत, २. लिपटा हुआ, ३. भिखारी. ४. इस सिरे से उस सिरे तक। ५. समाज के खुदा.

आज घूँघट है न, सूखी रोटियों का इन्तजार,
गालियाँ देता नहीं अब तिफ़्लए-सरमायदार[2],
पेट से बँधतीं नहीं अब रोटियाँ सूखी हुई,
महवा है रूहे-इन्साँ[3] क़ैदे-इन्साँ[4] से बरी[5],
जगमगायेगा जहाँ में अब हमारा आफताब,
मरहबा, सद मरहबा, अय कारवाने इन्क़लाब।"

इस लम्बी कविता में कवि ने रूपक का साहारा लेकर सर्वहारा जीवन का वह चित्र खींचा है, जिसमें उसके वर्तमान दुर्गतिपूर्ण जीवन और उसकी दीप्त जीवनी शक्ति के अन्दर से क्रान्ति की प्रेरणा मिलती है। ऐसी कविता हिन्दी में "सुमन" के कविता-संग्रह "प्रलय-सृजन" में ही है। हमारा मत है कि इस कविता में जो टेक्नीक है उसके माध्यम से क्रान्तिका सन्देश जनता के निकट आसानी से पहुंचाया जा सकता है और उसका प्रभाव भी चिरस्थायी हो सकता है।

हमारे साहित्य शास्त्र में पहले चार प्रधान रस माने गये, जिसके विकसित रूप नौ हुए। और अन्त में सब रसों का मूल शृङ्गार रस को माना गया। यहाँ शृङ्गार उस अर्थ में नहीं कहा जा रहा है, जिस अर्थ को हमारे कीर-मति प्रगतिवादी पकड़ते हैं। प्राचीन शास्त्रकारों के मत से रस में एक प्रकार का ज्ञान निरूपित रहता है। इसे अभिनव ने बहुत स्पष्टता के साथ प्रतिपादित किया है। दृष्टान्त स्वरूप उन्होंने शृङ्गार रस के कुछ लक्षणों की आलोचना भी की। भरत ने शृङ्गार का लक्षण करते समय कहा है जो उज्ज्वलता का पोषक है उसी को शृङ्गार कहते हैं। इसकी टीका करते हुए अभिनव ने कहा कि स्त्री-पुरुष के परस्पराभिलाष रूप कामवृत्ति को शृङ्गार या रति नहीं कहते। यह तो व्यभिचारी भाव मात्र है। किन्तु प्रारम्भ से शेष पर्यन्त मिलन और विरह रूपमें परिपूर्ण सुख स्वभाव को रति कहते हैं। इस स्थान पर परस्पर एक ज्ञानात्मक भाव और अमूलक ऐक्य इस प्रकार प्रसूत हो जाता है, जिसका विच्छेद कभी नहीं होता—इस तरह परस्पर ज्ञान, चिन्ता और ध्यान के मध्य से अथवा समाधि रूप में जिस पारस्परिकता की अवस्थिति होती है, उसको शृंगार का स्थायी भाव अथवा रति कहते हैं। इसे आत्मा के साथ आत्मा का मिलन भी कह सकते हैं। इसे 'आइडियलिज़्म' भी कह सकते हैं। पर कविता में इसका प्रयोग लोक व्यवहार को लेकर ही होता है; इसलिए इसको निश्चित परिभाषा में 'आइडियलिज़्म' नहीं भी कह सकते। श्री सागर निज़ामी की एक कविता "वही कहो तो फिर ज़रा" इस शास्त्रीय परिभाषा का उचित उदाहरण है। स्त्रियों से पुरुष कितना प्रेरित है, यह इतिहास सिद्ध बात है। "कान्ता सम्मत उपदेश युजे" शायद इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर कहा गया है। ज्ञान, प्रेम भक्ति और शक्ति का उद्गम स्थान शायद नारी प्रेम है। पर वह प्रेम है छिछोरापन नहीं। श्री सागर निज़ामी की कविता "वही कहो तो फिर जरा" इसका सुन्दर उदाहरण है। उसके ज्ञान पक्ष में आज की सामाजिक चेतना और स्थिति संक्रमित है। इसीलिए हम इस कविता को भारतीय साहित्य की महत्त्वपूर्ण रचना मानते हैं। कविता इतनी व्यञ्जनाओं को अपने में समेटे है कि उसकी खूबियों का वर्णन करने में स्थान की कमी है। हम उसकी कुछ लाइनों को यहाँ उद्धृत करते हैं:—

"वही कहो तो फिर जरा, कि तुम बड़े हसीन हो,
हसीन हो, लतीफ़[1] हो, जमील[2] हो, मतीन[3] हो।

× × ×

(९)

वह साये से कहीं तुम्हारा, डरके चीख मारना,
हरीफ़े-वाहिमा[4] को बढ़के, वो मेरा पुकारना,
वह फिर तुम्हारा कुछ समझ के खिफ़्फ़ते[5] उतारना,
वह मेरे बाल बोसा-हाये गर्म से संवारना,
वही कहो तो फिर ज़रा कि तुम बड़े दिलेर हो।

(१०)

दिलेर कहके काम का बना रही हो तुम मुझे,
हसीन कहके देवता बना रही हो तुम मुझे,
मैं सो रहा था आज तक, जगा रही हो तुम मुझे,
जिहादे-जिन्दगी[6] की मय पिला रही हो तुम मुझे,
वहीं कहो तो फिर ज़रा कि तुम बड़े दिलेर हो।

२. साहूकार का बेटा, ३. मनुष्य की आत्मा, ४. इन्सान की कैद, ५. आजाद।

१-कोमल, २-सुन्दर, ३-संजीदा, ४-वहम या धोखा, ५-शर्मिन्दगी ६-जीवन संघर्ष,

(१३)

वही कहो तो फिर ज़रा कि तुम अगर दिलेर हो,
तो उठो अपने साथ नौजवान एक फौज लो,
तमाम देश उठ खड़ा हो इस स्वभाव से उठो,
वतन की राह में बहाओ अपने गर्म खून को,
वही कहो तो फिर ज़रा कि तुम बड़े दिलेर हो।

(१४)

क़ज़ा तमाम मेरे नूरे-खूँ[१] से जगमगायगी,
न आया मैं तो मेरी लाश तो ज़रूर आयगी,
तुम्हारे सामने इन्हीं लबों से मुस्कुरायगी,
यही कहेगी बार-बार, और तुम्हें रुलायगी
वही कहो तो फिर ज़रा कि तुम बड़े दिलेर हो।"

हिन्दी में ऐसी भावधारा पं० बालकृष्ण शर्मा "नवीन" की कविताओं में है। "दिनकर" और "सुमन" की कविताओं में भी ऐसी व्यञ्जनाएं प्रायः मिल जाया करती हैं।

और भी अनेक ऐसी कविताएं हैं, जिनकी टेक्नीक, भाषा और मुहावरा आदि का हम अध्ययन करके लाभ उठा सकते हैं। एक बात की ओर हमारा ध्यान और गया। कवि की काव्यशैली पर यूरोपियन प्रभाव नहीं मालूम होता। उसकी शैली की नवीनता भी हमारे नज़दीक है। इस दिशा में भी श्री सागर निज़ामी हिन्दी के तीन कवियों—"नवीन", "दिनकर" और "सुमन"—के नज़दीक भाषा-भेद के साथ हैं। जिस तरह हमारे इन कवियों को न संस्कृत शब्दों से मोह है और न दुराव है, काव्य की व्यञ्जना के अनुसार ये सभी उर्दू के भी शब्द लेने में नहीं चूकते, उसी तरह सागर निज़ामी भी फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग करते हैं; पर उनका रुझान रहता है लोक-प्रचलित भाषा की ओर।

दो हज़ार वर्ष पुरानी कहानियाँ—(जैन कथा-कहानियाँ)—डॉ० श्री जगदीशचन्द्र जैन एम० ए०, पी-एच० डी०। बहुत बढ़िया एण्टिक कागज पर इलाहाबाद ला जर्नल प्रेस की छपाई, पृष्ठ सं० २०२, मूल्य ३) प्राप्ति स्थान—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, दुर्गाकुंड, बनारस सिटी।

भूमिका में आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने लिखा है—"...सच तो यह है कि ये चिरन्तन भारतीय चित्त की उपज है। कहानियों के पढ़नेवाले प्रत्येक सहृदय पाठक को लगेगा कि ये कहानियाँ किसी सम्प्रदाय विशेष की वस्तु नहीं हैं, बल्कि इनके भीतर सार्वभौम मनुष्य का चित्त ही प्रकट हुआ है।... कहानियों के द्वारा इस देश में नीति, भक्ति धर्म और ज्ञान विज्ञान को प्रचारित करने का काम लिया गया है।"

"जैन साहित्य बहुत विशाल है। अधिकांश में वह धार्मिक साहित्य ही है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में यह साहित्य लिखा गया है। ब्राह्मण और बौद्ध शास्त्रों की जितनी चर्चा हुई है अभी उतनी चर्चा इस साहित्य की नहीं हुई है। बहुत थोड़े पंडितों ने ही इस गहन साहित्य में प्रवेश करने का साहस किया है। डा० जगदीशचन्द्र जी ऐसे ही विद्वानों में से हैं। इन कहानियों को नाना स्थानों से संग्रह करने में उन्हें जो कठिन परिश्रम करना पड़ा होगा वह सहज ही समझा जा सकता है।"

लेखक ने १६ पृष्ठ का प्रास्तावक प्रारम्भ में ही दिया है। इसमें कहानियों का आधार, उनका स्थान, वह संक्रमित होकर कहाँ कहाँ गई आदि बताते हुए अति संक्षेप में कहानियों का समाज पक्ष—जिससे भारतीय समाज का पता चलता है—भी बता दिया गया है। लेखक का यह अध्याय जिज्ञासु पाठक के लिए बहुत महत्त्व का है। लेखक के इस अध्याय को बिना समझे भारतीय कहानी साहित्य पर लिखा गया कोई भी ऐतिहासिक अध्ययन गलत हो सकता है।

लेखक ने समाज पक्ष का विश्लेषण करते हुए जो कहा है, वह हमारे बहुत काम का है। उसने लिखा है:—"...वस्तुतः देखा जाय तो राजाओं का कोई खास धर्म नहीं होता—वे प्रत्येक महान पुरुष की उपासना करने में अपना धर्म समझते हैं।" हम इतनी बात और जोड़ देते हैं कि बशर्ते उस महापुरुष का सिद्धान्त उनके शासन में बाधक न होकर साधक हो। समाज के सम्बन्ध में लेखक का मत है—"...उस समय के सामन्त लोग बहुत विलासी होते थे, बहुपत्नीत्व प्रथा बहुत जोरों पर थी, कूटनीति के दाँव पेंच खूब काम में लाए जाते थे, बड़े-बड़े युद्ध होते थे, राजा की आज्ञा न पालन करने पर कठोर दंड दिया

जाता था, कैदियों को बन्दीगृह में कड़ी यातनाएं झेलनी पड़ती थीं, सामन्त लोग छोटी छोटी बातों पर लड़ बैठते थे। ... साधारणतया लोग खुशहाल थे, परन्तु दरिद्रता का सर्वथा अभाव नहीं था। दासत्व प्रथा बहुत ज़ोरों पर थी और ऋण आदि न चुका सकने के कारण दासवृत्ति अंगीकार करनी पड़ती थी। स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी नहीं थी। ... मुनि चित्र और संभूत की कहानी से पता लगता है कि बुद्ध और महावीर के जातिवाद के विरुद्ध घोर प्रचार करने पर भी समाज में शूद्र-अशूद्र की भावना का नाश नहीं हुआ था।" धर्म राजशक्ति का अनुगमन करता है, इस समाजवादी सिद्धान्त का समर्थन इस संपूर्ण कहानी के एक परिणाम से होता है। लेखक ने लिखा है—"...इससे पता लगता है कि प्रत्येक धर्म मूल में कितना असाम्प्रदायिक होता है और धीरे धीरे वह विश्वकल्याण की भावना से दूर होकर किस प्रकार साम्प्रदायिक तथा संकुचित बन जाता है।" इस तरह इसमें जो कहानियाँ हैं सो तो हैं ही प्राचीन, प्रामाणिक और जैन ऐतिह्य के माध्यम से भारतीय समाज का सरस चित्र और भारतीय समाज-चित्त के गठन का आन्तरिक फोटोग्राफ—एक्सरे-चित्र है।

अर्थ-सन्देश—सम्पादक—श्री भगवतशरण अधोलिया, सह-सम्पादक-श्री दयाशंकर नाग। द्वैमासिक, पृष्ठ संख्या प्रायः ८०। वार्षिक मूल्य ६) विद्यार्थियों से ४) और एक प्रति का १॥)। प्राप्ति स्थान—आचार्य, गोविन्द सेकसरिया, कॉमार्स कालेज, वर्धा।

इस पत्रिका के तीन अंक हमारे सामने हैं। तीनों अंकों में एक लेख भी ऐसा नहीं है, जिसकी प्रामाणिकता, गम्भीरता और उपयोगिता पर सन्देह किया जा सके। किसी भी लेख में बिना प्रमाण के कोई भी बात कही नहीं गई है। कुछ लेखों का जिक्र यहाँ कर देना ही उचित है:—"हमारे आर्थिक प्रश्न और विधान", "अन्तर्कालीन सरकार की आर्थिक नीतियाँ", "कपड़े की समस्या", "राष्ट्रीय खनिज नीति", "उद्योगों का राष्ट्रीयकरण" तथा और भी कुछ सामग्रियाँ (प्रथम अंक)। "हमारी पारिभाषिक शब्दावली", "केन्द्रीय अनुमान-पत्रक (बजट)", "दामोदर घाटी-योजना" (द्वितीय अंक)। "हमारी पारिभाषिक शब्दावली का कार्य" "पाकिस्तान का आर्थिक विवेचन", केन्द्रित तथा विकेन्द्रित उत्पत्ति का सापेक्षिक महत्त्व", "मार्शल योजना—आधार, लक्ष्य और परिणाम" (तृतीय अंक)। जिन लेखकों के लेखों को सावधानी पूर्वक देखना जरूरी समझा, उनमें भी दृष्टि की संकीर्णता नहीं मिली। किसी भारतीय भाषा में अर्थशास्त्र पर महत्वपूर्ण पत्र निकलता है, इसका पता नहीं; पर हिन्दी में ऐसे पत्र को पाकर गौरव का बोध होता है। हम ऐसे महत्वपूर्ण पत्र के प्रकाशित करने वाले श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल को बधाई देते हैं।

महिला-आश्रम पत्रिका—सम्पादक—श्रीभवानी प्रसाद मिश्र। (त्रैमासिक पत्रिका) वार्षिक मूल्य ४॥) एक प्रति का १।) प्राप्ति स्थान—श्री दामोदर दास मूदंडा, प्रबन्ध मन्त्री, महिलाश्रम, वर्धा।

पत्रिका में जो लेख हैं, वे अच्छे हैं; वे अच्छे लेखकों की लेखनी से प्रसूत हैं। पर उनका महत्व तब है जब पत्रिका को आश्रम भर की सीमा में ही रखा जाय। यदि पत्रिका को इसी सीमा में बद्ध करना है तो उसका प्रकाशन ठीक दिशा में हो रहा है। पर यदि पत्रिका को भारतीय महिला समाज के निकट पहुंचना है, तो उसमें जो प्रस्तुत सामग्री है, उसका संकोच और अन्य किस्म की सामग्रियों का विस्तार आवश्यक है। सबको अपनी दृष्टि की स्वाधीनता है, पर दृष्टि विचार-सामग्री के संकोच का कारण न हो।

[१] खून की रोशनी।

११-१०-४७ यू० पी० सरकार चोरबाज़ारी रोकने के लिये एक आर्डिनेन्स लागू करने वाली है जिसके अनुसार चोरबाज़ारी में पकड़े जाने वाले लोग कुछ निश्चित समय तक कैद किये जा सकते हैं। आर्डिनेन्स के अन्तर्गत एक विशेष न्यायालय की भी व्यवस्था है जो कि चोरबाज़ारी में पकड़े गये लोगों के विशेष निवेदन पर विचार करेगी।

११-१०-४७ **प्रेग**—ज़ेकोस्लोवाकिया के कम्यूनिस्ट मिनिस्टर एम० के० क्लेमेन्ट गोटवाल्ड द्वारा संशोधित पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य है युद्ध पूर्व की राष्ट्रीय आय का दुगना करना। योजना का कार्य पहली जनवरी १९४९ से प्रारम्भ हो गया।

योजना के विशेष उद्देश्य हैं—देश की मितव्यता को उन्नत प्रदान करना, जीवन-स्तर का ऊंचा करना तथा पूंजीवादी देशों के घातक नीति तथा आक्रमणों से देश सुरक्षित रखना।

११-१०-४७ **शिलांग**—आसाम की सरकार ने एक गांधीवादी पद्धति की ग्राम पुनर्निर्माण की पंच वर्षीय योजना के लिये छः करोड़ रुपया मंजूर किया है। इस योजना के अंतर्गत ग्राम-पुनर्निर्माण के सभी पहलु आजाते हैं; जिनमें विशेषरूप से ये विषय हैं—ग्रामोद्योग की उन्नति, पशु मितव्यय, ग्रामस्वराज्य, ग्राम खेलकूद तथा मनोरंजन, ग्राम्य जीवन सुखद बनाने के लिये कार्य-क्षेत्र का विस्तृत करना आदि।

कुल ७०० केन्द्र होंगे जिनमें पाँच से दस हज़ार मनुष्य काम करेंगे। ये लोग ग्रामवासियों को ग्राम्य-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वायत्त शासन करने में सहायता देंगे। इस कार्य को ग्रामवासी स्वयं, सरकार के विभिन्न विभागों के परामर्श के अनुसार करेंगे।

१२-१०-४७ **लंदन**—इंगलैन्ड के स्वतंत्र मजदूर दल के साप्ताहिक पत्र 'शोसलिस्ट लीडर' का कथन है कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स शीघ्र ही प्रधान-मंत्री होंगे। श्री एटली कार्यालय के बागडोर पर पूरा अधिकार है इस बात में संदेह है। श्री बेविन स्वास्थ्य के कारणों से इस पद को प्राप्त नहीं कर सकते। श्री डाल्टन और मारिसन के मुकाबले में श्री क्रिप्स कहीं अधिक योग्य हैं। अतएव श्री क्रिप्स ही इस पद के लिये उपयुक्त आदमी हैं।

१३-१०-४७ **इलाहाबाद**—संयुक्त प्रांत की सरकार ने देवनागरी लिपि में हिन्दी को प्रांत की राज्य भाषा घोषित किया है।

१३-१०-४७ **बंगलोर**—मैसूर में कांग्रेस अंतरीम सरकार बना रही है जिसमें मंत्रि-मंडल धारा सभा को उत्तरदायी होगा। महाराजा ने जनता द्वारा चुने प्रतिनिधियों से विधान परिषद बनाने की बात को स्वीकार कर ली है।

१५-१०-४७ पेरिस तथा मास्को में जो शान्ति सन्धियाँ यूरोप के युद्ध कालीन शत्रु देशों के साथ हुई थीं उन देशों में इटली, बुलगारिया, रुमानिया, हंग्री, फिनलैन्ड थे।

रूस और फ्रान्स को ऐसा करते देख ब्रिटिश सरकार ने भी आस्ट्रिया से सन्धि करलेने की बात सोची है। हिटलर द्वारा १९३८ में आस्ट्रिया को जर्मन-राइश में मिला लेने के पूर्व जो इंगलैंड और आस्ट्रिया के संबंध थे वही मैत्री के संबंध इंगलैंड पुनः स्थापित करने वाला है। यद्यपि अभी तक किसी शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं हुआ है फिर भी इंगलैंड ने आस्ट्रिया को अपनी कूटनीति स्वीकृति (diptomatic recognition) दे दी है और लन्दन में आस्ट्रियन राजदूत को समान प्रतिष्ठा प्राप्त भी है।

१६-१०-४७ ज्ञात हुआ है कि प्रधान मंत्री श्री पंत ने वर्तमान भूमिस्वत्व (land-tennure) का स्थान ग्रहण करने के लिये भूमि-स्वत्व की एक नई पद्धति की योजना तैयार की है जो कि सहकारी-खेती और खुदकाश्त-ज़मींदारी का अति सुन्दर सम्मिश्रण है। इस योजना के अनुसार भूमि ग्राम जनता की होगी किन्तु किसान को अपनी भूमि व्यक्तिगत रूप से जोतने का अधिकार प्राप्त होगा। सहकारी खेती की बात अभी विचाराधीन है। इस योजना पर बहस के लिये समिति की आगामी बैठक नवंबर में होगी।

१७-१०-४७ बर्मी-संघ की रिपब्लिक (गण तंत्र) की स्थापना ६ जनवरी १९४८ को ११-५६ ए० एम० (बर्मा समय) पर होगी। उस दिन इंगलैंड बर्मा को औपचारिक रूपसे सत्ता हस्तान्तर करेगा।

सम्पादकीय—

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ—फासिस्ट संस्था

'आज कुछ ऐसा लग रहा है कि हमने स्वाधीनता की पूरी कीमत नहीं दी। अभी हमको १० वर्ष और संघर्ष करना चाहिए था। ऐसा लगता है कि यह स्वाधीनता १० वर्ष पहले ही मिल गई। इसीलिए इसमें उतने सालों की कमी है। यदि ऐसा न होता, तो जिस जनतन्त्र की बुनियाद पर हमने स्वाधीनता का संघर्ष शुरू किया था, वह प्रत्येक नागरिक की अपनी चीज होती। कम से कम जनतंत्र के विरुद्ध कुछ भी सुनने के लिये हमारे नागरिक तैयार न होते। पर आज ऐसा नहीं है। मुसलमान धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर जनतंत्र से दूर जा पड़े—प्रतिक्रियाशील, मुसलिम मध्यवित्त श्रेणी के हितों के शिकार हो गए और अब हिन्दुओं में वही प्रतिक्रिया धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर, हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के इशारे पर आ रही है। मुसलमानों में धार्मिक उन्माद से लाभ उठानेवाली मुसलिम मध्यवित्त श्रेणी थी, जिसमें मुसलिम जमीन्दार नवाब और उद्योगपति थे और हिन्दुओं में भी प्रतिक्रिया से लाभ उठानेवाली वही श्रेणी है। श्रेणी-संघर्ष ने साम्प्रदायिक रूप ले लिया है। यदि १० साल तक और हम संघर्ष रत रहे होतें तो शायद श्रेणी-संघर्ष के स्वरूपों को समझा और बताकर जनता को इन स्थिर स्वार्थी वर्गों से भी सावधान कर देते और तब शायद आज की सी समस्या पैदा न होती।

हिन्दू महासभा का नाम हम न लेंगे। उसे लोग जानते हैं। उसके प्रतिक्रियाशील नेताओं से भी लोग वाक़िफ़ हैं। यहाँ हम "राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ" की चर्चा करेंगे। कहा जाता है कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ हिन्दू महासभा से अलग संस्था है। पर इतिहास यह नहीं देखता कि कानूनी तरिके से कौन किस से सम्बद्ध है। इतिहास देखेगा कि कौन स्वार्थ किस स्वार्थ से सम्बद्ध है। इस दृष्टि से देखने पर नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ हिन्दू महासभा से अलग है। हिन्दू हित से दोनों अपने को सन्निहित मानने वाली संस्थाएँ हैं। दोनों का नेतृत्व हिन्दू मध्यवित्ति श्रेणी से प्रसूत है। दोनों में किसान मजदूर या निम्नवर्ग के स्वार्थ की चेतना नहीं है। दोनों में शूद्र श्रेणी की हितचर्चा का अभाव है। दोनों के प्रेरक ग्रंथ, या प्रेरक काल, या प्रेरक स्वप्न गुप्त युग के अथवा मध्य कालीन हैं, जब कि न विज्ञान का आधुनिक विकास था, न भौतिक विज्ञान का प्रसार था, न दुनिया विज्ञान के साधनों द्वारा इतनी सीमित थी और न दुनिया के सभी देश नाना भाव से एक दूसरे से आज की तरह सम्बद्ध थे। इसलिए हम कहते हैं कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू महासभा दोनों समान हितोंवाली प्रतिक्रियाशील संस्थाएँ हैं। अन्तर है तो इतना ही कि युगों से लोगों के सामने रहने से हिन्दू महासभा के नेताओं की कायरता, अराष्ट्रीयता और निकम्मापन जाहिर है और आज दंगा-ग्रस्त क्षुब्ध हिन्दुओं के हाथों में छुरा धराने वाले राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सम्बन्ध में कुछ न जानने के कारण लोगों की दृष्टि में उसके प्रति एक कल्पित आकर्षण पूर्ण रोमांस है! किंतु तत्त्वतः दोनों एक हैं, अन्योन्याश्रित हैं और हैं अविभाज्य। अब हम राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सम्बन्ध में कुछ विचारणीय बातें यहाँ रखेंगे।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ भारतवर्ष को सिर्फ हिन्दुओं का राष्ट्र समझने वाली संस्था है। पर मुसलमानों के आने के पूर्व तो यह देश हिन्दुओं का ही था। उस समय यदि हिन्दुओं में राष्ट्रीयता

थी, उनमें ("शुद्ध") राष्ट्र धर्म था, तो मुसलमानों के हमलों से यह 'हिन्दू राष्ट्र' धराशायी क्यों हुआ ?

"भारतीयों के हारने और विदेशियों के जीतने के संक्षेप में निम्नलिखित कारण थे—

१—भारतीयों में वर्ण व्यवस्था की जकड़।

२—अपनी भूलों और दूसरों से न सीखने की प्रवृत्ति।

३—जीवन-साधनों की सुविधा से उत्पन्न प्रमाद।

४—राष्ट्रीयता और देश-प्रेम का अभाव।

५—छोटे छोटे राज्यों की बहुलता, उनमें फूट और गणराज्यों का दमन।

६—सैन्य-संगठन और सैन्य-संचालन की दुर्बलताएँ।

७—सुअवसर से लाभ उठाने का अभाव।"

यदि ये सब पतन के कारण थे तो किस परिभाषा या किस न्याय के अनुसार उस समय या उससे पूर्व हिन्दुओं में राष्ट्रीयता थी ? क्या इन दुर्गुणों के साथ कहीं भी राष्ट्रीयता सम्भव है ? यदि नहीं, तो स्पष्ट है कि हिन्दुओं में राष्ट्रीयता के अभाव के कारण उनका पतन हुआ। और यदि हिन्दुओं में मुसलमानों के आने के पहले राष्ट्रीयता नहीं थी, तो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का शुद्ध राष्ट्र धर्म क्या है ?

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के "राष्ट्रधर्म" में शंकराचार्य को प्रथम स्थान दिया गया है। शंकराचार्य के शारीरिक भाष्य में शूद्र के वेद सुनलेने पर उसके कान में पिघला शीसा डालने और पढ़ लेने पर जिह्वाच्छेदन की व्यवस्था है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तो उस व्यवस्था को मानेगा ही। तो क्या राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ या हिन्दू महासभा की सरकार हो जाने पर भारतवर्ष के सभी अछूतों-शूद्रों के साथ उसी विधान के अनुसार व्यवहार न होगा ? यदि नहीं तो फिर वह ("शुद्ध") राष्ट्र धर्म कैसे होगा ?

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का साहित्य तो ("शुद्ध") राष्ट्रीय (अंग्रेजों के पिट्ठू, दलाल और ब्लैक मर्केटियर) लोगों को ही मिलता है। पर जितना जो कुछ देखने में आया है, उससे यह पता लगता है कि "शुद्ध राष्ट्र" हो जाने पर मनुस्मृति का विधान जरूर लागू होगा। वैसी हालत में फिर गुलामों का दहेज आदि में लेन-देन और खरीद-बिक्री होगी। शूद्र शिक्षा से वर्जित रहेंगे और छुआछूत का व्यवहार राज-नियम हो जायगा। बहु विवाह की बाढ़ आ जायगी—कम से कम 'शुद्ध राष्ट्रीय नेता लोगों' को बीस बीस बीवियां रखने की छूट अवश्य मिल जायगी। यदि नहीं, ऐसा नहीं होगा तो फिर वह ("शुद्ध") राष्ट्र धर्म कैसे होगा ? मनुजी के विधान और मनुस्मृति की सनातनी व्याख्या के अनुसार तो ("शुद्ध") राष्ट्र धर्म में यह सब सहज साध्य होना चाहिए।

यह सब हम यों ही तर्क के लिए नहीं लिख रहे हैं। हम यह देख रहे हैं, और कोई भी जरा ध्यान देने से देख और समझ सकता है कि हिन्दू महासभा ने शूद्रों को हिन्दू समाज में समान स्थान दिलाने के लिए कोई आन्दोलन नहीं किया, छुआ-छूत दूर करने के लिए कभी आन्दोलन नहीं किया, जाति-पाँति मिटाने और अन्तर्जातीय विवाह के लिए कभी भी सक्रिय कदम नहीं उठाया। इससे सिद्ध होता है कि इस ओर उसका रुझान नहीं रहा है। इससे साबित होता है हिन्दू महासभा हिन्दू समाज के पुराने रूप को कायम रखना चाहती है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने भी कभी इस दिशा में कुछ नहीं किया—कम से कम जन साधारण भारतीयों को उसके इस रूप का पता नहीं है। इससे ऐसा मालूम होता है कि उसकी और हिन्दू महासभा की मनोवृत्ति या रुझान में समानता है। और इससे हिन्दू समाज के उस स्वरूप के कायम रखने की प्रेरणा मिलती है, जिस स्वरूप के कारण हिन्दू समाज का पतन हुआ।

आज राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति; हिन्दू राष्ट्र की रक्षा के नाम पर सामने आ रहा है। आज वह आक्रमणशील स्वरूप में हमें दिख रही है पर हम पूछते हैं हिन्दू समाज के पुराने स्वरूप के कायम रहते हुए मुसलमानों द्वारा भगाई हिन्दू स्त्रियों को पुनः हिन्दू समाज में कौन सा स्थान राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ दिला रहा है ? जो अल्प संख्यक मुसलमान राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के शूरमाओं के निकट आत्मसमर्पण कर दें, उसे वह हिन्दू समाज में कौन-सी जगह देगा ?—क्या उनके लिए गुलामी और शूद्रत्व का ही अभिशाप रहेगा ? क्या शुद्धशुदा लोगों की एक अलग ही जाति बनेगी ? यदि हाँ, तो यह ताशों का घरोंदा एक ही धक्के से भहरा पड़ेगा, क्यों कि इसलाम के अन्दर मुसलमान बिरादरान का नारा है। यह याद रहे कि हिन्दुस्तान में बाहर से मुसलमान नहीं आए; यहां की प्राचीन हिन्दू व्यवस्था के निकम्मेपन से एक क्षण में ही पहले के हिन्दू देखते देखते मुसलमान हो गए; और जब तक हिन्दू समाज का वर्तमान स्वरूप रहेगा, यही क्रम जारी रहेगा। अतः दूसरी जाति या सम्प्रदाय को हिन्दुस्तान से निकाल कर हिन्दू राष्ट्र को शुद्ध करने की कल्पना निकम्मी है। हिन्दू समाज के शुद्ध और बलवान बनाने के लिए छुआ-छूत और जाति-पाँति को मिटाना सब से ज्यादा जरूरी है। इसके साथ ही विधवा विवाह का प्रचलन और स्त्रियों की स्थिति में सुधार जरूरी है। पर इस तरफ न तो हिन्दू महासभा का ध्यान है न राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का और जिस कांग्रेस तथा जिन महात्मा गांधी को पानी पी पी कर ये दोनों संस्थाएँ कोसती हैं वही कांग्रेस और वही महात्मा गांधी वह सब कुछ करते हैं, जिससे हिन्दू समाज सबल होता है।

यह तो हुई राष्ट्रीयता और हिन्दू समाज को शक्ति सम्पन्न करने की बात। अब हम दूसरी बात कहेंगे। जरा भी विचार करने पर आसानी से यह समझा जा सकता है कि हिन्दू समाज का ८०% किसान, जमीनहीन किसान और मजदूर हैं। इन मजदूरों में संगठित, और असंगठित दोनों किस्म के मजदूर हैं। यदि राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ सचमुच हिन्दू समाज का हितचिन्तक है, तो उसे समाज की अधिकतम संख्या के हित और सुख पर दृष्टि रखनी होगी। हिन्दू समाज की अधिक संख्या के हित का अर्थ है किसानों और मजदूरों का हित। पर हम यह जानते हैं कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्यक्रम में किसानों और मजदूरों के लिए कोई भी जगह नहीं है। कहा जाता है कि निकट के स्वार्थों में संघर्ष कराकर वह हिन्दू समाज को—हिन्दू राष्ट्र को—कमजोर करना नहीं चाहता। जैसे इन दोनों के हितों के अन्दर ही संघर्ष सन्निहित नहीं है ! किन्तु इसे हम संघ की तर्क बुद्धि का दिवा-लियापन नहीं कहेंगे। हम जानते हैं कि नात्सी जर्मनी का भी तर्क यही था। पता नहीं "विदेशी तत्त्वज्ञान" से परहेज करनेवाली इस संस्था ने नात्सी तत्त्वज्ञान को अनजाने में ही (?) कैसे कबूल कर लिया ?

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ वाले कहते हैं कि उनकी संस्था राजाओं के हितों की पोशिका नहीं है। बड़ी अच्छी बात है। पर देशी राज्यप्रजा-मण्डल के प्रति उनकी नीति क्या है ? राज्यों में उत्तरदायी शासन के लिए उन्होंने अब तक क्या किया ? क्या प्रजा-मण्डल के आन्दोलनों में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ वाले शरीक होते हैं ? यदि नहीं तो क्यों ? क्या बहु संख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति उनकी सेवाएँ नहीं हैं ? जमीन्दारियों के खत्म करने में उनकी क्या नीति है ? हिन्दू काल में जमीन पर किसान का अधिकार था यह इतिहास सिद्ध बात है। यदि इस अपने प्राचीन तत्त्वज्ञान को वह मानते हैं तो क्यों जमीन्दारियों के नाश में योग नहीं देते ? जमीन्दारियों के कायम रखने में वह अँग्रेजों की परिपाटी के पोषक क्यों हैं ? पर नहीं, यह भी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ वालों की बुद्धि का दिवालियापन नहीं है। ऐसा करने

से उनको राजाओं और जमीन्दारों के समर्थन से हाथ धोना पड़ेगा। फिर वह खड़े कहाँ होंगे ?

थोड़े में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ वालेः—

१—देशी राज्यों में अधिकतम (बहु संख्यक) हिन्दू प्रजा के हित रक्षक, उनके सेवक नहीं हैं। वह राजाओं के सर्थक हैं, जिनकी संख्या अंगुलियों पर गिनी जा सकती है।

२—वह अधिकतम हिन्दू किसानों के हित रक्षक और सेवक नहीं हैं। अल्प संख्यक जमीन्दारों के रक्षक और सेवक हैं।

३—वह अधिकतम हिन्दू मजदूरों के हित रक्षक और सेवक नहीं हैं। अल्प संख्यक पूंजीपतियों के रक्षक और सेवक हैं।

और इतिहास बताता है कि अन्तिम घड़ी में इन्हीं के हितों के लिए शुद्ध राष्ट्रीयता और शुद्ध जातीयता के नाम पर दूसरी जाती या दूसरे सम्प्रदाय को नष्ट करने का नारा लगाकर तथा सैनिक संगठन के साथ फैसिज्म पैदा होता है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ऐसी ही फैसिस्ट संस्था है। इससे प्रत्येक व्यक्ति को सावधान हो जाना चाहिए।

—बैजनाथसिंह 'विनोद'

भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस।

वर्ष १, भाग २] नवम्बर १९४७ [अङ्क ६ ; पूर्णाङ्क १२

Inside - Vikramadityon ki parampara & Review of Benipuri's biography of J P

युगपुरुष

श्री रांगेयराघव

रक्त से भींगे हुए ये हाथ लेकर
किस गगन से भीख मांगेगा अभागे?
बालकों की वे मुलायम देह अपने
चुभीते भाले चुभा कर मुस्कराते!
नारियों के काट कर स्तन, दुधमुहों के
होंठ का मृदु गीत उनसे छीन कर तू
किस सृजन की शक्ति का अभिमान लेकर
कर सकेगा फिर नई संस्कृति प्रसारित?
कौन-सी दुर्गम तमिस्रा हट सकेगी
जब कि तेरी दृष्टि के पर्दे फटेंगे?
क्या न तेरे आयुधों से स्वयं तेरे
अंग रह रह कर निबल बन कर कटेंगे?
युगपुरुष! अवसाद की कैसी घृणा है
छा गया है यह अवश कैसा अंधेरा?
आज जोकि मनुष्यकी ज्वाला छिपी है
और केवल धूम है घुटता घनेरा?

ओ पुरातन!
किस विभा का अंश,
तेरे हाथ में घुट कर मरा है?
क्या न उसके शब्द में
इतिहास का चिर दुख भरा है?
व्यक्तिकी अवसादवाहिनि कौन
विंध्या - श्रेणियाँ हैं?
'जो न युग युग की प्रवाहित
धार से अभिसिंचिता है?
बोल युग मेरे अनोखे,
बोल मन के मूक दर्पण!
किस व्यथा की भाप तेरे
स्वच्छ आनन पर जमी है?
मैं अतीन्द्रिय वेदना से
हो नहीं पीड़ित सकूँगा,
विश्व की यह वज्रसंभव
व्यथित-सी संवेदना क्या-
पाप हर लेगी भयानक?

एक क्षण की
स्मृति नहीं
यह तो युगों से चल रहे
युगपुरुष का इतिहास है प्रिय !
क्या कहूँ उसकी दुखद
अभिव्यंजना को आँख में ही ।

ओ अवशते !
पाप का भागी हुआ सर्वात्मव्यापी,
निरपराधी और उज्ज्वल स्वच्छ मन भी
अविश्वासों के प्रभंजन में
प्रकंपित
डूबता है !
याद है
उस दिन धरे था
रूप जब वाराह का तू
प्रलय में से दाँत पर धर
कर धरित्री उठा लाया ?
किन्तु यह वह दिन नहीं है,
किन्तु केवल कल्पना ही
आज कोई हल नहीं है।
आज !
बढ़ता जा रहा है शब्द
अब वह छू रहा है गगन
दानव - सा खड़ा है।
सूर्य - शशि सब डोलते हैं
जुगनुओं से घेर उसको
और धरती एक मर्मर कर रही है
और सागर धीर जो दुहरा उठा है-
युगपुरुष है,

युगपुरुष है।
आह क्षत-विक्षत रुधिर से
भीगता है वस्त्र जिसका
हांफता है क्रोध से निर्वीर्य्य क्षण भर
पटकता है पांव, अस्फुट शब्द उसके
होठ में अब फूटते हैं;
प्रश्न है,
मन में यही लघु प्रश्न है अब ;

क्या यही था देव, जिसकी
कर सका मनु भी प्रलय से
जीत,
क्षण भर कल्पना भी ?
क्या यही है सृष्टि श्रद्धा में पड़ी जो
क्या यही है बोल वह रचना कि
जिसका श्रेय बुद्धि समान लेती ?
एक दिन क्या था यही लघु एक बालक
क्या इसी के देवता थे हाय पालक ?
देवता पालक न थे,
इतिहास का यह काव्य ही था।
मत कहो मुझसे कि मन के
गीत अब गाता नहीं हूं,
बुद्धि के पतवार से मैं सिंधु को
खेने चला हूं :
ओ अभागे, मन न मेरा
तृप्त है परिपाटियों में
इसलिए मैं चल पड़ा हूं
तोड़ बंधन–

मत कहो मन यह नहीं है,
बुद्धि भी आधार मन है।
पूछता हूँ शक्ति का स्तंभन हुआ यह,
किसलिए रुँध कर खड़ी है चेतना यह ?
कठिन है संघर्ष वेला, किंतु फिर भी
अंत तो पाती नहीं है वेदना यह।
मूर्त्त जीवन स्थिर हुआ तब शिव बना वह,
सो गया तब विष्णु था रे नाम उसका,
ध्यान में जब खो गया तब बुद्ध था वह,
किंतु इनके रूप के प्रतिरूप क्या
मानव नहीं था ?

बुद्धि की है बात मैं फिर क्या निबल हूँ
पूछता अभिमान है मेरा गरज कर—
देख क्षण भर—
आज मैं युग गीत गाता हूँ उमँग कर।
अब विराट पुरुष निकल बाहर
खड़ा है।
व्यर्थ के संकोच उसको
छोड़ते हैं,

वह पवित्र खड़ा यही तो
युगपुरुष है—
युगपुरुष है।

हैं करोड़ों हाथ, उसके हैं करोड़ों पांव
एक स्थिर गति से सतत यह
चल रहा है अमिट धरता चिन्ह—
भगीरथ की-सी तपस्या-ध्येय लेकर
वह निरत कल्याण पथ पर
बढ़ रहा है।
कोटि आँखें खोल नभ के
दूर तारे देखते हैं।
और अणु की शक्ति से वह
अंतराल विराट बांधे
क्रांति रह-रह कर रहा है।
प्रपातों से खींच कर जो
बिजलियाँ निज
धमनियों में
भर चुका है।
कोटि कोटि खुले मुखों को
अन्न देने के लिए—
मस्तिष्क-हाथी में चुभाने
ज्ञान-अंकुश जो चला है।
खड़ा है खलिहान में,
बादल नहीं—
वह काट कर नदियाँ
नहर है खींच लाया,
और मेरे विश्व की
अक्षुण्ण गरिमा
सभ्यता की नव फसल
श्रम से उगाता।
उड़ रही है गगन में अब विमानों की पांक्ति
औ, पहाड़ों के उधर से आ रहा है
सतत वह निर्घोष
मानव का प्रबल स्वर।
कारखाने में
लगे मजदूर लाखों
हैं उन्हीं की 'आज' यह संतान
कल लोहा गढ़ा था जिन्होंने

इतिहास साक्षी है कि वे
आगे निरंतर बढ़ रहे हैं।
आज मेरा राष्ट्र उठ कर
सतत उद्यत देखता है।
हट गए हैं दासता के बांध वे पत्थर अटल जो
आज जल से जल मिला है।
शक्ति का संतुलन है यह,
पांव में लिपटा हुआ
अजगर प्रबल है,
सांस में प्रत्येक जिसकी मृत्यु
जीवनकी असित है,
यह अटल जन-शक्ति से
ललकार कर फिर
जूझता है,
सिंधु, कानन, शैल, मरु, मैदान पर
रण हो रहा है,
आज आत्मा, तन, हृदय, मस्तिष्क...
नारी, पुरुष, बालक, वृद्ध—
मानव
लड़ रहा है।
लड़ रहा है आज उस अज्ञान से जो
आज तक उसको सतत छलता रहा है।
और संस्कृति की नई है घास उगती
आँख को लगती मनोरम,
हाय मानव खा रहा उसको गधा बन
काम करता निपट पशु-सा।
पूछता हूँ—
क्या यही संस्कृति न होगी अन्न ?
जिस को खा क्षुधित
कर उठे जीवन गान !
शक्ति है संस्कृति न खोए बुद्धि मानव।
जब कि लय औ' ताल पर
संसार की यह शंकित
अपना नृत्य समगति से करे तब।
चेतना का फूल महके,
वह हृदय का दाह यह ही,
है यही वह चाह जिसको
पूछता मन—

युगपुरुष है
युगपुरुष है।
कौन जलता है?—
कि रावण।
कौन हंसता है?—
कि राघव।
एक यह दुर्गम कड़ी की
झनझनाहट—
अब उठे यह मोत—
है बपौती एक
मेरे पिता ने भी
श्रम किया था,
क्रान्ति का वह दूत मेरे
हाथ में यह ज्योति देकर ही
गिरा है,
चूस कर जो मानवों को
फेंकता कीड़ा बना कर
उस कठोर पिशाच का
शव वह मुझे
दिखला गया है।
और है मेरी प्रतिज्ञा
उस पिशाच कठोर के तनसे
सड़ाँध निकल रही जो
मैं मिटाऊँ—
'मैं!'
उठा स्वर विश्व बोला
हुआ जन जन एकमिल कर।
आह साधारण हृदय का
सत्य
कितना ताप है जो
हिमालय को गला पिघला रहा है।
युगपुरुष है।
युग पुरुष है।
जन्म जिसने भी लिया वह
विश्व का कल्याण-प्रहरी
मृत्यु से होवे न कोई हानि
ऐसी संधि गहरी।

व्यक्ति भी है और एक समाज भी है
राष्ट्र भी है, विश्व एक विराट भी है
गगन भी है, और बिखरी तारिका भी
किंतु सब से सत्य मानव
एक मानव सत्य ही है,
और जीवन सुखों की जय-प्राप्ति ही
इस अमरता का प्रथम गुण है।

अरे यह बलिदान का गौरव
दिशाएं देखकर होतीं
चमत्कृत।

और सागर तक उठे हैं झूल
जैसे होगये हैं देख झंकृत।

युगपुरुष—
साथी खड़ा है, रहीमा और राम
और यह मानव खड़ा है,
खड़ा है मजदूर यह
भूखा किसान यहाँ खड़ा है,
भेद बंधन पार करके
विश्व की प्रत्येक जाति खड़ी हुई है,
एक ही आशा निरत! सब,
एक ही संबल सबल सब
मुक्ति और समानता के
उठे अरबों बाहु—
युग युग की भयानक
वज्र की चट्टान रह रह
फाड़ते हैं,

है मुझे विश्वास
जिसमें विश्व का विश्वास
गौरव जग रहा है—
युगपुरुष यह, संघयुत जन
घोर श्रम में
कर रहा संघर्ष।
भीषण नाद से
हुंकारता है
युगपुरुष है।
युगपुरुष है।

विक्रमादित्यों की परम्परा

श्री भगवतशरण उपाध्याय

विक्रमादित्यों की एक परम्परा रही है—ऐसे जननायकों की जिन्हों ने भारत से विदेशी सत्ता के निष्कासन में प्रयास किया। भारतीय इतिहास की परम्परा में प्रमाणतः यह सिद्ध है कि जिस भारतीय राजा ने इस 'विक्रमादित्य'—विरुद को धारण किया है उसका संबंध स्वदेश में विदेशी सत्ता के विरुद्ध आन्दोलन से अवश्य रहा है। यह संभव है कि किसी जननायक ने इस प्रकार के आन्दोलन में योग देकर भी यह विरुद धारण न किया हो परन्तु इस में सन्देह नहीं कि विरुद धारण करनेवालों में से संभवतः कोई ऐसा नहीं जिसने इस राष्ट्रीय यज्ञ में सहयोग न दिया हो।

इस प्रकार के विक्रमादित्यों की संख्या संभवतः पाँच रही है—(१) विक्रमादित्य (आदि) ५७-५६ ई० पू० में विक्रम संवत् के प्रतिष्ठाता; (२) चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य (गुप्तकुलीय)—ल० ३७५-४१४ ई०; (३) स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य—ल० ४५५-४६७ ई०; (४) मालवा का यशोधर्मन् (ल० ५३२-३३ ई०); और रेवाड़ी का हेमचन्द्र विक्रमादित्य (ल० १५५६ ई०)। इनके अतिरिक्त कुछ लोग विक्रमादित्यों में चालुक्य-विक्रमादित्यों की भी गणना करते हैं परन्तु प्रमाणतः वे भ्रम में हैं क्योंकि जहाँ पारम्परिक 'विक्रमादित्य' विरुद मात्र है, चालुक्यों के विक्रमादित्य व्यक्ति संज्ञक अर्थात नाम हैं और इसी कारण इतिहास में उन्हें विक्रमादित्य प्रथम से षष्ठम् तक गिनना पड़ा है। अस्तु।

Relying on historical researches

इनमें से अन्य तो काल-गणना और कीर्त्यादि से स्पष्ट और निश्चित हैं, केवल आदि विक्रमादित्य का इतिहास अत्यन्त सन्दिग्ध और धूमाच्छादित है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि चन्द्रगुप्त (द्वितिय) विक्रमादित्य से पूर्व यदि सचमुच कोई विक्रमादित्य हुआ तो वह प्रथम शती ई० पू० में ही हुआ और उसनें विख्यात विक्रम-संवत् चलाया। इस आदि विक्रमादित्य का इतिहास निस्सन्देह रहस्यमय है, प्रायः अनुद्घाटित।

अनेक बार सन्देह किया गया है कि इस नाम का कोई राजा वस्तुतः प्रथम शती ई० पू० में हुआ भी। यह सन्देह विशेषकर और ज़ोर पकड़ जाता है जब हम यह देखते हैं कि स्वयं उस विक्रम-संवत् का पहला प्रयोग नवीं शती ईस्वी में चाहमान (चौहान) राजा चण्डमहीसेन ने किया है यह लेख—'वसु नव (अ) ष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य'—(वसु = ८, नव ९; = अष्ट ८) ८९८ विक्रम-संवत् तदनुकूल ८४१ ई० का है जो धौलपुर से मिला है (Indian Antiquar, खण्ड १९, पृ. ३५)' यह सन्देह सर्वथा अग्राह्य नहीं है विशेषकर जब हमें इतने प्रतापी राजा के कोई पुरातात्विक चिह्न—शिलालेख, स्तंभलेखादि—प्राप्त नहीं। यद्यपि इस समस्या का समाधान भी है। प्रथम शती ईस्वी पूर्व का काल अत्यन्त डावाडोल का था। उत्तर भारत में नितान्त उथल-पुथल मची थी। कुछ आश्चर्य नहीं यदि तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री जिसपर हम इस विक्रमादित्य के अस्तित्व का आधार रख सकते बिखर अथवा नष्ट गई हो। हम इस बात को नहीं भूल सकते कि जनश्रुति के साथ-साथ ही ऐतिहासिक अनुश्रुति भी किसी विक्रमादित्य के प्रथम शती ई० पू० में होने के पक्ष में है। डा० स्तेन कोनों और डा० काशीप्रसाद जायसवाल दोनों ने इस विक्रमादित्य का ऐतिह्य स्वीकार किया है (Problems of Saka and Satvahana History---J.B.O.R.S.)। भारतीय साहित्य की परम्परा भी इस दृष्टिकोण का सर्वथा समर्थन करती है। जैन-संस्कृत-प्राकृत—तीनों साहित्यों में उसका उल्लेख हुआ है। सातवाहन (शालिवाहन) हाल की प्राकृत सतसई 'गाथा-सप्तशती' में विक्रमादित्य का उल्लेख हुआ है—संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं। चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खिअं तिस्सा।" हाल

को द्वितीय शती ईस्वी से पीछे नहीं रखा जा सकता; संभवतः वह प्रथम शती ईस्वी का ही है। स्पष्ट है कि वह विक्रमादित्य के समय से प्रायः तीन सदियों के भीतर ही हुआ। और उसके विक्रमादित्य-संबंधी निर्देश की अवहेलना नहीं को जा सकती। हाल के अतिरिक्त कश्मीरी कवि गुणाढ्य ने भी अपने पैशाची-प्राकृत ग्रन्थ 'वृहत्कथा' में भी उस विक्रमादित्य का उल्लेख किया है। गुणाढ्य और हाल समकालीन थे। 'बृहत्कथा' तो अब उपलब्ध नहीं परन्तु सोमदेव भट्ट द्वारा उसका संस्कृत रूपान्तर 'कथा-सरित्सागर' के नाम से आज भी उपलब्ध है। इसमें राजा विक्रमसिंह की कथा लंबक ६, तरंग १ में वर्णित है। अतः चूँ कि प्रथम शती ई० पू० के विक्रमादित्य के जीवनकाल से दो सदियों के भीतर लिखे जाने वाले दो ग्रन्थों में उसका उल्लेख मिलता है, उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व में सन्देह करना अवैज्ञानिक होगा जब हमारी जैनादि अन्य अनुश्रुतियों का इस संबंध में सर्वथा ऐक्य है। इस बात को न भूलना चाहिए कि जिन महापुरुषों के प्रमाण इस विक्रमादित्य के संबंध में ऊपर दिए गए हैं वे दोनों—हाल और गुणाढ्य—अन्य विक्रमादित्यों के पूर्ववर्ती हैं। इससे यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने भ्रमवश पिछले विक्रमादित्यों की अनुश्रुतियों को ही आदि विक्रमादित्य के साथ जोड़ दिया है।

अब तो इसमें सन्देह नहीं कि विक्रमादित्य नाम का कोई प्रतापी व्यक्ति प्रथम शती ई० पू० में विद्यमान था, यद्यपि इसमें सन्देह हो सकता है कि "विक्रमादित्य' उसका विरुद था या संज्ञा थी। साधारणतया यह विरुद् सा लगता है और बाद के राजाओं ने इसे धारण भी विरुद के ही रूप में किया। डा० जायसवाल ने आँध्र-सातवाहन कुल के गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि को ही विक्रमादित्य माना है। उन्होंने शकों के विरुद्ध दो विजयों का उल्लेख किया है—(१) गौतमीपुत्र द्वारा नहपाण की और (२) मालवों द्वारा शकों की। इसमें नं० २ मान लेने में तो शायद किसीको आपत्ति न होगी परन्तु नं० १ को स्वीकार करना कठिन है। पहले तो यही संदिग्ध है कि गौतमीपुत्र श्री शातकर्णि और चहरात चत्रप नरुपाण समकालीन थे। यदि हम ऐसा मान भी लें, जो कई अन्योन्याश्रयन्यासों से संभव भी है तो यह स्वीकार करना कठिन होगा कि वे प्रथम शती ई० पू० में थे। फिर यदि विक्रम सातवाहन होता तो निस्सन्देह हाल उसे अपना पूर्वज घोषिति करने में न चूकता। दूसरी महत्व की बात यह है कि शातकर्णि का विरुद 'विक्रमादित्य' नहीं था। फिर यह भी है कि विक्रम-संवत् का प्रयोग शातकर्णि के वंशज नहीं करते। भला यह कैसे संभव था कि जिसने इतनी बड़ी विजय के स्मारक में 'विक्रम-संवत्' चलाया उसका प्रयोग स्वयं उसके वंशज अपने अभिलेखों में न करें? उस संवत् का उपयोग क्या था और उसका प्रयोग किसके लिए उपयुक्त था? कुशाण राज कनिष्क द्वारा चलाए शक संवत का प्रयोग स्वयं वह और उसके वंशधर निरन्तर करते हैं। इसी प्रकार गुप्त-सम्राट् भी मालव संवत् के साथ ही साथ अपने राज्यकाल और अपने पूर्वज चन्द्रगुप्त प्रथम के चलाए गुप्त-संवत् (३१९-२० ई०) का प्रयोग (गुप्तप्रकाले गणनां विधाय) बराबर अपने लेखों में करते हैं। इस कारण गोतमीपुत्र श्री शातकर्णि को विक्रमादित्य मानना युक्तिसंगत नहीं। फिर यह विक्रमादित्य कौन था?

इस प्रश्न का उत्तर प्रमाणतः उस उत्तर से भी सम्बन्ध रखता है जो निम्नलिखित प्रश्न का होगा—वह विजय कौन सी थी जिसके स्मारक में विक्रम-संवत् प्रचलित किया गया?" गौतमी पुत्र श्रीशातकर्णि का नहपाण वाली विजय अनेक प्रमाणों से अयुक्तियुक्त और अप्रासंगिक होने के कारण इस प्रश्न पर प्रकाश नहीं डाल सकती। फिर ई. पू. प्रथम शती की एक ही विजय है जो शकों के विरुद्ध हुई और जिसके स्मारक स्वरूप यह संवत् प्रचलित किया जा सका होगा—वह थी शकों के विरुद्ध मालवों की विजय। मालवों ने शकों को निकाल कर वहाँ अपने मालव-गण की स्थापना की और उसी के नाम पर प्राचीन अवन्ति देश का मालवा नाम रखा। यह घटना प्रथम शती ई. पू. की है और इसी के स्मारक में उन्होंने संभवतः विक्रम-संवत् चलाया जिसकी प्रारंभिक तिथि अवन्ति में मालव-गण की स्थापना की तिथि होने के कारण (मालवगणस्थित्या) वह मालव-संवत् भी कहलाया। विक्रम-संवत् उसका नाम दो कारणों से हो सकता है। (१) या तो 'विक्रम' का संबंध व्यक्ति-विशेष से न होकर 'शक्ति', 'विक्रम', 'पराक्रम' से हो

जिसकी प्रतिष्ठा शकों के अवन्ति से निष्कासन और वहाँ मालवों की प्रतिस्थिति से हुई (जैसा डा० जायसवाल ने माना है—आखिर स्कन्दगुप्त का एक विरुदान्तर 'क्रमादित्य' भी है) या (२) उसका यह नाम मालव जाति के किसी प्रमुख नेता के नाम से संबंध रखता हो। इनमें प्रथम को स्वीकार करना कठिन इस कारण हो जाता है कि उस दशा में प्रथम शती ईस्वी के हाल-गुणाढ्य के विक्रमादित्य-संबंधी निर्देश निरर्थक हो जाते हैं। इससे दो वाला कारण ही यथार्थ जान पड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि मालवों और शकों का संघर्ष कब और कैसे हुआ? पंजाब के अराजक गणतन्त्रों में मालव और क्षुद्रक मुख्य थे। ३२६ ई० पू० में मालवों ने सिकन्दर को भारी खतरे में डाल दिया था और संभवतः उन्हीं से वाणविद्ध होकर संभवतः वह बाबुल में मरा भी। उनका अराजक गणतन्त्र संभव हज़ार वर्ष जीवित रहा। उनके नगर चिनाब और झेलम के तट पर फैले हुए थे और उनकी राजधानी रावी के तट पर थी। सिकन्दर से मुठभेड़ के बाद कुछ राजनीतिक कारणों से उन्होंने अपना मूल निवास छोड़ दिया और निरापद भूमि की खोज में वे दक्षिण की ओर बढ़ चले। प्रायः १५०-१०० ई० पू० में हम मालवों को उनके नए आवास पूर्वी-राजपूताना में प्रतिष्ठित पाते हैं जैसा करकोट नगर (जयपुर राज्य) के उनके सिक्कों से प्रमाणित है (कनिंघम, A.S.R. खण्ड १४, पृ० १५०)। इसी समय शकों ने भारत पर आक्रमण कर सौराष्ट्र, गुजरात और अवन्ति देश पर अधिकार कर लिया। कुछ संभव नहीं मालवों से भी इनकी छोटी मोटी लड़ाइयाँ हुई हों। आखिर पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' में मालव-क्षुद्रकों की एक सम्मिलित विजय का हवाला दिया है। फिर धीरे-धीरे पश्चिमी भारत पर शकों का प्रभुत्व जम गया।

परन्तु मालवों ने भी शकों का पीछा न छोड़ा। उनके आधार की ओर वे निरन्तर बढ़ते ही गए। ५८ ई० पू० के लगभग अजमेर के पीछे से निकलकर मालव अवन्ति की ओर बढ़ चले थे और वहाँ उन्हें विदेशी शकशक्ति से लोहा लेना पड़ा। लड़ाई ज़रा जमकर हुई क्योंकि एक ओर तो स्वतंत्रताप्रिय मालव थे तो दूसरी ओर अवन्ति के शक जो पार्थव राज भज्ददात द्वितीय के क्रोध से भागे हुए थे। भारत से बाहर उन्हें मृत्यु से सामना करना था उससे वे जम कर लड़े। परन्तु मालव विजयी हुए और उन्होंने शकों को भारत से निकाल बाहर किया और स्वयं वे उस अवन्ति प्रदेश में प्रतिष्ठित हुए। यह प्रदेश इसी तिथि से मालवों के संबंध से मालवा कहलाया और इसी विजय के स्मारक में उन्होंने सिक्के ढाले, सम्वत् चलाया जिसका नाम मालव अथवा विक्रम संवत् हुआ। आज हम दो हजार वर्षों से इस संवत् का उपयोग करते आए हैं। गुप्तों ने मालवों की स्वतन्त्रता नष्ट कर दी परन्तु स्वयं वे मालव-सम्वत् का प्रयोग करते रहे। इसी मालव-गण के मुखिया के नाम पर संभवतः विक्रम-संवत् का नाम पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि मालव-गण अराजक था, फिर भी समय-समय पर वे अपना सेनापति चुना करते थे। अनेक बार मालव क्षुद्रक दोनों गणों ने अपना सम्मिलित सेनापति चुना था। कुछ आश्चर्य नहीं कि विक्रम इसी प्रकार का मालव सेनापति रहा हो जिसने शकों के निष्कासन में विशेष तत्परता दिखाई हो। निस्सन्देह यह कहना कठिन है कि 'विक्रम' नाम था या विरुद। कुछ भी हो इसे मानने में आपत्ति न होनी चाहिए कि विक्रम मालव था और शकों की शक्ति क्षीण करने में उसने साहस दिखाया था—यह भारतीय साहित्य की अनुश्रुतियों से प्रमाणित है। चूँकि व्यक्ति विशेष का प्रभुत्व गणतन्त्र में नहीं था इससे शायद आरम्भ में यह सम्वत् विक्रम संवत् न कहला कर गण के नाम पर मालव-संवत् कहलाया। परन्तु जब गण की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई, उसका नाम भी लोगों को विस्मृत हो गया; तब उसके सेनापति-मुखिया भर की याद उन्हें रह गई जिसका नाम उन्होंने उस संवत् के साथ कालान्तर में जोड़ दिया। यह सहज ग्राह्य है कि पहले विक्रम-संवत् प्रायः नौसौ वर्षों तक केवल मालव (अथवा कृत)-संवत् के नाम से क्यों चला और विक्रम का सम्पर्क इस संवत् से इतने बाद क्यों हुआ?

इस प्रकार आदि विक्रमादित्य मालवों का प्रतिनिधि सामरिक प्रमाणित होता है जिसने शकों को हराकर देश से बाहर निकाल दिया। सारा पश्चिमी भारत—सौराष्ट्र (काठियावाड़), गुजरात, अवन्ती (मालवा)—तब शकों की शक्ति से आक्रान्त था। शक हालही के

विजयी थे और उनकी प्रभुता देश को खलती थी । इस विक्रमादित्य ने भारत से उनकी शक्ति मिटाकर एक परम्परा की नींव डाली जिसे आगे आनेवाले विक्रमादित्यों ने पाला और निबाहा । आदि विक्रमादित्य नाम पिछले भारतीय विजेताओं का विरुद बन गया, विदेशी संघर्ष में उज्ज्वल प्रतीक जिसे चन्द्रगुप्त द्वितीय से लेकर मुग़ल कालीन हेमचन्द्र तक ने गौरव के साथ धारण किया और विदेशी प्रभुता का नाश करने में अपनी शक्ति और निष्ठा का योग दिया ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय चौथी सदी ईस्वी में दूसरे विक्रमादित्य हुए । इनके पहले शक भारत में अपने पाँच केन्द्र बना चुके थे—सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा, मालवा, और महाराष्ट्र में । इनके बाद कुषाणों के आक्रमण हुए परन्तु उनके अपकर्ष काल में भारशिव नागों ने उनसे शक्ति छीन कर काशी में दस अश्वमेध किए थे । बचे खुचे पश्चिमी शकों और कुषाणों को चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त ने ही सीमाप्रान्त और काबुल में खदेड़ दिया था ("दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डैः"—प्रयाग स्तंभ का लेख) फिर भी चन्द्रगुप्त को ही उनसे विशेष रूप से लोहा लेना पड़ा । चन्द्रगुप्त यशस्वी पिता का उदात्त पुत्र था और पिता ने उसे अपना उत्तराधिकारी नियत भी किया था जैसा एक अभिलेख के 'तत्परिगृहतः' पद से स्पष्ट है परन्तु परम्परा के अनुसार राज्य बड़े भाई रामगुप्त को मिला ।

जान पड़ता है चन्द्रगुप्त को युवावस्था में ही शकों से शत्रुता ठाननी पड़ी थी । इस शत्रुता का वर्णन 'मुद्राराक्षस' के रचयिता विशाखदत्त के नाटक 'देवचन्द्रगुप्त में' मिलता है । यह नाटक तो आज हमें उपलब्ध नहीं परन्तु इसके अनेक लंबे अवतरण रामचन्द्र और गुणचन्द्र के 'नाट्य-दर्पण' में सुरक्षित हैं । इससे जान पड़ता है कि समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र और चन्द्रगुप्त द्वितीय का बड़ा भाई रामगुप्त कायर था । जब वह अपने असाधारण विजेता पिता समुद्रगुप्त के सिंहासन पर बैठा तब कुचले राजाओं, विशेषकर शकों, ने फिर सिर उठाया । उनके सम्मिलित संघ ने रामगुप्त को इतना संत्रस्त कर दिया कि उसने उनके घृणित प्रस्ताव तक को स्वीकार कर लिया । उनका प्रस्ताव यह था कि रामगुप्त सन्धि की अन्य शर्तों के साथ एक शर्त यह भी मान ले कि वह अपनी सुन्दरी रानी ध्रुवस्वामिनी को शकपति को अर्पण कर दे । चन्द्रगुप्त अत्यन्त तरुण था । उससे यह सह्य न हो सका । इसके अतिरिक्त उससे ध्रुवस्वामिनी ने अपनी मानरक्षा की प्रार्थना भी की । चन्द्रगुप्त ने उसकी रक्षा का भार अपने ऊपर ले शकपति को कहला भेजा कि ध्रुवस्वामिनी उसके शिविर में आ रही है और जब शकपति रानी के स्वागत में आपान नृत्यादि से खुशियाँ मना रहा था ध्रुवस्वामिनी के छद्मवेश में स्वयं चन्द्रगुप्त ने वहाँ पहुँच कर उसे मार डाला । पश्चात् रामगुप्त के सिंहासन पर बैठ उसने उसकी पत्नी ध्रुवस्वामिनी से भी विवाह कर लिया । इस कहानी की पुष्टि अनेक अन्य प्रमाणों से भी होती है । हर्षचरित, उस पर शङ्करार्य की टीका, भोज के शृंगार प्रकाश, अमोघवर्ष के संजन-पत्राभिलेख और मजमालुत तवारीख, सभी ने इस प्रसंग का सीधा-तिरछा उल्लेख किया है । हर्षचरित में तो स्पष्ट वर्णन है—अरिपुरेच परकलत्रकामुक कामिनीवेषगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशायत् । इसी रहस्य का उद्घाटन नाटककार ने 'देवी चन्द्रगुप्त' (ऐसा नाटक जिसमें चन्द्रगुप्त ने देवी अर्थात् रानी का वेष धारण किया) में किया है ।

गद्दी पर बैठने के बाद चन्द्रगुप्त को गुप्त साम्राज्य के सारे साधनों के साथ विदेशी शकों का सामना करने की सुविधा मिली । शकों ने ध्रुवस्वामिनी को माँग कर शालीन गुप्तकुल की जो अवमानना की थी, उसका काँटा तो चन्द्रगुप्त के मर्म में चुभा ही था, उनका मातृभूमि पर शासन भी उसके लिए कुछ कम पीड़ा की बात न थी । उसने उनके विरुद्ध अभियान करने की ठानी परन्तु शकों पर चढ़ाई कुछ हँसी-खेल न था । उनकी शक्ति दुर्जेय थी और उसका केन्द्र थी उज्जयिनी—यथार्थतः पश्चिम में उज्जयिनी और उत्तर-पश्चिम में सीमाप्रान्त । सीमाप्रान्त फिर भी सुदूर सीमा पर था परन्तु उज्जयिनी पार्श्व के मर्म में थी । सारा मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र (काठियवाड़), और संभवतः महाराष्ट्र भी शकों की भुक्ति बन गए थे । विस्तृत उर्वर भूमि की अन्न निधि के अतिरिक्त यूरोप, पश्चिमी एशिया और मिस्र का सारा भारतीय व्यापार इसी भूखण्ड में उतरता था । उज्जयिनी उस वणिक्पथ का विशिष्ट बिन्दु थी । युद्ध-यात्रा के लिए भी उस तक पहुँचना अपेक्षाकृत

आसान था । उस शकभूमि पर आक्रमण करने में बस एक कठिनाई थी कि उसके और गुप्तसाम्राज्य के बीच वाकाटकों का साम्राज्य फैला हुआ था । शकों को जीतने से पहले वाकाटकों को जीतना आवश्यक था पर उनको जीतना कुछ आसान भी न था । फिर दो शत्रुओं के साथ एक साथ युद्ध ठानना भी कुछ चातुर्य न होता । इससे वाकाटकों के संबंध में चन्द्रगुप्त ने शक्ति से नहीं नीति और दूरदर्शिता से काम लिया । उसने उनसे विवाह-संबंध स्थापित करने का निश्चय किया । उसके कुबेरनागा से प्रभावती गुप्ता नाम की एक कन्या थी । उसने तत्काल रुद्रसेन द्वितीय वाकाटक के साथ उसका विवाह कर दिया । वाकाटक ब्राह्मण थे परन्तु जिस स्मृति ने भाई की विधवा अथवा जीवित भाई की सधवा ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त की धर्मपत्नी बनने की व्यवस्था दी थी उसीने इस क्षत्रिय-ब्राह्मण संबंध को भी शास्त्र सम्मत करार दिया । चन्द्रगुप्त का मनोरथ सिद्ध हो गया ।

वाकाटकों के राज्य से होकर शकों पर आक्रमण करने का उसे रास्ता मिल गया । शीघ्र उसने एक विशाल सेना लेकर शकों पर आक्रमण किया और उनको सर्वथा नष्ट कर दिया । उनको देश से बहिर्गत कर चन्द्रगुप्त ने उनका राज्य स्वायत्त कर लिया और उन्हीं के अनुकरण में उसने उस भूखण्ड में अपने चाँदी के सिक्के चलाए । यह युद्ध संभवतः ३९५ और ४०० ई० के बीच कभी हुआ । इस आक्रमण का मार्ग भी एक तत्कालीन अभिलेख में प्रतिध्वनित है । भिलसा के पास उदयगिरि की एक गुफा चन्द्रगुप्त के 'सान्धि-विग्रहिक' मन्त्री शाब वीरसेन ने शम्भु (शिव) को अर्पित की है । इस गुफा के अभिलेख से प्रमाणित है कि वीरसेन के साथ 'सारी पृथ्वी को जीतने की इच्छावाला (वह राजा भी) गया था' (कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः) । इसी उदयगिरि के गुफा-द्वार पर एक वराह-विष्णु की मूर्ति उत्कीर्ण है जिसमें वराह अपने थूथन पर पृथ्वी को उठाए असुर हिरण्याक्ष से उसकी रक्षा करते दिखाए गए हैं । वास्तव में यह चन्द्रगुप्त द्वारा भारतीय भूमि की शकों से रक्षा थी, ठीक उसी प्रकार जैसे उसने ध्रुवस्वामिनी की शकपति से की थी । इस वराह की दाढ़ पर जो पृथ्वी का रूप नारी का है वह तद्रहस्यानुकूल ही है । समसामयिक विशाखदत्त ने अपने नाटक मुद्राराक्षस से भी यदि वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार के बहाने अपने संरक्षक की शक्ति की सराहना की और अपने नान्दि-श्लोक में चन्द्रगुप्त के भारत और ध्रुवस्वामिनी की शकों से रक्षा को अप्रत्यक्ष रूप से ध्वनित कर दिया तो क्या आश्चर्य ? साहित्य और कला की एक रूपता समकालीनता से स्थापित हो जाती है । इस प्रकार पश्चिमी शकों का नाश कर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपना विक्रमादित्य विरुद धारण किया । परन्तु केवल इस विजय से उसकी 'शकारि' संज्ञा सार्थक न हो सकी । सुदूर उत्तर-पश्चिम में भी शकों की कुमक उससे लोहा लेने को उद्यत हो रही थी ।

उत्तर-पश्चिम का शक घटाटोप कुछ कम भयानक न था । संभवतः पश्चिम से भाग कर शक सरदारों ने सीमाप्रान्त के कुषाण आदि अन्य विदेशियों से चन्द्रगुप्त के विरुद्ध साझा कर लिया था । चन्द्रगुप्त अब उनकी ओर मुड़ा । परन्तु इसके पहले उसे एक और कठिनाई का सामना करना पड़ा । उसके शत्रुओं ने इसी काल बंग देश में संगठित होकर विद्रोह का झंडा खड़ा किया । यह सम्मिलित (समेत्य) विद्रोह किन शत्रुओं का था यह कहना कठिन है । संभव है उसे विदेशियों से युद्ध में फँसा देखकर गृह-शत्रुओं ने सिर उठाया हो और यह भी संभव है कि हारे हुए शक सरदारों में से कुछ इस गृहदाह से लाभ उठाने के लिए देश की उस सीमा पर चन्द्रगुप्त के शत्रुओं के साथ संगठित हो गए हों । परन्तु उसने शत्रुओं की इस घटा को तितर-बितर कर दिया । वहाँ से वह उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ा । 'दैव पुत्र, शाहिशाहानुशाहि, शक और मुरुण्ड' उस प्रान्त में जमे बैठे थे, पास ही काश्मीर के उत्तर में वह्लीक देश था जहाँ कभी ग्रीकों ने राज किया था जहाँ के अब हूण स्वामी थे । सिन्धु-नद के सातों मुखों को पार कर हिन्दूकुश लाँघ जब अमरात पहाड़ों की छाया से निकल वृक्ष की उपत्यका में वह वाह्लीकों (बलख—बाख्त्री—के हूणों) से जा टकराया, उन्हें चूरचूर कर दिया । खजूरों के तनों से 'उसके हाथी बँधे, केसर की क्यारियों में उसके घोड़े लोटे, उनके बदन पर केसर का मकरन्द बरस पड़ा । शत्रुओं का संहार कर उसने 'खड्ग से अपनी भुजकीर्ति' लिखी और अपने विक्रम के 'अनिल से उसने दक्षिण सिन्धु को सुवासित किया ।' मेहरौली गाँव के पास दिल्ली की

कुतुब मीनार के आंगन में एक लौहस्तम्भ खड़ा है उसके ऊपर जो गुप्तलिपि में राजा 'चन्द्र' का अभिलेख है वह इसी चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का माना जाता है। सिन्धु के सात मुखों (धाराओं—सहायक नदियों) को पार कर वाह्लीकों को जीतने आदि की कथा उसी में ध्वनित है। मूल इस प्रकार है—

> यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागता—
> न्वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
> तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
> यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः॥

तत्कालीन अभिलेखों ने तो चन्द्रगुप्त की यह कीर्तिगाथा गाई ही, सम्भव नहीं कि समसामयिक साहित्यिक इस राष्ट्रीय विजय को भूल जाते। जहाँ विशाखदत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त का अप्रत्यक्ष और 'देवीचन्द्रगुप्त' में प्रत्यक्ष यश विस्तार किया, महाकवि कालिदास ने भी वहाँ अपने 'रघुवंश' में उसकी विमल कीर्तिपताका फहराई। रघु-दिग्विजय पर केवल समुद्रगुप्त की ही नहीं चन्द्रगुप्त की विजयों की भी—पिता पुत्र दोनों की—छाया है। यदि केवल समुद्रगुप्त की विजयों की ही छाया रहती तो कालिदास का वर्णन त्रिकूट के पास ही समाप्त हो जाता, फिर वहां से 'पारसीकांस्तथाजेतुंप्रतस्थे स्थल-वर्त्मना' की क्या आवश्यकता थी? परन्तु महाकवि अपने समकालीन महरौली स्तंभ के इस श्लोक के ऐतिह्य को कैसे भुला सकता था? इस कारण यद्यपि उसके नायक के लिए फ़ारस जाने का जलमार्ग खुला था परन्तु 'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका' के तथ्य को सार्थक करने के लिए कवि का 'प्रतस्थे स्थल-वत्मना' करना आवश्यक था और इसी कारण द्राक्षावलय-भूमिषु', 'ततः प्रतस्थे कौवेरीं' तथा 'वंक्षुतरि विचेष्टनैः" की सार्थकता है। इस चन्द्रगुप्त के नवरत्नों में महाकवि कालिदास और विशाखदत्त तो थे ही, इनके साथ ही कोशकार अमरसिंह भी था। इसीलिए तो 'अमरकोश' की अपनी टीका में क्षीरस्वामी ने 'वाह्लीक' की व्याख्या में रघुवंश के 'दुधुवु......वंक्षुतीरविचेष्टनैः' पाठ को ही दुहरा कर इस सत्य की ओर सङ्केत कर दिया। चन्द्रगुप्त ने भारत में शकों का सर्वत्र नाश कर, अपनी 'शकारि' संज्ञा और विक्रमादित्य विरुद सर्वथा सार्थक किए।

३

तीसरा विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का पौत्र और कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य का पुत्र स्कन्दगुप्त था। विलासी पिता कुमारगुप्त का स्थान अकर्मण्यता में पिता चन्द्रगुप्त और पुत्र स्कन्दगुप्त के बीच कुछ वैसा ही था जैसा राणा साँगा और प्रताप के बीच उदयसिंह का या अथवा बाबर और अकबर के बीच हुमायूँ का। कुमारगुप्त के शासनकाल में गुप्तकालीन कला और साहित्य अपने चरम विकास तक पहुँच चुके थे और स्वभावतः पतन ही संभव था। कला और समृद्धि की बहुतायत से सहज ही विलास की वृद्धि होती है और विलास की वृद्धि राष्ट्रों के पतन का संकेत है। रोम और तुर्की की यही कहानी है, भारत और फ्रांस की भी।

कुमारगुप्त के जीवन के अंतिम क्षणों में साम्राज्यकी गति अधोमुखी हो चली थी जैसा स्कन्दगुप्त के अभिलेख के पद्यांश—विचलितकुललक्ष्मी—से प्रमाणित है। इस काल में भीतरी बाहरी दोनों शत्रुओं का भय था और दोनों खतरे प्रायः साथ ही, एक के बाद एक, झेलने भी पड़े। पिता के जीवन काल में ही, एक के बाद एक, झेलमें भी पड़े। पिता के जीवन काल में ही पुष्यमित्रों के गणतन्त्र ने जिसने पर्याप्त शक्ति और सम्पत्ति संचित कर ली थी, नर्मदा की ओर से साम्राज्य की दक्षिणी सीमाओं पर छापे मारे। कुमारगुप्त जीवन-संध्या में प्रयाण के दिन गिन रहे थे, साम्राज्य के स्तंभों की दृष्टि युवराज स्कन्दगुप्त पर लगी थी और स्कन्दगुप्त ने उन्हें निराश न होने दिया। त्याग और श्रम, तप और शौर्य का जीवन बिताने वाले स्कन्दगुप्त ने चलायमान कुललक्ष्मी को पुष्यमित्रों की ओर से लौटा लिया यद्यपि इस लक्ष्य के लिए उसे सादा सैनिक का जीवन बिताना पड़ा, रूखी पृथ्वी पर सो सोकर रातें काटनी पड़ीं—क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा। गृह-शत्रु का प्रयास स्कन्दगुप्त के अध्यवसाय और जागरुकता से विफल हो गया।

परन्तु शीघ्र उत्तर-पश्चिमी सीमाकाश पर काले मेघ मँडराने लगे। साम्राज्य फिर खतरे में पड़ गया। चीन के कान्सू प्रान्त से हूण कब के चल पड़े थे। उनका उदय साम्राज्यों के विनाश के हित हुआ था। उनसे टकरा कर कितने ही राज्य चूर चूर हो गए, कितने ही सम्राज्यों की चूलें ढीली हो गईं, जड़ें हिल गईं।

हूणों की आँधी यम का आक्रोश था। जिस राह हूण निकल जाते, राष्ट्रों के टखने टूट जाते, नदियों के रक्तिम स्रोत, शवों के अंबार, और जले गाँवों की राख उनकी कहानी कहती। रोमनों ने उनको 'भगवान का कोड़ा'—फ्लैगेलम् देई (Flagellem Dei)—कहा। उनके सरदार अत्तिल ने जब यूरोप की ओर रुख किया वहाँ के देशों में कुहराम मच गया, उसकी मार से प्राचीन रोमन साम्राज्य की रीढ टूट गई।

इन्हीं हूणों की एक भयानक शाखा ने भारत की ओर अपना रुख किया। टिड्डी दल की भाँति नाटे-चौड़े विकराल हूण गुप्त साम्राज्य की सीमा की ओर बढ़े। पर सजग स्कन्दगुप्त ने देव सेना के सेनानी की भाँति बढ़कर असुरों की इस कुमक की बाग रोक दी। उनके साथ स्कन्दगुप्त के समर में 'जा टकराने से पृथ्वी हिल गई, आवर्त बन गया' (हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता भीमावर्तकरस्य...)। ग़ाज़ीपुर ज़िले में सैदपुर भीतरी का स्तंभलेख स्कन्दगुप्त की इस विजय का साक्षी है। इस महायुद्ध के फलस्वरूप एकबार तो साम्राज्य की सुरक्षा हुई और गुप्त-साम्राज्य की प्राचीरें गिरतें-गिरते रह गईं। स्कन्दगुप्त की मार से 'इस विदेशी खूंखार जाति ने मुंह की खाई और' उस वीरकर्मा का विरुद सार्थक हुआ।

परन्तु हूणों की धारा रोकना एक व्यक्ति का काम न था और न गुप्त-साम्राज्य की जरजर दीवारें इस चोट पर खड़ी हो रह सकती थीं। स्कन्दगुप्त ने आमृत्यु इस शक्ति से लोहा लिया और देश के लिए उसने अपने को बलिकर दिया। संभवतः हूणों के साथ ही युद्ध में उस महाव्रती ने अपने प्राण खोए। सांम्राज्य के तार-तार बिखर गए।

४

चौथा विक्रमादित्य मालवा का 'जनेन्द्र' यशोधर्मन था। ४५५-५६ ई० के लगभग स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ने हूणों को परास्त किया था; परन्तु उनका खतरा वास्तव में बना ही रहा। फ़ारस की दुर्जेय शक्ति हूणों की गति में काफ़ी बाधक थी और भारत की ओर बढ़ने में उन्हें पहला लोहा उससे ही लेना पड़ता था। ४८४ ई० में उन्होंने फिरोज़ को मारकर अपनी राह निष्कण्टक बना ली और पूरी शक्ति के साथ उन्होंने भारत पर आक्रमण किया। इन हूण आक्रमणों का नेता संभवतः तोरमाण था। मध्य भारत तक की सारी भूमि पर उसने शीघ्र अधिकार कर लिया। मालवा पर हूणों का शासन जमा। मालवा का हाथ से निकल जाना गुप्त-साम्राज्य के लिए अत्यन्त विपज्जनक सिद्ध हुआ।

तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल ने भी भारत के मध्य देश मगध पर आक्रमण किया पर उसे अपने मुँह की खानी पड़ी। मगधराज बालादित्य ने उसे हराकर बन्दी कर लिया। यह बालादित्य कौन था यह कहना कठिन है: परन्तु तिथियों के असामन्जस्य से जान पड़ता है कि यह बालादित्य कम से कम नरसिंह बालादित्य नहीं था। फिर भी उसे हराकर बालादित्य ने अपना विरुद कुछ हद तक तो सार्थक कर ही लिया। हूण-आक्रमण की संभावना बनी रहने के कारण शायद बालादित्य 'विक्रमादित्य' के विरुद से वंचित रह गया।

जान पड़ता है कि मिहिरकुल को भारतीयों से फिर लड़ना पड़ा। बालादित्य से भागकर उसने कश्मीर में शरण ली थी और अपनी कृतज्ञता का परिचय उसने अपने आश्रयदाता को मार और सिंहासन को हड़प कर दिया था। यह मिहिरकुल अत्यन्त नृशंस था। हुएन-च्वाँग के लेखानुसार वह बौद्धों का शत्रु था और उन्हें भाँति-भाँति की यंत्रणाएँ देकर मार डालता था। राजतरंगिणी का तो उल्लेख है कि वह नित्य विशाल हाथियों को ऊँचे पर्वत-शिखरों से गिरवा कर उनके मरण-चिग्घाड़ों को सुन-सुन प्रसन्न होता था, उसी मिहिरकुल ने मालवा के जनेन्द्र यशोधर्मन से इस बीच लोहा लेना चाहा परन्तु आक्रमण उसे मँहगा पड़ा।

जनेन्द्र यशोधर्मन् ने मिहिरकुल को लगभग ५३२-३३ ई० के शीघ्र ही बाद बुरी तरह हराया। उसकी शक्ति इस हार से इतनी क्षीण हो गई कि उसने फिर भारत की ओर बढ़ने की हिम्मत न किया। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत काल पीछे तक हूण सरदार जहाँ तहाँ भारत में शासन करते रहे और धीरे-धीरे वे भारतीय जनता में घुलमिल गए परन्तु इसके बाद कभी उन्होंने भारत में छत्रधारी राजा की प्रभुता नहीं प्रतिष्ठित की। मिहिरकुल और उसके सरदारों को पूर्णतया पराजित कर और उनकी शक्ति तोड़ कर जनेन्द्र यशोधर्मन् ने भी

विक्रमादित्य का विरुद धारण किया। उसके मन्दसोर के स्तंभलेख से प्रमाणित है कि स्वयं मिहिरकुल ने अपने मस्तक के पुष्पों के उपहार से उसके चरणों की पूजा की— चूडापुष्पोपहारमिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्।

यह यशोधर्मन् विक्रमादित्य भी छठीं शती का महान् विजेता जान पड़ता है। मन्दसोर (पच्छिमी मालवा) के स्तंभ पर जो उसकी प्रशस्ति खुदी है उसमें लिखा है कि जो वसुधा गुप्तों तक को मुयस्सर न हो सकी थी उसे जनेन्द्र यशोधर्मन् ने भोगी और उसने उन प्रान्तों तक पर शासन किया जिनमें हूण भी प्रवेश न पा सके थे। लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा) तक और हिमालय से पश्चिम सागर तक के सारे राजा उसका प्रभुत्व मानते थे। यशोधर्मन् विक्रमादित्य विदेशियों से सफल संघर्ष करनेवाले विक्रमादित्यों की प्राचीन परम्परा में अन्तिम था। उसके बाद जो बाढ़ें आईं वे न रुक सकीं।

५

यशोधर्मन् के प्रायः हजार वर्ष पश्चात विदेशियों को बहिर्गत करने का एक प्रयास और हुआ। वह था रेवाड़ी (पंजाब के गुड़गावाँ ज़िले) के भृगुवंशीय हेमचन्द्र का प्रयास। सोलहवीं सदी ईस्वी के मध्य में हेमचन्द्र को मुसलमान लेखकों ने हेमू नाम से लिखा है, शायद इसी कारण कि वे उसकी राजनैतिक और सामरिक योग्यता से चिढ़े हुए थे। वे राजपूतों को छोड़ हिन्दुओं में किसी और वर्ण को सामरिक श्रेय देने को तत्पर न थे। आधुनिक भार्गव लोग हेमचन्द्र को अपना पूर्वज मानते और अपने को ब्राह्मण कहते हैं। इनका गोत्र निस्सन्देह भृगु का है और ये ब्राह्मण हो सकते हैं, यद्यपि पाणिनि के सूत्र 'विद्यायोनिसम्बन्धो' के अनुसार गुरु और पिता दोनों के नाम पर गोत्र बन सकते थे। मुसलमानों ने हेमचन्द्र को जो 'बक्काल' (बनिया) लिखा है उसका कारण संभवतः उनका वैमनस्य था। यह भी संभव है कि आज ही की भांति चूँकि भार्गव तभी से व्यापार करने लगे थे मुसलमानों को उसके बनिया होने का भ्रम हो गया हो।

कुछ हो हेमचन्द्र अथवा हेमू था महान्। सेनापति और नीतिज्ञ दोनों रूप से। सैन्य-सञ्चालन में वह अपने काल में अद्वितीय था। सच्चरित्र, भी वह बड़ा था। शेरशाह के बाद उसका बेटा सलीम फिर उसका पौत्र फ़ीरोज़ गद्दी पर बैठे। फ़ीरोज़ बालक था और उसके मामा आदिलशाह ने उसे मार कर गद्दी अपना ली। हेमचन्द्र इसी आदिलशाह का मन्त्री था। आदिलशाह विलासप्रिय था। उसने हेमचन्द्र पर राज्य का सारा भार डाल चुनार की राह पकड़ी। मौका देख हेमचन्द्र ने हिन्दू राज्य की स्थापना का स्वप्न देखा। अफ़गानों के गृहयुद्ध से पूर्व में उनका स्वत्व टूट रहा था। और हर जगह वे दुर्बल होते जा रहे थे। सन् १५५५ में सिकन्दर सूर को पञ्जाब में हरा कर हुमायूँ ने दिल्ली में प्रवेश किया, परन्तु अपने लौटाए शासन को छः महीने से अधिक न भोग सका।

सन् १५५६ के आरम्भ में हुमायूँ के मरने पर उसका तेरह वर्ष का पुत्र अकबर गद्दी पर बैठा। बैरम खाँ उसका अभिभावक बना। सिकन्दर पञ्जाब में लूट मार कर रहा था, हेमचन्द्र दिल्ली का मुगल साम्राज्य छीन लेने की अभिलाषा से उधर बढ़ा। अफगान साम्राज्य की पुनः स्थापना का लोभ दिखाकर उसने अफग़ान सरदारों को मुगलों से मिलने न दिया, उनसे उन्हें भड़का रखा। एक बड़ी सेना लेकर जब वह कुशल सेनापति विक्रमादित्य का विरुद धारण कर मुगलों के केन्द्र की ओर चला तो उसकी राह न रुकी। मुग़ल सेनाएं काई सी कटती गईं, जो सामने आईं कुचल गईं। आगरा देखते-देखते उसके हाथ आ गया, दिल्ली उसके प्रवेश से सेनाओं से रिक्त हो गई। कुछ आश्चर्य न था कि शीघ्र दिल्ली के सिंहासन पर हिन्दू सम्राट प्रतिष्ठित हो जाता, इतने में राजनीतिक दाँव-पेंच में पाँसा पलट गया। बैरमखाँ ने पानीपत के मैदान में अकबर की ओर से लड़ने के लिए सेना प्रस्तुत की, यद्यपि उसके जीतने की आशा नहीं के बराबर थी और अकबर को काबुल भाग जाने की सलाह दी जाने लगी थी फिर सामना हेमू का था जिसके नाम से मुग़लों के देवता कूच कर जाते थे और उसकी हरावल में बलिया आरा के उन भोजपुरी वीरों की बहुतायत थी, जिन्होंने कुछ ही सालों पहले शेरशाह के संचलन में बाबर के लड़ाकों के पैर उखाड़ दिए थे, उनके बादशाह हुमायूँ को दरबदर फिरने पर मजबूर किया था और राजपूताना की वीर-प्रसविनी भूमि को रौंद डाला था।

हेमचन्द्र की हिन्दू हरावल ने बैरमखाँ की हरावल से टकरा कर उसे तोड़ दिया। इसी बीच दोनों पार्श्व के अफ़ग़ानी रिसालों ने बैरमखाँ के पार्श्वों को कुचल डाला परन्तु ठीक तभी एक ऐसी घटना घटी जिसने अनेक भारतीय जीतें हार में बदल दी हैं। हेमू अपने हाथी पर खड़ा जो तीरों को मार कर रहा था स्वयं दुश्मन के अनेक तीरों का निशाना था। अब तक उसे अनेक घाव लग चुके थे। सहसा एक तीर उसकी आँख में आ लगा दूसरा उसके हाथी की आँख में। उसका हाथी भागा और उसकी सेना में भगदड़ मच गई। मैदान मुग़लों के हाथ रहा। घायल हेमू मरणासन्न अकबर के सामने लाया गया। बैंरमखाँ ने तत्काल उसे मरवा डाला।

विक्रमादित्यों की परम्परा में हेमचन्द्र का यह उद्योग भारतीय इतिहास में अन्तिम था, यद्यपि उस परम्परा से पृथक प्रयासों की कमी देश में न रही। इस प्रकार के प्रयत्न मराठों ने किए, सन् सत्तावन की ग़दर में हुआ और सन् १८८५ ई० से इधर निरन्तर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस करती रही। अभी अभी विक्रमादित्यों का व्रत पूरा हुआ है, जब अंग्रेज़ों ने भारत छोड़ा। फिर भी संभवतः प्रयास पूरा न पड़ा। पश्चिमोत्तरी क्षितिज पर धुएँ के बादल उठ रहे हैं। शायद कुछ और बलिदानों की आवश्यकता होगी। जनमेजय की प्यारी तक्षशिला संभवतः कुछ और पूरब की ओर खिंच आई है! ❀

❀ जनमेजय की तक्षशिला, जहाँ उसने राष्ट्र के शत्रुओं को यज्ञकुण्ड में हवन किया था, आज राष्ट्र के भीतरी शत्रुओं तथा अँग्रेजों के षड़यन्त्र से हमारी सीमा के बाहर है। जिस सीमा को हमारे पूर्वजों ने अपने पौरुष और तलवार की नोक से खीचा था, आज वह सीमा हमसे छिन गई है। नाग आज भी देश के अन्दर अपनी टेढ़ी चालें चल रहे हैं। काश्मीर पर हमले हो रहे हैं; हैदराबाद देशद्रोह पर उतारू है। हिन्दू रजुल्ले और जमीन्दार राष्ट्रीय सरकार को कमजोर करने के लिए कोशिश कर रहे हैं। ऐसी है आज देश की स्थिति।

किन्तु हमें चिन्ता नहीं है। हमारी कर्मशक्ति जागृत है। हमने निरन्तर अंग्रेजों से लोहा लिया है। हमने उनका मेरुदण्ड तोड़ दिया है। हम उनके इस अस्थिपंजर को समुद्र और काबुल नदी में बहाएँगे। हम अपनी तक्षशिला को फिर वापस लेंगे। हम ऐसा करेंगे और हममें से ही पैदा होगा समाजवादी विक्रमादित्य। विक्रमादित्यों परम्परा लुप्त नहीं हुई—कायम है।

—सम्पादक]

History of Vikramadityas - their heroic endeavours in driving out the invaders from our motherland. From the 1st Vikramaditya to the last one Hemu against the Moghal. Then the Marathas, rebels of 1857, the INC are kept in this tradition and still to come some Vikramadityas for consolidation of nation's boundary and the establishment of socialist society by a socialist Vikramaditya

कार्यक्षम कोई द्रव पदार्थ ही होता है और जल में यह द्रवत्व गुण है। परन्तु 'अग्नि से सींचो' वाक्यगत पदार्थों में योग्यता नहीं है, क्योंकि सेचन कार्य का साधन द्रवत्व गुण अग्नि में नहीं है। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि वाक्यगत पद-समूहों में योग्यता की स्थिति आवश्यक है, बिना इसके इष्ट अर्थ की व्यंजना असंभव है।

आकांक्षा के मूल में इच्छा वा जिज्ञासा का भाव निहित है। वाक्य में अभीप्सित अर्थ की व्यंजना के लिए एक पदार्थ दूसरे सम्यक् वा उपयुक्त पदार्थ की आकांक्षा वा इच्छा रखता है, बिना ऐसे पदार्थों के संयोग के सम्यक् अर्थ की प्रतीति नहीं होती। तो, प्रधानतः आकांक्षा का स्वरूप अर्थ-प्रतीति की पूर्णता का अभाव ही है; जिस अभाव की निवृत्ति एक पदार्थ के उपयुक्त दूसरे पदार्थ के आ जाने से हो जाती है। इस प्रकार आकांक्षा की परिभाषा एक पदार्थ के न रहने से दूसरे पदार्थ के बोध का अभाव ठहरती है।[१] उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। हमें 'पुस्तक लाओ' कहना है। यदि हम केवल 'पुस्तक' कहें या लिखें तो श्रोता वा पाठक के मन में पुस्तक के विषय में कुछ जानने की इच्छा वा जिज्ञासा उत्पन्न होगी, और यह इच्छा वा जिज्ञासा 'लाओ' शब्द के कहने वा लिखने से शान्त हो जायगी। तो, अभीप्सित अर्थ-व्यंजना के हेतु 'पुस्तक' पद का अर्थ 'लाओ' पद के अर्थ की आकांक्षा रखता है। यदि हम इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए 'पुस्तक' के आगे 'लोटा' 'डोल' पदों के पदार्थों को प्रयुक्त करेंगे तो 'पुस्तक लोटा, डोल' पद-समूह होने पर भी इष्ट अर्थ न देगा। इसलिए वाक्य में साकांक्ष पदों का ही प्रयोग होता है।

साधारणतः बिना विलम्ब के पदों वा पदार्थों की उपस्थिति को आसत्ति वा सन्निधि कहते हैं।[२] हमें अपने विचारों वा भावों को वाक्यों द्वारा किसी पर प्रकट करना होता है। यदि हम वाक्यगत पदों को ठहर ठहर कर बोलेंगे तो श्रोता की बुद्धि एक एक पद के अर्थ को विलम्ब से ग्रहण करने के कारण विचारों वा भावों की अनन्वितविश उन्हें समझ न सकेगी, वह तो केवल पद के अर्थ को ही जान सकेगी, पद-समूह के अर्थ को नहीं। हमें 'पानी लाओ' व्यक्त करना है। यदि 'पानी' पद हम अभी कहें और 'लाओ' कुछ घंटों के पश्चात् तो अपना अभीप्सित अर्थ संभवतः हम ही समझ सकेंगे, कोई दूसरा व्यक्ति न समझ सकेगा। इसलिए वाक्यगत पद-समूह में आसत्ति वा सन्निधि का होना अत्यावश्यक है।

इस प्रकार हमें ज्ञात हुआ कि वाक्यगत पद-समूह को योग्यता, आकांक्षा, तथा आसत्ति वा सन्निधियुक्त होना चाहिए। वाक्य में प्रयुक्त पदों में इन तीन तत्त्वों के अतिरिक्त एक और तत्त्व का होना भी आवश्यक है, और उस तत्त्व का नाम है समभिव्याहार। बिना किसी व्यवधान के सरलतापूर्वक अभिप्सित वाक्यार्थ बोध के लिए वाक्यगत पदों की क्रमयुक्त स्थिति को समभिव्याहार कहते हैं। इसे वाक्य का एक अनिवार्य तत्त्व समझना चाहिए। बिना इसके अर्थ का अनर्थ सहज है। पद-स्थिति में व्यत्यय या विपर्यय द्वारा सर्वथा विपरीत अर्थ-बोध होना कोई असंभव बात नहीं है। जैसे-कोई कहना चाहता है कि 'साहु ने चोर को पकड़ा'। यदि वह इस वाक्य के पदों में कुछ व्यत्यय करके 'साहु' के स्थान पर 'चोर' और 'चोर' के स्थान पर 'साहु' कहे तो अर्थ सर्वथा विपरीत होकर 'चोर ने साहु को पकड़ा' हो जायगा।

इतने विवेचन के पश्चात् वाक्य की परिभाषा पूर्ण होती है; और अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वाक्य द्वारा प्रधानतः प्रवृत्ति तथा निवृत्तिमय विचार वा भाव व्यक्त होते हैं, इनको व्यक्त करने के लिए अभीप्सित अर्थ व्यंजक पद-समूह की सहायता ली जाती है, और यह पद-समूह योग्यता, अकांक्षा, आसत्ति वा सन्निधि तथा समभिव्याहार से युक्त होता है।

१—(क) आकांक्षा प्रतीति पर्यवसान विरहः।—साहित्य-दर्पण।
(ख) पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा।—तर्कसंग्रहः।
(ग) पदार्थानां परस्पर जिज्ञासा विषयत्व योग्यत्वमाकांक्षा।—वेदान्तपरिभाषा।

२—(क) आसत्तिर्बुद्धयविच्छेदः।—साहित्यदर्पण।
(ख) आसत्तिः अव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिः। वेदांतपरिभाषा।
(ग) प्रकृतान्वयबोधानुकूल पदाव्यवधानसामानिः। —परम लघुमंजूषा।
(घ) अविलम्बेन पदार्थोपस्थितिः सन्निधिः। —तर्क दीपिका।
(ङ) पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः। —तर्क संग्रहः।

वन और वनवासी

श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित एम० ए०

आज हमारे देश के राष्ट्रीय उत्थान के युग में वे सब प्रयत्न हमारी नीति से मेल नहीं खाते हैं जो बृटिश सरकार, धर्म-मिशनरियों, उद्योगपतियों, नृतत्त्व विज्ञान-वादियों द्वारा तथा गांधीजी के आदर्शों से प्रेरित हो कर कतिपय समाज सुधारकों द्वारा समय समय पर वनवासी जातियों की समस्या के हल स्वरूप अभी तक किए गये हैं। न तो हम बृटिश सरकार की 'रिश्वत' वाली नीति अब स्वीकार कर सकते हैं, न कर्नल वेजवुड के उन शब्दों में कोई तथ्य है कि "भारतीय वनवासी जातियों का प्रबन्ध नहीं कर सकते हैं। अतः बृटिश सरकार नृतत्त्व शास्त्रियों (Anthropologists) की देखरेख में उनका प्रबन्ध करे। भारतीय इन जातियों को नष्ट कर देंगे। इन पर पूर्ण रूप से बृटिश प्रभाव रहे, मिस्टर चर्चिल को प्रसन्न करने के हेतु उन्होंने यह भी कहा कि "अफ्रीका में हमने इसी नीति से सफलता पाई और भारत में भी वनवासी जातियों का एक मात्र हल क्रिश्चियन मिशनरियों के हाथ हैं"।[२] इस दृष्टि से इन जातियों पर शासन करते हुए आज १७५ वर्ष हो गए, किन्तु क्या आज इस हल का कोई सुपरिणाम हुआ? आज इन जातियों में क्या सुधार हुआ है? हाँ जो साम्राज्यवादी षड्यन्त्र चलना प्रारभ हुआ था कि भारतीय वनवासी भूमि के टुकड़ों को साम्राज्यवादी उपनिशों में परिवर्तित कर दिया जावे और वे उपनिवेश वाह्य साम्राज्यों के सुरक्षित चरागाह रहें—उसका भण्डाफोड़ अवश्य हो गया। साथ ही साथ इस विभाजन की प्रवृत्ति उत्पन्न करने का सारा उत्तरदायित्व उस हल पर ही है, जिसका प्रभाव बिहार तथा आसाम के क्षेत्रों से मन्द स्वर में सुनाई पड़ रहा है। क्रिश्चियन बना डालने का प्रयत्न केवल भारत की एकता को दुर्बल बना डालने का था। उसके भीतर मानवता स्वप्न मात्र को भी न था। इस हल ने भारतीय एकता की वृद्धि न करके भारतीय प्रश्नों की जटिल बना डालने का ही कुचक्र रचा[३] इससे वनवासी जातियों की उन्नति की आशा ही क्या थी?

हम आज यह भी बर्दाश्त नहीं कर सकते हैं कि कोई भी पूँजीपति तथा अन्य व्यवसायपति इन वनवासी क्षेत्रों में प्रवेश करके किसी भी प्रकार के उद्योग प्रारभ कर के भोले भाले भूखे निरीह वनवासियों के श्रम का शोषण करें और उन्हें क्रीतदास[४] बना डाले। इस प्रकार का चतुर्दिक अपहरण चाहे व्यापारियों द्वारा हो, राज्य

१ "बंगाल, बिहार उड़ीसा के लड़ाकू वनवासी नेताओं को बृटिश सरकारने शान्ति रखने के निमित्त १५ हजार रुपया प्रतिवर्ष सन् १८३० से ही रिश्वत के रूप में देना प्रारंभ किया था, जिससे वे सरकार के विरुद्ध विद्रोह न करें यह रुपया १०० वर्ष तक दिया जाता रहा।" साथ ही फौज के रिटायर्ड व्यक्तियों को इन जातियों के आस पास बसाया गया जिन्हें काफी पेंशिनें मिलती रहीं। देखिए 'The Aborigines, G. S. Ghurye.

२ पार्लियामेंटरी डिबेट V Series

३. If the aboriginal becomes a christian he generally finds himself deprived of the free and natural reactions to which he is accustomed and he sinks into moral and economic degradation.'

Dr. Verier Elvin.

४ स्मरण रहे कि वनवासी जातियों का सभी प्रकार का शोषण राज्य व रियासतों द्वारा, धर्मावलम्बियों द्वारा तथा व्यापारियों द्वारा अभी तक खूब हुआ है। देशी रियासतों में आज भी इनका क्रय विक्रय तक चलता है, जिसके लिए किसी को भी चिन्ता नहीं? देखिए भील आश्रम-वामनिया (इन्दौर) की वार्षिक रिपोर्टें।

रा हो अथवा किन्ही धर्मावलम्बियों द्वारा हो, मानवता नाते भी सहन नहीं किया जा सकता है[1]। वैज्ञानिक दे जाने वाले हल नितान्त थोथे हैं जिनमें प्रतिपादित या जाता है कि 'चूँकि वनवासी जातियाँ सभ्यता र विकास की विभिन्न अवस्थाओं व मानव स्तरों की चक हैं अतः नृतत्त्व विज्ञान[2] की सामग्री के रूप में प्रदर्शिनी-गृह बने रहें जिनसे इनका अध्ययन सभी लों में किया जासके। इस प्रकार के तथाकथित विशिष्ट स्तिष्क[3] वाले वैज्ञानिक अपने मानसिक मनोरंजन के ए कितने ही उन्हीं जैसे मानवसमूहों को टूटे फूटे र्तनों तथा खंडहरों का स्वरूप देकर उनके साथ मान- क खेल खेलने का और दूसरों को स्वांग दिखाने का त्व करना चाहते हैं। "कोई व्यक्ति या जाति शोषित से रखी जावे जिससे भविष्य में दिखाया जा सके कि सी समय शोषक और शोषित किस प्रकार के थे" यह आज के युग में नहीं चल सकता ऐसी जातियों को दूकचों में कबतक कोई बन्द रख सकेगा और कैसे रख गा। मानव होकर यह सोचने का किसी को भी अव- नहीं है। इस प्रकार के हल जिनमें अमानवीय प्रवृत्ति र्शन होते हैं एकदम विवेक शून्य हैं। विज्ञान ऐसे व्यक्तियों के हाथ में जाकर विशिष्ट ज्ञान न रह सका विकारी ज्ञान हो कर मानवी सृष्टि का संहारक सिद्ध , जिससे आज भी विश्व जल रहा है। इससे मिलता ा हल उन लोगों का है जो विज्ञानवादी भी हैं और सुधारक भी। इस प्रवृत्ति के व्यक्ति सदैव दो के बीच का मार्ग खोजते हैं और पुराने कोट में ही उधर चिथड़े जोड़कर यह सदैव सिद्ध करने का प्रयत्न हैं कि अब कोट नया होगया और वह सभी प्रकार आपत्तियों को सहन करने में समर्थ हो जावेगा। ऐसे व्यक्तियों का अस्तित्व ही इसमें होता है कि वे अपने स्वार्थों की भी पूर्ति करलें और दोनों मार्गों के पथिकों के प्रिय भी बने रहें। ये चाहते हैं कि वनवासी जातियाँ अपने ही प्रयत्नों द्वारा विकसित हों; वाह्य प्रभाव उन पर किसी भी ओर से न पड़े, किसी भारी परिवर्त्तन का उन्हें सामना न करना पड़े, स्वाभाविक क्रम से सदी, दो चार सदी में वे अपना शेष आबादी से पूर्ण विलगाव रखती हुई। कूर्म गतिसे चलती रहें। वाहर की किसी भी अच्छी बुरी शक्ति से वे आन्दोलित न हों; समाज को जीवित रखनेवाली संघर्षमय परिस्थितियों का इन्हें सामना न करना पड़े, कुछ सुधार भी होते चलें किन्तु वे उनके क्रमिक विकास में व्यतिक्रम उत्पन्न न करें।" पता नहीं वह कौन सा क्रमिक विकास का सिद्धान्त है जो बिना किसी प्राकृतिक संघर्ष तथा स्वभावगत क्रिया प्रक्रिया के समाज में चला करता है। मानव सदैव अपने पड़ौसी वातावरण तथा संघर्ष से प्रभावित होता रहा है। प्राकृतिक संघर्ष के बिना कोई भी समाज जड़ तथा गतिहीन भले ही हो जावे किन्तु उसका क्रमिक विकास नहीं हो सकता है। जीवन जीवनमय रखने के लिए तथा जीवन की सुरक्षा के लिए मानव को सदैव अपनी स्थिति के अनुसार वाह्य उपकरणों से संघर्ष करना पड़ा है। उस संघर्ष में वह सदैव ही अपने पड़ोसी वाता- वरण से प्रभावित हुआ है। मानव समाज अपने चिर विस्तार की अकांक्षा में ही आगे बढ़ा है—संकोच की प्रवृत्ति में विकास कैसा? मानव का अभ्युदय सदैव सम्मिलन में निहित रहा है न कि पृथक्करण तथा एकान्त की उपासना में। सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय और विश्व बन्धुत्त्व की कल्याणकर भावनाएं अलग अलग सन्दूकचों में बन्द रक्खे हुए मानव समूहों के बीच नहीं सोची जा सकती हैं; उनके समान अन्तर्मिलन में ही मानव का सच्चा विकास हो सकता है।[1] इन बिचले मार्ग के

१ वर्दवान, मानभूमि की कोयले की खदानें जो १९२० से यूरोपियनों द्वारा संचालित की गई तथा कम्पनियाँ जो व्यवसायियों द्वारा चलाई गई तथा का खेती जो यूरोपियन या देशी उद्योगपतियों द्वारा ई इन सब में वहाँ की वनवासी जातियों के श्रम ा पूरा शोषण किया गया है।

२ Anthropology

३ Dr. Hutton, Mr. Dracup etc.

१ प्रसिद्ध भारतीय नृतत्व-वैज्ञानिक राय बहादुर ए० सी० राय ने इसी पक्ष में कहा है कि:—'The contact of plains Bhuiya with neighbours of higher culture had not only led to some economic and social progress but also had impaired his primitive virility and zest in life.' Assimitating with neighouring Hindus is always beneficial'.

शोधकों को क्या यह पता नहीं कि अधिक चिथड़े चिपकाने से कोट नया तो कभी नहीं हो सकता है, हां किसी समय ऐसा अवश्य हो सकता है कि वह अपना मूल अस्तित्त्व ही खो बैठे और फिर विभिन्न चिथड़ों को भी आपस में जोड़ना असंभव हो जावे तथा पुनः कुछ सदियों पश्चात् वही कार्य फिर आप करने बैठें जो कि सदियों पूर्व हो कर सकते थे। कुछ सुधार भी हो कुछ प्राचीन गतिविधि भी चलती रहे इससे दुर्बलता की ही वृद्धि होती है। समाज में कभी कभी यह चिथड़ेबाजी अविवेकपूर्ण जल्दबाजी के कारण होती है जिसका प्रभाव कभी भी श्रेयस्कर नहीं होता है। अतएव यह हल भी हमारे आज के युग के योग्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त पूज्य गांधी जी का हल उनके व्यक्तिगत जीवन का एक दर्शन है। उनका व्यक्तिगत 'हृदय परिवर्त्तन' वाला सिद्धान्त तथा कर्त्तव्य समझकर एकनिष्ठ हो योगी की भांति शनैः शनैः दुःख दूर करने के प्रयत्न में रत रहना और सीधे संघर्ष को सदैव समझौते के सन्मुख बलिदान कर देना आदि व्यक्तिगत तपश्चर्या से भरा हुआ होता है। समाज में ऐसे कार्य सात्विक और श्रद्धा की दृष्टि से पवित्र अवश्य कहे जा सकते हैं। कहीं कहीं पर उन्हें आंशिक सफलता भी मिल सकती है। किन्तु पूरे समाज को ध्यान में रखकर इनसे कार्य नहीं चलता। समाज में कितनी ही श्रेणियों का स्वार्थ संघर्ष विद्यमान रहता है जो कि समझौते के कच्चे डोरे में सदैव बंधा नहीं रह पाता। समय असमय यह टूटते ही समाज में व्यतिक्रम उत्पन्न कर देता हैं। कभी कभी उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। अतएव गांधी जी का हल देवों के समाज में भले ही सम्भव हो किन्तु आजकी समाजिक दशाओं में उसका निरूपण नहीं किया जा सकता है। जहां समाज के पूरे उत्थान का प्रश्न होता है वहां विस्तृत सामाजिक तथा व्यापक प्रयोग संचालित करने पड़ते हैं, प्रत्येक स्थानपर व्यक्तिगत तपस्या काम नहीं देती है। वनवासी जातियों का प्रश्न व्यक्तिगत उत्थान का या उद्धार का प्रश्न नहीं। वहां तो समाज के समाज को अन्धकार तथा चतुर्दिक गुलामी से निकालना है। उनमें से दो चार ग्रेजुएट उत्पन्न करके हमारा काम क्या सरल होगा? ऐसे सामा- जिक उत्थान के लिए हम देशी रियासतों, व्यापारियों, बनियों, धर्मान्ध व्यक्तियों तथा सामन्तवादी शक्तियों से कब तक समझौता करेंगे, कबतक उन्हें प्रसन्न करेंगे, कबतक उनका हृदय में परिवर्त्तन करेंगे। प्रत्येक कदम पर हम दो विरोधी केम्प खड़े देखते हैं। क्यों कि इन शक्तियों का वनवासी जातियों से शोषक और शोषित का सम्बन्ध है। जिसकी जड़ 'जीवो जीवस्य जीवनम्' वाले दर्शन पर दृढ़ता से स्थित है। इन समाज विरोधी शक्तियों से जबतक संघर्ष न करना पड़ेगा तब तक वन- वासी समाज की मुक्ति कहां? इन जातियों के समाज को उन कंटीली झाड़ियोंसे निकाल लाने के लिए यह अत्या वश्यक है कि उन कंटीली झाड़ियों को ही नष्ट कर दिया जावे। अन्यथा धीरे २ निकलते निकलाते उस समाज का शरीर फिर कहीं रखने योग्य नहीं रह सकता है। गांधी वादी दर्शन ऐसे वर्ग-संघर्ष को ठीक नहीं समझता और उसका 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धान्त भी अव्यवहृत होता है। अतः यह कोई स्थायी हल नहीं कहा जा सकता है।

कुछ लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों का यह भी कहना है कि इन वनवासियों को वनों से निकालकर या पहाड़ों से उतार कर मैदानों में बसाया जावे। क्या ऐसा कहने वाले यह सोचते हैं कि अब क्या वन और पहाड़ी भूमि शून्य ही रक्खे जावेंगे—क्या मनुष्य उन्हें तिलाञ्जलि दे देगा? अथवा क्या यह स्थान परिवर्त्तन का कार्य एक सुगम वस्तु है या मानवों का स्थान-परिवर्त्तन के लिए माल असबाब की भांति पार्सल किया जा सकता है? क्या मानव का अपनी प्यारी भूमि के साथ कोई भी सम्बन्ध या लगाव नहीं होता है? क्या आज तक अपनी जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग होनेवाले मानव समूह तथा जातियाँ मूर्ख थीं या जड़ थीं कि अपने आपको हवन की सामग्री समझकर जननी जन्मभूमि के रक्षार्थ किए गए महायज्ञों में अपने आपको झोंकती रहीं और इसपर अभिमान तथा गर्व करती रहीं? क्या मानव का स्वभाव कीट पतंग वाले स्तर पर स्थित है?

पक्षी तथा अन्य निम्न स्तर के जीव भी अपना
श्रय छोड़ने या विवशतः छुड़ाने पर क्षुब्ध और
खी होते हैं ? क्या आज सहस्त्रों वर्षों से महान्
खों को झेलती हुई ये जातियाँ, प्राकृतिक बनैले उपा-
नों को ही अपना सगा सम्बन्धी बनाकर रिश्ता कायम
के अपना जीवन शुष्क वातावरण में भी सरस बनाकर
स्या करती हुई ये जातियां केवल कहने मात्र
सहज में ही अपने चिर-परिचित स्थानों को छोड़
ती ? आज भी इन बनैली जातियों में अपनी सूखी
मि के लिए मर मिटने की साध बाकी है—उनके नित्य
जीवन से ऐसा स्पष्ट प्रकट होता है कि उनमें अपनी
मि के प्रति जितनी निष्ठा और श्रद्धा ओत प्रोत है
नी हम अपने में कल्पना भी नहीं कर सकते हैं ।
तः इस प्रकार के सुझाव हमारी अज्ञानता तथा विप-
त बुद्धि के ही सूचक हैं । इतने बड़े जनसमुदाय का
वर्तन कर देना अथवा सोच लेने से अधिक अच्छा
यही होता कि ऐसे मस्तिष्क के प्रखर विद्वान एकान्त
रे में बैठकर या तो चन्द्रलोक की अपनी यात्रा
वर्णन लिखा करें या परियों के देश की असंभाव्य
ानियां लिखा करें। जिससे उनके मस्तिष्क की कसरत
पूरी हो जावे और कभी कभी दूसरों को भी मन बह-
ने का साधन उपलब्ध होता रहे ।

प्रश्न उठता है कि स्थायी हल क्या हो ? इसे
श्चित करने के लिए हमें इन बनवासी जातियों के
न की स्थिति का भी ध्यान रखना पड़ेगा । जैसे
सत्य है कि हम एक नितान्त अविकसित व्यक्ति को
एक विकास के सर्वोत्कृष्ट शिखर पर आसीन नहीं
सकते हैं उसी प्रकार इन जातियों के साथ यकायक
हो जायगा इसकी भी संभावना नहीं हो सकती है ।
यदि हमारा दृष्टिकोण सही है और हमारा मार्ग
ल और सुंदर है तो सफलता भी उतनी निश्चित
जाती है । जहां यह अत्यावश्यकीय है कि हम इनके
निक्रम से परिचित हों, वहां यह भी अत्यावश्यकीय
क हम किस उद्देश्य के हेतु इनमें प्रवेश करना चाहते
हमारे आज का युग समाजवादी विचारों एवं
स्था का युग है । हम चाहते हैं कि मानव मात्र
जीव आवश्यकताओं का उपभोग समान रूप से कर
तथा अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित करने का
अवसर पा सके । जो भी मानवस्तर उपलब्ध हो सके-
उसमें उसे उत्साह और स्फूर्ति की कमी न रहे। मानव सह-
योग और प्रेम के महत्त्व को समझे तथा सुंदर और स्वस्थ
मानव परिवार की कल्पना का साकार रूप इस विश्व में
उपस्थित कर सके । इसका अर्थ है कि मानव को समान
(बिना किसी भेद भाव के) आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक
तथा सांस्कृतिक वातावरण उपलब्ध हो सके । यह
निश्चित है कि इस लक्ष्य द्वारा प्रेरित जो भी प्रयत्न
होगा वह सामाजिक और व्यापक होगा, व्यक्तिगत न
होगा । अतः हमारे कार्य करने की दिशा यह है । अब
हमें यह जानना है कि इस ओर प्रेरित होने के लिए
इन जातियों के जीवन क्रम हमें किस प्रकार की
प्रेरणाएँ दे रहे हैं और कौन सा उपाय सुगम है ।

इन जातियों का अध्ययन करने से यह निश्चित
ज्ञात होता है कि:—

(१) सभी जातियां वन प्रदेशों तथा पर्वतीय
प्रान्तों में रहती हैं; यहीं से किसी प्रकार अपना
जीविकोपार्जन करती हैं । इनकी आर्थिक समस्याओं
का हल इसी भूमि से यदि खोजा जावे तो इनके लिए
विशेष सुविधाजनक होगा ।

(२) इन जातियों में सभी का कोई न कोई
जातीय-संगठन है जिसके एक मात्र इशारे पर पूरे समाज
का संचालन होता है—यही संगठन इनकी सामूहिक
शक्ति का जीवन है । इस शक्ति का उपयोग ही
इन्हें सामाजिक विकास में द्रुततर गति से आगे ले
जा सकता है ।

(३) अधिकांशतः कठोर परिश्रमी, 'संकट झेलने'
की अपूर्व क्षमतारखनेवाले, सच्ची लगनवाले और
निष्ठावान् तथा महान श्रद्धालु होते हैं । ये ही गुण
इन्हें रचनात्मक कार्यों की कठिनता को भेदने तथा
उसे पूरा करने में विशेष सहायक सिद्ध हो सकते हैं ।

(४) सभी जातियों में एक सांस्कृतिक अथवा यूँ
कहिए कि कलात्मक स्तर ऐसा पाया जाता है जिसपर ये
अपने दुःखों को निछावर कर डालते हैं और क्षण भर
के लिए असीम सुख की अनुभूति करते हैं, ये संस्कार
उनके हाथ की दस्तकारी, पूजा आदि के कार्यों तथा
नृत्य और संगीतादि कार्यों में भरे पड़े हैं । इनके हृदय
का यही वह स्थल है जहाँ से मानव में संस्कृति तथा

कला का आविर्भाव होता है तथा अन्य मानवीय गुणों
का सूत्रपात होता हैं । कँटीले झाड़ झंकाड़ों तथा दुर्गम
पथों में ही इन की अभिनय शालाएँ न जाने कितने
आनन्द का श्रोत मुक्त रूप से बहाती हैं जबकि सभ्य
जगत को करोड़ों की संपत्ति इसी कलात्मक और सांस्कृ-
तिक आनन्द की उपलब्धि के लिए व्यय कर देनी
पड़ती है ।

(५) सभी जातियाँ आर्थिक दृष्टि से महान् दरिद्र हैं ।
जीवन की आवश्यताओं की पूर्ति इन के लिए दुष्कर है
अतः जब तक कोई भी योजना इनकी आर्थिक समस्याको
हल नहीं करती तब तक इन जातियों का उत्थान होना
असंभव है । इनके आर्थिक विकास का आधार ही इनमें
जागृति और नवीन चेतना उत्पन्नकर सकता है ।

आज हम देखते हैं कि विश्व की सभी जातियों के
जीवनकी विभिन्न समस्याओं के बीच उनकी आर्थिक समस्या
एक विशेष तथा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं । इसके साथ
साथ अन्य समस्याएँ काफी दूर तक हल हो जाती हैं ।
इसे यह महत्त्व आज के जीवन में और भी अधिक प्राप्त
हुआ है । हमारी राष्ट्रीय सरकार के पास एक ऐसा महत्त्व-
पूर्ण कार्य का संपादन अभी शेष है जिसका करना
उसके लिए आवश्यक है । वह है—भारतीय उद्योग व
व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण । प्रत्येक समाजवादी
सरकार को यह कार्य करना ही होगा । इन्हीं उद्योगों
व व्यवसायों में एक 'जंगल तथा बनैले प्रान्तों' का
राष्ट्रीयकरण' भी है । इस योजना को हम यदि
आज बनवासी जातियों के साथ रख कर देखें तो हमारा
उपरोक्त प्रश्न लगभग हल हो जाता है । सब से प्रथम
इस योजना को कार्यान्वित करने का भार जन प्रिय
सरकारपर होता है किसी व्यक्ति विशेष पर नहीं । द्वितीय
इस राष्ट्रीयकरण में योग देनेवाले जन समूहों की
खोज करनी होती है दैवात् वह जन समूह सरकार
को इन्हीं प्रान्तों में उपलब्ध हैं । बाहर से भेजा गया
जन समूह भूमि व वातावरण से अपरिचित होने के कारण
पूरी योजना को असफल भी कर सकता है, अथवा
किसी वर्ग विशेष के स्वार्थ पर कार्य में शिथिलता
भी दिखा सकता है । तथा यह प्रबन्ध (बाहर से
व्यक्तियों को इन वनों में भेजना) अधिक खर्चीला
भी सिद्ध हो सकता है, किन्तु उन्हीं वनों और
पर्वतों की इंच इंच भूमि को पहिचानने वाले, वहीं
के पशु पक्षियों से निशिदिन खेल खेलने वाले, उसी भूमि
के शिखरों और वृक्ष व वनस्पतियों से रात दिन नाता
जोड़ने वाले, वहीं के पत्थर और कंकड़ों को गिन गिन
कर चलने वाले, वहीं के झील और जलाशयों के पास
पड़ौस चलने फिरने वाले लाखों सच्चे और परिश्रमी
जन इन वनवासी जातियों के अतिरिक्त कहाँ
मिलेंगे जो इस महान् उद्योग की सफलता का भार स्वयं
अपने दृढ़ स्कंधों पर उठा कर सारे वनों और पर्वतीय
प्रदेशों की उन्नति में लग कर इस वृहत् योजना
को कार्यान्वित करें । इनके समाज में सहयोग की
प्रवृत्ति अधिकांश में पाई जाती हैं । इस योजना को
यदि वनवासी जातियों की समस्या के हल स्वरूप सोचा
जावे और उन्हें इसका फल मिले जिस पर इनका वास्तव
में जन्मसिद्ध अधिकार है तो ये दोनों समस्याएँ एक
साथ ही हल हो जाती हैं और एक सुन्दर तथा सरल
उपाय द्वारा हल हो जाती हैं । सौभाग्यवश जहाँ जहाँ
ये वनवासी जातियाँ निवास करती हैं वे प्रान्त जंगल
और वनों के हैं जिनका सुप्रबन्ध सरकार को करना है
और जिनकी आय अभी कई सौ गुना बढ़ाई जा सकती
है । अब हमें यह देखना हैं कि इस प्रकार के प्रान्तों की
वनों और जंगलों के दृष्टिकोण से क्या अवस्था है तथा
वहाँ की आय बढ़ाने की क्या क्या संभावनाएँ हैं:—

आसाम

इस प्रान्त में वनवासी जातियों के तीन निवास
स्थान हैं: (१) पहाड़ी प्रान्त, (२) सीमान्त प्रदेश, (३)
देशी रियासतें । ये तीनों भाग घने जंगलों से ढँके हुए
हैं । यहाँ इन जातियों की आबादी २८ लाख २४ हजार
१३३ है । ये लोग इन घने जंगलों में ऐसे घुसे हुए हैं
जहाँ पर अभी तक कोई भी नहीं पहुँच सका है । इस
प्रान्त के जंगल का रकबा २१ हजार ३९३ वर्ग मील
है । इस जंगलसे कई प्रकार की आय होती है । सन्
१९४२-४३ में इस घने जंगल से लकड़ी का उत्पादन
३ करोड़ ५० लाख घन फीट हुआ, जिसकी कीमत कई
करोड़ होती है । यहाँ के जंगलों में बड़ी ऊंची ऊंची
घास उत्पन्न होती है जिसका अभी तक कोई उपयोग नहीं
होता । यदि इसका सदुपयोग किया जावे तो इस प्रान्त

पेपर मिल खोले जा सकते हैं। यहाँ पर नाव काष्ठ की अन्य वस्तुएँ बनाने के सैकड़ों उद्योग जा सकते हैं। अन्य सहस्त्रों वनस्पतियाँ जिनकी तक खोज भी नहीं हुई है हमारे राष्ट्र के लिए ी सिद्ध हो सकती हैं। गारो और खासी पहाड़ियों न चाय का बहुत बड़ा निर्यात यहाँ से होता है; आय में इन जातियों का कोई हाथ नहीं है। के बग़ीचे अभी तक विदेशी व्यापारियों और के हाथ में हैं। यह प्रान्त चाय का घर ा है। लाखों की चाय यहाँ प्रति वर्ष उत्पन्न , किन्तु इस भूमिके वास्तविक स्वामियों का इसके ोई अधिकार नहीं। इसके अतिरिक्त इस प्रान्त ड़ी तराई में ७१५२ वर्ग मील और २९४६३ त भूमि ऐसी पड़ी है जो या तो ऊसर है या कृषि हीं है, किंतु बनाई जा सकती है। जिसका उपयोग त राष्ट्रीय आर्थिक विकास की योजनाएँ भली भांति ती हैं। इस प्रान्त में सुन्दर नींबू तथा उसी क जंगली फल अत्यधिक उत्पन्न होते हैं जिस की सी का ध्यान नहीं। इस प्रान्त में प्रति वर्ष लग- करोड़ रुपये का पेट्रोल निकाला जाता है जिस पर विदेशियों का अधिकार है और जिसका उपयोग प्रान्त अपने आर्थिक विकास में नहीं कर पाता है। ी अन्य छोटी मोटी वस्तुओंका उत्पादन लगभग ार १५० रुपए का होता है। इस प्रकार यह ान्त आर्थिक दृष्टि से कितना धनी है, किन्तु उस धन पर इन जंगलों के मानवों का कोई अधि- ं। इन जंगलों को उत्पादन तथा आय की दृष्टि से ा जावे तो इस प्रान्त के २८ लाख मानवों की स्या हो नहीं रह जाती। ये जातियाँ इन जंगलों थक योजना में भलीभांति खपाई जासकती हैं और य वर्षों में ही सुसम्पन्न देखी जा सकती हैं। कमी ऐसे दृष्टिकोण की।

बंगाल बिहार और उड़ीसा

प्रान्तों में वनवासी जातियों की आबादी क्रमशः २५ हज़ार ४५७, ६१ लाख ९४ हज़ार ६२० लाख ११ हज़ार २२३ है। इन तीनों प्रान्तों नवासी इलाका बहुत कुछ मिला हुआ पड़ता व इन पर एक साथ विचार करना आवश्यक हुआ। ये प्रान्त संथाल परगना, सिंहभूमि, रांची प्रान्त, सम्भल पुर, छोटानागपुर का पठारी प्रान्त, मयूरगंज रियासत, मानभूमि तथा उड़ीसा हैं। इनमें संथाल, मुंडा, ओरांव, हो, बोरहोर, भूमिज कोरवा, जुवांग, पहाड़िया आदि कई नाम की जातियाँ निवास करती हैं। सौभाग्य से इनके निवास स्थान की यह भूमि भारत का प्रसिद्ध औद्योगिक केन्द्र है, जिस पर सारे भारत की व्यवसायिक उन्नति आज भी निर्भर करती है। इन वनवासियों के प्रान्तों में कुल मिला कर २१ हज़ार ४५० वर्ग मील जंगल है। २१ हज़ार ५७६ व० मी० ऊसर भूमि तथा तथा २४ हज़ार ५५५ व० मील भूमि कृषि के अयोग्य है। जिसे कृषि योग्य बनाई जा सकती है यदि उचित सिंचाई तथा नवीन कृषि के आविष्कारों का प्रयोग सरकार प्रारभ करे। इन प्रान्तों की अपार जलमयी नदियों का पानी प्रतिवर्ष करोड़ों टन इन प्रदेशों से बहता हुआ निकल जाता है। यदि उसे संचित करने के साधन बनावटी झील व तालाबों के निर्माण हों तो उसी जल से लाखों एकड़ भूमि सींची जा सकती है और कृषि योग्य बनाई जासकती है। इन जंगलों से प्रतिवर्ष ३ करोड़ ४७ लाख ९३ हज़ार घन फीट लकड़ी बिक्री के लिए निकलती है जिसकी कीमत करोड़ों होती है। प्रति वर्ष यहाँ से ७ लाख ९४ हज़ार ७० रुपये की कीमत की अन्य जंगली वस्तुएँ बेची जाती हैं जो जंगलों में अपने आप उत्पन्न होती हैं। यदि इन जंगलों का विकास तथा अन्य वस्तुओं का उत्पादन किसी सक्रिय योजना के अनुसार किया जावे और वनवासी जातियों का उसमें सक्रिय योग प्राप्त किया जावे तो इन जंगलो की आय कई करोड़ प्रति वर्ष बढ़ सकती है। इसके अतिरिक्त हज़ारीबाग, गया, मुंगेर और उड़ीसा में ४० हज़ार Cwt. प्रति वर्ष अबरक का उत्पादन है जो लगभग २५ लाख की कीमत का होता है। लोहा मयूरभंज, सिंहभूमि, क्योंझर तथा भारतवर्ष में सब से प्रसिद्ध कोयले की खाने भी इसी भूमि में हैं जिनसे प्रति वर्षकरोड़ों की आय होती है। किन्तु इन सभी उद्योगों से यहां को वनवासी जातियों को कोई भी लाभ नहीं होता है और न इस उत्पादन में उनका कोई विशेष योग ही प्राप्त किया जाता है। यदि इन व्यक्तियों को इस उत्पादन का कुछ भी लाभ मिले अथवा इस बात की ओर ध्यान दिया जावे

कि इन उद्योगों में इन जातियों को खपाने का प्रबन्ध किया जावे तथा उनको आय का सौवाँ भाग भी इनके उत्थान में व्यय किया जावे तो इन जातियों को सामूहिक शक्ति के बल पर उत्पादन भी बढ़ सकता है। उत्पादन व्यय भी कम हो सकता है। उनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति में भी महान क्रान्ति उपस्थित हो सकती है। पर प्रश्न यह है कि अभी तक उनकी ओर कुछ ध्यान ही नहीं दिया गया है। वरन् सर्वत्र उनका सीधा शोषण हुआ है। जो भूमि करोड़ों की सम्पत्ति प्रति वर्ष उत्पन्न करे उसी भूमि के ही वास्तविक संतान महान् दरिद्रता तथा दुःख के जीवन काटे! इससे बढ़कर और शोषण क्या हो सकता है? अभी तक इन जातियों की ओर इस प्रेरणा को लेकर सोचा ही नहीं गया। देश के सब से समृद्ध प्रान्त में सबसे अधिक दरिद्र मानव आज पशुओं का जीवन बिताते मिलेंगे। इस प्रान्त का पूरा शोषण व्यक्तिगत पूंजीपतियों द्वारा हुआ। औद्योगिक भूमि का उपयोग और लाभ यहाँ के निवासियों को न मिले यह कोई भी समाजवादी विचारवाली सरकार सहन नहीं कर सकती है। इस भूमि के उत्पादन पर यहाँ के निवासियों का पूर्ण अधिकार है ऐसा मानने पर ही हमारा उत्पादन भी बढ़ सकता हैं और हमारा यह पिछड़ा हुआ समाज भी अभ्युदय की ओर अग्रसर हो सकता है। यहाँ की वनवासी जातियों की समस्या को हल करते समय हमें इन उद्योगों व व्यवसायों तथा जंगलों के राष्ट्रीयकरण में इनका सहयोग अवश्य ही प्राप्त करना होगा और इसी में उन का तथा सारे राष्ट्र का कल्याण है। इस भूमि का शोषण अब निरे परदेशी स्वार्थ पर ही निर्भर नहीं रह सकता है।

मध्यप्रान्त और बरार

यहाँ वनवासी जातियों की संख्या ३७ लाख ८ हज़ार ८९२ है। यह कुल आबादी का २० प्रति शत भाग है। कुछ भागों में तो इनकी संख्या उन जिलों की आबादी के ½ भाग से भी अधिक है। जैसे मांडला में ५९ फीसदी, वाड़ा में ३४ फीसदी, बेतुल में ९ फीसदी, दक्षिणी चांदा में २२ फीसदी रामपुर, बिलास पुर, उत्तरी जबल- पुर, पश्चिमी होशिंगाबाद आदि स्थानों में ये पर्याप्त संख्या में बसी हुई हैं। सम्भलपुर, कालाहंडी, सतपुड़ा, नागरा, जगदलपुर, नागपुर वर्धा के बीच, छत्तीसगढ़ तथा रायपुर के जंगलों में ये वनवासी जातियाँ अतीत से रहती चली आरही हैं। इस प्रान्त में कोल, कुकू भूमिया, वेगा, गादवा, कनवार, अघेरिया, गोंड, मेरिया, हल्वा, रवोढ आदि जातियाँ रहती हैं। आर्थिक दृष्टि से ये सब दरिद्रता और दीनता के शिकार हैं। इस प्रान्त में २४ हज़ार ७७७ वर्ग मील का जंगली प्रान्त है। इसके अतिरिक्त भूमि तथा ७६५५ व. मी० भूमि कृषि के योग्य है जिस भूमि का आर्थिक दृष्टि से उपयोग हो सकता है यदि नवीन साधनों का प्रयोग जनप्रिय सरकार करे। इन जंगलों से प्रति वर्ष ४ करोड़ ७४ लाख घन फीट लकड़ी बिक्री के लिए निकाली जाती है तथा अन्य बनैली वस्तुओं से प्रति वर्ष २० लाख २२ हज़ार रुपए के लगभग आय होती है। इन जंगलों को और भी विकसित किया जा सकता है। नवीन पेड़ों व वृक्षों तथा वनस्पतियों का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस प्रान्त का गोंडवाना प्रदेश खनिज पदार्थों के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण तथा विख्यात है। इस प्रदेश के इस विकास में इन जातियों का विशिष्ट योग प्राप्त करना चाहिए ताकि वे अपनी भूमि की सम्पत्ति से अधिक लाभान्वित हो सकें। भारतवर्ष का मेंगनीज़ धातु की खानों के उत्पादन में से ⅔ भाग इसी प्रान्त का होता है। ये खदानें छिन्दवाड़ा, जबल- पुर, नागपुर, कालीघाट, मंदाराप्रान्त में फैली हुई हैं। देश के औद्योगिक विकास में इस प्रान्त का एक विशेष योग होगा। इस प्रान्त के वन भी अपनी लकड़ी तथा वस्पतियों के लिए विशेष धनी है। प्राकृतिकरूप में बढ़े हुए ये वन यदि किसी आर्थिक योजनानुसार संचालित किए जावें तो इनकी वृद्धि का इस प्रान्त में बहुत बड़ा क्षेत्र है। इस प्रान्त की आर्थिक विकास की परिधि में इन वनवासी जातियों की आर्थिक समस्या का हल बड़ा ही सरल हो जाता है।

युक्तप्रान्त

इस प्रान्त में दो विशेष स्थानों पर वनवासी जातियों का निवास है। दक्षिणी मिर्जापुर और देहरादून ज़िले की जोन्सर बावर की घाटी में। देहरादून का स्थान जंगल की दृष्टि से विशेष सम्पन्न है। शीशम,

गवानं, चीड़, देवदारु की लकड़ी का यहाँ विशेष ाहुल्य है। यहाँ का जंगली इलाका आय की दृष्टि े भी बहुत महत्वपूर्ण है। घाटी तथा तराई में ऐसी हुत सी भूमि है जहाँ पर उचित साधन प्राप्त होनेपर न्दर फलों की खेती सफलतापूर्वक की जा सकती है। सके अतिरिक्त मिर्जापुर के दक्षिणी भाग में भी सोन किनारे किनारे ऐसी ही भूमि का इस्तैमाल किया ा सकता है। रिहंड की योंजना से संभवतः यह लाका आर्थिकरूप से विशेष विकसित होगा। इस जना में भी श्रम सम्बन्धी योग यहाँ की जातियों का वश्य प्राप्त करना चाहिए। यहाँ की बनैली उत्पत्ति पर्याप्त संख्या में होती। खैर, सुपारी, कत्था तथा रोंजी की उत्पत्ति यहाँ विशेषरूप से बढ़ाई जा कती है।

बम्बई

यहाँ वनवासी जातियों की संख्या २२ लाख ६७ ार ७९ है। इनमें खानदेश के भील विशेषरूप से मलित हैं। यहाँ पर जंगलों का रकबा १३ हज़ार वर्गमील है तथा यहाँ पर १३८८ वर्ग मील र भूमि और ८९४२व०मीलभूमि कृषि के अयोग्य है। प्रतिवर्ष ४ करोड़ ९८ लाख १४ हज़ार घन फीट ड़ी का उत्पादन होता है जो क्रय की जाती है। के अतिरिक्त २९ लाख ४६ हजार रुपए के लगभग य बनैली वस्तुओं से आय होती है। यह आय र भी बढ़ाई जा सकती है। यह प्रान्त कारबार तथा साय के लिए विशेष विख्यात है किन्तु बनैले प्रान्त कारबार अभी तक बहुत पिछड़ा है। इसमें इन ासी जातियों का नियोजन विशेष लाभकर होगा।

मद्रास, नीलगिरी तथा ट्रावनकोर

इन प्रदेशों में वनवासी जातियों की संख्या सब कर लगभग ६ लाख ९५ हजार ७०० है। यहाँ जंगलों का रकबा लगभग २५ हजार वर्ग मील है। जातियों का विशेष आश्रय इन्हीं जंगलों व पहाड़ियों न्तर्गत है। केवल मद्रास प्रान्त के जंगली लकड़ी उत्पादन १ करोड़ ७८ लाख ६६ हज़ार घन फीट अन्य बनैली वस्तुओं की आय लगभग २ लाख हजार रुपया है। इसके अतिरिक्त नीलगिरी और ट्रावनकोर की पहाड़ियों पर चाय पर्याप्त रूप से उत्पन्न होती है। घास भी काफी मात्रा में पैदा होती है। समुद्री तटपर काफी मात्रा में (लगभग ६ लाख टन) नमक का उत्पादन किया जाता है। ट्रावनकोर में कई प्रकार के कारबार चलने के क्षेत्र उत्पन्न किए जा सकते हैं।

देशी रियासतें

वनवासी जातियों की काफी संख्या देशी रियासतों में रहती है। इन की दशा किसी प्रकार से अच्छी नहीं कही जा सकती है। ये अधिक दासता से जकड़े हुए हैं। फिर भी इनका उद्धार किसी भी प्रकार यदि हो सकता है तो राष्ट्रीय समाजवादी सरकार के दृढ़ निश्चय तथा राष्ट्रीयकरण के कार्यों से ही हो सकता है। भारत की देशी रियासतों में २९ हजार ८८० वर्गमील जंगल हैं तथा ३०१५३ वर्ग मील ऊसर भूमि और ४३ हजार ३७३ वर्ग मील कृषि के अयोग्य भूमि है। इनके समुचित विकास से ही इस भूमि के निवासियों की भी आर्थिक समस्याएँ हल हो सकती हैं। देशी रियासतों की सामान्तशाही तो इन वनवासी जातियों के लिए और भी अभिशाप सिद्ध हुई है। भारत स्थित जंगलों के राष्ट्रीयकरण के साथ ही साथ इन देशी रियासतों में स्थित बनों को भी सम्मिलित कर लिया जाना चाहिए।

इस राष्ट्रीयकरण के साथ ही साथ इन बनों में बहती हुई नदियों झीलों, तालाब तथा अन्य वस्तुओं का भी आर्थिक संयोजन होनाचाहिए। जिनके सहारे बनों के विकास का कार्य सुविधापूर्वक चलाया जा सके। इन वनों से भारतवर्ष को प्रतिवर्ष अन्य बनैली वस्तुओं से जो आय होती है यह लगभग ३ करोड़ ४७ लाख ९३ हजार रुपए प्रति वर्ष है। इन वस्तुओं में प्रायः लाख, रबर, आँवला, चन्दन, इलायची, राल इत्यादि हैं। यदि इन वस्तुओं का योजनानुसार वृद्धि की जावे तो ऐसी आय बेहद बढ़ सकती है। इसके अतिरिक्त तेल, रेशे, रस्सियाँ, गोंद, कत्था, वनस्पतियाँ, मसाले, फल तथा घास आदि उत्पन्न करने व कराने के कार्य बड़ी आसानी से इन जातियों द्वारा संचालित किए जा सकते हैं जो इन बनों की एक एक इंच भूमि से परि-

चित हैं। इसके अतिरिक्त इन वनों में अच्छी लकड़ीवाले वृक्ष उगाने का प्रबन्ध तथा उगे हुए वृक्षों की जाँच पड़ताल करने आदि के काम इन जातियों को सौंपे जा सकते हैं। येसारे कार्य सरकार को किन्हीं न किन्हीं व्यक्तियों द्वारा करने ही पड़ेंगे। अतएव जंगलों एवं वनों के विकास सम्बन्धी जो भी योजनाएँ बनाई जावे उनमें इस बात का विशेष ध्यान रहे कि ऐसे महत्त्वपूर्ण उत्पादन तथा प्रबन्ध के कार्यों में वहाँ की चिर निवासी वनवासी जातियों का किस प्रकार योग उपलब्ध किया जा सकता है जिसके फलस्वरूप हम इस राष्ट्रीयकरण के साथ ही साथ उन लाखों वनवासी व्यक्तियों को भी आर्थिक दृष्टि से उठाकर मानवोचित स्तर पर ला सकें।

जब हम वनों के राष्ट्रीयकरण तथा उनके विकास का प्रश्न हल करते हैं तब इस सिलसिले में जो भी साधन तथा सामग्री हमें इन वनों की ओर ले जाकर जुटानी पड़ेगी वे भी हमारी इन वनवासी जातियों के उत्थान में सहायक होंगी। सब से प्रथम हमें घने वनों तक अपने यातायात के साधनों को ले जाना पड़ेगा जिसके कारण हमारे देश के प्रत्येक स्थान का सम्बन्ध इन वनवासी जातियाँ से स्थापित होगा। उनका भी इस प्रकार आवागमन बढ़ेगा तथा वे शेष देश के रहन सहन, भाषा, व्यवहार, सभ्यता आदि से परिचित होगें और इस प्रकार वे सीधे सीधे सम्मिश्रण तथा प्रभाव के क्षेत्र में उतरेंगे। इस स्पर्श तथा पारस्परिक लेन देन का प्रभाव उनके समाज पर अभिन्नरूप से पड़ेगा। इस सामाजिक मिलन से वे अवश्य आगे बढ़ेंगे जाग्रति होगी, सामाजिक क्रान्ति तथा नवीन विचारों और संस्कारों का प्रवेश होगा।

यातायात के साधन हमारी प्रत्येक प्रकार की दूरी को निकटतम लाने में पूर्ण सहायक तथा सफल होते हैं चाहे वह भौगोलिक दूरी हो, अथवा सामाजिक या आर्थिक। जब हमारा और इन वनवासी जातियों का सम्लिन एक समान आर्थिक अधार तथा पारस्परिक विनिमय और पारस्परिक अवलम्बन पर स्थित होगा तो न तो हम उनका शोषण करने पर उतारू हो सकते हैं और न उन्हें हमारी मनोवृत्ति से किसी प्रकार का भय होगा। उनकी सांस्कृतिक तथा कलात्मक परम्परा का हमारे समाज पर प्रभाव पड़ेगा और हमारे साहित्य तथा रहन-सहन और जीवन के मापदण्ड का इन पर प्रभाव पड़ेगा। यह हमारा सामाजिक सम्मिलन पारस्परिक स्नेह का होगा, असमान व्यवहार और विवशता का नहीं। हमारे गुण उनको सहर्ष ग्राह्य होंगे और उनके गुण हमारे लिए सौभाग्य की वस्तु बनेंगे। हमारे और उनके सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्मिलन का आधार पारस्परिक समान आर्थिक स्थिति पर निर्धारित होगा। जिस आर्थिक आधार पर सारे संसार के श्रमिक एक हो सकते हैं, उसी आधार पर हमारे आज के असमान सामाजिक स्तर एक धरातल पर आवेंगे। यही एक मार्ग है कि हमारा आज अतीत से आया हुआ बिलगाव हटेगा और हम सब पूर्ण नागरिक बन सकेंगे। इस प्रकार की आर्थिक योजनाएँ ही वनवासी समाज को हमारे पास लाने में समर्थ हो सकेंगी; केवल उद्धार चिल्लाने तथा दया के दान पर चलाए हुए उद्धार के संगठनों द्वारा उनका उत्थान नहीं हो सकता है। आर्थिक योजनाएँ और उसका संचालन जन जागृति उत्पन्न करता है, क्यों कि वह पार्थिव जगत की एक मात्र आवश्यकता होती है। इस आर्थिक आवश्यकता के सहारे सामाजिक परिवर्तन शीघ्र तथा अवश्यभावी होते हैं। प्राणी के जीवन में रोटी, कपड़ा, मकान का प्रश्न एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। उसके लिए किए गए व्यवस्थित तथा समान प्रयत्न अवश्य ही जीवन के अन्य व्यवहारों व क्षेत्रों को निकटतम ला देते हैं और जीवन का प्रत्येक क्षेत्र तभी विकसित होने का अवसर पाता है। अतएव यदि वनवासी जातियों के उत्थान का प्रश्न गंभीरता से सोचा और हल किया जा सकता है, तो यह प्रश्न उन्हीं के स्थान, जन्मभूमि तथा वातावरण से हल होना चाहिए, जिसमें उन्हे भी विशेष सुविधा और सरलता हो। वनों के राष्ट्रीयकरण तथा विकास का प्रश्न यदि किसी भी समाजवादी विचार वाली जन प्रिय सरकार को करना है तो क्यों न इस विशाल जनता का उस विकास में पूरा पूरा योग हो, जिसका उन्हें उस भूमि की एकमात्र संतान होने के नाते पूर्ण अधिकार है। यह एक सुझाव है जिसके आधार पर इन दोनों प्रश्नों का हल आसानी से किया जा सकता है और तत्सम्बन्धी योजनाएँ विस्तृतरूप से बनाई जासकती हैं।

शरणार्थी*

(दो कविताएं)

श्री "अज्ञेय"

गाड़ी रुक गई

। गाड़ी रुक गई वीरान में।

से जागा चमक कर, सुना

ले किसी डिब्बे में किसी ने

कर छूरा किसी को दिया बाहर फेंक

है गार्ड—यहीं पड़ताल होगी।

न जाने कौन था वह

हृदय ने तभी साखी दी

में कोई अभागा मार बैठा छुरा

अपने ही हृदय में

अपने को उठा कर फेंक बैठा

दनाती बढ़ रही कुल मनुजता की रेल से।

उसके लिए रुकजाना पड़ेगा

जता के यान को

त-उन्मुख रथ हमारा—वाहिनी सारी—

यहाँ रुक जायगी—

अपने रोग का भी भार ढोती है !

* श्री "अज्ञेय" जी के शीघ्र प्रकाशित हो रहे इसी

के गल्प-पद्य-पद्य संग्रह के पद्यांश से।

धिक् ! पुनः धिकार !

और यह धिक्कार

हिंदू या मुसल्माँ नहीं, यह धिकार

आक्रोश है अपमानिता

मेरी मनुजता का !

श्रीमद्धर्मधुरंधर पंडा

(१)

धरती थर्राई, पूरब में सहसा उठा बवंडर

महाकाल का थप्पड़-सा जा पड़ा

चाँदपुर-नोआखाली-फेनी-चट्टग्राम-त्रिपुरामें

स्तब्ध रह गया लोक

सुना, हिंसाका दैत्य, नशेमें धुत, रौंदकर

चला गया है

जाति-द्वेष की दीमक-खाई पोली मिट्टी।

उठा वहाँ चीत्कार

असंख्यों दीनों पददलितों का

अपमानिता-घर्षिता नारी का सहस्रमुख

फटा हुआ सुर

फटे हृदय की आह

गूँज गई—थर्राया सहम गया आकाश

फटी आँखों की भट्ठी

में जो खून उतर आया था

वह जल गया।

(२)

श्रीमद्धर्मधुरंधर पंडा

के कानों पर जूँ तब रेंगी।

तनिक सरक कर

थुलथुल काया को आसन पर

और व्यवस्था से पधरा कर

बोले—आए हो, हाँ, आओ

बेचारो, दुखियारो !

मंगल करनी सब दुख हरनी

माँ मरजादा

फतवा देंगी !

'सदा द्रौपदी की लज्जा को

ढका कृष्ण ने चीर बढ़ाकर

धर्म हमारा है करुणाकर

हम न करेंगे बहिष्कार

म्लेच्छ-घर्षिता का भी, चाहे

उस लांछन की छाप

अमिट है।

साथ न बैठे—हाथ हमारे

वह पायेगी

सदा दया का टुकड़ा—'

सहसा जूँ रुक गई।

तनिक सरकी भी—नारि-वर्ग का घर्षण

(तीन, तीस, या तीन हजार—आँकड़ों का

जीवन में उतना मूल्य नहीं है)

इतना ही बस था समर्थ ! श्री पंडा जागे

यह भी उनकी अनुकंपा थी। और नहीं क्या

अपने आसन से डिग जाते ?

लुट जाती मरजाद सनातन ?

इसीलिए जूँ रुकी। सोगए

श्रीमद्धर्मधुरंधर पंडा।

मानवता को लगी घोंटने फिर गुंजलक

मरी रूढ़ि की।

परिवारका समाजशास्त्रीय आधार और भविष्य

श्रीमती कृष्णा दीक्षित बी० ए० बी० टी०

विश्व के आधुनिक युग में हमें विभिन्न प्रकार की समाज रचनाओं व समाज संगठनों का रूप और विकसित तथा अविकसित अवस्थाओं को देख कर यह आश्चर्य होता है कि किस प्रकार इतनी भिन्नताओं से संयुक्त समाज बन गए और बनते जारहे हैं। किन्तु यदि हम इसके बीज स्वरूप को खोजने का यत्न करें तो हमें एक ऐसे प्रागैतिहासिक आदिम युग में जाना पड़ेगा, जहाँ पर हम सरल से सरल समाजों की रचना पाते हैं। समाज के वे स्वरूप इतने सूक्ष्म और सरल कि हमें उन्हें समाज नाम से पुकारते हुए भी संकोच होता है। वे समाज के बीच उस अतीत में केवल स्त्री पुरुष दो व्यक्तियों के पारस्परिक सहयोग में ही विद्यमान थे। ऐसे प्रथम काल में हम परिवार का स्वरूप नहीं देखते हैं, किन्तु परिवार का सूत्रपात उसी काल से होता है। उस काल के इस सम्मिलन ने उन व्यक्तियों के भीतर कुछ ऐसी मधुर भावनाओं को उत्पन्न किया जिनसे प्रथमतः दो व्यक्तियों का परस्पर साथ रहना पारस्परिक अनुकूलता का विषय बन गया। स्नेह के इस तन्तु ने उत्तरोत्तर विस्तार किया तथा स्त्री, पुरुष और उनकी सन्तान इस परिधि में आकर रहने लगे। परिस्थिति और वातावरण ने उस काल के उत्तर-दायी व्यक्तियों में अपनी सन्तान के पालन और रक्षा के लिए एक ऐसा मोह पैदा किया कि इन परिवारों के बन्धन अधिक से अधिक दृढ़ होते गए। ऐसे परिवारों को संगठित और व्यवस्थित रखने के लिए तत्कालीन समाज की परिस्थितियों ने उन्हें विवश किया। इस प्रकार छोटे छोटे परिवारों का जन्म हुआ, जिन्होंने मानव व्यापारों का नियंत्रण किया। इन परिवारों को एक सूत्र में बाँधने के लिए निम्न प्रकार के पाँच कारण उत्तरदायी हैं।

१—स्त्री-पुरूष की पति-पत्नि के रूप में संगी बनने की अभिलाषा। प्रारम्भिक युग में इनका चाहे यह संग दीर्घकालीन रहा हो, बहुपतित्व के रूप में रहा हो, अथवा बहु पत्नीत्व के रूप में रहा हो, किन्तु यह प्रवृत्ति मानव स्वभाव की मूल प्रवृत्ति है, जिसे मानव समाज के विकास में भिन्न अवस्थाओं और स्तरों में हम स्पष्ट रूप से देखते हैं।

२—विवाह का स्वरूप—कुछ काल पर्यन्त जब परिस्थितियों ने परिवार की एकता को दृढ़ बनने के लिए विवश किया तो तत्कालीन मानव के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह स्त्री पुरुष के इस संग को किसी व्यवस्थित संगठन द्वारा सम्बद्ध कर दे, जिसका परिणाम हम विवाह के रूप में देखते हैं।

३—इन परिवारों को किन्हीं विशेष नामकरण द्वारा उस वंश को आगे चलाने की प्रथा का उदय होना—इस प्रवृत्ति का यह तात्पर्य था कि प्रत्येक मानव अपनी वंश परम्परा को जीवित रखने के लिए लालायित था और वह इसी प्रेरणा से मानव समाज की वृद्धि का कारण उपस्थित कर देता था।

४—आर्थिक परिस्थितियों ने मानव को विवश किया कि वह अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु अपने आसपास एक ऐसा सहायक मण्डल उत्पन्न करले, जो समय कुसमय में उसका साथ दें। इसी हेतु उसने अपनी सन्तति के लालन पालन का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर संभाला।

५—साथ रहने की उक्त प्रवृत्तियों ने तथा उसके जीवन के लिए एकत्रित की गई सामग्री के लिए परिस्थि-तियों ने उसे विवश किया कि वह घर (आश्रय अथवा निवास) बसाये।

इन्हीं प्रवृतियों ने तत्कालीन मानव को परिवार की परिधि में सीमित किया। इस प्रकार के संगठन के लिए विशेष लक्षण थे। सम्पूर्ण सामाजिक संगठनों में पारिवारिक जीवन अधिकांशतः विश्वव्यापी रहा है। परिवारिक जीवन का अस्तित्व हम केवल मानव समाज

में ही नहीं वरन् पशु पक्षियों की विभिन्न जातियों में भी पाते हैं। अधिकांशतः प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी परिवार का सदस्य रहा है। मानव का यह मूल स्वभाव और उसकी प्रवृत्ति रही है कि वह परिवार बना कर रहे। इसी मूल स्वभाव से प्रेरित होकर स्त्री और पुरुष गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर स्त्री मातृवात्सल्य में अपने को सफल मानती है और पुरुष सभी का संरक्षण करके अपने आप को सफल मानता है। मानव का यही स्नेह सूत्र आगे चलकर जातीय अभिमान में बदल जाता है। जीवन संगिनी मिलने के पश्चात् उसे अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने और आश्रय-आवास बनाने की प्रबल इच्छा होती है। अपनी परम्परा स्थायी रखने के लिए उसकी आकांक्षा रहती है कि उसके यहाँ सृष्टि का क्रम टूटने न पाए। भिन्न भिन्न समाजों में विवाह प्रत्येक अवस्थाओं में महत्वपूर्ण रहा है। कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में शारीरिक सम्बन्ध ही विवाह का रूप समझा जाता है। नृतत्व वैज्ञानिकों का कथन है कि विवाह और परिवार एक कट्टर संस्था के रूप में सदैव से प्रचलित रहे हैं, जिनके भिन्न भिन्न रूप हमें प्राचीनतम् जातियों के त्यौहार, पूजा पाठ के अवसर और जीवन के अलग अलग क्षेत्रों में मिलते हैं। इन जातियों में विवाह एक बन्धन का स्वरूप हो गया था। किन्तु कुछ विद्वानों का कथन है कि विवाह और परिवार नाम की संस्थाएँ इतनी अज्ञात थीं कि बच्चे अपने पिता और पिता अपने बच्चों को भी न जानता था। उपनिषद् में जाबालि का उपाख्यान प्रसिद्ध है। महाभारत में श्वेतुकेतु कृत विवाह मर्यादा का उल्लेख है। (महा० आदि प० अ० १२२) कुछ विद्वानों का कथन है कि सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण, जिसमें स्त्री को सदैव संरक्षण की आवश्यकता प्रतीत हुई, ऐसे परिवारों को एकत्रित करने तथा बच्चों के लालन पालन में स्त्री का विशेष हाथ रहा और इसी प्रधान व्यापार के कारण सबने उसकी सत्ता को स्वीकार किया और मातृ-सत्ता-वादी समाज का प्रारम्भ हुआ। व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का विचार जंगलों की सभ्यता के समय उत्पन्न हुआ, जब कि मनुष्य खेती करने, पशु पालने चरा-गाह इत्यादि रखने लगा था। इसी समय कार्य के बढ़ जाने से बड़े परिवार की आवश्यकता हुई, जिससे कि उनके सहयोग से वह कृषि तथा पशु पालन का कार्य सुगमतापूर्वक कर सके। इन्हीं आवश्यकताओं के कारण मनुष्य स्त्री और बच्चों को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझने लगा। इस भाँति मातृ सत्ता-वादी पितृ-सत्ता-वादी परिवार में बदल गए। परिवार के विभिन्न प्रकारों में दो प्रकार ही विशेष उल्लेखनीय है। मातृ-सत्ता-वादी और पितृ-सत्ता-वादी। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि आज हम जो परिवारों के विभिन्न स्वरूप देखते हैं वे इन दोनों में से एक के अंग अवश्य हैं। प्राचीन काल में हम जो परिवारों के विभिन्न स्वरूप पाते हैं, उनमें वर्तमान प्रकार के परिवारों की भी कहीं कहीं छाया मिल जाती है, किन्तु प्राचीन परिवारों की यह विशेषता है कि अधिकांशतः मातृ-सत्ता-वादी अथवा पितृ-सत्ता-वादी या दोनों के सम्मिश्रण होते थे। पितृ-सत्ता-वादी परिवार में परिवार का अध्यक्ष पितामह अथवा परिवार का सबसे वृद्ध पुरुष होता था। घर में होने वाले धार्मिक कृत्यों का सम्पादन यही वृद्ध पुरुष करता था। इस सत्ता के अवशेष आज भी बहुत से देशों में पाए जाते हैं। प्राचीन साहित्य में इसका स्वरूप भी है। इस सत्ता के अनुसार स्त्री को तीन अनु-शासनों का पालन करना पड़ता था। कुमारी अवस्था में वह अपने माता पिता के, युवावस्था में पति के और वृद्धावस्थामें पुत्र के आधीन रहती है। मनु स्मृति में भी ऐसी ही व्यवस्था है (मनु० ५।१४८)। पितृ सत्तावाली प्रणाली में घर का अध्यक्ष राज्य का प्रतिनिधि होता था और राजनैतिक समिति इन्हीं अध्यक्षों का एक समूह होता था। घर के बालकों और युवकों पर अभिभावक के असीमित अधिकार होते थे। प्राचीन पैलेस्टाइन में इस प्रथा के अनुसार अभिभावक को अपनी कन्या के क्रय-विक्रय का पूर्ण अधिकार था। भारतीय विवाहों में द्रव्य लेकर कन्या व्याहने की भी प्रथा है (मनु० ९।९७) और प्राचीन रोम में अभि-भावक को सन्तान को मारने तक का अधिकार था। भारतीय राजपूतों में कन्या के मारडालने की प्रथा थी। इस प्रणाली के अनुसार स्त्री पूर्णतः पुरुष के आधीन थी (मनु० ५।१४७)। परिवार की सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं था। कानून की दृष्टि से भी वह पति के विरुद्ध आवाज नहीं उठा सकती थी। भारतीय

धानों में कौटिल्य में कुछ इसके विरुद्ध भी है। र उसके बाद के सारे विधान ऐसे ही हैं। कुछ श्चित नियमों के आधार पर वह पति द्वारा रित्याग की जा सकती थी। संसार के और देशोंमें पितृ-त्तावादी परिवारों की उच्च समझे जाने वाली जातियों स्त्रियाँ किसी सार्वजनिक कार्य्य में भाग नहीं ले सकती थीं। पर भारतीय समाज में ऐसा नहीं था। यहाँ मांग-लिक कार्यों और उत्सवों में स्त्रियाँ भाग लेती थीं। यही नहीं कुछ मांगलिक कार्य तो ऐसे भी थे, जिनमें स्त्रियों का रहना अनिवार्य माना जाता था।

इस शिथिलता के दो कारण ज्ञात होते हैं। पितृ-सत्तावादी परिवारों के विशेष विस्तृत हो जाने पर आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने लगे। बहुत से ऐसे भी काम थे जिन्हें कई परिवार मिलकर किया करते थे। इन परिवारों के सामूहिक कार्यों ने उनका परिवारगत संकोच ढीलाकर दिया। इस प्रकार औद्योगिक दृष्टि से कार्य का विस्तार ज्यों ज्यों बढ़ता गया परिवारों का संगठन ढीला पड़ता गया। दूसरा कारण यह था कि पारस्परिक सम्बन्धों का ज्यों ज्यों विकास हुआ उसी प्रकार सांस्कृतिक मूल्य परिवर्तित होते गए। आदर्शों में परिवर्तन हुआ तथा धार्मिक रीति रिवाजों में भी पर्याप्त उलट फेर हुए। रहन सहन तथा नैतिक आदर्शों में भी परिवर्तन के स्पष्ट लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। सामन्तवादी प्रथा में हम यह स्पष्ट देखते हैं कि परिवार का केन्द्र स्त्री नहीं वरन् पुरुष हो गया था। यही नहीं वरन् हम यह भी देखते हैं कि इससे पूर्व काल में परिवार के अभिभावक का शासन अधिक स्नेहपूर्ण तथा सहानुभूतिमय था, किंतु सामंतकाल में आकर वह निरंकुशता की ओर अग्रसर हो गया। इतिहास लेखकों का मत है कि भारत में सतीदाह की प्रथा उत्तरगुप्त युग ५१० ई० से धीरे धीरे सबल होने लगी और राजपूत काल में बहुत बढ़ गई। इस समय परिवार में स्त्री का स्थान सम्पत्ति के रूप में रह गया था। स्त्रीका क्रय विक्रय और अपहरण तत्कालीन समाज में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। कन्याहरण की प्रथा से कन्या कुल और वर-कुल में कट्टरता उत्पन्न हो जाती थी—जब तक कि दोनों पक्षों में से एक पक्ष दूसरे की अधीनता स्वीकार नहीं कर लेता या तब तक लड़ाई का अंत नहीं होता था। इस

प्रथा की कटुता मिटाने के लिए स्त्री के क्रय विक्रय की प्रथा प्रारम्भ हुई। पर वह कुलीनों में स्थापित न हो सकी। मोल ली हुई स्त्री पति की दासी समझी जाती थी। स्त्री के क्रय विक्रय से बहुपत्नीत्व के विचार अमर्यादित हो गए। उस समय के समाज में अधिक स्त्रियों का रखना प्रतिष्ठा और धनी होने का लक्षण माना जाता था। भारतवर्ष में स्व० राजा राममोहन राय के समय तक ऐसी ही स्थिति थी। बहुपत्नीत्व की प्रथा ने समाज को अस्त-व्यस्त किया। पहले तो आर्थिक दृष्टि से उसने परिवार को दीन बनाया। समाज में असंतोष फैला। सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से हम यह देखते हैं कि नारी को सम्पत्ति मान लेने के कारण विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार के युद्धों का क्रम सैकड़ों वर्षों तक चला, जिसमें न जाने कितने ही परिवारों का खात्मा हो गया! इसके अतिरिक्त सामाजिक नैतिकता, जिसके बल पर समाज अभ्युदय की ओर अग्रसर होता है, उत्तरोत्तर नीचे गिरती गई। इन भयानक युद्धों के दुष्परिणामों ने परिवार की स्वाभाविक गति को नष्ट कर दिया। ऐसे खण्डित परिवारों के खण्डहर यत्र-तत्र हम आज भी देखते हैं, किन्तु उनमें कोई भी जीवित नहीं रह गया है। इस काल में हमें इन—ब्राह्म, दव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गन्धर्व, राक्षस और पिशाच—आठ प्रकार के विवाहों का लक्षण किसी न किसी रूप में हर जगह मिलता है, जिनमें स्वयम्वर, स्त्री-हरण, गन्धर्व विवाह, पैशाचिक विवाह की रीतियाँ विशेष उल्लेखनीय है। इनके साथ ही साथ हम यह भी देखते हैं कि इन विवाहों का उन धार्मिक कृत्यों से भी सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, जो कि बहुत पहिले से चले आरहे थे। विवाहों के ये प्रकार अधिकांश रूप से उच्छृंखलता के सूचक थे अतएव समाज में ये रीतियाँ बहुत समय तक न टिक सकीं और परिवारों को पुनः धार्मिक ब्राह्म विवाहों की परिधि में बँधना पड़ा। इस समय हम यह देखते हैं कि इन धार्मिक विवाहों का प्रचलन एकरूप में हो कर इसलिए और चलता रहा कि लोगों में सामाजिक चेतना नष्ट होगई थी। परिवार में विवाह कर देना ही प्रत्येक का कर्तव्य बताया गया। अन्धविश्वास ने इस परम्परा को रूढ़िवादी बना दिया। अज्ञान ने इसे पवित्रता का नाम दिया। अशिक्षा ने इसके परिणामों को सोचना बन्द कर दिया। इस

समय हम विवाहों का कोई विशेष सामाजिक मूल्य नहीं देख पाते सिवाय इसके कि सृष्टि का क्रम चलता रहे।

+ + +

समाज की इस गति विधि में पश्चिमी औद्योगिक क्रान्ति ने एक प्रबल धक्का दिया। धीरे धीरे चर्च और धर्मका अंधविश्वास टूटने लगा। सामन्तवादी संस्कारों का लोप होने लगा। नवीन शिक्षा प्रारम्भ हुई। पुरानी मान्यताएँ और रूढ़ियाँ अधिक दिनों तक टिक न सकीं। विज्ञान से परिचालित उद्योगों ने प्राचीन परिवार के संगठन और नियमों को शिथिल कर दिया। सामाजिक चेतना और जागृति का विकास हुआ। इस औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम यह हुआ कि परिवार के पुराने बन्धन टूट गए और नवीन रीतियों की खोज होने लगी। इस औद्योगिक क्रान्ति के मध्य में ही हम एक महायुद्ध का दर्शन करते हैं। इसी समय परिवारों की पुरानी सीमा के अन्दर रहनेवाली स्त्रियाँ अधिकांश रूप से आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में आईं। इस समय परिवार की दृष्टि से हम दो प्रकार के आन्दोलन देखते हैं। पहला तो सामाजिक कार्यों में विशेष कर स्त्रियों ने भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। जैसे अस्पताल के कार्य, शिक्षा, शिशु शालाएँ आदि। दूसरा आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनने का आन्दोलन स्त्रियों में विशेष रूप से दिखाई देने लगा। तीसरा विवाह का परम्परागत विचार कि सृष्टि की वृद्धि हो, कम होने लगा, जिससे वैवाहिक जीवन में सामाजिक दृष्टि से एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। इसी समय से सन्तानोत्पति की संख्या में पर्याप्त कमी दिखाई पड़ने लगी। समाज में स्वावलम्बन की प्रवृत्ति से विवाह की प्राचीन रीतियों के स्थान पर दोनों की परस्पर रुचि और आकर्षण का आधार अधिक सबल होता गया। तत्कालीन असन्तोष ने तलाक की परिस्थिति उत्पन्न की। स्त्रियों के अन्दर समानता के भाव जाग्रत हुए। संयुक्त परिवार टूटने लगा। विवाह का आधार सामाजिक दृष्टि से पारस्परिक स्वीकृति में मेल तथा स्नेह पर अवलम्बित हो गया। इंगलैंड में सन् १९२८ ई० में ४०१८, अमेरिका में १९५ ९३९ तथा सन् १९३२ ई० भावें, स्वीडन, बेलजियम में क्रमशः ३२.८, ३८.५, और ३०.८ जन गणना के प्रति एक लाख के बीच तलाकों का क्रम था। जर्मनी, फ्राँस, आस्ट्रिया और स्वीटज़रलैंड में यह क्रम ६४.८, ५१.८, ९४ और ७४.८ का था। तलाक का एक कारण यह भी था कि इस समय की आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से अधिक सन्तान का होना श्रेयस्कर न था। औद्योगिक क्रान्ति ने मशीनों का विकास किया। अतएव एक मशीन कई आदमियों का कार्य एक ही आदमी की सहायता से कर लेती थी। घरेलू उद्योग-धंधे प्राय नष्ट हो गए थे। ऐसी अवस्था में अकेला आदमी परिवार के लिए जीविकोपार्जन नहीं कर सकता था। आर्थिक आय की कमी ही इसके लिए उत्तरदायी है। दूसरा कारण समाज की यह धारणा भी थी कि विवाह का आधार रोमांटिक प्रेम ही है। इसके अतिरिक्त विभिन्न समाजों के अन्तर्मिलन नें इस प्रथा को और भी प्रोत्साहित किया।

इसके पश्चात् परिवार के आधार तीन प्रकार से निश्चित हुए।

१—मानव जाति के क्रम को जीवित रखना।

२—काम प्रवृति की स्थाई तृप्ति।

३—परिवार रचना, जिसमें पार्थिव, सांस्कृतिक और स्नेह की तृप्ति हो।

औद्योगिक क्रांति से उद्भूत पाश्चात्य देशों के नवीन विचारों का प्रभाव पूर्वीय देशों पर काफ़ी हुआ है। फलस्वरूप अब भारतवर्ष में भी संयुक्त परिवार व्यक्तिगत परिवारों में बदलने लगे हैं। शिक्षा का प्रचार तथा वाह्य देशों की वैज्ञानिक प्रगति और औद्योगिक क्रांति ने भारतीय समाज संगठन पर विशेष रूप से प्रभाव डाला है। शिक्षा के प्रसार से स्त्रियों में भी जाग्रति हुई। पढ़ी लिखी स्त्रियों में स्त्री-पुरुष समानता के भाव पैदा हुए। रूढ़ियों से जकड़े हुए परिवारों से बाहर निकल कर वह सार्वजनिक और राजनैतिक क्षेत्रों में आईं। पश्चिमी विचारधारा ने पूर्वीय देशों पर अपना प्रभाव डाला। समाजके प्राचीन रूपोंमें परिवर्तन होने लगे हैं। भारत में भी स्त्री-पुरुष समानता, तलाक और सन्ततिनिरोध की आवाज़ विशेषरूप से शहरों में सुनाई देती है। भारतीय समाज इस नवीन विचारधारा से चौंक भी रहा है। किन्तु नियंत्रित रूप से चलने पर यह तीनों चीज़ें समाज के लिए कल्याणकर सिद्ध होंगी। इनसे सामाजिक जीवन से असन्तोष दूर होगा। समाज का नैतिक धरातल ऊँचा उठेगा। समाज को सुयोग्य नागरिक

मिलेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुशासित रूप से इन चीज़ों के चलने पर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक तीनों ही क्षेत्रों में उन्नति होगी। हमारे देश में अभी औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश ही हुआ है। समाज क्रान्ति अभी भी दूर की चीज-सी है। आज के परिवर्तनशील युग में भी भारत का समाज अपनी प्राचीन लीक को अपने अंधविश्वास और अज्ञानता के कारण ज्यों का त्यों स्थिर रखना चाहता है। विधवा विवाह पर रोक और बाल विवाह समाज में आज भी प्रचलित हैं। दहेज की कुरीति अब भी शिक्षित और अशिक्षित दोनों ही समाजों में ज़ोरों से चल रही है। भारतीय समाज में आज भी विधवाओंकी जो करुण दशा है वह हमें और किसी भी समाज में देखने को नहीं मिलती है। यहाँ के संयुक्त परिवारों की दशा भी अति शोचनीय है। माता पिता अपने बल पर लड़के लड़कियों का विवाह कर देते हैं। वह यह नहीं सोचते कि जब तक लड़का जीविका न कमाने लगे विवाह करना अनुचित है। जब लड़के का परिवार बढ़ने लगता है और वह उनके भरण-पोषण के लिए पर्याप्त धन कमा नहीं पाता है, तो परिवार में कलह उत्पन्न होता है जो पारिवारिक जीवन को नरक बना देता है। समाज का यह बढ़ा हुआ रोग सामाजिक सुधारों और सरकार के पूर्ण उद्योग से तथा कठोर हस्तक्षेप द्वारा ही मिटाया जा सकता है।

पश्चिमी देशों तथा अमेरिका में अन्य संस्था और समितियों की भाँति परिवारों पर भी नियंत्रण रखना सरकार अपना परम कर्तव्य समझती है। परिवार के सदस्य किसी भी समय और किसी के साथ स्वेच्छा से विवाह नहीं कर सकते हैं। इस सम्बन्ध के करने में उन्हें सरकार द्वारा निश्चित नियमों का पूर्ण पालन करना पड़ता है। निश्चित आयु से पूर्व कोई भी स्त्री-पुरुष विवाह नहीं कर सकता है और न छोड़ने में ही मनमानी कर सकता है। सरकार द्वारा निश्चित आयु के होने पर ही विवाह सम्पादित किया जा सकता है। कुछ नियम ऐसे भी हैं जिनके अनुसार प्रत्येक मष्नुय विवाह नहीं कर सकते। एक स्त्री के रहते हुए पश्चिमी देशों की सरकार के नियमानुसार दूसरा विवाह करना अपराध माना जाता है। ऐसा व्यक्ति दण्ड विधान द्वारा दण्ड का पात्र होता है। आर्थिक दृष्टि से भी सरकार के नियम हैं कि पत्नी के प्रति पति के क्या क्या उत्तरदायित्व हैं और बच्चों के प्रति माता पिता दोनों के क्या कर्तव्य हैं। पति-पत्नी की अर्जित सम्पत्ति वैयक्तिक न होकर दोनों की एक ही मानी जाती है। भिन्न भिन्न पश्चिमी देशों की सरकारों के कानून इन्हीं से मिलते जुलते होते हैं। देश की स्थिति में आकस्मिक परिवर्तन होने पर सरकार किसी भी नए नियम को समाज पर विशेषकर परिवारों पर लागू कर देती है जैसा कि फ्रान्सकी सरकार ने फ्रान्स की क्रान्ति के पश्चात् यह नियम बनाया था कि प्रत्येक परिवार की पैतृक सम्पत्ति परिवार के प्रत्येक सदस्य को (युवा अथवा बालक को) बराबर बराबर बाँट दी जाय। इस नियम से परिवार के अभिभावक की कोई विशेष शक्ति न रह गई और संयुक्त परिवार टूटने लगे। पश्चिमी देशों में परिवार और धर्म का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। परिवार को पूर्ण नियंत्रण में रखने की दृष्टि से भी कुछ सरकारों ने धर्म पर नियंत्रण रखना जरूरी समझा है। यद्यपि आधुनिक राजनीतिज्ञ सरकार की इस नीति के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि सरकार की यह नीति उसके योग्य होने की द्योतक नहीं है। यह सरकार की कमजोरी का सूचक है। उनका यह भी कहना है कि विवाह सूत्र जितना समाज-ज्ञान, सामाजिक उत्तरदायित्व और शिक्षा द्वारा दृढ़ बनाया जा सकता है उतना राजनैतिक दबाव से नहीं। सरकार का नियंत्रण कुछ दूर तक लाभदायक हो सकता है। पर सरकार जब भी किसी नियम को लागू करे तो उसे चाहिए कि वह उसमें इस बात को भी स्पष्ट कर दे कि इसमें परिवार का कौन सा हित निहित है, अन्यथा समाज को भ्रम हो सकता है कि सरकार उसकी नैतिकता, धर्म और विचारों पर ज़बरदस्ती कोई सिद्धान्त लाद रही है। भारतवर्ष को छोड़ कर सभी पश्चिमी और पूर्वीय सरकारों ने किसी न किसी रूप में परिवारों की व्यवस्था के लिए नरसरीज़ (शिशु-गृह) मातृ-मन्दिर अस्पताल, निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य किया, प्रौढ़ पाठशालाएँ तथा विभिन्न प्रकारों की कला और विज्ञान के लिए शिक्षण केन्द्र खोले। किन्तु भारतवर्ष इन पुनरोद्धार के कार्यों से वंचित रह गया। इसका केवल यही कारण था कि भारत पर विदेशी सरकार का शासन था जिसका एक मात्र उद्देश्य शोषण करना था। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय

समाज पर बाहरी देशों की विचारधाराओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा जिसके कारण भारतीय व्यापार, भारतीयों की विदेश यात्राएँ, शिक्षा और संस्कृति का सम्पर्क, यातायात के साधनों का प्रारम्भ तथा महायुद्ध के कारण उत्पन्न हुई परिस्थितियों का व्यापक प्रभाव आदि थे। यहाँ के असन्तुष्ट समाज पर स्वतंत्र देशों के सामाजिक तथा राजनैतिक आन्दोलनों के विचारों का प्रभाव बड़ी प्रबलता से पड़ा, जिसके कारण भारतवर्ष के परिवार में परिवर्तन के लक्षण देखने में आते हैं। शिक्षा के प्रति लोगों के झुकाव, परिवार में समान अधिकारों की मांग, पुरानी रूढ़िवादी प्रथाओं का शिथिल होना, संयुक्त-परिवार में आर्थिक बोझ का बढ़ना, बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध, विधवा-विवाह और अन्तर्जातीय-विवाहों का प्रारम्भ, तलाक और सन्ततिनिरोध आदि भावनाओं के प्रचार ने प्राचीन परिवारों के गठन को ढीला करने का प्रयत्न प्रारंभ किया। सामाजिक असन्तोष और आर्थिक परिस्थितियां परिवार के पुराने ढांचे को परिवर्तित करने में सहायक हो रही हैं। इन परिस्थितियों के कारण ऐसा ज्ञात होता है कि परिवार की प्रथा नष्ट हो जायगी। हमारे देश में स्त्री-स्वाधीनता आन्दोलन बड़े ज़ोरों से चल रहा है। आज कल की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों ने समाज को बाध्य कर दिया कि स्त्री को पुरुष के समान अधिकार दे। अध्यापन कार्य, डाक्टरी, वकालत तथा राजनीति में उनके सहयोग ने इस बात को प्रमाणित कर दिया कि अवसर पाने पर स्त्रियाँ लगभग सभी क्षेत्रों में यथाशक्ति योग दे सकती हैं। इस बढ़ती हुई उन्नति से ऐसा ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ शीघ्र ही समाज में समान स्थान पा जायँगी।

ऊपर से देखने में ये बातें परिवार प्रथा को तोड़ने वाली माल्म पड़ती हैं। किन्तु गम्भीरतापूर्वक सोच विचार करने पर वह वैसी नहीं मालूम होती हैं। जिन चीज़ों से परिवार के टूटने का भय है वे तो आगे चल कर नवीन परिवार को बनानेवाली होंगी। जब स्त्री आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन होगी तो वह स्वाधीनतापूर्वक अपने मनोनुकूल जीवन साथी पा सकेगी। ऐसा करने पर स्त्रियों का परिवार में दिखाई देने वाला मानसिक असन्तोष कम हो जायगा। नियंत्रित तरीके से चलाया हुआ तलाक समाज में पवित्रता और सन्तोष को बढ़ाएगा। इससे केवल असन्तुष्ट जोड़े ही टूटेंगे जिससे समाज के भीतर का असन्तोष दूर होगा। सन्ततिनिरोध का जितना ही प्रचार होगा उतनी ही अच्छी और सीमित संख्या में उचित समय पर सन्तान मिलेगी। इससे भारत की बढ़ी हुई शिशु-मृत्यु संख्या में भी कमी आयेगी, क्योंकि कम सन्तान होने से देखरेख तथा भरण पोषण सुचारु रूप से हो सकेगा। सन्ततिनिरोध से विवाह प्रथा लुप्त हो जायगी; ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि विवाह मनुष्य के स्वाभाविक वेग की पूर्ति का साधन है। मनुष्य बिना परिवार के कभी रह नहीं सकता। हाल ही के दो प्रसिद्ध नृतत्व विज्ञानी श्री वेस्टर मार्क और श्री ब्रीफोल्ट परिवार के आचार-विचार की आलोचना के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि परिवार का अस्तित्व मनुष्य के जन्म ही से नहीं वरन् उप मानव काल से है।

विदेशी सरकार ने अपने देश की बनी वस्तुओं को खपाने के लिए भारत को उपयुक्त बाज़ार समझा और बाज़ार में अपना एकाधिपत्य जमाने के लिए यहाँ के उद्योग धंधों को अपनी कूटनीति और निरंकुश शासन द्वारा समाप्त किया। उद्योग धंधों के नष्ट हो जाने से समाज के सामने बेकारी की समस्या आ गई। एक व्यक्ति की आय परिवार पोषण करने में असमर्थ सिद्ध हुई। आर्थिक आय की कमी के दुष्परिणाम आज समाज में स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। आर्थिक परिस्थिति में समाज के अन्दर सन्तान की बढ़ती हुई संख्या, इस युग में अब उसके लिए हितकर नहीं है। जैसा कि हैवलक एलिस का कथन है "बच्चों के कम पैदा होने की समस्या नहीं है किन्तु इस आर्थिक संकट काल में उनके अधिक संख्या में बचे रहने की समस्या है।" इससे सिद्ध होता है कि बढ़ती हुई शिशु-मृत्यु संख्या को रोकने के लिए सन्ततिनिरोध एक सफल साधन है।

आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि सर्वत्र—पूर्वीय और पश्चिमी देशों में—प्रत्येक समाज के परिवार का ढाँचा तीव्रता से टूट रहा है। प्रत्येक देश, मानव के रहन सहन, संस्कृति, साहित्य और कला की दृष्टि से [illegible] दूसरे के निकट आते जा रहे हैं। हमारे लक्ष्य और साधन की यह एक रूपता हमारे जीवन में स्पष्ट लक्षित हो रही है। अब वे दिन दूर नहीं जब कि हमें एक ही प्रकार

की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में रहने का सुअवसर प्राप्त होगा। परिस्थिति के इस प्रवाह में हमें यह दृष्टिगोचर हो रहा है कि हमारे बहुत कुछ पारिवारिक ढाँचे जो अभी तक देश, काल और समय के कारण विभिन्न स्तरों पर स्थित रहे और कई प्रकार के परिवर्तनों से अछूते रहे, अब वास्तविकता की एक ही दिशा की ओर जा रहे हैं। आज हमारे परिवारों का निकट भविष्य में क्या स्वरूप होगा वह ठीक नहीं कहा जा सका फिर भी उसकी एक रूप रेखा का अनुमान हमें ठीक ठीक लग रहा है। जहाँ तक राजनैतिक क्षेत्र का सम्बन्ध है हमारे भावी सामाजिक विकास में परिवार के दोनों व्यक्तियों का—स्त्री और पुरुष का—समान योग होगा, समान अधिकार होंगे, समान सुविधाएँ होंगी, समान अवसर मिलेंगे। समाज की प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था का आधार सहयोग का होगा, जहाँ पर किसी के शोषण का प्रश्न न रह जायगा। शिक्षा तथा नागरिक अधिकारों की प्रत्येक की समान सुविधा प्राप्त होगी। जहाँ तक आर्थिक क्षेत्र का सम्बन्ध है दोनों के सहयोग समान रूप से अपेक्षित होंगे। उद्योग और उत्तरदायित्व एक व्यवस्थित आर्थिक सन्तुलन पर होगा, जिसका श्रेय परिवारों के उस सुसंगठन पर होगा जो पूर्ण रूप से स्वस्थ तथा सुखी होंगे। इस आर्थिक विकास में अपने अपने श्रम का उचित मूल्य सबको समान रूपसे मिलेगा। परिवार में समता की इस व्यवस्था से अधिक दृढ़ता तथा सहयोग की मात्रा विशेष रूप से होगी। जहाँ तक सामाजिक क्षेत्र का सम्बन्ध है आगे आने वाले समाज में सामाजिक अथवा मानसिक दासता का कोई स्थान अथवा अवसर न रहेगा। समाज की दृष्टि से दोनों ही प्राणी एक दूसरे के पूरक सिद्ध होंगे, जिनके सहयोग पर ही समाज का अभ्युदय स्थिर हो सकेगा। सांस्कृतिक तथा कलात्मक क्षेत्र में भी व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और स्वतंत्र-भाव-प्रकाशन का अवसर प्रत्येक को समान रूप से होगा। प्रत्येक की भावनाओं का सम्मान होगा। ऐसी ही स्थिति में एक उच्चतर नैतिकता की हम कल्पना कर सकते हैं। परस्पर मधुर और कोमल वृत्तियों का आदान-प्रदान ऐसे ही वातावरण में सम्भव हो सकेगा। सच्ची मानवता की संस्कृति ऐसे ही समाज में पल्लवित हो सकेगी। हमारे परिवार उस समय उच्चतर समाज के प्रतीक सिद्ध होंगे। उस समुन्नत समाज की इकाइयाँ यही परिवार बन सकेंगे जिनको हम सुन्दर फूल फल से लदे हुए एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखाएँ कह सकते हैं। ऐसे परिवारों में पूर्ण समाज बीज-रूप से लक्षित होगा और ऐसा समाज नाना परिवारों का सामाजिक समूह होगा जिसमें हम सच्चे अर्थ में मानवता के दर्शन करेंगे।

कार्ल मार्क्सः व्यक्तित्व का विश्लेषण

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

पुस्तकों के बीच में

कार्ल मार्क्स संसार के महान विद्वानों में था। अत्यन्त विपत्ति के दिनों में भी उसने न पुस्तकों को छोड़ा, न अध्ययन को। अपने निवासस्थान के निचले कमरे में उसने एक बढ़िया पुस्तकालय संग्रह कर रखा था। पुस्तकें सिर्फ आलमारियों में ही नहीं रहती थीं, दीवालों से सटे हुए, लकड़ियों के उसने खाने बनवा रखे थे, जिनपर किताबें, अखबारों की फाइलें, पांडुलिपियां भरी होती थीं। टेबुलों पर भी किताबें पड़ी रहती थीं। कमरे के बीच में एक छोटा सा टेबुल था, जिसपर वह लिखता था। इस टेबुल से हटकर एक सोफा पड़ा रहता था, जिसपर वह थक कर जब-तब लेट जाता था।

किसी दूसरे को वह किताबें नहीं छूने देता था: आप ही उन्हें सिलसिले से रखता था। यों देखने से मालूम होता था कि किताबें बेतरतीब रखी हुई हैं, किन्तु यथार्थ में किताबें, फाइलें सब उचित स्थान पर होते थे और वह जब चाहता था, बिना खोज ढूढ़ के उन्हें निकाल लेता था। बीतचीत करते समय भी वह प्रायः पुस्तकों को निकालता और उनके अवतरण सुनाता। हाँ, पुस्तकों के रखने में खूबसूरती का जरा भी ध्यान उसे नहीं था। वह पुस्तकों की सजावट आकार के अनुसार न करके प्रकार के अनुसार करता था। इसलिए बड़ी-बड़ी मोटी किताबों की बगल में छोटी-छोटी पुस्तकाएँ पड़ी होतीं थीं। पुस्तकों को वह अपना दिमागी औजार समझता था। वह कहता था—"ये मेरे गुलाम हैं, उन्हें मेरी मर्जी पर काम करना होता है!" किताबों की जिल्द, कागज, छपाई वगैरह पर उसका बहुत कम ध्यान होता। वह किताबों के पन्ने मोड़ देता, पंक्तियोंके नीचे निशान पर निशान बनाता जाता, हाशियों को प्रश्नचिन्ह या आश्चर्यचिन्ह से भर देता। निशानों का उपयोग वह बड़ी सावधानी से करता और जब ज़रूरत होती आसानी से उन्हें खोज लेता। पढ़ी हुई पुस्तकों को फिर से दुहराने की उसकी आदत थी—कुछ वर्षों के बाद पुस्तकों को वह उठाता और तब सिर्फ अपने किए हुए निशानों वाले अंशों को देख जाता। पुस्तकों से वह नोट लिया करता और उन्हें भी जबतब दुहराया करता। पुस्तकों से उसने एकात्मता पैदा करली थी। वे उसके अंग की तरह बन गई थीं।

साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

कार्ल मार्क्स ने जो कुछ लिखा दर्शन, अर्थशास्त्र और राजनीति ऐसे शुष्क विषयों पर ही। किन्तु उसमें साहित्यिक रुचि का अभाव न था, बल्कि प्रचुरता थी। गेटे और हेन—इन दो जर्मन कलाकारों की बहुत-सी कृतियाँ उसने कंठस्थ कर रखी थीं। उसकी मेधा बड़ी प्रबल थी और प्रारम्भ से ही हेगेल के कथनानुसार, उसने अज्ञात भाषाओं के पद्य कंठस्थ कर उस मेधा को और भी प्रखर और पुष्ट बनाने की चेष्टा की थी। बातचीत में यूरोपीय कवियों की कविताएँ वह प्रायः सुनाया करता था। एचिलस की नाट्यकृतियों को उसने उनके मूल ग्रीक रूप में पढ़ा था और शेक्सपीअर पर तो वह न्योछावर था। शेक्सपीअर के नाटकों के तुच्छ पात्रों के बारे में भी वह काफी ज्ञान प्रदर्शित करता था। मार्क्स के पूरे परिवार में शेक्सपीअर की धूम थी—उसकी लड़कियों ने भी शेक्सपीअर की बहुत-सी कृतियों को कंठस्थर कर रखा था। दांते और बर्न्स की कविताएँ भी उसे बहुत प्रिय थीं।

उपन्यास पढ़ने का भी उसे बहुत शौक था। जहाँ थकावट आई, शोफे पर लेट कर वह उपन्यास पढ़ने लगता। वह एक साथ तीन-चार उपन्यास शुरू कर देता था। अट्ठारहवीं सदी के औपन्यासिकों को वह तरजीह देता था। डूमा, बालज़क, सर्वेन्टस, स्कौट उसके प्यारे लेखक थे। बालज़क पर तो वह फिदा था

लेट गया। वह पिछली रात का पहरा देकर थोड़ी ही देर पहले लेटा था, इसलिए उसकी आंखों में नींद भरी थी। लेकिन दूसरे ही क्षण कुछ स्मरण हो आने से वह फिर उठा और जोर से बोला—"हमको अभी शिमला पहाड़ी पर जाना है।"

यह वह मौसम था जब शिमला पहाड़ी पर फूल खिलते हैं। इसीलिए लोग सैकड़ों की तादाद में सैर को जाते हैं। फूलों का दृश्य अति मनोहर और आकर्षक होता है। मैं भी अक्सर जाया करता था। लेकिन अब कुछ रात की ड्यूटी के कारण और दंगे कर्फ्यू के कारण यह आदत छूट-सी-गई थी। पर उस दृश्य की कल्पना कर मैंने गोर्खा से कहा—

"वहां तो लड़कियाँ भी खूब आती हैं।"

"कहां साहब, आजकल नहीं आतीं।"

गोर्खा ने कुछ इस ढंग से कहा जैसे उनके न आने से, उसे भारी क्षति पहुंच रही हो। उसकी ध्वनि में जो अभाव भरा था उससे जाहिर था कि वह सिर्फ लड़कियों को देखने शिमला पहाड़ी पर जाता है। और फिर जिस फुरती से कुर्ता पर पाजामा पहन और दफ्तर की साईकिल उठा वह शिमला पहाड़ी की ओर चल दिया उससे तो यह अनुमान लगाना भी कठिन नहीं था कि वह लड़कियों की धुन में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक कहीं भी जा सकता है।

देवपाल बहुत बातूनी था। वह आजाद हिंद फौज में भरती हो गया था और थोड़ा बहुत पढ़ा लिखा भी था। वह हरवक्त अपनी बहादुरी की डींग हांकता और दफ्तर के चपरासियों पर रोब गांठा करता था। लेकिन गोर्खा के नजदीक इन बातों का कोई महत्व नहीं था। वह उसे जरा भी आदर सम्मान न देता, सदा उपेक्षा से देखता, न उसकी सुनता और न अपनी सुनाता, गोया, उसे देवपाल का अस्तित्व मानने से ही इनकार हो।

लेकिन इधर कुछ दिनों से स्थिति बदल गई थी। मैं देखता कि गोर्खा देवपाल की बातें अब ध्यान से सुनता है और इस कदर दिलचस्पी लेता है कि सोना भूलकर उसके पहरे में भी जागता रहता है। हो सकता है कि देवपाल ने गोर्खा की कमजोरी को भाँप लिया हो और उसकी मनपसंद बातें करने लगा हो। या फिर गोर्खा ने वैसे ही उसे औरतों के सम्बंध में बातें करते सुन लिया हो और अधिक सुनने का चसका पड़ गया हो।

एकदिन जब मैं काम से फारिग होकर सोने चला ता देवपाल तीन चार आदमियों को अपने गिर्द जमा किए बैठा था और मजे से बातें सुना रहा था—लाहौर में तो पढ़ी लिखी लड़कियाँ रहती हैं। वे आम खास को नहीं पूछतीं। लेकिन कांगडा की तरफ चले जाओ वहां औरतों की कमी नहीं। क्योंकि लोगों में गरीबी बहुत है.........."

और जब महीने की पहली तारीख को तनख्वाह मिली तो दूसरे दिन मालूम हुआ कि गोर्खा चला गया है।

कलम क्षण भर के लिए रुक गई और नजरों में गोर्खा का वह चित्र घूम आया जब उसने स्वस्थ आंखों में जिन्दगी का समस्त रस भरकर कहा था—"हम बहुत घूमा है। बहुत सैर किया है। अब बस एक बात चाहता है।"

इस एक बात को उसके जीवन में इतना महत्व प्राप्त था कि वह बम्बई गया। बम्बई से पूना और पूना से लाहौर आया। और अब शायद कांगडा की ओर गया है।

जयप्रकाश*

श्री बजनाथसिंह 'विनोद'

लेखक का कथन है—"मैं शब्द-चित्रकार हूं, यह मैं हमेशा महसूस करता हूं और इस पुस्तक में मैंने अपने चरितनायक को मुख्यतः चित्रों के एक अलबम के रूप में पेश करने की चेष्टा की है।" लेखक का मत है—"इतिहास, काव्य, उपन्यास, नाटक इन सब से परे चरित-लेखन की एक खास कला है, जिसमें इन चारों का पुट न पड़े, तो चीज सूनी सूनी, बासी बासी मालूम हो।" लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ के बारे में कहा है—"मैंने अपने नायक को खड़ा करके उसका फोटो लेने की चेष्टा नहीं की है। जब वह खेल रहा है, पढ़ रहा है, जा रहा है, दौड़ रहा है, हंस रहा है—जब वह किसी महान कार्य को सम्पन्न करने में लीन है, या जब वह अदना से अदना काम में अपने को बहला रहा है—मेरे कलम के कैमरे ने उन अवसरों पर उसे पकड़ने की कोशिश की है।" यह सिद्धान्त चरित-लेखन-कला में किस स्तर और काल का सूचक है, यह कहना जरा कठिन है। किन्तु ऐसा लगता है कि इस विज्ञानके युग में चरित-लेखन की यह कला इसलिए उपयुक्त है कि इसमें प्रत्येक चित्र अपने आप में पूर्ण हो सकने में समर्थ हैं। अब देखना यह है कि प्रस्तुत ग्रंथ इस सिद्धान्त पर ठीक उतरा है या नहीं।

ग्रन्थ खोलते ही पहले अध्याय में सामने आता है—"उस दिन नदियाँ बोलीं"। इसमें नाटकीय तत्त्व के सहारे और काव्य की कुशलता से जयप्रकाश के जन्मकी कथा है। गंगा और सरयू से बात कराने के मिस लेखक ने एक ऐतिह्य भी रख दिया है। सिताब दियारे का जो परिचय लेखक ने दिया है, वही ऐतिहासिक और भौगोलिक परिचय है। "यह बूढ़ा लड़का!" जयप्रकाश जी के शील, मितभाषी और गम्भीरता की कुंजी है। वातावरण से व्यक्ति बनता है—व्यक्तित्वनिर्माण में वातावरण का सबसे बड़ा हाथ होता है—यह जयप्रकाश के लड़कपन के जीवन से और भी स्पष्ट होता है। "सरस्वती-भवन में" पूरा का पूरा अध्याय इसी पर है। इसी के अन्दर जयप्रकाश जी का साहस भी दिख जाता है। "किशोरावस्था की आदर्शवादिता!" अध्याय बालक जयप्रकाश को राजनीतिक बनावट की कुञ्जी है। उससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि जयप्रकाश जी पर गोखले और महात्मा जी का प्रभाव ही उम्र से अधिक है। उस समय वह एक क्रान्तिकारी के भी सम्पर्क में आते हैं, किन्तु चल नहीं पाते। पर उसका एक प्रभाव उनपर पड़ ही जाता है। शायद वही प्रभाव विकसित होकर उस सीमापर है, जहाँ जयप्रकाश गान्धी जी और समाजवाद के बीच की कड़ी-सी दीखते हैं। हमारे अभागे देश में होमरूल सरीखा आन्दोलन भी चल चुका है, जिसे आन्दोलन मानने में भी हमारी लेखनी लजाती है। किन्तु हमारे देश में इससे भी कुछ प्रकाश ही फैला। जयप्रकाश में भी इस आन्दोलन की प्रेरणा है। इसके बाद वह १९२१ के जन-संघट्ट में आते हैं। उस समय उनपर गान्धी जी का रंग चमकने लगा है। श्रीमती प्रभावती जी ने ठीक ही कहा है—"पूछिए इनसे, मुझे चरखा चलाने के लिए किसने प्रेरित किया? अफसोस उस समय के इनके खत नहीं मिल रहे हैं, नहीं तो उन्हें छपवा कर मैं दुनिया को बता सकती कि यह कहाँ से शुरू करके अब कहाँ चले गए हैं!" (पृ० ३८) इसके बाद ही "जयप्रकाश जी अमेरिका गए, और प्रभावती जी साबरमती। एक पक्के समाजवादी बने, दूसरी कट्टर गान्धीवादिनी।"

इसके बाद जयप्रकाश जी की अमेरिका यात्रा है। इसे लिखने में लेखक कवि हो जाता है—शायद उसकी

* जयप्रकाश—ले० श्री रामवृक्ष बेनीपुरी। प्रकाशक—साहित्यालय, पटना। प्राप्तिस्थान—भारती सदन, मुजफ्फर पुर, बिहार। कीमत ५)। पृ० सं० रायल आठ पेजी २४०।

इच्छा कालिदास की तरह है। जैसे कालिदास अपने नायक—चाहे वह मेघ हो या रघु—की यात्रा-पथ के किसी सुन्दर दृश्य को नहीं छोड़ना चाहता, वैसे ही बेनीपुरी जयप्रकाश की यात्रा-पथके किसी भी चिन्ह को नहीं छोड़ना चाहता। निश्चय ही इन चित्रों में सौन्दर्य-निदर्शन की अपेक्षा भारतीय राष्ट्रीयता का दीप्त भाव-पक्ष ही प्रधान है।—"गंगा-सागर! जहाँ गंगा के रूप में भारत की सभ्यता धारा निस्सीम में विलीन होने को सागर से जा मिली है, जहाँ एक अविरल प्रवाह एक अनन्त विशालता की गोद में सदा के लिए सोया है; जहाँ भगीरथ की तपस्या अपनी पूर्णता की प्राप्ति कर चिर-समाधि लेती है! वनगमन को जाते हुए राम ने गंगा पार करते समय जिस तरह उन्हें भक्ति तथा भावपूर्ण हृदय से प्रणाम किया था, क्या प्रवास के लिए प्रस्थित जयप्रकाश ने उसी तरह गंगा मैया के इस अन्तिम रूप को सादर सभक्ति नमस्कार नहीं किया? उसके होंठों पर किसी मन्त्री की बुदबुदाहट थी, उसके हृदय में किसी वरदान की कामना थी!" (पृ० ४१) "जहाज बढ़ता जाता है, ऊपर नीला आकाश, नीचे नीला समुद्र। बगल में यह मलाया की हरी भरी भूमि! भारतीयों के लिए स्वर्ण द्वीप, मलय द्वीप कोई नई चीज नहीं। बिहार के कितने ही युवकों ने आज से दो ढाई हजार साल पहले इस रास्ते प्रयाण किया होगा—नई भूमि के अनुसन्धान में, जहाँ वे सभ्यता के नए सन्देश दे सकें। उस समय साधनों की कमी थी, ऐसे जहाज तक नहीं थे; किन्तु तो भी उनके हृदयों में वह असीम साहस था, जो असम्भव को सम्भव कर लेता है।" (पृ० ४३) "अब फिर साफ आसमान है, प्रशान्त सागर है। 'जेनस' शान से बढ़ रहा है—बढ़ रहा है! अरे, यह क्या? समुद्र में ये क्या उड़ रहे हैं? पंछी? नहीं, नहीं; ये पंछी तो नहीं मालूम पड़ते। तो, यह क्या? देखो, इनमें से एक जहाज पर आ रहा। देखें तो इसे? अरे यह तो मछली है! उड़नेवाली मछली—पुस्तकों में जिनके बारे में पढ़ा था, उन्हीं उड़नेवाली मछलियों को यह उड़ान देखने में जयप्रकाश की सौन्दर्यपारखी आँखें थकती नहीं हैं।" (पृ० ४५) "यह देखिए, यह मिस्टर हार्टर की रंच है! चारों ओर अंगूर की लताएं, जिनमें गुच्छे के गुच्छे अंगूर लटक रहे! जहाँ तहाँ बादाम, खूबानी और नाशपाती के छोटे छोटे पेड़—फलों से लदे हैं। रंच के बीच में यह लम्बा-चौड़ा यार्ड—तख्तों पर जहाँ अंगूर के दाने बिखरे हैं! और, उनके बीच यह कौन खड़ा हुआ है! आपको पहचानने में दिक्कत हो रही है? होनी चाहिए। सिर पर हैट, बदन में कमीज, कमर में पतलून—किन्तु, इन सबको ढक सा रखा है ओवरऑल ने, जो गर्दन से घुटने के नीचे तक लबादासा लटक रहा है! यह पोशाक पहने, हाथ में लकड़ी की खुर्पी लिए, वह कितनी फुर्ती से इस तख्ते से उस तख्ते तक जाता है और किस चुस्ती से अपना सारा काम पूरा करता है।" (पृ० ४९-५०) अमेरिकासे इंगलैण्ड, इंगलैण्डसे कोलम्बो, कोलम्बो से कलकत्ता और—"पटना से सिताब-दियारा—'जन्मभूमि ममपुरी सुहावनि।' वही स्वच्छ नील आकाश, वही हरी भरी भूमि! भूमि पर कहीं कहीं कास, आकाश में यत्र तत्र शुभ्र बादल। फूस और खपरैलों वाला यह गाँव। परिचित चेहरे, परिचित घर—जिन्हें सात वर्ष के प्रवास ने तब्दीलियाँ लाकर और मनोरम बना रखा है। किन्तु जयप्रकाश को इनके देखने की फुर्सत कहाँ? वह बेतहाशा दौड़ते हैं अपनी माँ की रोग-शय्या की ओर! और, वह, माँ बेटा मिल रहे हैं! माँ बेटे का यह मिलन! कौशल्या ने चौदह वर्ष के वनवास के बाद अपने 'रामू' को पाया—फूलरानी ने सात वर्ष के प्रवास के बाद अपने 'बउल' को पाया। कहाँ अधिक आँसू बहे? किस ओर से अधिक आँसू बहे! साक्षिणी सरयू! —इतिहास एक दिन तुम्हीं से पूछेगा; जरा सावधानी से देख रखो।" (पृ० ६८)

जयप्रकाश जी ने असहयोग में कालेज छोड़ा। बिहार विद्यापीठ में पढ़े। देश का वातावरण ठंढा पड़ गया। अमेरिका गए। वहाँ से एम० ए० किया—Social Variation थिसिस दिया। वहाँ से फिर जब स्वदेश लौटे तो देश अंग्रेजों के लिए बारूदखाना हो चुका था।—"हिन्दुस्तान के कोने कोने में जवानी जैसे अंगड़ाई ले रही है। जगह जगह नौजवानों की सभाएं कायम हो रही हैं। तरुणों के जय घोष ने देश के वायुमंडलमें विद्युतका संचार कर रखा है। नई भावनाएं,

नए आदर्श से प्रेरित हो वे अपने को बलिदान करने के लिए जैसे पागल से दिखाई पड़ रहे हैं। उनके इस जोश ने बुड्ढों की हड्डियों की मज्जा को भी गरमा दिया है। अब कहीं निराशा का नाम नहीं है। मर्दानगी ने मुर्दानगी पर विजय प्राप्त कर ली है।" (पृ० ६९) दह-चारों ओर देखता है। दो महीने के लिए बिड़ला जी के यहां जाकर पूंजीवाद का भी अध्ययन करता है—भारतीय कोलोनियल पूंजीवाद को भी देखता है। और अन्त में पं० जवाहरलालजी के साथ चल देता है—तूफानों में। १९३२ का आन्दोलन सामने आता है। विलिंग्डन देशको कुचल देना चाहता है। जयप्रकाश राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करते हैं; ब्रिटिश हुकूमत के सामने आते हैं—उसी तरह जिस तरह औरंगजेब के सामने शिवाजी-पहाड़ी चूहा या भीषण भूकम्प! वह गिरफ्तार होते हैं। जेल जाते हैं। जेल में ही जन्म होता है समाजवादी दल का। कहा जाता है कृष्ण का भी जन्म जेल में ही हुआ था।

इस जगह लेखक ने भारतवर्ष के समाजवादी विचार धाराओं के उदय का ठीक प्रतिनिधित्व नहीं किया है। यह सच है कि मेरठ केस के अभियुक्तों ने हिन्दुस्तान को समाजवाद की ओर मोड़ा। पर यह भी सच है कि अमर शहीद सरदार भगतसिंह के साथियों ने भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन को समाजवाद से जोड़ा था। लाहौर केस की प्रोसिडिंग से जाहिर है कि दिल्ली के किले की एक मीटिंग में "हिन्दुस्तान रिपब्लिकन" का नाम "हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन" रखा गया था। और इस दलका एक सदस्य साथी बटुकेश्वर दत्त डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त के साथ मजदूरों का संगठनकारी भी था। आचार्य नरेन्द्रदेव जी १९३० के आन्दोलन से निकलते ही समाजवादी संगठन की ओर मुड़े थे। काशी से साप्ताहिक "जागरण" निकाल कर राष्ट्रीय आन्दोलन की कमियों की आलोचना और समाजवाद की स्थापनाकी बात कही गई थी। इस आलोचनात्मक भूलके साथ लेखक अपने विषयमें सफल है। यहीं लेखक ने एक और मोहक चित्र दिया है—"यह नासिक जेल है! नासिक—यहीं कहीं पंचवटी है; यहीं कहीं किष्किन्धा है। त्रेतायुग में यहीं कहीं बैठकर राम ने अपने दाक्षिणात्य साथियों—जिन्हें बानर कहा गया है—के साथ एक योजना तैयार की थी कि किस तरह राक्षसों को पराजित किया जाय, लंका को जीता जाय, सीता को वापस लाया जाय, रामराज्य की स्थापना की जाय! आज फिर उत्तर का एक नौजवान यहां पहुंचा है और अपने दाक्षिणात्य साथियों से घिरा बैठा है। यहां नर बानर का भेद भाव नहीं है! सब मानवता के पुजारी हैं, सब के दिमाग में विचार हैं, योजनाएँ हैं। किसी एक की सीता नहीं, देश की आजादी की सीता हरी गई है...." आदि। इसके बाद बिहार भूकम्प के समय से जयप्रकाशजी बिहार के जन आन्दोलन में मिल जाते हैं। इसके बाद लेखक ने कांग्रेस समाजवादी पार्टी का जन्म, कार्यक्रम आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला है। जयप्रकाशजी का भारतीय राजनीति में यहीं दान है और इसको लेखक ने जिस खूबी से दिखाया है, वह स्तुत्य है। पूर चित्रों की छटा यहां भी है। कभी कभी तो ऐसा लगता है कि यह जीवनी है या चित्रों का अलबम! ....

इसके बाद महासमर का काल शुरू होता है। महासमर में जयप्रकाश और समाजवादी दलकी क्या नीति थी, इसे लेखक ने दिखलाया है। इसी काल में जयप्रकाश जी देवली कैम्प में नजरबन्द होते हैं। देवली कैम्प से जयप्रकाश के एक पत्र को सरकार ने प्रकाशित किया था, जिसे वह अपनी पत्नी श्रीमती प्रभावती देवी को दे रहे थे और जिसे लेने में प्रभावतीजी ने अपनी राजनीतिक असावधानी प्रकट की थी। इस समय का भी चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया है। इसके बाद जयप्रकाश हजारीबाग जेल में आ जाते हैं। हजारीबाग जेल से जयप्रकाश के पलायन की कथा भारतीय इतिहास का एक अध्याय है। जेल से भागने और भगाने की अनेक घटनाएं हमारे देश के क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास में हैं। किन्तु किसी घटना में जेल के अन्दर के इतने साथियों ने नियोजित ढंग से सफलतापूर्वक यह काम नहीं किया, जितना जयप्रकाश जी ने। इसमें पलायन की सारी योजना का श्रेय जयप्रकाशजी को देना पड़ेगा। किन्तु पलायन के अन्दर ही कुछ कमजोरियाँ हैं, जो अन्य साथियों की हैं, और जिसके अन्दर उनकी असावधानी उनके अन्दर क्रान्तिकारी तत्वों का अभाव सिद्ध करती है। जयप्रकाशजी के जेल से बाहर

जाकर क्रान्ति का सूत्र अपने हाथ में लिया। आजाद दस्ते का संगठन किया। पर हम देखते हैं कि उच्चमध्यम वर्ग में ही उनको प्रश्रय मिलता है—उन्हीं के भेष में वह यात्रा भी प्रायः करते हैं। इसके अन्दर देश के सर्वहारा वर्ग का असंगठन दिख जाता है—क्रान्तिकारियों का धरातल बताता है कि सर्वहारा वर्ग का यह संगठन नहीं है। जयप्रकाशजी जब नैपाल की कैद से भागते हैं, तो उनको पकड़ने के लिए ग्रामीण जनता उनके पीछे दौड़ती है। इसके अन्दर बिहार की जनता में क्रान्तिकारी भावना की कमी मालूम होती है; क्योंकि हम जानते हैं कि चटगाँव के अभियुक्तों को पकड़ने में बंगाल की जनता ने सरकार का तो साथ दिया ही नहीं, बल्कि अभियुक्तों के पकड़े जाने पर इन्कलाब जिन्दाबाद के नारों से उसने उनका अभिनन्दन किया। पर निश्चय ही बंगाल के बाहर, जनता में क्रान्तिकारी भावना की कमी की जिम्मेदारी कांग्रेस पर है। लेखक ने भी कहा है—"...जो अस्त्र शस्त्र हाथ लगे, उन्हें लेकर थोड़े दिनों तक खेलवाड़ चला फिर या तो वे नदियों और कुओं में फेंक दिए गए या जमीन में गाड़ दिए गए। कांग्रेस अहिंसा मानती रही है, किन्तु राज की ओर से होने वाली हिंसा को उसने हमेशा स्वीकार किया है।" (पृ० २१४) अगस्त आन्दोलन पर लिखे गए ग्रन्थों और जयप्रकाशजी की जीवनी पढ़ने के बाद आसानी से इस नतीजे पर पहुँचा जा सकता है कि राजनीति में अहिंसा का सिद्धान्त और कांग्रेस का सारा रंग ढंग देश की क्रान्ति में सदैव आन्तरिक बाधक सिद्ध हुआ है। जयप्रकाश जैसे सूझ बूझ वाले व्यक्तिको यदि कांग्रेस की अहिंसक पृष्ठभूमि के बजाय क्रान्तिकारी पृष्ठभूमि मिलती, तो शायद देश का इतिहास कुछ दूसरा होता। किन्तु दुर्भाग्य, जयप्रकाश तो क्रान्तिकारी हैं और उनको पृष्ठभूमि मिली है 'ब्राह्मणीक'!

लेखक ने ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है, उससे जयप्रकाश जी का चित्र मानस-पट पर उतर आता है—उसमें उनका व्यक्तित्व मोहक, आकर्षक और विराट मालूम पड़ता है। किन्तु जयप्रकाश जी से मिलने के बाद वह चित्र धुँधला पड़ जाता है। जयप्रकाश की विराटता में शारदपूर्णिमा की जो स्निग्धता है, वह भी लेखक की लेखनी के कैमरे में पूर्णतया नहीं उतर सकी। शायद इसका कारण यह है कि जयप्रकाश अपने आप में पण्डित राजजागन्नाथ के शब्दों में "रमणीय" हैं, जिसके अन्दर—"ज्यों ज्यों निहारिए नीरे ह्वै नैननि, त्यों त्यों खरी निखरै-सी निकाई।"

समाजवादी की डायरी

फ्रांस का म्युनिसिपल चुनाव

गत अक्तूबर मास में फ्रांसके ५०० म्युनिसिपेल्टियों के दो हजार कौंसिलरों का चुनाव हुआ। चुनाव में जनरल देगाल की रैली आफ दी पीपुल पार्टी को सबसे अधिक वोट प्राप्त हुए हैं। रायटर की रिपोर्ट के अनुसार जनरल देगाल तथा अन्य दक्षिण पक्षीय दलों को ४५.९ प्रतिशत, समाजवादी दल तथा अन्य स्वतन्त्र समाजवादियों को १८.७ प्रतिशत, रेडिकल्स को २०.५ प्रतिशत, पापुलर रिपब्लिकन पार्टी को ८.८ प्रतिशत और कम्यूनिस्टों तथा उनके समर्थकों को केवल ६ प्रतिशत सीटें प्राप्त हुई हैं।

इंगलैण्ड का म्युनिसिपल चुनाव

गत नवम्बर की पहली और चौथी तारीख को तीन सौ बरोज और स्काटलैण्ड की दो सौ म्युनिसिपल्टियों का चुनाव हुआ। इंगलैण्ड और वेल्स में कुल ३९२ म्युनिसिपल कौंसिले हैं जिनके चुनावमें अनुदार दल को ६३१ सीटें, मजदूर दल को ४२ सीटें, स्वतन्त्र उम्मीदवारों को ५७० सीटें प्राप्त हुई हैं। कम्यूनिस्टों को एक भी सीट प्राप्त नहीं हुई हैं। अनुदार दल के १७, मजदूर दल के ६८३, उदार दल के ४६, कम्यूनिस्ट पार्टी के ९ तथा १३४ स्वतन्त्र उम्मीदवार चुनाव में हार गए।

स्काटलैण्ड के चुनाव में मजदूर दल को ७४ सीटें प्राप्त हुई हैं। उनमें १२ नई सीटें हैं। ग्लासगों में यद्यपि मजदूर दल दूसरे बहुमत में है फिर भी उसे इस वर्ष दो सीटों से हार खानी पड़ी है।

दक्षिण पक्षीय दलों को कुल मिला कर नई ६५० सीटें मिली हैं। इसके मुकाबिले में गत वर्ष इंगलैण्ड वेल्स की कौंसिलों के चुनाव में मजदूर दल को १५९ सीटें प्राप्त हुई थीं। अनुदार दल को यद्यपि काफी सीटें प्राप्त हुई थीं, फिर भी उसे बहुत सी सीटों से हार खानी पड़ी थी। उसकी net gain कुल ४ सीटें थी। गत वर्ष कम्यूनिस्टों के २१७ उमीदवार खड़े हुए थे जिसमें केवल एक ही सफल हुआ।

आस्ट्रेलिया का चुनाव

विक्टोरिया स्टेट के चुनाव में मजदूर सरकार १५ में से १४ सीटें हार गई। इसमें उदार दल की शक्ति काफी सुदृढ़ हो गई है। चुनाव में मजदूर सरकार के कई सदस्य हार गए हैं। संघ सरकार द्वारा बैंकों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को लेकर यह चुनाव हुआ था। इस चुनाव के पूर्व विक्टोरिया स्टेट की उच्च व्यवस्थापिका सभा में उपर्युक्त प्रश्न पर विभिन्न दलों की सदस्य संख्या इस प्रकार थी:—मजदूर दल ३२, उदार दल १३, ग्रामीण दल १८। इस के अतिरिक्त दो स्वतंत्र सदस्य भी थे जो मजदूर दल का समर्थन करते थे।

इंगलैंड में कृषि का विस्तार

ब्रिटेन के प्रधान मंत्री श्री एटली ने एक घोषणामें बताया कि ब्रिटेन की सरकार वर्तमान आर्थिक संकट को दूर करने पर उद्यत है। इस संबंध में उसने एक कृषि-विस्तार सम्बन्धी योजना कार्यान्वित करने का निश्चय किया है। सरकार कृषि में इतना विस्तार करने वाली है कि १९५१-५२ तक वर्तमान उत्पादन में २० प्रतिशत की वृद्धि हो जायगी—अर्थात १००,०००,००० पौ० का अतिरिक्त अन्न उत्पन्न होगा। इस कार्य में बहुत काफी पूँजी तथा १००००० मजदूरों की आवश्यकता होगी।

निर्यात

१९४७ के पहले महीनों में ब्रिटेन का निर्यात आयात से २७०,०००००० पौ० कम हो गया था—

हिन्दी पत्रकारों की स्थिति और सुधार के सुझाव

युक्तप्रांतीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन ने गत २० जुलाई को कानपुर में अपनी कार्य समिति की एक विशेष बैठक में इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार किया था कि प्रांत के हिन्दी पत्रकारों की आर्थिक अवस्था के बारे में फ़िर से जाँच की जाय क्योंकि अब समय बदल गया है और पत्रकारों की कठिनाइयाँ पहले से अधिक बढ़ गई हैं।....." इसके अनुसार कमेटी ने पत्रकारों की स्थिति की जाँच की। जाँच रिपोर्ट में कुछ ऐसी बातें सामने आई हैं, जिनसे हिन्दी के पत्रकारों की दयनीय स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। जैसे—

"महंगाई का परिणाम पत्रकारों के रहन-सहन पर बहुत बुरा हुआ है। उनके दैनिक भोजन में पौष्टिक अथवा साधारण कार्यक्षमता बनाए रखने के लिए आवश्यक तत्त्वों का शनैः शनैः सर्वथा अभाव हो गया है। बहुत कम पत्रकारों की सन्तान उच्च शिक्षा के लिए अग्रसर हो सकी हैं। ऐसे उदाहरण मिले हैं, जहाँ मकान किराए के लिए, बच्चों की स्कूल फीस, पुस्तकों और औषधि तक के लिए दूसरों से दान मांगना पड़ा है। कुछ पत्रकार ट्यूशन करते हैं, कुछ घर पर रात्रि के समय अन्य पत्रों के लिए लेख आदि लिख कर कुछ कमा लेते हैं। पर ऐसी आमदनी का औसत दस रुपये से पचास रुपये प्रति मास ही होता है। इस अतिरिक्त परिश्रम का परिणाम पत्रकारों के स्वास्थ्य पर बहुत ही दुःखद हुआ है।...." "कई पत्रकारों ने कहा है कि जिन्सों के भाव जिस तेजी से बढ़ रहे हैं, उनमें घर गृहस्थी का खर्च किसी सन्तुलित आधार पर चलाना बड़ा कठिन है। सात उदाहरण ऐसे मिले, जिनमें चार या पांच वर्ष बीमा चलाने के बाद वे किश्त अदा न कर सके और बीमा बन्द करना पड़ा। चार पत्रकारों ने यह भी कहा कि उनके बच्चों के नाम स्कूल से इसलिए काट दिए गए कि वे समय पर फीस जमा न कर सके। एक पत्रकार की लड़की तो केवल फीस और बनारस तक की यात्रा के लिए रुपया न होने के कारण प्रवेशिका परीक्षा में सम्मिलित न हो सकी।" और हम ऐसे पत्रकारों को भी जानते हैं, जिनकी पुत्री ने औषधि के अभाव में दम तोड़ा हैं; जिन्हें मकान मालिक ने जबरन मकान से इसलिए निकाला कि वे महीनों का मकान किराया न चुका सके थे। ऐसी स्थिति युक्तप्रान्त में ही नहीं है। बिहार में ऐसी स्थिति है, कलकत्ता के हिन्दी पत्रकारों की भी ऐसी ही स्थिति है, जिसके कारण उन्हें पूंजीपतियों का किसी न किसी रूप में संग करना पड़ता है।

हमने कुछ पत्र-मालिकों से बातें करते समय देखा और सुना है कि वे पत्रकारों की योग्यता पर व्यंग्य-पूर्वक इशारा कर कहते हैं "देखिए दूसरे देशों के पत्रकारों की योग्यता को" जैसे पढ़ने लिखने का सभी ठेका इन पैसों के कीड़ों ने ही लेखा हो कि जो समाचार पत्रों की आमदनी से ही आज महलों में रहते और मोटरों पर चलते हैं! जो इस बात को भूल जाते हैं कि विदेशों में पत्रकारों को क्या मिलता है और कितनी सुविधाएं हैं। जरा गम्भीरता से सोचने पर आसानी से मालूम हो जायगा कि हिन्दी के पत्रकारों की योग्यता के विकास में उनकी आर्थिक स्थिति ही सब से बड़ी बाधा है। उन्हें जब अपने जीवन के ही लाले पड़े हों, तो नई नई किताबें कैसे खरीदें और समय कहां जो कहीं जाकर पढ़ें? पैसा कहाँ जो कहीं घूमें फिरें और अनुभव प्राप्त करें? इसके अलावा समाचार पत्रों के मालिकों का अपने अपने कार्यालय में कुछ 'क्लिक' भी होता है, जिसमें कुछ पतित पत्रकार अपने लोभवश शरीक हो जाते हैं और जिससे अधिकांश पत्रकार बन्धुओं के सहज विकास में बाधा पहुँचती है। ये सब कुछ वे कारण हैं कि जिनसे पत्रकारों की योग्यता का विकास नहीं हो पाता।

युक्त प्रांतीय पत्रकार जांच कमेटी ने पत्रकारों की स्थिति सुधारने के मामले में कुछ सुझाव भी दिए हैं। कुछ सुझावों की चर्चा हम यहाँ करेंगे। कमेटी की राय है कि—"जिन दैनिक अथवा साप्ताहिक पत्रों की संख्या दस हजार या इससे अधिक है, वे प्रथम श्रेणी के घोषित

कर दिए जांय। जिनकी इससे कम, वे द्वितीय श्रेणी के।" कमेटी ने सिफ़ारिश की है कि प्रथम श्रेणी के पत्रों में वेतन इस प्रकार दिया जायः—

१—सम्पादक ....५००)...३०)...८००) तक
२—सहकारी सम्पादक ३५०)...३०)...६५०) ,,
३—समाचार सम्पादक ३००)..२०)...५००) ,,
४—उप सम्पादक २५०)...२०)...४५०) ,,
५—स्थानीय संवाददाता सहायक सम्पादक के समकक्ष माने जायं, किन्तु उन्हें ५०) मासिक सवारी भत्ता और टेलीफोन अलग से दिया जाय। सहायक संवाददाता को २५) मासिक सवारी भत्ता भी दिया जाय।
६—सहायक संवाददाता १५०)...२०)...३५०) तक
७—प्रूफरीडर .... १००)..१०)...२००) ,,

द्वितीय श्रेणीके पत्रों में वेतन इस प्रकार दिया जायः—

१—सम्पादक.......३५०)...३०)...६५०) तक
२—सहकारी सम्पादक ३००)....२०)...५००)
३—समाचार सम्पादक २५०)...२०)...४५०) ,,
४—उप सम्पादक २००)...२०)...४००) ,,
५—स्थानीय संवाददाता सहायक संपादक के समकक्ष माने जायं। उन्हे ५०) मासिक सवारी भत्ता और टेलीफोन अलग से दिया जाय। सहायक संवाददाता को २५) मासिक सवरी भत्ता दिया जाय।
६—सहायक संवाददाता..१००)....१५)...१५०) तक
७—प्रूफरीडर .. .. ८०)..१०)...१८०) तक

दोनों श्रेणियों में २० से ३३ प्रतिशत मँहगाई का भत्ता दिया जाय।

इसके अलावा कमेटीने सिफारिशकी है कि—"बोनस सबको समानरूप से अवश्य दिया जाय। प्रान्त के बड़े नगरों में मकान का भत्ता भी दिया जाय। वर्ष में एक मासकी अनिवार्य, १५ दिन की आकस्मिक और १० दिनों की बीमारी की छुट्टी सवेतन दी जाय। एक मासवाली छुट्टी अनिवार्य रूप से दी जाय। लम्बी बीमारी की अवस्था में कम से कम तीन मास तक आधे वेतन पर छुट्टी दी जाय।"

किसी को जरा भी गम्भीरता से विचार करने पर कमेटी की सिफारिशें उचित मालूम होंगी। "नेशनल हेरल्ड" के "नवजीव" में प्रथम श्रेणी के वेतन को करीब करीब मान लिया गया है। प्रान्तीय सरकार द्वारा नियुक्त पत्रकार जाँच कमेटी में अनेक ऐसे पत्रकार सदस्य हैं, जो पत्रकारों के नहीं पत्र-मालिकों के हित-चिन्तक हैं। इसीलिए हम ऐसी कमेटी से ईमानदारी की आशा नहीं करते। इसके अलावा हम यह भी देख रहे हैं कि यह कमेटी कार्य को शीघ्र समाप्त करने की चिन्ता भी नहीं है—शायद टी०ए० और डी०ए० की चिन्ता विशेष है! इसलिए भी हम इस सरकारी कमेटी पर विश्वास नहीं करते। हम यह देख रहे हैं कि हिन्दी के पत्रकारों की अवस्था ऐसी हो चली है कि उसकी ओर सरकार को शीघ्र ध्यान देना चाहिए। अतः हम प्रान्तीय सरकार से अनुरोध करेंगे कि वह गैर सरकारी युक्तप्रान्तीय पत्रकार जांच कमेटी के रिपोर्ट को स्वीकार करके उसी आधार पर हिन्दी के पत्रकारों की व्यवस्था करे।

—बैजनाथसिंह 'विनोद'

"जनवाणी" का प्रथम वर्ष शेष

नवम्बर के इस अङ्क से "जनवाणी" का प्रथम वर्ष शेष होता है। इस साल में हमने अपनी सीमित शक्ति और परिमित साधनों द्वारा अपने पाठकों की सेवा की। १०२ निबन्ध, १४ कहानियाँ, ७ शब्द-चित्र ७ संस्मरण और ३ एकांकी नाटकों द्वारा हमने अपने पाठकों की ज्ञानवृद्धि का प्रयत्न किया। हमारे अधिकांश निबन्ध देश की वर्तमान और भावी स्थिति के अनुकूल थे। हमने हिन्दी के प्रथम कोटि के कवि श्री शिवमंगलसिंह "सुमन" की सर्वश्रेष्ठ कविताएं छापीं। श्री रामवृक्ष बेनीपुरीजी की कहानियाँ और उनके शब्द-चित्र तो इस साल हमारे यहाँ ही छपे। किन्तु जितना हम चाहते थे, न कर सके। जैसी और जितनी कहानियाँ हम छापना चाहते थे, न छाप सके। कविता के क्षेत्र में भी हम विविधता न ला सके। एकांकी में भी हमारी यही कमजोरी रही। सब मिलाकर रचनात्मक साहित्य की विविध कलात्मक प्रवृत्तियों का उचित प्रदर्शन "जनवाणी" में न हो सका। अपनी इन कमियों के कारणों में हम न जाकर इतना ही भर कहते हैं कि हमारे अन्दर ये त्रुटियाँ रहीं, जिन्हें हम "जनवाणी" के दूसरे साल में दूर करने का प्रयत्न करेंगे।

"जनवाणी" को आचार्य नरेन्द्रदेवजी कितना प्यार करते हैं, इसका प्रमाण यही है कि इस साल उन्होंने अपने विचारों के प्रकट करने का माध्यम "जनवाणी" को ही बनाया। उन्होंने तीन लेख और १७ सम्पादकीय लिखा। किन्तु अपनी बीमारी के कारण वह भी जितना चाहते हैं "जनवाणी" में न लिख सके। "जनवाणी" को आचार्य जी अपने निकट रखनी चाहते थे; पर कुछ राजनीतिक खलों के कूट-दुष्प्रयत्नों के कारण लखनऊ में मशीनों के आ जाने के बाद भी प्रेस की व्यवस्था न हो सकी। किन्तु "जनवाणी" आचार्यजी की है और वह उसकी उचित व्यवस्था कर रहे हैं।

आज के संकट के दिनों में, जब कि कागज का कोटा मिल जानेपर भी कागज का मिलना कठिन है, प्रेस की व्यवस्था भी कम संकटमय नहीं है, "जनवाणी" की छपाई-सफाई सभी मासिक पत्रों में सर्वोत्तम है। और इसका सारा श्रेय भार्गव भूषण प्रेस के मालिक श्रीपृथ्वीनाथजी भार्गव को है। सम्पादन की दिशा में श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित और श्रीमती कृष्णा दीक्षित ने अंग्रेजी में आए निबन्धों का अनुवाद करके और कभी कभी प्रेस में जाकर सारा काम देखकर तथा और भी नाना भाव से "जनवाणी" की जो सेवा की है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं। इस पूरे साल में "समाजवादी की डायरी" कुल ४६ पृष्ठों में छपी। इसके सभी तथ्यों के संग्रह और सम्पादन का कार्य भाई रमाकान्तजी शास्त्री ने किया है। "समाज" के सम्पादन का कार्य करते हुए भी उन्होंने "जनवाणी" की जो सेवा की उसके लिए हम उनके आभारी हैं। प्रो० मुकुटबिहारी लाल जी को हम कैसे धन्यवाद दें। वह आचार्य नरेन्द्र देव जी के इतने निकट हैं कि "जनवाणी" उनकी है। इसी प्रेरणा से समय समय पर उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक को अनेकों सलाह दिए, जिनके आधार पर "जनवाणी" का सम्पादन हुआ। इन सभी महानुभावों के प्रति हम कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

अगले साल में "जनवाणी" के सम्पादन और व्यवस्था में युक्तप्रान्त और बिहार दोनों का योग होगा। दोनों प्रान्तों के सम्मिलित सहयोग से हिन्दी भाषाभाषी जन-समुदाय को समाजवाद की ओर ले जाने की चेष्टा "जनवाणी" करेगी। इस प्रयत्न में हम अपने पाठकों के सहयोग की कामना करते हैं!

—बैजनाथसिंह 'विनोद'

भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस।